श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

सुख यहां

३, ४ भाग

प्रवक्ता—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द महाराज'

सम्पादक—
पवन कुमार जैन ज्वैलर्स, सदर मेरठ।

प्रकाशक—
खेमचंद जैन सर्राफ, मंत्री श्री सहजानंद शास्त्रमाला, १८५-ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।

द्वितीय सस्करण : १०००
सन् १९८०

पत्र व्यवहार का पता :-
विशम्भर दास महावीर प्रसाद जैन, सर्राफ
1325, चांदनी चौक, दिल्ली-110006

भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मंदिर के संरक्षक

(१) श्रीमती राजो देवी जैन ध० प० स्व० श्री जुगमंदरदासजी जैन आढ़ती, सरधना

(२) श्रीमती सरलादेवी जैन ध० प० श्री ओमप्रकाश जी दिनेश वस्त्र फैक्टरी, सरधना

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ

(२) श्रीमती फूलमाला देवी, ध० प० ला० महावीरप्रसादजी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ

(३) श्रीमान् ला० लालचन्द विजयकुमार सर्राफ, सहारनपुर

(४) श्रीमती शशिकान्ता जैन ध० प० श्री धनपालसिंह जी सर्राफ, सोनीपत

(५) श्रीमती सुवटी देवी जैन, सरावगी गिरीडीह

(६) श्रीमती जमना देवी जैन ध० प० श्री भंवरीलाल जैन, पाण्ड्या झूमरीतिलैया

नवीन स्वीकृत संरक्षक

(७) श्रीमती रहती देवी जैन ध० प० श्री विमलप्रसादजी जैन, मंसूरपुर

(८) श्रीमती श्रीमती जैन ध० प० श्री नेमिचंदजी जैन, मुजफ्फरनगर

(९) श्रीमान् शिखरचंद जियालाल जी एडवोकेट, ,,

(१०) श्रीमान् चिरंजीलाल फूलचंद बैजनाथजी जैन बड़जात्या नई मंडी, ,,

(११) श्रीमती पूना बाई ध० प० स्व० श्री दीपचन्द जी जैन गोटेगांव

※ मंगल-तन्त्र ※

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि ।

मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरे स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नहीं अतः निर्भार हूं ।

मैं ज्ञानघन हूं, मेरे स्वरूपमें अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हूं ।

मैं सहज आनंदमय हूं, मेरे स्वरूपमें कष्ट नहीं, अतः स्वयं तृप्त हूं ।

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि ।

卐 आत्मभक्ति 卐

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे ।
तेरी भक्तीमें क्षण जांय सारे ॥ टेक ॥

ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हों, कल्पनाओंका इकदम विलय हो ।
भ्रांतिका नाश हो, शांतिका वास हो, ब्रह्म प्यारे । तेरी० ॥१॥

सर्व गतियोंमें रह गतिसे न्यारे, सर्व भावोंमें रह उनसे न्यारे ।
सर्वगत आत्मगत, रत न नाहीं विरत, ब्रह्म प्यारे । तेरी० ॥२॥

सिद्धि जिनने भि अब तक है पाई, तेरा आश्रय ही उसमें सहाई ।
मेरे संकटहरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे । तेरी० ॥३॥

देह कर्मादि सब जगसे न्यारे, गुण व पर्यंयके भेदोंसे पारे ।
नित्य अंतः अचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे । तेरी० ॥४॥

आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयोंमे नित श्रेय तू है ।
सहजानन्दो प्रभो, अन्तर्यामी विभो, ब्रह्म प्यारे । तेरी० ॥५॥

* आत्म-रमण *

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूं, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूं ॥ टेक ॥

हूं ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूं सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण ।
हूं सत्य सहज आनंदधाम, मैं सहजानंद०, मैं दर्शन० ॥१॥

हूं खुदका ही कर्ता भोक्ता, परमें मेरा कुछ काम नही ।
परका न प्रवेश न कार्य यहां, मैं सहजानंद०, मैं दर्शन० ॥२॥

आऊं उतरूं रम लूं निजमें, निजकी निजमें दुविधा ही क्या ।
निज अनुभव रससे सहज तृप्त, मैं सहजानंद०, मैं दर्शन० ॥३॥

* आत्म-कीर्तन *

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥ टेक ॥

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥ १ ॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥ २ ॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥ ३ ॥

जिन शिव ईश्वर, ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥ ४ ॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक-बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा।

॥ ॐ ॥

सुख यहां तृतीय भाग

(सहजानन्द गीता प्रवचन)

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज
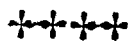
ज्ञानं सुखं न चान्यत्र सोहं ज्ञानमहं सुखम् ।
सर्वाशामहितां त्यक्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम ॥४-१॥

ज्ञान और सुख अन्य कुछ चीज नही है । मैं ही ज्ञान हूं और मैं ही सुख हूं । हम बाहर क्या ढूंढ़ना चाहते हैं ? जगतके जीव बाहरमें क्या ढूंढ़ा करते हैं सो बतलावो । सुख और ज्ञानसे बढ़कर क्या ढूंढ़ते हो ? किसको जानकारी कर रहे हो ? अब क्या होना चाहिए ? हम कथा और उपन्यासकी पुस्तकें पढ़ते है, तो हम ज्ञान अन्य जगह ढूंढ़ते है और सुख अन्य जगह ढूंढ़ते हैं । उपन्यास पढ़ते है तो यही इच्छा रहती है कि अभी आगे और पढ़ लें । अब आगे क्या है यह और जान लें । और भी समझनेकी, जाननेकी चेष्टायें करते है । सुख प्राप्त करनेके लिए विवाह करते है, संतान उत्पन्न करते है, धन कमाते है, महल बनवाते है, सभा सोसायटी करते है, राज्य बनाते है ये सब किसलिए करते है ? सुखके लिए, तो जितने भी यत्न बाहरमें करते हैं वे सुखके लिए करते हैं । पर अध्यात्मयोगी ऋषिजन बतलाते हैं कि सुख अन्यत्र न मिलेगा । किसी अन्य जगह सुख नही है । सुख कहाँ मिलेगा और मिलेगा कैसे ? सुख कोई अलग चीज थोड़े ही है । हमे दुःखमयी विकल्पोसे हटनेकी जरूरत है, सुख रूप तो हम स्वयं हैं । जीवोंका और स्वरूप क्या है सो बतलाओ ।

इस शरीरमें क्या मिलता है ? अरे शरीरके भीतर देखो मांस लगा है । वह मांस तो

जीव नहीं है। हड्डी, वीर्य, मल, मूत्र इत्यादि वे भी कोई जीवकी चीज नही। जीव क्या है ? उसमें कौनसा तत्त्व है ? इसके अन्दर विचारो तो वहाँ आँखसे देखनेमें कुछ नही मिलेगा। जो ज्ञानरूप परिणति है, वह आनन्दरूप परिणति है तथा जो राग द्वेषरूप परिणति है वह दुःखरूप परिणति है। जो एक विलक्षण चैतन्यस्वरूप है उसका नाम जीव हैं। यह आत्मा तो ज्ञान और आनन्दसे परिपूर्ण है। ज्ञान और आनन्द बाहर कहाँ ढूंढता है ? जिसको यह मर्म ज्ञात हो गया कि मैं ज्ञानमात्र हूं, आनन्दरूप हूं, तो ऐसा जिसे विश्वास हो गया, ऐसा जिसको परिचय हो गया वह ही योगी कहलाता है, वह ही ज्ञानी कहलाता है, वह ही साधु कहलाता है।

ज्ञान और सुख ये अन्यत्र नही है। इस ही रूप मैं हूँ। अन्य जगह मेरा ज्ञान नहीं। फिर आशा कैसी लगी है ? अच्छा बतलाओ—आपका ज्ञान और आनन्द किसी दूसरी जगह है क्या ? किसी चीजको बतलाओ। मेरी कोई चीज इस मुझसे बाहर हो तो बतलाओ ? जो बाहर हो वह हमारा नही और जो हमारा है वह हमसे दूर नही। ये दिखने वाली चीजें तो कुछ भी हमारी नही है। जिस घरमें बसना रहता है ऐसा घर द्वार वगैरा ये भी बाहर ही तो है। जिस कुटुम्बमें हम रहते है वह भी हमसे बाहर ही तो है। अरे ज्ञान और आनन्द जो तुम्हारी चीज है उसको ही प्राप्त करो। यह तो तुमसे बाहर नही है। तब फिर बाहर की कौनसी चीजोंको देखकर तुम स्वहितकी आशा करते हो ? यह कैसा उन्माद है ? बतलाओ तो। आप कहेंगे कि भोजन करते है तो सुख मिलता है। भोजन करनेसे अगर सुख मिलता है तो एक बार भोजन कर लें और सुख मिल जाय तो फिर दुबारा भूख क्यों लगती ? भैया ! भूख लगनेका रोग ही फिर न रहे, क्षुधाका साधन जो शरीर है वह ही न रहे, केवल आत्मतत्त्व रह जाय वहाँ ही पूर्णानन्द है, वहाँ ही योगी जन सदा रहा करते है।

भैया, बाहरी पदार्थोंमे किसकी आशा रखते हो ? किसीसे कुछ मिलता भी नही है। जो कुछ हमें मिल रहा है वह हमारे अन्दरसे मिल रहा है। विषय भोग, भोगकर जो कुछ भी हमें मिलता है सो आकुलताएँ ही मिलती रहती है। विषयोमे सुख नही मिलता है। बड़े पुरुष होते है वे विषयोंके भोगे बिना ही विषयोंका त्याग करके अपने आप ही सुखका अनुभव करते है, मगर जो महापुरुष हैं वे ब्रह्मचर्यसे सुखका अनुभव करते है। और जो पशुवत् होते हैं वे अपने विषयोंमें सुखको नही पा सकते हैं। जो निम्न श्रेणीके मनुष्य होते हैं वे वे विषय कामनाओंसे ही सुखका अनुभव करते है वहाँ ख्याल बनानेसे ही उन्हें काल्पनिक सुख उत्पन्न होता है किन्तु विषयोंमे सुख नही होता है।

भैया, सुख स्वरूप हम स्वयं हैं, इसलिए सारी अहित आशाओंको छोड़कर सारी

अकल्याण करने वाली आशाओंको छोड़कर मैं आनन्दस्वरूपको देखूं । अपने आनन्दस्वरूपको देखनेसे ही आनन्द मिलेगा, दूसरी जगह आनन्द नहीं मिलेगा । यह प्रभुकी शान्त मुद्रामय मूर्ति दुनिया भरमें यह बतला रही है कि विकल्प न करो, इसी प्रकार ज्ञानानुभव करो, इसी में हित है, कोई विकल्प न करो । अपने आत्मामें समाधि लगावो, ऐसा उपदेश यह प्रभुकी मूर्ति देती है । यहाँ कोई स्थान अपने आने जाने योग्य नहीं इससे बद्ध आसनसे बैठे रहो । यहाँ कुछ काम करनेको नहीं है सो हाथपर हाथ रखकर समाधि लगा लो । दुनियामें कौनसी ऐसी चीज है जो देखनेके लायक है ? कोई भी तो नही है । इसलिए नेत्रोंको बंद कर लो । भगवानकी मूर्तिसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि हम यह भावना करें व यत्न करें कि बाह्य पदार्थोंसे जितना हट सकें, हटें । विकल्पोंसे निवृत्ति लेकर रहें तो उसमें भला है । सो मैं अब बाह्यपदार्थोंकी आशाको त्यागकर अपने आप सुखी होऊँ ।

ज्ञायकोजोमरोहं कौ जीविताशां करोमि किम् ।
स्वातन्त्र्यं तत्परित्यागे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयं ॥४–२॥

देखो मैं एक ज्ञानस्वरूप हूँ, इसीलिए तो हमारे और प्रभुके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है । जो प्रभुका स्वरूप है वही हमारा और आपका स्वरूप है । अन्तर पड़ गया है तो केवल एक दृष्टिका अन्तर पड़ गया है । मैं शुद्ध, पवित्र आनन्दमय अपने स्वरूपको देखूं और जो राग द्वेष बाधक हैं उनसे अलग रहूं, इस वृत्तिसे मेरा रागद्वेष छूट जाये तो हमारी प्रभुता प्रकट है । जैसे कोई पत्थर है, मान लो संगमरमर हो, यह इच्छा है कि उसमें बाहुबलि स्वामीकी मूर्ति बने । बाहुबलि स्वामीकी मूर्तिका नक्शा लिया । किसी कारीगरसे कहा जाय कि देखो भैया, बाहुबलि स्वामीका ऐसा नक्शा बनाना है, मूर्ति बनानी है । खूब दिल भर करके फोटोको देखकर कारीगर कहेगा कि अच्छा बन जायगी । अब बतलावो वह कारीगर उस पत्थरसे कैसे बाहुबलि स्वामीकी मूर्ति बनायेगा ? बाहरसे कुछ चीजें नहीं लायगा । बाहर से कुछ लेकर मूर्ति नही बनायेगा । उस मूर्तिको उसने ध्यान लगाकर देख लिया है । उस पत्थरमें, वह है, जहाँ है । अब केवल ढकने वाले पत्थरोंको निकालना है । मिट्टी लगाकर मूर्तिको तैयार नहीं करना है वह मूर्ति जिस रूपमें निकलेगी वह तो पत्थरके अन्दर है । अब कारीगर तो छेनी हथौड़ीसे आवरक पत्थरों को काटकर अलग करेगा । कारीगरको मूर्ति बनानेमें कुछ चीजोंको मिलाना नहीं है । केवल मूर्तिके ढकने वाले पत्थरोंको छेनी हथौड़ी आदिसे हटाना है । मूर्ति बनानेके लिए कुछ लानेका काम नहीं है । लाना क्या है ? वह तो मूर्ति खुद ही है । केवल ढकने वाले पत्थरोंको हटानेका काम है ।

इसी तरह यदि ज्ञान करना है तो मोहका हटाना मेरा काम है। अपनेमें ये जो राग द्वेष आदि विकार, अज्ञानता, ईर्ष्या आदि विकार आ जाते हैं उनको हटाना है। इन सब विकारोंको हटानेके लिए ऐसा विश्वास हो जाय कि मैं भगवानके समान हूं। ये विकार पर-भाव हैं, हटाये जा सकते है। कहते हैं कि प्रभु घट-घटमें विराजमान है। प्रभु अलगसे कोई जोवमें नहीं, स्वयं ही जीवमे प्रभुता है। वह स्वयं प्रभु समान है। उसका आवरण करने वाले जो रागादिभाव हैं, उनको यह करना चाहता है, इससे भगवान व्यक्त नहीं हो पाता। यदि और कुछ अपनेमे दृष्टि करे तो उसमें अपनी दयाका भाव प्रकट होगा। तो उसे प्रकट करनेके लिए लाना कुछ नहीं है। केवल हटाना ही हटाना है। रागादिभाव हटाना है भैया रागसे अगर लाभ मिलता है तो रखो और अगर न मिलता हो तो हटावो। राग मिटनेकी चीज है कि पकडनेकी चीज है? राग तो मिटानेकी चीज है।

जैसे कोई आदमी एक तो अपराध करे और दूसरे सीनाजोर बने तो यह डबल अपराध बना। एक तो राग करता है यह है अपराध, और दूसरे रागकी पकड़ कर रहा है यह है महा अपराध। तो डबल अपराध कर रहे हैं। तो यह भावना रखो कि बाहरी पदार्थोंसे प्रीति छूटे, राग करनेकी मोह करनेकी भावना छूटे। वैराग्यकी भावना आवे, तभी शांति व संतोष होगा। बिना राग द्वेष मोह आदि परिणामोके त्यागे वैराग्यकी भावना नहीं आती है। अगर राग द्वेष मोहमे फंसे रहे तो क्या ऐसा जीवन कोई जीवन है? अरे प्रभूकी भक्ति आए, अपने निज प्रभूके दर्शन होवें तो उससे कषायें छूटेंगी। बस यही सत्य जीवन है।

यहाँ तो लोग मंदिरमे प्रभुके दर्शन करने जाते है तो भगवानसे विनय करते है कि हे भगवान हमे पुत्र दो, हमें सुखी करो। अरे ये तो भगवानके दर्शन नही करते है। ये तो बिल्कुल उल्टा बिगाड़ करते है।

भैया, भगवानके दर्शन तो इसलिए करना चाहिए कि हम प्रभुसे प्रार्थना करें कि हें नाथ मैं आशावोंको त्यागूं। हाय, लेना नही, देना नही, व्यर्थमें ही विकल्प बनाये हुए हैं। राग कर रहे हैं, द्वेष कर रहे है। हे नाथ! ये राग द्वेष मिटें ऐसी भावना प्रभुदर्शनके समयमें होना चाहिए। और अगर ऐसी भावना न हो तो बिल्कुल उल्टा काम है। जैसे किसी धनीके पास जायें, और कहें कि हमें ज्ञान दे दो तो उल्टा काम है और अगर किसी ज्ञानी पंडितके पास जायें व कहे कि हमें धन दे दो तो यह उल्टा ही तो है। अरे यहाँ साधु पंडित ज्ञानीके पास तो नास्ताको भी कुछ नही है। यदि धनीके पास जावो तो वहाँ ज्ञान न मिलेगा। जो जैसी चीज है उसे वैसा माने तो भला है। है और कुछ और माने

और कुछ, यह तो ठीक नहीं है । प्रभु राग द्वेष रहित है, सारे विश्वका जाननहार है, पुत्र मित्र इत्यादि उसके पास नहीं है । प्रभुके तो ध्यानमें ही ऐसा पुण्य बनता है कि सब सम्पदा स्वयमेव मिलती रहती है । उस प्रभुके पास अन्य कुछ नहीं है । वह प्रभु तो ज्ञान मात्र है ।

प्रभुके स्वरूपको निरखकर यदि यह भाव करें कि हे प्रभो तेरे ही जैसा तो मेरा स्वरूप है । मेरा यह स्वरूप प्रकट हो और ये राग द्वेष मोह इत्यादि भाव न हों तो कुछ मिलेगा । अगर राग द्वेष मोह इत्यादिका भाव न हो तो यही ज्ञान है, यही आनन्दकी बात है । मांगनेसे पुत्र इत्यादि नहीं मिलते हैं जो भगवानसे मांगता है उसके हो पुत्र हों यह कोई जरूरी नहीं । जो नही मांगते हैं उनके दर्जनों बच्चे बच्चियां हो जाते हैं । तो ये होना है तो होते हैं और अगर नही होना है तो नहीं होते है । भगवानसे मांगनेसे कुछ नहीं होना है । भगवानसे यदि शांतिका मार्ग मांगें तो कुछ मिल जायगा । सो भगवानके दर्शन करके यह भाव बने कि हे प्रभो यह विषयोंकी इच्छा, राग द्वेषका परिणाम, यह कषायोंका भाव, ये सब मेरे समाप्त हों । कब ये समाप्त होगे, ऐसी भावना करना चाहिए तभी इस प्रभुके दर्शन होंगे । तो यहां कहते हैं कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं, अजर हूं, मेरा जन्म नही होता । मैं अमर हूं, मेरा मरण नही होता । फिर इस पृथ्वीमें जीनेकी क्या आशा बनाऊं ? देखो यहां आक्रमणकी बात सुनकर सब घबड़ाते हैं । अब जिन्दा रहेंगे कि नहीं ? मेरा यदि यह भाव बने कि मैं तो सत् हूं, मेरा क्या बिगड़ता ? मैं एक जगह छोडकर दूसरी जगह पहुंच गया विनाश तो नही है । यदि ऐसी भावना हो तो दुःख कब है ? मैं तो अजर हूं, अमर हूं । तो फिर जीनेकी आशा क्या करूं ? स्वतंत्र हूं । इस कारण सब आशावोंको त्याग कर मैं अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊं ।

अदृश्यो ज्ञायकोहं कां कीर्तिमिच्छामि काबिह ।
स्वातन्त्र्यं तत्परित्यागे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–३॥

जिन प्राणियोंके मन लग जाता है उन प्राणियोंके सबसे बड़ा रोग यह लग जाता है कि वह कीर्ति और यशकी चाह करने लगता है । और जिसके मन नही है ऐसे प्राणीको तो मात्र विषयोंकी ही बात लगी रहती है किन्तु जिसके मन होता है उन जीवोंको कीर्ति या यशकी चाह हो जाती है । तो भाई कीर्तिको कौन चाहता है ? हम तो अदृश्य हैं । मैं दूसरोंके द्वारा देखनेमें नहीं आ सकता जब हमें दूसरे देख ही नही सकते तो कीर्ति कौन चाहे ? जिनको हम कीर्ति दिखाना चाहते हैं वे हमे कुछ देते तो नहीं । फिर किसको दिखाना चाहिए ? तुम तो अदृश्य हो । अपने आपको विचारो कि मैं तो अदृश्य हूं और केवल

ज्ञानस्वरूप हूं इसलिए यह मैं अदृश्य और ज्ञानस्वरूप इस लोकमें किस कीर्तिको चाहूं ?

भैया, कीर्तिके सम्बन्धमें साहित्यिक लोग यह कहते हैं कि कीर्ति तो आज तक कुमारी ही रह रही है क्योंकि इस कीर्तिको कोई बर नहीं सका। इसका पति नहीं बन सका। जिसको कीर्तिकी चाह है उसे कीर्ति नहीं मिलती और जिसको कीर्ति चाहती है उसकी कीर्तिको चाह नही। अतः कीर्तिकी शादी हो ही नहीं सकी। अब तो कीर्ति कुमारी ही रह गयी। जो कीर्ति चाहते हैं उन्हें कीर्ति नही मिलती और जिनकी कीर्ति छायी हुई है उनको कीर्तिकी चाह नहीं। सबसे बड़ी कीर्ति भगवानकी छायी हुई है देखो भक्त भगवानकी उपासना करते हैं, प्रभुका नाम लेते हैं, प्रभुका गुणानुवाद करते हैं। यह तो कीर्तिका एक माप है। सबसे बड़ी कीर्ति तो भगवानकी यह है कि हर एकके मुखसे भगवानका नाम निकलता है। तो कीर्ति भगवानकी जैसी कहां हो सकती है। पर भगवान कीर्तिको नहीं चाहते हैं वे तो वीतरागी हैं, सर्वज्ञ हैं। उन्हें कीर्तिकी चाह ही नही। अरे जो कीर्तिको चाहता वह स्वयं अशुद्ध है। तो अशुद्ध न होना हो तो कीर्तिको न चाहो।

अपने स्वरूपमे ही दृष्टि दो कि मैं शुद्ध हूं, ज्ञानस्वरूप हूं। इस लोकमें कीर्तिको क्या चाहूं ? यहाँ नामके लिए मरना कीर्तिके लिए मरना निपट अज्ञान है। अब किसीको वश करना हो या किसीसे काम लेना हो तो उसकी बड़ी सुगम औषधि यह है कि उसकी प्रशंसा कर दो। जो काम डाँटकर नहीं ले सकते हो वह काम प्रशंसा करके ले सकते हो। कोई बच्चा बड़ा शरारती है, उसको दण्ड देकर सारी शरारत मिटाना कठिन है। उसकी प्रशंसा करने वाले शब्द बोल दो। तू तो राजा है, तू बड़ा भला है। तुझे ऐसा न करना चाहिए। तो ऐसा कहनेसे वह शरारत छोड़ देगा। किसी मनुष्यको कितना ही डाँट डपटकर काम लेना चाहो तो वह बात बनना कठिन है। बस उसकी प्रशंसा कर दो, कुछ गुणानुवाद गा दो जितना चाहो काम ले सकते हो, हाय इस कीर्तिके पीछे पड़कर लोग बरबाद हो रहे हैं, अपने चैतन्यप्राणका घात कर रहे हैं।

गुरु जी सुनाते थे कि टीकमगढ़में एक सुनारिन थी। वह अपने पतिसे बोली कि हमें ३० तोलेके बखोरे बनवा दो। बहुत दिनोंसे लड़ाई चल रही थी। सुनारने क्या किया कि किसी तरह कर्जा ले करके ३० तोलेके बखोरे बनवा दिये। बखोरे तो पहिन लिये, पर देशमें रिवाज था मोटी धोती पहिननेका। मोटी धोती पहिननेके कारण हाथ पैर ढके रहते थे। सो किसीने उस स्त्रीसे यह न कहा कि ये बखोरे बड़े अच्छे बने हुए हैं। उसको मन ही मन बड़ा गुस्सा आया कि बड़ा हठ करके तो यह गहना बनवाया था, पर किसीने न पूछा। उसके मनमें बड़ी तेजीसे गुस्सा बढ़ा। सो उसने अपने झोपड़ीमें आग लगा दी। जब घरमें आग

लग गयी तब बबड़ायी । अब तो वह हाथ पसार-पसारकर लोगोंको आवाज देकर बुलाने लगी कि अरे दौड़ो, झोंपड़ी जली जा रही है । बहुतसे लोग आने लगे । स्त्री उनसे कहती—अरे वह रस्सी पड़ी है, वह कुंआ है, पानी खींचकर ले आवो । झोंपड़ी जली जा रही है । इतनेमें एक स्त्रीने हाथमें बखोरा पहिने देखा । उस स्त्रीने कहा—जीजी, यह बखोरा कब बनवाया था ? यह तो बड़ा सलोना है । वह स्त्री बोली—अरी रांड, अगर पहिले ही इतनी बात बोल देती तो घरमें मैं आग क्यों लगाती ?

भैया, सारा जगत इज्जतके पीछे मर रहा है । किसको इज्जत दिखाना चाहते हो ? किसको अपनी महत्ता दिखाना चाहते हो । तुम तो अदृश्य हो । तुमको कोई जानता ही नहीं । तुम तो ज्ञानस्वरूप हो । अपने आपको विचारो कि मैं तो अदृश्य हूं, ज्ञानमात्र हूं । इस लोकमें मैं क्या कीर्ति चाहूं ? यदि कीर्तिकी चाहका त्याग हो जाय तो वास्तवमें आजादी मिले । कीर्तिकी चाह रहे तो आजादी खतम हो जाती है क्योंकि कीर्ति चाहोगे तो उसे परके अनुकूल यत्न करना ही पड़ेगा । इसलिए इस कीर्तिकी चाहको त्यागमें ही स्वतंत्रता है और इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है । स्वतंत्रता ही एक महान सुख है । सो स्वतंत्र ज्ञानघन आनन्दमय अपने स्वरूपको निरखकर अपनेमें अपने आप सुखी होऊं ।

ज्ञायकस्याप्यबद्धस्य विषयाशैव बन्धनम् ।
स्वातन्त्र्यं तत्परित्यागे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–४॥

देखो यह जीव ज्ञानमात्र है, अमूर्त है । किसी पदार्थसे बंध नहीं सकता । इसका किसीसे संयोग नहीं है, बन्धन भी नहीं है । लोगोंने इसकी जो अपने आपको आशा लगा रखी है—यह विषयोंकी आशा ही बन्धन बन गयी है । जैसे आप यहां बैठ गये हैं तो पुत्रोंसे बंधे नहीं, स्त्रीसे बंधे नहीं, धन वैभवसे बंधे नहीं, पर इन पदार्थोंकी ओर आपकी रुचि है, आशा है तो आप स्वयं बंध गये । अब आप इनको छोड़कर कहीं जा नहीं सकते । क्या तुम्हें किसीने बांध रखा है ? क्या किसी ने जकड़ रखा है ? अरे किसीने कुछ नहीं किया, केवल ख्याल बना लिया है कि ये मेरे इष्ट हैं, ये मेरे अनिष्ट हैं, ऐसे व्यर्थके ख्याल बना लेनेसे ही ये पराधीन हो जाते हैं ।

विषयोंकी आशा ही एक बन्धन है । जो फंसता है वह विषयोंकी आशासे ही फंसता है । गृहस्थीका बन्धन कहां है ? आशा ही केवल बन्धनका आधार है । इसलिए वास्तविक बन्धन आशा है । बाहरी चीज बन्धन नहीं है । सो विषयोंकी आशा ही इस जीवका बंधन है । आशाका बन्धन छूटे तो स्वतंत्रता मिले, नहीं तो स्वतंत्रता न मिलेगी । आशाके पीछे ही

सबको कष्ट भोगना पड़ता है। कितना भी अटूट परिश्रम करो, ये जितने भी क्लेश हैं, नटखट हैं, नृत्य हैं वे सब इसी आशा पर ही अवलम्बित हैं। आशा मिटे तो सारे क्लेश खतम। विषयोंकी आशाका त्याग हो तो आजादी है अन्यथा आजादी नहीं है। यह वास्तविक स्वतंत्रताकी बात यहाँ कही जा रही है। यह जीवोंकी स्वतंत्रताकी बात चल रही है। जब यह जीव परकी आशा न रखे तब यह जीव स्वतंत्र कहलाता है। आशा रखी तो बस बन्धनमें बंध गया। तो बंधन आशा ही है। अन्य कोई बन्धन नहीं। सो इस आशाका परित्याग होनेमें ही वास्तविक स्वतंत्रता मिलती है।६

त्यागसे ही आजादी होती है, ग्रहणसे आजादी नहीं होती। पदार्थोंके संग्रहसे स्वतंत्रता नहीं मिलती, किन्तु उनकी आशाके त्यागमें ही स्वतंत्रता मिलती है। अभी आप सब तो गृहस्थोंमे है, परिवारमें है, बच्चोंमे है। बहुतसी बातें करनी पड़ती हैं। धन कमाना, रसोई बनाना चार आदमियोंकी बात पूछना इत्यादि सारी बातें करनी पडती हैं। यह सब करते हुये भी यदि भीतरमे सबसे निराले अपने ज्ञानस्वरूपकी खबर रहे और स्वतंत्र-स्वतंत्र सारे पदार्थ हैं, ऐसी प्रतीति रहे तो कुछ झगड़ा न रहे, क्योंकि सम्यग्ज्ञान जग गया। अन्य पदार्थोंको स्वतंत्र-स्वतंत्र देखनेसे उनकी आशाका त्याग होता है। जहाँ किसीको अपना माना वहाँ आशा करोगे और जहाँ अपना न माना वहाँ आशाका क्या काम? सो वस्तुस्वरूपका यथार्थ बोध हो तो वहाँ आशा नहीं ठहरती। सम्यग्ज्ञान करके उन विषयोंकी आशाका त्याग करके ही स्वतंत्रता प्राप्त होगी।

भगवान रामचन्द्रजी के परिवारके पुराने पुरुखोंमें से एक वज्रभानु भी हुए थे, जिनको शादीके बाद उनका मोह स्त्रीसे हो गया था। जब स्त्रीका भाई लिवानेके लिये आया तो वज्रभानु भी अपनी स्त्रीके साथ ससुराल चल दिया। रास्तेमें एक जगल पडा। जंगलमे एक मुनिराज शांत मुद्रामें ध्यानमें बैठे नजर आये। वज्रभानु उन मुनिराजको देखकर मनमें सोचने लगा कि देखो यह युवक मुनिराज सब ओरके विकल्पोंसे हटकर अपनेमें ही ध्यान लगाये हैं और कितने सुखी नजर आ रहे हैं और यह मैं पापी स्त्रीका १० दिनका वियोग नहीं सह सकता। मैं साथ ही जा रहा हूं। कुछ और विवेक जगा। टकटकी लगाकर देखने लगा। मनमें आया कि मुझे भी ऐसा होना चाहिए। व्यर्थमें लगावमें कोई सार नहीं है। उस समय उसका साला उदयसुन्दर उससे मजाक करता है—क्या तुम भी त्यागी बनोगे? वह जानता था कि मोही त्याग कहाँ कर सकता है? वज्रभानुने कहा कि अगर मैं मुनि बन गया तो क्या तुम भी मुनि बन जावोगे? उसका तो मन था ही। वह मुनि बन गया। वज्रभानुको देखकर उदयसुन्दरको भी वैराग्य हो गया। दोनोंको विरक्त देखकर स्त्रीका भी मन पलट

गया। वह भी साध्वी, आर्यिका हो गयी। अब तीनों स्वतन्त्र हो गये, तीनों जुदा हो गये।

एक जगह रहें तो क्या, विहार करें तो क्या, साधु तो स्वतंत्र ही होते हैं। जब तक स्नेह है तब तक बन्धन है। मोह समाप्त हो, विषयोंकी आशा न रहे तो वहाँ खेद नहीं है। विषयोंकी आशाका त्याग होनेपर ही स्वतंत्रता प्रकट होती है। सो आशाको त्यागकर अपनेमें अपने आप स्वयं आनन्दमग्न होऊं। भैया! किसीसे कुछ आशा न करो। सभी पर हैं, सभी अपने आपमें ही अपने काम करते हैं। उनसे मुझे कुछ नहीं मिलता है। मैं तो अपने ख्यालों में ही मस्त हूं और वे अपने ख्यालोंमें मस्त हैं। किसीको कोई दूसरा कुछ आदान-प्रदान नहीं करता। फिर किसकी आशा करें? इस आशाको त्यागकर हम वास्तविक आनन्द लें।

आशा त्यागो हि मे बन्धुर्मित्रं त्राता गुरुः पिता।
तस्यैव शरणं सत्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-५॥

आपका असली बन्धु कौन है? क्या सहोदर पुत्र आपका बन्धु है? वह भी वास्तविक आपका बन्धु नहीं है। वह भी एक पृथक् जीव है, आप भी एक पृथक् जीव हैं। इस दुनियामें सब भिन्न-भिन्न होते हैं। बड़ी उम्र हो जानेपर अलग ही हो जाते हैं, और अलग नहीं होते तो इन्कमटैक्स कम लगे इस गरजसे होना पड़ता है। फिर उनका आपसमें मन भी नहीं लगता, क्योंकि जहाँ उनकी शादी हुई वे अपनी स्त्रीसे प्रीति रखते हैं। स्त्रीसे बातचीत होने लगती है, पिता-भाईसे प्रेम नहीं रह जाता है। वे अलग हो जाते हैं और फिर आजके साझेमें भाईको भाई नहीं सुहाता। वे यदि अपने भाईसे स्नेह भी करते तो भी उनका कुछ नहीं करते। पुण्यका उदय है तो भाई सेवक बना हुआ है। कोई किसीको कुछ देता नहीं है, और कोई किसीका मित्र नहीं है। बन्धु तो मेरा आशात्याग ही है और आशात्याग ही मेरा मित्र है। मित्र उसे कहते हैं जो विपत्तियोंसे बचाये। विपदाओंसे बचाने वाला तो यह आशा त्याग ही है।

आशाका गड्ढा एक ऐसा गड्ढा है कि इस आशामें कितना ही परिग्रह डालते आओ, ज्यों-ज्यों संचय करते जाओगे त्यों त्यों आशाका गड्ढा चौड़ा होता चला जायगा, बढ़ता जायगा। यहाँ तो इस पृथ्वीका कितना ही बड़ा गड्ढा हो, कूड़ा-करकट डालें तो वह भर जाता है, इसी प्रकार कितना ही धन संचय कर लें, पर आशा उससे अधिक ही बढ़ती जायगी ऐसी गंदी यह आशा है। आशा करने वाला विपदाओंमें ही पड़ा रहता है। उसको बचाने वाला कौन है? उसको बचाने वाला केवल आशाका त्याग है।

मेरा वास्तविक मित्र आशाका त्याग है और रक्षक भी आशाका त्याग है। जो आशा करता है उसे अन्य जीवोंका आश्रय लेना पड़ता है और इस आश्रयसे ही विपदायें आती हैं।

यदि उन आशाओंका त्याग कर दो तो विपदायें दूर हो जायेंगी। आशाका त्याग करना यही वास्तविक रक्षक है। हमारा गुरु कौन है? जो मुझे हितमें लगावे, सच्चे मार्गमें पहुंचावे, वह हमारा गुरु है। जब तक आशा है तभी तक खोटा परिणाम है। यदि आशाका त्याग होता है तो इससे दृष्टि निर्मल होती है। आशाका त्याग होनेसे ही सच्चा हित मिल जाता है। इसलिए मेरा गुरु भी आशाका त्याग है। मेरा पिता कौन है? पिता कहते ही उसे हैं जो पालन-पोषण करे, विपत्तियोंसे हटावे, प्रगतिकी ओर ले जाये। तो मेरा पिता कौन है? शरीर वाले पिताकी बात नहीं कह रहा हूं। इस शरीरकी अन्तर आत्माका जो प्रभु है उसे कह रहा हूं कि जो पिता है वह कौन है? वह पिता भी आशाका त्याग है। यदि आशाका त्याग हो तो आत्मबल बढ़ता है, आत्माकी प्रगति होती है, कर्मोंका क्षय होता है, जगत्के बन्धन छूटते हैं। आशाके त्यागमें ही समस्त सुख निहित है। आशाके त्यागका ही प्रकरण चल रहा है।

भैया! सभामें एक सेठजी बैठे थे, संन्यासी भी बैठा था। संन्यासी कह रहा था कि त्याग करनेसे जीव संसारसे पार हो जाता है। दो एक दिन बादमें संन्यासी किसी दूसरे गाँव जा रहा था। मान लो बिहारीसे बंधा ग्राम जा रहा था। बीचमे एक नदी मिली। नदी पार करनेके लिए नाविकने संन्यासीसे कहा कि एक आना लेंगे। संन्यासीके पास तो कुछ था नहीं। संन्यासीने कहा कि अब तो हम इसी पार रहेंगे। किसी पार सही, पार ही तो है। उस पार नहीं जायेंगे। एक सेठ भी बँधा जा रहा था। तो उस सेठने एक आना संन्यासीका और एक आना अपना दिया। अब तो नावसे वे दोनों नदी पार हो गये। सेठने कहा— संन्यासी महाराज! आप तो कहते थे कि जो त्याग करता है वह इस संसारको पार कर जाता है, यहाँ तो आप एक छोटीसी नदी भी पार न कर सके। संन्यासीने कहा—भाई, यह त्यागका ही तो परिणाम है कि इस पार आ गये। दो आनेका त्याग किया इसीसे इस पार आ गये।

त्याग करनेसे हानि कुछ नहीं, बल्कि वृद्धि होती है। धन घटता है पापोंसे, ऐबोंसे। त्यागसे धन बढ़ता है। वह तो जितना भाग्यमें है वह आता ही है। सब प्रकारकी आशावों का त्याग हो तो अपना ज्ञानस्वरूप ही अपनी शरण है। ऐसा त्याग हो और अपने आपके स्वरूपको देखो। अपने आपके स्वरूपमें निवास हो, किसी परकी आशा न बनें, यही ज्ञान ही आत्माका सच्चा ज्ञान है। अपने प्रभुका स्मरण रहे तो सुख प्राप्त करनेका उपाय प्राप्त हो सकता है।

नैराश्येऽपि हि नैराश्यं तस्य का तुलना भुवि ।
अतो नैराश्यमालम्ब्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–६॥

जगत्के अन्य जितने भी पदार्थ हैं वे सब स्वतंत्र हैं, जुदा हैं । सबका स्वरूप न्यारा न्यारा है । जितने भी जीव हैं वे सब अपने-अपने स्वरूपमें हैं और जितने दिखने वाले पौद्गलिक पदार्थ हैं वे सब भी अपने-अपनेमें स्वतंत्र है । स्वतंत्रके मायने यह हैं कि सब अपनी-अपनी स्वरूप सत्तासे हैं । वे सब कोई किसी दूसरेकी सत्तासे नहीं हैं । इसी कारण मैं कुछ विचारता हूं तो उस विचारके कारण आपमें कुछ बात पैदा नहीं होती । आप कुछ सोचते हैं, करते हैं, उसके कारण अन्यमें कोई बात पैदा नहीं होती । हम अपना ही काम करने वाले हैं, आप अपना ही काम करने वाले हैं । जगत्के सारे जीव अपना-अपना काम किया करते हैं । यही एवज है कि एक जीवका स्वामी दूसरा जीव नहीं है । किसी पर तुम्हारा अधिकार नहीं है । जब ऐसी बात है तब किसकी आशा रखना कि हमें इससे लाभ मिलेगा । आशा करना व्यर्थ है ।

भैया, कभी आशाके अनुसार कोई काम बन गया तो यह न सोचो कि हमने ऐसी आशा की थी इससे काम बन गया । बाहरमें तो जब जिसका जो होता है होता ही है । वहां हमारा किसीसे मेल खा जाय यह दूसरी बात है । हमने आशा की, इसलिए यह काम बना यह बात बिल्कुल गलत है । हम तो वहां केवल अपना विचार ही बना सके, विकल्प और ख्याल ही कर सके, इसके सिवाय बाहरमें कुछ नहीं किया । जो मोही जीव है, अहंकारसे पूर्ण वासनाएं बनाए हुए है कि यह मेरा मकान है, यह मेरा घर है, यह मेरी दुकान है, यह मेरा कुटुम्ब है । ये मेरे परोपकार करने वाले हैं । आशाएं रखना ही अज्ञान है । यही जीवका मोह है । ज्ञानी जीव तो यह विश्वास रखता है कि मैं तो अपना ज्ञानस्वरूप कर सकता हूं और इससे अधिक अगर बिगड़ गया तो राग द्वेष कर लिया, अपनेको सता लिया, अपनेको ही कर लिया । जैसा बन पाया वैसा कर लिया । मैं दूसरोंका कुछ नहीं कर सकता और इसी तरहसे दूसरे मेरा कुछ नहीं कर सकते । ऐसा ज्ञान जब जगता है तो परपदार्थोंकी आशा छूट जाती है ।

तब वास्तविक ज्ञान क्या है ? आशा न रखना । आशा कर करके ही दुःखी हो रहे हैं । लोगोंने बचपनसे लेकर अब तक कितनी ही आशाएं नहीं कीं, पर हे आशा ! बतला तू अब तक किसीकी हो सकी ? नहीं हो सकी । री आशा, तेरे लिए क्या-क्या काम नहीं किया ? कहां-कहां नहीं घूमा ? कौन-कौनसी चीजोंमें निगाह नहीं दौड़ाई ? सब कुछ कर डाला, बता अब तक राजी हुई कि नहीं ? राजी हो गई तो ठीक है, नहीं हुई तो तू जा, जो कुछ

होना है होगा, तू जा। उसे आशाका क्या काम जिसने ज्ञानको पहिचान लिया। इन आशाओंने ही इस जीवको भटका रखा है। आशा न करे तो इसीके मायने वैराग्य है। ज्ञानी जीव तो आशासे सदा दूर रहता है। इस पृथ्वी पर उसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती है जो नैराश्यकी भी आशा नहीं करता। सबसे महान् वह है जो किसी की आशा नहीं रखता। सो भैया, आशामें तो अब तक बहे, उससे कोई लाभ नहीं हुआ। अब मैं आशासे हटकर अपने भीतरके ज्ञानस्वरूपको देखूं जो सबसे निराला है, स्वयं आनन्दमय है, ऐसी बातमें तो प्रभुके दर्शन होते हैं। मैंने अगर आशाका आलम्बन न लिया तो इस उपाय में आनन्दका मार्ग मिल सकता है। आशा करके तो आनन्द नहीं मिलेगा।

एक कथानक आता है पुराणमें कि एक पुरुष श्रावकोंके यहाँ छाछ पीने गया। छाछ पीकर उसने मुंह पर हाथ फेरा तो थोड़ासा मक्खन मूंछोंमें लग गया। उसने सोचा कि अगर ५-७ घरोंमें जाकर छाछ पीऊँ तो कुछ लाभ हो सकता है। अब तो ५-७ श्रावकोंके यहाँ छाछ पीकर मक्खन जोड़ने लगा। २-३ वर्षमें उसने काफी घी तैयार कर लिया। जहाँ भी वह छाछ पीने जाता, हाथमें उसके एक कटोरी रहती थी, उसीमें मूंछोंमें लगा हुआ मक्खन इकट्ठा कर ले। पीछे डबलेमें इकट्ठा कर ले। इस तरहसे लगभग एक सेर या डेढ़ सेर घी तैयार कर लिया। माघका महीना था। जाड़ेके दिन थे। एक झोंपड़ीमें रहता था। छींके पर मक्खन रखा था। वह नीचे आग ताप रहा था। तापते-तापते ही उसे आशाने घेर लिया। सोचा—करीब डेढ़ सेर घी तैयार कर लिया है, कल बाजारमें उसे ४-५ रु० में बेचूंगा। उतने रुपयेमें खोम्चाकी चीज ले आऊँगा। दो दिनमें ही १०-१५ रुपया कमा लेंगे। एक बकरी ले लेंगे। दूध घी बेचकर गाय ले लेंगे। फिर गाय, बैल आदि ले लेंगे, फिर एक जमींदारी खरीदेंगे, फिर धनी हो जायेंगे, फिर शादी कर लेंगे। मेरे बच्चे होंगे। कोई बच्चा आकर बुलायेगा कि पिताजी चलो माँ ने तुम्हें भोजन करनेके लिए बुलाया है तो मैं खानेके लिए न जाऊँगा। मना कर दूंगा कि अभी नहीं जाता। लड़का फिर आयेगा और कहेगा कि चलो, माँ ने रोटी खानेके लिए बुलाया है तो मैं कहूंगा कि हट बे, मैं अभी नहीं जाऊँगा। फिर लड़का खानेको बुलाने आयेगा तो कहूंगा—हट बे गधे, कितनी बार कह दिया कि मैं अभी नहीं जाऊंगा। ऐसा कहते हुए जब उसने झटकेसे पैर फटकारा तो छींके पर टंगे हुए घी के डबले पर लात पड़ गयी। अब तो डबला फूट गया और मक्खन जल गया। अब बाहर आकर वह चिल्लाता है कि हाय मेरी जमींदारी खत्म हो गई, मेरे गाय, बैल, भैंस आदि खत्म हो गये। मेरे लड़के बच्चे सब खत्म हो गये। जब बाहरके लोगोंने यह सुना तो सोचा कि अभी कल तक तो यह भीख मांगता था, मांगकर छाछ पीता था, आज इसकी

जमींदारी कहाँसे आ गयी ? गाय, बैल, भैंस, लड़के बच्चे इत्यादि कहाँसे आ गये ? लोगोंने उससे पूछा तो सारी कल्पनाकी बातें उसने बता दीं। इतनेमें एक सेठ बोला—अरे केवल ऐसा सोचा ही तो था। अब क्यों दुःखी होते हो ? एक चतुर आदमीने कहा—सेठ जी ! यही हालत आपकी भी है। जब आपका इस संसारमें कुछ नहीं है तब आप कैसे मानते हो कि ये मेरे हैं। अरे जो कुछ तुम्हारे पास है वह तुम्हारा कुछ नहीं है। केवल ख्याल ही तो बना लेते हो कि यह हमारी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा धन-वैभव है। अरे ये सब पदार्थ जुदे-जुदे है। केवल ख्याल बना लेनेसे, केवल कल्पनाएँ कर लेनेसे वे आपके तो नहीं हो जाते।

भैया ! यह ख्याल भी अज्ञानसे बनता है, मोह ममतासे बनता है। जब ऐसा ख्याल बन जाता है तो आशाएं बन जाती हैं। आशाएं बन जानेसे दुःख होते हैं। जगत्के ये सब जीव एक आशाके ही रोगी हैं। आशा न होती तो इस जगत्में दुःख ही क्यों रहता ? भैया, अपने प्रभुके स्वरूपको ओर झुको, जितना भी हो सके आशाओंसे दूर रहो। सुख धन बढ़ानेसे नही होता है। सुख तो अपने भीतरकी बात है। सुख बाहरसे नहीं आता। आशा जिसने छोड़ दी वह सुखी है और जो आशामे लगा है वह दुःखी है। सो भैया ! आशाओंको त्यागो, अपने स्वरूपको देखो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

वीततृष्णस्य केऽप्यर्थाः क्लेशदाः सुखदा नहि।
ततोऽर्थाः स्युर्न वास्ताशा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-७॥

जिसके तृष्णा लगी है उसको जो कुछ मिलता है वह सब क्लेशोंका ही देने वाला है। जिसके तृष्णा न रहे तो पासमें कोई भी पदार्थ हो उसको क्लेश नही होता अथवा जिसके तृष्णा लगी है उसके पास कुछ न हो तब भी क्लेश भोगता है। तो यह देखते है कि ये सब पदार्थ क्लेशोंके ही कारण है। देखो जितना संग मिल गया, घर परिवारमें उतनी ही जान आफतमें रहती है कि नहीं ? अपनी अपनी बात देख लो। एक दो अकेले हैं तो उनकी जान फंसावमें नही है, मगर अकेले दुकेलेमें भी तृष्णा रखे तो उसे दुःख ही मिलते रहते हैं। जिसके तृष्णा नहीं है वह सुखी है और जिसके तृष्णा लगी हुई है वह दुःखी है। तृष्णा करना एक अज्ञान है।

यहाँ कोई चीज हमारी आपकी नहीं हैं। इस शरीरके अन्दर जो जीव है उस पर दृष्टि दो तो सब अलग है कि नहीं ? अलग हैं। घरसे, वैभवसे, परिवारसे यह जीव न्यारा है कि नही ? जो इस देहके अन्दर विराजमान है, जो देखने जाननेका ही काम करता है, जो नाना प्रकारके विकल्प विचार किया करता है वह जीव सब पदार्थोंसे न्यारा है कि नहीं ?

सबसे यह जीव प्यारा है। कैसे प्यारा है ? जिस दिन मृत्यु हो जाती है। सब कुछ छोड़कर यहांसे जाना पड़ता है कि नहीं ? उस समय क्या यह मिन्नत चल जायेगी कि मैंने बहुत तो कमाया, हजार रुपया साथमें भेज दो। बहुत बहुत हमने पुत्रोंसे प्रेम किया, बड़े लाड़ प्यार से उन्हें पाला, चलो बेटा कोई हमारे साथ, तू तो हमारा लाड़ला पुत्र है। जायेगा क्या ? कोई नहीं जायेगा। सबको छोड़कर ही जाना होगा क्योंकि कोई भी चीज तुम्हारी नहीं है। जो चीज तुम्हारी है वह तो तुम साथ ले जावोगे और जो चीजें अपनी नहीं हैं उनको साथ कैसे ले जाया जा सकता है ? यह देह आपकी है ? आप इसे साथमें ले जायेंगे क्या ? नहीं।

सो भैया, यह निश्चय रखो कि यह शरीर तक तो मेरा है नहीं, ये धन परिवार इत्यादि तो क्या साथ जायेंगे ? आपका जो धर्म, आपने जो संस्कार बनाये हैं वे आपके साथ जायेंगे। अपनी ज्ञान ज्योति के निकट जो राग द्वेष हैं उनको अलग हटाकर शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहनेका जो संस्कार बनाया है वही साथ जायेगा और जो बुरे काम किए, बुरे परिणाम किए वह दुर्वासना भी साथ जायेगी। जैसे दूसरोंको सताया, हिंसा किया, विवेक कुछ नहीं किया, देवी देवतावोंके आगे किसी जीवको मार डाला। मारा, एक पाप तो यह किया और इससे मेरे कुटुम्बके लोग खुश रहेंगे ऐसा विचार किया तो एक पाप यह किया। कितना बताऊँ ? देवी देवतावोंके नाम पर किसी जीवकी बलि कर दी तो कितना बड़ा पाप है ? उसको बता नहीं सकते। महान् पाप है। ऐसा अज्ञानी पापी तो जन्म-जन्ममें अटपट योनियोंमें पैदा होता है और बार-बार दूसरे जीवोंके द्वारा मारा जाता है। ऐसा उसका पाप है और फिर देवी देवतावोंका देह वैक्रियक है। वे देवी देवता तो किसी जीवको मारना नहीं चाहते। मांस तो उनका भोजन ही नहीं, उनके तो कंठसे अमृत झरता है। पहिले आप उन देवी देवताओंको देखते हैं, फिर भगवान्को देखते हैं तो मानो भगवान् उन देवी देवताओंसे छोटे हो गये। सो ऐसा अविवेक न करें।

भैया ! गहराईसे इस बातको सोचो कि जो बुरा संस्कार बनता है वह मरनेपर साथ जाता है कि नहीं ? जाता है। मगर रुलानेके लिए साथ जाता है। यह धर्म साथ जाता है तो केवल सुखके लिए जाता है। पाप तो दु:खके लिए जाता है और धर्म सुखके लिए जाता है। यहांकी सब चीजें जो-जो मिलती हैं वे कुछ भी साथ नहीं जाती हैं। यह धन आपने नहीं कमाया है, यह तो यों ही मिल गया। पूर्वजन्ममें अच्छा परिणाम किया था उस समय बद्ध पुण्यके उदयसे आपको सब कुछ मिल गया है, इसे आपने कमाया नहीं है। आपने तो परिणाम किया था, यह तो यों ही मिल गया है और यों ही चला जायेगा। जिसको कहते हैं मुफ्तमें मिला और मुफ्तमें ही चला जायेगा। सब मान, गम, धन, वैभव इनको आप करते

हैं क्या ? क्या आपके करनेसे मिल गये ? ये तो यों ही मिलते और यों ही बिछुड़ते रहते हैं। ये मुफ्तमें ही मिल गये और मुफ्तमें ही चले जायेंगे। आपके साथ अंतमें क्या रहेगा ? घर-द्वार तो रहेगा नहीं। क्या रहेगा ? केवल पाप जो इसके कारण परिणाम बुरे करने पड़े, वे पाप ही साथ जायेंगे।

एक चोर एक राजाके अश्वशालामें चोरी करने गया, वहाँ एक बड़ा बढ़िया घोड़ा था। उसको ले लिया, सोचा कि पशुवोंके बाजारमें ले जाकर बेच दूंगा। बाजार ले गया, खड़ा कर दिया। अब ग्राहक आये बोले—घोड़ा कितनेमें दोगे ? था तो ३०० रु० का, पर कोई यह न जाने कि घोड़ा चोरीका है इसलिए शानमें आकर बोला कि इसका मूल्य ६००) रु० है। अब कौन खरीदे ? दसों ग्राहक इसी तरह निकल गये। एक ग्यारहवाँ ग्राहक जो बूढ़ा चोर था आया। वह बचपनसे ही चोरी करता था। उसने पूछा कि इसका मूल्य क्या है ? बोला ६००) रुपये। अब तो उसने पहिचान लिया कि यह घोड़ा चोरीका है। चोर चोरीकी चीजको परख लेता है। बोला—इसमें कौनसी तारीफ है कि इसका मूल्य ६००) रुपये है ? कहा—देख लो, इसकी चाल बहुत बढ़िया है। उस बूढ़े चोरके पास एक मिट्टीका हुक्का था वह तो उसको पकड़ा दिया और आप चाल देखने घोड़े पर चढ़ गया। चाल देखनेके लिए चला। घोड़े पर बैठकर वह उसे उड़ा ले गया। अब थोड़ी देरके बादमें वही पुराने ग्राहक आते हैं, पूछते हैं कि क्या घोड़ा बिक गया ? घोड़े वालेने कहा—हाँ भाई घोड़ा बिक गया। बोले— भाई कितनेमें बिक गया ? बोला— जितनेमें लाये थे उतनेमें बिक गया। पूछा कि मुनाफा क्या मिला ? बोला—मुनाफा मिला एक दो आनेका मिट्टीका हुक्का।

सो ऐसी ही बात हम आप सबकी है। जो-जो मिलता है सब मुफ्त मिलता है। इसमें आत्माकी कमाई कुछ नहीं। जीव तो उनको छूता भी नहीं है। जीवसे तो सब चीजें न्यारी हैं। ये सब मुफ्तमें ही मिली हैं और मुफ्तमें ही मिटेंगी। आप लोगोंने देखा होगा कि दसों बीसों व्यक्तियोंने जो कुछ भी मुफ्तमें प्राप्त कर लिया होगा, छोड़ करके चले ही गये होंगे। धन, स्त्री, पुत्र आदिके पीछे जो मोह किया, तृष्णा किया, वह पाप साथ रहता है। चीजें कोई भी साथ न रहेंगी। सब निकल भागेंगी। मगर तेरे परिणाम ही तेरे साथ रहेंगे। सो भैया ! आशाको छोड़ो। इस आशाने तो इन प्राणियोंको बहकावेमें डाल दिया है। इस आशासे दूर रहो तो इस हालतमें सुखी रहोगे और यदि इस आशाको ही चिपकाये रहे तो हर हालतमें दुःखी रहोगे। इन आशावोंको दूर कर अपनेमें अपने आप स्वयं सुखी होवो।

सतृष्णस्य सदाकुल्यमर्थाः सन्तु न सन्तु वा।
वीतारं न भवेदिच्छा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–८॥

देखो भैया ! ये पदार्थ हों या न हों, पर यदि पदार्थोंमें तृष्णा रही तो आकुलताएँ होती हैं और यदि तृष्णा न रहे तो निराकुलता है। सारा दारमदार तृष्णा पर ही है। तृष्णा है तो दुःख है और तृष्णा नहीं है तो दुःख नहीं है। देहातोंमें तो लोग खेती करके और ऊँची नीची जमीन पर सोकर आनन्द लेते हैं, पर शहरोंमें, नगरोंमें बड़े आदमियोंको देखा होगा कि सब कुछ उनके पास है, मोटर चल रही है, फर्म चल रही है, मिल चल रहा है, हजारों आदमी काम कर रहे हैं, फिर भी वे सुखसे नहीं सो पाते हैं। प्रायः देखनेमें मिलता है कि वे लोग तीन-चार घंटे मुश्किलसे सोते हैं। और सोतेमें भी कुछ न कुछ बड़बड़ाते हैं। किसान तो रात-भर सोते हैं। अनाज उपज जाय इतना ही मात्र वे सोचते और सुखी रहते हैं। वे सादा भोजन करते और मस्त होकर गाते रहते है।

सादा भोजन करके अपने हितका यत्न करो। तृष्णा न रहे तो सुख है। कोई देहाती ही कही शहरमें जाकर गुलाबजामुन चख आये तो उसके उसका स्वाद लग गया। यदि स्वाद लग गया तो फिर दुःख ही होगा और अगर सीधे सीधे चल रहे हैं तो जो कुछ खाते हैं उसी में मस्त रहते हैं। जो लखपति है, करोड़पति है तृष्णा करके ही अपनेको बरबाद किया करते हैं। अरे, इस तृष्णा पर लात मारो। यदि संतोषमय जीवन बिताओगे तो आनन्द मिलेगा। यदि तृष्णावोंसे युक्त जीवन रहा तो आनन्द न मिलेगा।

देखो भाई और जीवोंकी अपेक्षा हम और आपने कितनी बुद्धि पायी कितना ऊँचा दिमाग पाया, कितने अच्छे विचार पाये, कितना अच्छा ज्ञान पाया, कितनी अच्छी सद्बुद्धि पायी ? फिर भी अपने जीवनको अगर सफल न बना सके तो मनुष्यजन्म पाना व्यर्थ है। वह जीवन पशुवोंके ही समान है। यदि अपने जीवनको सफल न कर सके तो कभी शांति न मिलेगी। अगर इच्छायें करते है तो इच्छावोंकी पूर्ति हो जाने पर वे भी गम नही खाते है। वे निरन्तर इच्छाएं ही उत्पन्न किया करते हैं। इन इच्छावोंके कारण ही उन्हें क्लेश मिलते हैं। तो भैया, इन इच्छावोंको अपने ज्ञानसे ही मिटा दो। भोगोंसे तो इच्छाएँ न मिटेंगी। भोगोंसे तो दुःख ही रहेगा। जब तेज इच्छाएँ होंगी तभी भोग होगा। भोग होनेसे ही अधिक इच्छाएँ बढ़ेंगी। अरे इच्छावोंकी ओर जायेंगे तो इसका फल दुःख ही है। अगर इच्छाओंको बाहर कर दें तो दुःख दूर हो जायें। इच्छावोंको दूर करनेका उपाय है कि वस्तुवोंका सही स्वरूप समझ लें कि मेरा कही कुछ नही है। किसीमें कुछ नही मिलता। मैं तो ज्ञानका भण्डार हूं। अगर यों प्रभुकी भक्ति हो तो क्लेश मिट जायेंगे, इच्छायें मिट जायेंगी। इन इच्छाओंको दूर करनेका दूसरा उपाय नही है।

पूर्णे कस्यापि कृत्ये किं चिकीर्षोत्कण्ठता कदा ।
न वै त्यक्त्वा हि सर्वाशां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-६॥

किसी ने कोई काम किया तो वह जीव जैसा कामको करेगा वैसी ही उत्कंठा रहेगी । उन कार्योंके कदाचित् हो जाने पर भी कुछ और करनेकी अभिलाषा जगती है । इस कारण यह बात जब ठीक रही कि किसीका काम पूर्ण हो गया हो तो भी उसे शांति नहीं मिलती । इससे ही यह साबित है कि काम पूरा किसीसे नहीं होता और मोह अवस्था में काम किसी भी हालतमें पूरा हो ही नहीं सकता ।

एक किवदन्ती है कि एक बार नारदजी सैर करनेके लिए नर्क गए । वहाँ उनको खड़े होने तकको भी जगह न थी । इतने जीव नर्कमें भरे थे कि उनको भीड़की वजहसे खड़े होने तकको जगह न थी । जैसे कि कभी जेलमें खड़े रहने तककी गली नहीं मिलती है वैसे ही नारदको वहाँ पर खड़े होने तक को भी जगह न मिली । वहाँ से वे भागे और ऊर्ध्वलोक की सैर करने गये । स्वर्ग की सैर करने गये । वहाँ पर बैकुण्ठमें देखा कि अकेले विष्णुजी महाराज बैठे हैं । नारद बोले हे भगवान् विष्णु आप बड़े ही पक्षपाती हैं । नर्कमें तो सारेके सारे जीव भेज दिये और यह सारा बैकुण्ठ खाली पड़ा है । विष्णुजी बोले हम पक्षपाती नहीं हैं । यहाँ कोई आता ही नहीं है ; यदि कोई आता हो तो इजाजत है तुम्हें कि उसे ले आओ । वह खुश होकर मृत्युलोक आये और सोचने लगे कि किसे लिवा ले जायें ? मार्गमें कोई बूढ़ा आदमी मिला, सोचा कि अब तो यह मरना ही चाहता है, इसे ही लिवा ले जायें । नारद ने उस बूढ़े आदमीसे कहा कि चलो तुम्हें हम स्वर्ग ले चलें । सब लोग जानते हैं कि मरे बिना कोई स्वर्ग नहीं जाता । वह बूढ़ा बोला कि मरे मैं ही तुम्हें मिला मरनेके लिये ? मैं नहीं आऊंगा, किसी दूसरेको जाकर लिवा लो । दो चार बूढ़ोंको टटोला पर सबने जवाब दे दिया, बूढ़ोंसे नारद निराश हो गये । एक जवानसे कहा कि चलो तुम्हें स्वर्ग ले चलें । जवानकी बात जानते ही हो । जवान बोला कि अभी लड़कीकी शादी पड़ी है, दुकान खोलनी है, सारा बन्दोबस्त करना है, तो जवानोंने भी इसी तरह मना कर दिया ।

सोचा कि अब किससे कहें ? अच्छा चलो अब बच्चोंके पास चलें । शायद बच्चोंमें से कोई तैयार हो जाय । एक मंदिरके चबूतरे पर १८-१९ वर्षका बच्चा तिलक लगाये बैठा था । नारद बोले बेटा ! चलो तुम्हें बैकुण्ठ ले चलें । वह बैकुण्ठ जानेको तैयार हो गया । नारदने कहा कि वहाँ चलनेके लिए सारे झंझट त्यागने होंगे । वह बोला कि नारद जी हमारी सगाई हो रही है, कल बारात आयेगी । नाते रिश्तेदार भी ज्यादा आ रहे हैं ।

तो आप कृपा करके ४–५ वर्ष गम खा जाइए, फिर आना तो चलेंगे। उसका विवाह भी हो गया। ५ वर्षके बादमें नारद जी आये, बोले बेटा अब चलो। बोला–महाराज, अभी एक साल हुआ बच्चा हुआ है, तनिक खिला ही लें। अभी तक एक साल तक शर्मके मारे मैं छू ही नहीं सका। अब आप ५ वर्ष गम खावें, फिर आना तब चलेंगे। ५ वर्ष बीत गए। फिर नारद आये, बोले बेटा चलो। बोला महाराज लड़केको पढ़ा लें, योग्य कर लें, यह कम से कम अपने पैरोंके बल खड़ा तो हो जाय। आपसे निवेदन है कि आप २० वर्षके बाद जरूर आना। अब २० वर्षके बादमें फिर नारद आये, बोले—बेटा चलो। बोला—महाराज लड़केकी सगाई हो गई। अब अपने नातीको तो देख लें। कृपा करके आप १०-१५ वर्षके बादमें जरूर आना। १०-१५ वर्ष बीत गए। नारद आए, बोले—चलो बेटा, अब चलो। बोला—महाराज, मुश्किलसे धन कमाया, लाखोंकी सम्पत्ति जोडी, मगर दुर्भाग्यसे पुत्र कुपूत निकल गया और नाती उससे भी अधिक कुपूत निकला। अगर मैं चलूं तो सारी सम्पत्ति बरबाद हो जायेगी। तो महाराज कृपा करके आप अगले भवमे जरूर आना। अब तो वह मर गया और मरकर उस घरकी कोठरीमें सांप हुआ जिसमे वह सम्पदा गाडता था। अब वहाँ भी नारद पहुंचे, कहा–चलो बेटा दूसरा भव भी आ गया, अब तो चलो। तब वह सांप फन उठाकर कहता है—महाराज, यहाँ पर धन गडा हुआ है, यदि मैं इसकी रक्षा नही करता तो सारी सम्पदा बरबाद हो जायेगी। वहाँसे नारद जी विष्णु भगवान्के पास आए। बोले—महाराज, मेरी ही गलती थी, जो मैंने कहा था कि आप किसीको नही बुलाते। मैंने बहुत कोशिश की, बूढ़े, जवान, बच्चे सबसे कहा, मगर कोई यहाँ आनेके लिए तैयार नही हुआ।

किसीका कोई काम नही पूरा होता, किसीकी कोई बात नही पूरी होती, किसीका बच्चोमें मोह है, कोई कहता है कि ५ साल बाद जायेंगे, ५ साल भी हो जाते है, जीवन भी पूरा हो जाता है, किन्तु विषयोसे कोई मुख नही मोडता। इस तरहसे कोई यहाँ आनेके लिए तैयार नही होता है। भला बतावो किसीका काम भी पूरा होता है क्या? करनेको कुछ न कुछ पड़ा ही है। अब यह इच्छा है, अब यह इच्छा है, इस तरहसे काम पूरे हो ही नही पाते हैं। जिन्दगी अगर इच्छाओंसे ही बिता दी तो ऐसा मनुष्यभव पाना व्यर्थ रहा। अब करनेकी बात क्या है कि अपनी इच्छावोको त्यागकर अपने स्वरूपको देखो, अपने भगवान् में चित्त लगावो, अपने आनन्दमय प्रभुकी भक्तिमे ही रहो और अपनेमे अपने आप सुखी हो। किसी अन्यसे सुखकी आशा रखना व्यर्थ है।

प्रवृत्तावेव नानात्वं निवृत्तावेकरूपता ।
शांतिमार्गे निवृत्तिर्हि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-१०॥

देखो करना और हटाना—ये दोनों बातें दुनियाके अन्दर है। करना तो होता है नाना तरहका और हटाना होता है एक तरहका। हटनेके कई प्रकार नही हैं, पर करनेके कई प्रकार हैं। कोई काम करनेको पड़ा हो और करे तो कोई किसी यत्नसे, कोई किसी यत्नसे, नाना प्रकारसे करता है और कुछ न करना याने जो विश्रामकी हालत है वह केवल एक प्रकारकी है। सो प्रवृत्तिके नानारूप हैं और निवृत्तिका केवल एक ही रूप है। करना तो नाना तरहसे है, पर आलस्य न होना, सब कार्योंसे विरक्त होना, सबके एक ही किस्मका है। अभी साधुवोंमें जो नाना भेष होंगे, कोई साधु जटाधारी, कोई साधु डंडा लिए हुए, कोई भस्म लगाये हुए, कोई तिलक लगाये हुए, कोई अन्य प्रकारका है, सो ये जो नाना रूप बन गये हैं, नाना रूप साधुपनेके बन गये हैं, सो भैया। प्रवृत्तिमे साधुता नहीं है। साधुता का तो केवल एक काम है—निवृत्ति करना। निवृत्तिको ही साधुता कहते हैं।

घरसे प्रेम न रहे, घरसे हट गये, धन-वैभवसे हट गये, कई प्रकारके खाने-पीनेसे हट गये, किसी किसीका तो यह खाना पीना भी छूट जाता है। बहुतसे कपड़े मंजूर न हों तो छोड़ दिए, कोई कोई बिल्कुल ही छोड़ देता है। इस प्रकारसे निवृत्ति लेना यह तो साधुका काम है पर कोई दूसरी चोज लपेटना, छल करना साधुका काम नही है। इसलिए साधुके भेष नाना नही होते। राग न झलकता हो, प्रवृत्ति न हो, दूसरो चोजोंका हटाना ही बना रहे तो उसे साधुता कहते है। तो भैया, प्रवृत्तिके नाना रूप हैं, किन्तु निवृत्तिका एक रूप है। अब यह देख लो कि दंद-फंदमें शान्ति मिलती है या सबसे हटकर रहनेमें शांति मिलती है।

भगवान्‌का स्वरूप क्या है ? भगवान्‌का स्वरूप है केवल ज्ञानानन्दमय रहना, सबसे जुदा रहना। देखो भैया, केवल भगवान्‌के एक विश्वास पर ही नही रहोगे तो जगह जगह ठोकर खावोगे। देहातोंमें देखो, एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जावो, मान लो सतगवांसे लड़वारी जावों तो रास्तेमे कमसे कम १५-१६ चबूतरे मिलेंगे। कोई दूल्हा ले जायें तो १७ जगह सिर पटकेंगे और दुःखी होते रहेंगे। एक भगवान पर ही विश्वास हो तो वह एक भगवान का आलम्बन सारे संकटोंसे बचायेगा। यों ही ये जो १५-१६ रास्तेमें मिले, यह फलां बाबा है, ये फलां देवी है इत्यादि ये कुछ नही, और हों तो वे सब उस भगवानके ही सेवक हैं। उन सैंकड़ों देवी देवतावों पर ही विश्वास माना तो ये तो उस भगवानसे भी बड़े हो गये तुम्हारी निगाहमें, कोई किसी नामका देव है, कोई किसी नामका देव है। बतलावो ये सब

उस भगवान्से बड़े हैं क्या ? अरे ये है ही कुछ नही। तुम्हारी कल्पना है और हों भी कोई व्यन्तर तो वे सब भगवान्के ही सेवक हैं। भगवान्से जिसकी प्रीति है, रुचि है वह निःशंक है, निर्भय है। विश्वास आपका एक हो, दूसरा न रहे। किसी बातमें आप अडिग न रहें तो कुछ सिद्धि ही नही है ! कहा करते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों बन्धु कही चले जा रहे थे। रास्तेमें एक नदी मिली। रास्तेमें नदी तैरकर जाना था। सो मुसलमानका एक ही विश्वास था। अल्ला-अल्ला करते वह तो पार हो गया। अब हिन्दू भाई नदीमें थोड़ा आगे बढ़ा, बोला—हे विष्णु भगवान् ! रक्षा करो, और थोड़ा आगे बढ़कर बोला– हे ब्रह्माजी रक्षा करो। विष्णुजी आ रहे थे, पर जब सुना कि ब्रह्माको पुकार रहा है तो वापस लौट गये। फिर थोड़ा आगे बढा, बोला—हे भैरव जी ! रक्षा करो, शंकरजी ने यह सोचा कि यह हमें चाहता नहीं, यह तो भैरवको पुकार रहा है वह भी वापस लौट गये। इसी तरहसे बीसों देवी देवतावोंको पुकारा, कोई न आये और लौट गये। इस तरहसे वह हिन्दू भाई नदी में बह गया, कहीका कही चला गया। एकका विश्वास नही है तो यही परिणाम होता है। भैया, एक ही का विश्वास करो। ज्ञानस्वरूप एकके सिवाय दूसरा भगवान् कैसे हो सकता है ?

अपना स्वरूप नजरमें आना चाहिए तो भगवान्का भी स्वरूप समझमे आयेगा। एक ही जगह चित्त डालना है। अपना भगवान् ही रक्षा कर देगा। परिवारकी जो जीव चिंता करते हैं वे मूढ़ है। उनके साथ कर्म है कि नहीं। अरे उनके साथ कर्म तो कहो उमसे भी बढ़कर हैं तभी तो अपने बालकोंसे ही वे मोह बनाये रहते है। उन बालकोंको ही गोदमे लेकर खिलाते पिलाते। बाम्बे वगैरासे उनके खेलने कूदनेका सामान मगाते। रात-दिन बुरी तरहसे उन बालकोंके पीछे परेशान रहा करते है, बच्चोंके पीछे तकलीफ उठाया करते है। अब यह बतलावो कि आपका भाग्य अच्छा है कि आपके लडकोंका भाग्य अच्छा है ? अरे वे तो उन बच्चोंकी नौकरी कर रहे है। सेवा सुश्रूषा कर रहे है। इसमें तो उन बच्चोका भाग्य ही अच्छा है। उनके ही पुण्यका उदय है जिससे उन बच्चोंके पीछे ही वे चिन्ता किया करते हैं, विकल्प किया करते है। बच्चे जैसे आप भी थे, पर अब वह पुण्य उठता गया। इन बच्चोंमें भी कुछ बड़े होने पर पुण्य न रहे तो ऐबकी बातें आ जाती है और सारा पुण्य खत्म हो जाता है।

सो भैया, यथार्थ अपने आपको सोचो। जो जीव हैं वे सब अपना अपना उदय लिए हुए है। उनके अनुसार ही उनका जीना, मरना, सुखी दुःखी होना निर्भर है। हम उनके मरने जीनेमें, सुखी दुःखी होनेमें हाथ नही बँटाते हैं। और अन्य कोई भी देवी देवता हमारे

उनके सुख दुःखका कर्ता हर्ता नहीं है । फिर क्यों वे देवी देवतावोंमें ही अपना सर रगड़ते हैं । पचासों प्रकारकी उन देवी देवतावोंसे ही अपनी आशा रखते हैं । क्या वे उन देवी देवतावोंमें ही मस्तक रगड़नेसे सुखी हो जायेंगे ? भरोसा केवल एकका रखो । इस शुद्ध चैतन्य प्रभुका स्वरूप ही अपने आपमें बसा हो । परमात्माका भरोसा रखो, बाकी तो सब अज्ञानकी बातें हैं । अपने आपको संभालो, अपने आपमें निवृत्तिकी भावना लावो ।

भैया, आनन्दका मार्ग निवृत्तिमें ही है, रिटायर होनेमें है, जुदा होनेमें है । किन्तु प्रायः यहाँ हाल यह हो रहा है कि ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती जाती है त्यों-त्यों तृष्णा भी बढ़ती जाती है । विरले ही लोग ऐसे होते हैं जो वृद्धावस्था तक ज्ञानकी ओर लगे रहते हैं । वे ही व्यक्ति ज्ञानमें लग जाते हैं जिन्होंने बचपनसे ही धर्मसाधना की हो । शरीर तो जीर्ण हो जाता है, पर तृष्णा जीर्ण नहीं होती । जो बूढ़े हो जाते हैं उनको बच्चे लोग बब्बा बोलते है । बब्बाका असली शब्द है बाबा । अरियाकर बोलते हैं तो जी को अलग कर देते हैं । असली शब्द है बाबाजी । बाबाजी के मायने पार होना अर्थात् आत्माका गृहजालसे हटकर मोक्षमार्ग के तट जाना । मगर वे बाबा जी न रहकर जावा जी रहते हैं, किन्तु उनको जावा जी कहा जाय तो नाराज होते हैं और अगर बाबा जी कहते है तो खुश होते हैं ।

भैया, सब संकट प्रवृत्तिमें हैं । यह जितना ही गंदा दिमाग होता है उतना हो भ्रम रहता है । सो अगर दुःख मिटाना है तो अपने शुद्ध ज्ञानकी ओर आना चाहिए । शुद्ध ज्ञान की प्राप्तिके लिए प्रथम लो देव, शास्त्र, गुरुका सच्चा निर्णय तो कर लो । देव कौन हो सकेगा ? देवके मायने भगवान । शास्त्र कौन हो सकेगा ? शास्त्रके मायने भगवान बननेका उपाय और गुरु कौन हो सकेगा ? गुरुके मायने रास्ता बताने वाला, ज्ञान सिखाने वाला । हम ठीक-ठीक निर्णय कर लें कि देव कौन हो सकता है ? शास्त्र कौन हो सकता है ? और गुरु कौन हो सकता है ? जो कल्याणके लिए आदर्श हैं वे देव हैं और जिसमें देवत्वप्राप्तिका उपाय लिखा वह शास्त्र है । जो जीवोंके लिए कुछ सिखाते हैं, जो कल्याणका उपाय बताते हैं वे गुरु हैं । ऐसे देव, शास्त्र, गुरुके प्रति भक्ति जगे कि ऐसे ही रूपमें शान्ति है, ऐसा ही स्वरूप उत्कृष्ट है; इस ही स्वरूपमें कल्याण है, इसमें ही हमें लीन होना चाहिए ।

जीवका स्वरूप विचारकर कल्याण भाव जगे वे देव हैं । जो पूर्ण ज्ञानमय है, पूर्ण आनन्दमय है वही तो देव है । ज्ञान और आनन्दस्वरूप वह भगवान है । हाथ-पैर वालेको लेकर मत बोलो कि वह भगवान है । शरीरके आकारको देखकर मत कहो कि यह भगवान है । यह ज्ञानज्योति और आनन्दस्वरूप अपना भगवान है । ऐसा ही होनेका, रागद्वेष मिटाने का जिसमें वर्णन है वह शास्त्र है और जो हमें सिखाता है वह गुरु है । अब बतलावो जो

देवी देवता रास्तेमें बने हैं वे देवमें शामिल हैं कि शास्त्रमें शामिल हैं कि गुरुमें शामिल हैं ? ये किसीमें भी तो शामिल नहीं हैं । लोग अपने हितकी बात नहीं सोचते । ये जगत्के प्राणी तो बिल्कुल बच्चासा बन रहे हैं ।

जैसे किसीने बच्चेसे कहा कि कौवा तेरा कान ले गया तो वह बच्चा उस कौवेके पीछे दौडता है, चिल्लाता है । अरे कौवा मेरा कान ले गया । कोई आदमी बोला—अरे कहाँ दौड़ रहा है ? तो बच्चा बोलता है कि अभी बात न करो, फुर्सत नहीं है, मेरा कान कौवा लिए जा रहा है । तब वह आदमी बोला—अरे कौवा कहाँ तेरा कान ले गया ? तेरा कान तो लगा हुआ है । देखा तो कान लगे थे । उसने समझ लिया कि कान तो मेरे लगे हैं, कौवा नहीं ले गया है ।

इसी प्रकार जब जिन्होंने जिसको जैसा बहका दिया वह सत्य मान रहा है, उसीके पीछे चल रहा है, फिर दुःखी हो रहा है । हे सुखार्थियों, ऐसा विश्वास रखो कि भगवान वही है जो पूर्ण ज्ञानमय है, पूर्णानन्दमय है, जिसमें कोई आकुलताए नहीं हैं, सदानन्दमय है, जिसका कुछ और काम करनेका स्वभाव नहीं है । और जो कुछ अटपट खटपट न किया करे तो वही विश्वका ज्ञाता है । जो आत्मा सत्यानन्दसे पूर्ण रहता है वही भगवान है । बात कुछ कठिनसी लग रही होगी किन्तु कठिन है नहीं । तुम्हारी बात तुम्हें ही कही जा रही है । जैसा तुम्हारा स्वरूप है तैसा ही प्रभुका स्वरूप है । अपनी आत्माकी कीमत नापो, दीन हीन न समझो । तुम स्वयं चैतन्य प्रभु हो, प्रभु स्वरूप हो, अपनेको दीन हीन न समझो । तुममे ही वह शक्ति मौजूद है, तुममें ही वह तत्त्व मौजूद है कि जिसको निहारनेसे सारे पाप धुल जाते है और उत्कृष्ट प्रभुका स्वरूप प्रकट हो जाता है । सो अपने भगवानको पहिचानो अर्थात् उस ज्ञान और आनन्दस्वरूपको अपना प्रभु समझो, उसका ही भरोसा रखो, उससे ही जीवन पार होगा ।

भैया, जो सन्मार्गकी ही बातें बतलाने वाले, धर्मका ही मार्ग दिखाने वाले हों उनकी उपासना करें और अपना सही स्वरूप नजरमें लावें । अपने सत्यस्वरूपकी उपासना करके, आराधना करके, भक्ति करके अपने अज्ञानको मिटाओ तो सुखका सही मार्ग मिल सकता है । नहीं तो सुखका सही मार्ग नहीं मिल सकता । मोहमें तो आकुलताएँ ही है तबाही हैं, बरबादी ही है. यही मोहका फल है । मनुष्यसे मिटकर चिड़िया बन गया तो उसमें मौज किया, सूकर बन गया तो उसमे मौज किया । जिस जगह जीव जाता है, जिसके संगमें रहता है वह वहीं मोह करता है । उसीमें ही यह जीव फंसा है । अरे यह जीव तो प्रभुके ही समान है ।

सो अपना सत्य ज्ञान जगाओ और व्यर्थके जो अशान्ति और क्लेश है उनको मिटाओ यही सच्चा ज्ञान है।

लोभादघस्ततः क्लेशोऽतस्तृष्णालुः सदाकुलः।
वीततृष्णः स्वभावो मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-११॥

लोभसे पाप होते हैं। लोभ एक ही किस्मका नहीं है, सैकड़ों किस्मका है। शरीरमें लोभ हो, धनमें लोभ हो, समाजमें इज्जत चाहनेका लोभ हो, कितने ही प्रकारके लोभ होते हैं पर सब प्रकारके लोभोंसे पाप ही पैदा होते हैं। जीव अपना स्वभाव देखे तो यह पता पड़ेगा कि यह तो सबसे निराला, केवल ज्ञानस्वरूप है। इसका किसी भी पदार्थसे कोई कोई सम्बन्ध नहीं है। सबसे बड़ा संकट इस जीवको है तो यह है कि परपदार्थोंमें अपना मन लगाये हैं। यह संकट मामूली नहीं है। इस जीवको यह एक बड़ा संकट है। कुछ प्रयोजन नहीं, परपदार्थ हैं, न कोई साथ आता है और न साथ जाता है फिर भी उसमें यह कल्पना हो कि यह मेरा है तो यह उसकी भूल है। बस ऐसा ख्याल हो जाना ही इस जीव पर बड़ा संकट है। पर मोही जीव इस संकट को सकट नहीं मानते और उसमें ही फूले हुवे फिरा करते हैं। सो कुछ ही समयमें इसका भी खोटा परिणाम निकलता है कि रोते-रोते मरना पडता है। सब पापोंकी जड़ लोभ है।

एक कथानक है कि कोई पंडित जी बनारससे पढ़कर घर आये। भावना तेज बढ़ी। पढ़ लिख कर आये तो अपनी स्त्रीसे बहुत बड़ी-बड़ी बातें करने लगे कि मैं बहुत बड़ा पंडित हूं, काशीसे पढ़कर आया हूं, मैं शास्त्री पास हूं। तब स्त्रीने केवल एक प्रश्न पूछ दिया कि पापका बाप क्या है? अब पुस्तकोंमें उलट पुलट कर देखते है तो उसमें कहीं नहीं लिखा कि पापका बाप क्या है? बहुतसे ग्रन्थ देख डाले, न तो व्याकरणमें, न शास्त्रोंमें न दर्शनशास्त्रमें, कही भी पापका बाप लिखा हुआ ही न मिला। उसने मनमें सोचा कि हमारे गुरूने खूब पढ़ाया तो है पर एक चीज उसने छिपा ली है कि पाप का बाप नहीं बताया है। जैसे कोई लौकिक गुरू होता है वह अपने शिष्यों को सब कुछ बता देता है पर कुछ न कुछ कुञ्जीकी बात अपने बचावके लिए वह नहीं बताता है। ऐसा ही उसने सोचा कि सब कुछ तो गुरुने पढ़ा दिया पर एक चीज मुझे नहीं पढ़ाई, यह मेरे साथ बहुत बड़ा छल किया है। सोचा कि अब मैं गुरुके पास चलूं और उनसे उत्तर पूछूं। तो वह काशीको पैदल ही चल दिया। रास्तेमें ही एक जगह शाम हो गई। किसी तरहसे नगरके किनारे पहुंचे। नगरके किनारे एक बड़ा घर था, उसी घरके चबूतरे पर वह लेट गया।

जब सुबह हुआ तो उस घरकी मालकिन वेश्या नीचे उतरी। देखते ही पूछा, अरे

तुम कौन हो ? कहाँसे आए हो ? बता दिया मैं शास्त्री हूँ, मैं अमुक हूं। मेरी स्त्रीने यह प्रश्न किया कि पापका बाप कौन है ? तब मैं गुरुसे पूछनेके लिए जा रहा हूँ। वेश्या बोली कि आप थक गये हैं, हमारा बड़ा अच्छा भाग्य है कि आप यहाँ आये हैं। कृपा करके आप भोजन करके चले जाना। उस पंडितने कहा कि आप कौन हो ? वह बोली आपकी सेविका वेश्या हूँ। ब्राह्मण बोला कि अरे वेश्याका नाम सुनते ही पाप लग गया। फिर तो चबूतरे पर सोनेका भी पाप लगा, भोजन तो होगा ही कैसे ? वेश्या बोली—महाराज, जहाँ सोये हो वह तो पत्थर हैं। वहाँ सोनेसे क्या पाप लगा ? और अगर आपको पाप लग गया है तो आप ५ अशर्फियाँ ले लीजिए, सो आप अपना यज्ञ रचा लीजिए, प्रायश्चित्त हो जावेगा उस पंडितने पाँचों अशर्फियाँ ले ली। वेश्या बोली—कृपा करके आप भोजन बना लीजिए, कहा—बहुत ठीक। भोजनका सामान वेश्याने धर दिया। अब तो सिगड़ी बाहर जलने लगी। वेश्या बोली—महाराज ! आप जैसे बाहर बनाते तैसे ही अगर भीतर बना लें तो क्या हर्ज ? आखिर जैसे ईंट पत्थर यहाँ है तैसे ही वहाँ हैं। अगर कोई दोष लगता हो तो ये ५ अशर्फियाँ रखी है इनसे प्रायश्चित्त कर लेना। सो भीतर चला गया। अब भीतर सिगड़ी जलने लगी। वेश्या बोली— महाराज ! आप सब कृपा करते जा रहे हैं हमारे ऊपर, एक कृपा और कीजिए। आपके हाथमे और हमारे हाथमें कुछ फर्क है क्या ? फर्क तो नहीं है। आप जल रहे हैं, आप तकलीफ न करें, मैं ही बनाए देती हूं। यदि दोष लगता हो तो ये ५ अशर्फियाँ रखी है प्रायश्चित कर लेना। पंडित जी ने ५ अशर्फियाँ वे भी ले लीं। वेश्याने खाना बना दिया। अब वेश्या बोली—महाराज ! आपने सब कृपा मुझपर की, अब आप करुणा करके इतनी और कृपा कीजिए कि अपने मुँहमें मुझसे ग्रास ले लीजिए तो मेरा जन्म कृतार्थ हो जायगा। यदि कुछ दोष लगता हो तो ये ५ अशर्फियाँ रखी है। पंडितजी ने कहा—ठीक है। अब तो वेश्याने मुंहमे ग्रास तो नहीं रखा, पर मुंहपर एक तमाचा मारा। बोली—मूर्ख ! पापका बाप पूछने तू बनारस जा रहा है। यह तो यहीं सीख ले। यह लोभ ही पापका बाप है। लोभको पापका बाप बखाना।

जितने झगड़े होते हैं उनकी जड़ लोभ है। इस लोभके ही कारण मनुष्य बेमनुष्य हो जाता है। किसी भी प्रकारका लोभ हो, लोभ हो जानेसे संकटमें घिर जाता है। सब संकटों का कारण तो यह लोभ है। लोभसे ही पाप होते है और पापोंसे ही फिर क्लेश होते हैं।

एक आदमी बाजारमें गया और पूछा कि भाई नारियलका क्या भाव है ? वह बोला—चार आनेमें एक। वह बोला—दो आने लोगे ? दुकानदार बोला—भाई तुम्हें दो आने का लेना हो तो नागपुर चले जाओ। नागपुर वह गया। वहां जाकर भाव पूछा। दुकानदार

बोला—दो आने का एक। बोला—नहीं चाहिए। एक आना लोगे ? बोला— भाई एक आनेका लेना चाहो तो बम्बई चले जाओ। वह बम्बई गया। पूछा—नारियलका क्या दाम है ? बोला—एक आनेका एक। कहा— आधा आना लोगे ? दूकानदारने कहा— भाई आध आनेका लेना हो तो ये भी क्यों लगाओगे, पास हो में तो देहातमें पेड़ हैं, चढ़कर तोड़ लेना। वह देहात चला गया। पेड़पर चढ़कर नारियल तोड़ने लगा। सो डाली तो हाथसे पकड़े रहा और पैर छूट गये, वह लटक गया। इतनेमें एक हाथी वाला निकला। वह हाथी वालेसे बोला— हमें उतार लो, हम तुम्हें ५०० रु० देंगे। वहाँ तो दो पैसे बचा रहे थे और अब यह हालत। हाथी वाला नीचे आकर पकड़ने लगा। हाथी पर खड़े होकर भी नहीं आया, कुछ ऊपर था। हाथी वाला उछलकर पकड़ने लगा। वह तो उछला और उसी समय हाथी कुछ खिसक गया। वह हाथी वाला भी ऊपर उसकी टाँगसे टंग गया। अब हाथी वाला उस दूसरे व्यक्ति से कहता है कि भैया डालीसे हाथ नहीं छोड़ देना, हम तुमको ५०० रु० देंगे। अब एक ऊँट वाला निकला, ऊँट वालेसे दोनों बोले—भाई हम लोगोंको उतार लो हम तुम्हें पाँच-पाँच सो रुपये देंगे। अब ऊँट वाला नीचेसे आकर उनको उतारने लगा। कुछ ऊँचा पड़ता था, वह भी ऊँचा पड़नेसे ऊपर टंग गया। ऊँट भी खिसक गया। ऊंट वाला ऊपर वालेसे कहता कि तुम छोड़ नहीं देना, हम तुम्हें ५०० रु० देंगे। अब एक घोड़े वाला निकला। तीनों बोले- हम सब पाँच-पाँच सो रुपये देंगे, हमें उतार लो। वह भी उसी तरहसे पकड़ने उछला तो वह भी घोड़ेके खिसक जानेसे ऊपर टंग गया। वह भी ऊपर वालेसे बोला कि भाई छोड़ना नहीं, हम तुम्हें ५०० रु० देंगे।

तो भैया ! लोभसे देखो तो कितनी हैरानी हुई ? लोभका पाप बहुत बुरा होता है। देखा होगा लोगोंको कि बाजारमें सब्जी खरीदने गये, जरा अधिक सयानापन किया तो जरा सी बातमें कहते हैं, ठगे गये, खराब सब्जी ले आये, दाम भी खूब दे आये। होता है ना भैया ! कभी ऐसा भी ? इस लोभका परिणाम केवल व्याकुलता होती है, क्लेश होता है। सो भैया जो तृष्णा करने वाले जीव हैं वे सदा व्याकुल रहते हैं।

अब बताओ ऐसा उपाय कि जिससे तृष्णा न रहे। तृष्णा रहनेसे ही मोही बाहरी चीजोंको पकड़े रहता है। तृष्णा रही तो उसका गुजारा कैसे होगा ? रक्षा कैसे होगी ? तृष्णा न रहे तो सब कुछ ठीक हो जायेगा। ऐसा कोई उपाय दिखाओ कि जिसमें तृष्णा न रहे। वह उपाय अन्य कुछ नहीं है। यही उसका उपाय है कि अपना यथार्थस्वरूप जान लें। यदि अपने यथार्थस्वरूपको जान लें तो तृष्णा लोभ आदि मिट जावेंगे। ये जगत्के जीव हम

और आप इस मोह और तृष्णामें ही प्रसन्न हो रहे हैं, अहंकार रख रहे हैं। तुम देख लो कितने ज्यादा दुःखी हो रहे हैं ? कितनी बड़ी बुद्धिमानी है देख लो कि हम सब पापको ही अधिक चाहते हैं। ऐसे बुद्धिमान् भी होते जा रहे हैं और दुःखी भी होते जा रहे हैं।

खुद कैसे बड़े हैं ? खुद तो अपनेसे कितने दूर हो गये है ? खुद परको तो देखते जा रहे हैं और अपने आपको नहीं देख रहे हैं। यही कारण है कि लोकमें भ्रमते फिरते हैं। ऐसी प्रवृत्तिसे शांति नहीं मिलती है। शांति तो प्राप्त हो सकती है तब, जब जैसा साफ अपना यथार्थस्वरूप है वैसा ही अपना उपयोग बनावें। मैं कैसा हूं ? मैं सबसे न्यारा हूं कि मिला-जुला हूं ? मिला-जुला तो हूं नहीं। कुछ भी तो एकसी बात नहीं देखी जाती है। हम यहाँ बैठे है, आप यहाँ बैठे हैं। हमारा विचार हममें चलता है, तुम्हारा विचार तुममें चलता है। हमारे सोचनेसे तुममें कुछ नहीं होता और तुम्हारे सोचनेमें हममें कुछ नहीं होता। सबकी अलग-अलग बात है। मैं सबसे न्यारा हूं, ऐसा समझ लो न्यारा अपनेको। देह तकसे भी न्यारा अपनेको समझ लो। केवल ज्ञानस्वरूप यह मैं हूं। इस मेरेका जगत्में किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह मैं खुद ही ख्याल बनाकर सम्बन्ध मानता हूं और प्रसन्न होता हूं।

मैं तो सबसे जुदा हूं, ज्ञानानन्दमय हूं, ऐसा परिचय हो जाय तो यह बात उसके घर ही कर जायेगी कि मेरा जगत्के अन्य पदार्थोंसे कुछ प्रयोजन ही नहीं। ये मेरा क्या कर देंगे ? कुछ भी तो मेरा ये न कर देंगे। ऐसी बात यदि घर कर जाय तो तृष्णा न हो सकेगी। लोभ भी वहां न हो सकेगा। मेरा स्वभाव तो तृष्णारहित है, ज्ञानस्वभाव है और झगड़ा काहेका मच रहा है ? यह सारा झगड़ा अज्ञानसे मच रहा है। जैसे स्वप्नमें झगड़े मचाना केवल कल्पना करके है इसी तरह घर्मकी आँखों जागते हुए भी मोह आदिके स्वप्न मचाया करते हैं। मोह छोड़ो तो शान्तिका उपाय मिलेगा। यह मोह अशान्तिको बढाता है इस मोहकी अजब गति हो गई है। मेरा स्वभाव तो तृष्णारहित है। ऐसे स्वभावमें रहकर मैं अपनेमें अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

तृष्णाबन्धश्च संसारोऽतार्ण्यं मुक्तिः स्वतन्त्रता।
वीततृष्णः स्वभावो मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-१२॥

संसार और मुक्ति इन दो का स्वरूप इसमें कहा जा रहा है कि संसार तो ऐसा है कि इसमें तृष्णा होगी और बन्धन होगा और मुक्ति कैसी है कि तृष्णा कहीं न रहे, पूर्ण स्वतंत्रता आ जाय। सत्य-स्वतंत्रताका ही नाम मुक्ति है। बतलाये कोई किसीके आधीन है क्या ? कोई भी किसीके आधीन नहीं है। कोई किसीको पकड़े नहीं है। सब जीव जुदा-जुदा बैठे हैं पर हो क्या गया कि सबने समझ लिया कि सबसे मिले हुए है। ऐसी तृष्णाका ही

बंधन पड़ा हुआ है। चीजें तो सब अलग-अलग हैं। यह सबसे न्यारा है, इस देहसे भी न्यारा है। अगर किसीसे कहा जाय कि सब बखेड़ाको छोड़कर चलो आत्मारामममें भ्रमण करो तो कोई भी तैयार नहीं होगा। कोई भी इस बन्धनसे छूट नही सकता।

देखो भैया, किसीसे कोई रस्सी नहीं बंधी है, कोई किसीसे चिपटा नहीं है, कोई किसीको चिपकाए नही है, फिर भी कोई बन्धसे छूट नहीं सकता। कोई अपने स्वरूपाराममें जानेके लिए तैयार नहीं हो सकता। दूसरोंको ऐसा लगता है कि इसमें क्या दिक्कत है? मगर कहा जाय कि चौधरी जी, सिंघई जी आप चले जायें, तो सामने एक दिक्कत आ जावेगी सारी दिक्कत यह है जो तृष्णाका बन्धन पड़ा हुआ है, यह बन्धन भावात्मक है, यह द्वन्द्वात्मक बन्धन नही, केवल अपने अज्ञानसे उठा हुआ बन्धन है। यह बहुत विचित्र बन्धन है। रस्सी में रस्सीको बांध दिया जाय तो दो चीजें हैं, इसलिए बन्धन हो गया। मगर यहाँ इसको बन्धन ही नही है। यहाँ तो केवल ख्याल बनानेका बन्धन है। किसी दूसरी चीजने नही पकड़ा है। जिस घरमें बच्चे हैं वे बच्चे बन्धन हैं कि नहीं हैं? घरमें स्त्री बन्धन है कि नहीं है? नही। वे अपने अज्ञानसे मोही बन्धनमें बंध जाते हैं। अगर अपनेमें अज्ञान है तो कहीं भी जायें सब जगह बन्धन है, और अगर बन्धन है तो सब जगह दुःख है। जहाँ पर दुःख है वहाँ पर पाप है। अतः मोहरूपी पापसे बचनेके लिए मोहका त्याग करो।

एक गांवमे एक बेवकूफ नामका आदमी था। उस बेवकूफको सब लोग मूरखचंद कहने लगे। जो आ जाता वही पूछता, क्या आ गये मूरखचंद? क्या जावेंगे मूरखचंद? इन सबसे वह बहुत चिढ़ने लगा। गुस्सेमें आकर उसने गांव छोड़ दिया। जो देखे वही उसे मूरखचंद कहने लगा। गांव छोड़कर तीन चार मीलपर एक कुवां था। उस कुवेंकी पाटपर वह पैर लटकाकर बैठ गया। कुवेंकी पाट जो मेंड़सी होती है, जिसे मुनाबरे बोलते हैं उसी पर वह बैठ गया। सो अब वहाँसे एक मुसाफिर निकला। उस व्यक्तिको जो कुवेंकी मुनाबरे पर बैठा था, देखकर बोला—अरे मूरखचन्द तुम कहाँ बैठे हो? उस व्यक्तिने सोचा कि इस व्यक्तिको मैं जानता नही, फिर भी वह मेरा नाम जानता है, मुझे मूरखचंद कहता है। वह उसके गले लगकर पूछता है कि तुमने मेरा नाम मूरखचंद कैसे जाना? उसने कहा—भाई तुम खुद मूर्खपनेका काम करते हो, जो कुवेंकी पाटपर बैठे थे। सो तुम्हारा नाम तो स्पष्ट है।

सो भैया, जिसके जैसी मोहकी आदत पड़ गई है वह चाहे घरमें रहे, चाहे जहाँ रहे वह मोह ही करेगा। सो जब तक ज्ञानके प्रकाशकी बात भीतरकी आत्मामे स्वच्छ नहीं बना ली जायेगी तब तक इसको शान्ति नहीं मिल सकती। अब अपनी-अपनी सोचिए। जब मैं पैदा हुआ तबसे अब तक घरमें रहा, कहीं रहा और क्या-क्या बातें देखीं, कितनी बातें सोचीं,

अनेक कर्तव्य कर डाले, बच्चोंमें, पोतोंमें, भाइयोंमें ही रहे। बीसों तो ब्याह रचा डाले होंगे, दस-पाँच तीर्थ कर डाले होंगे, समाजके बड़े-बड़े काम कर डाले होंगे, सब कुछ कर डाला है, पर आजकी बात कहते हैं कि आत्माके भीतरकी रोकड़बहीमें कितनी रकम आई है ? सो बतलावो। भीतरमें देख लो क्या शान्ति मिली है ? कुछ भी तो शान्ति नहीं मिली है। शान्ति तो उसको मिल जाती है जिसने अपने स्वरूपका ज्ञान कर लिया हो।

शान्ति तो केवल ज्ञानमें है। जब ज्ञान होता है तब तृष्णायें नहीं रहती हैं, बन्धन नहीं रहता है। तृष्णायें और बन्धन न रहना बस यही स्वतंत्रता है, इसका ही नाम मुक्ति है। भाई तृष्णारहित रहना तो आत्माका स्वभाव ही है। आत्माका जो सहजस्वरूप है उसमें न तो क्रोध है, न मान, माया, लोभ है, किसी भी प्रकारका विकार नहीं है। उपाधि साथमें लगी, सो विकार लग गये। जैसे स्फटिकमणि स्वच्छ है, निर्मल है, हरा, पीला किसी भी रंगकी नहीं होती है, पर यदि कोई रंगीन कागज लगा दिया जाता है तो वह मणि भी उस रंगकी प्रतीत हो जाती है। इसी तरह हम बिल्कुल स्वच्छ है, ज्ञानमात्र है, ज्ञाता द्रष्टा है, पर हमारे साथ जो उपाधियाँ लग गयी हैं, उनसे ही अनेक राग लग गये हैं। उन रागोंसे ही ख्याल बनाकर हम अनेक तर्क वितर्क किया करते हैं। तर्क वितर्क तो उपाधियोंसे आ गये। उपाधियोंसे युक्त अपने आपके स्वभावको देखो तो बेकार है। मैं तृष्णावोंसे रहित हूँ, तृष्णायें करना मेरा स्वभाव नहीं है। सो मैं तृष्णावोंसे रहित अपने स्वरूपमें रमूं और समस्त दुःखों से दूर होऊँ।

ताष्ण्र्येऽताष्ण्र्येऽपि वस्तूनां वियोगो नार्थकृत्ततः।
वीततृष्णः स्वभावो मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-१३॥

चाहे पदार्थोंमे तृष्णा हो और चाहे न हो, दोनों ही हालतोंमें वस्तुवोंका संयोग वियोग फलदायी नहीं है, अर्थकारी नहीं है। जिसमें तृष्णा नहीं है वस्तु कहीं चली जाय, पदार्थ यहाँके वहाँ हो जायें, नष्ट भ्रष्ट हो जायें पर ज्ञानीको कुछ भय व भ्रम नहीं है। संयोग वियोगका उस पर कोई असर नहीं है। अगर तृष्णा है तो पदार्थोंका संयोग वियोग होने पर उस तृष्णा वाले पर असर हो जायेगा, जिसकी तृष्णा लगी है। वह पदार्थ मिटेगा तो उस पदार्थ ने कुछ असर नहीं किया, उससे असर नहीं आता। भीतरमें जो तृष्णा है उसका असर आया करता है। किसी भी परवस्तुका संयोग वियोगका असर आत्मामें न आयेगा। उस पदार्थको विषय करके आत्मामें ख्याल परिणमन उसी आत्माका ही जाता है। किसी प्रकारका भ्रम उसकी आत्मामें लग जाता है। परवस्तु ख्याल करने वाला ही स्वयंकी परिणतिसे दुःखमें होगा। वह चाहे आनन्दमें हो, परवस्तुका असर उस जीवपर नहीं

है, पर ज्योंही वह ख्याल बनाता है तो उस ख्याल बनानेका असर उस जीव पर है, इससे वह दुःखी रहता है।

दुनियामें देखो सैकड़ों आये और चले गये। दुनियाका ढंग तो देख लिया। इस पृथ्वी पर कैसे-कैसे वीर पैदा हुए, इतिहासमें कौरव पांडवका जमाना देख लिया, आप सबने श्रीरामका जमाना देख लिया, उसके बहुत पहिले चलो तो ऋषभदेवका जमाना देख लिया, जो महापुरुष हुए वे इस पृथ्वी पर कैसे-कैसे सद्व्यवहार कर गये या जो कुछ कर गये सो देख ही लिया। उनका कुछ भी तो अब नजर नही आता है। बहुत पहिलेकी बात तो देख ली, अब अपने घरके दादा, बाबा इत्यादिकी बातें देख लो। किसका कहां क्या रह गया? इस जगत्मे कोई रहेगा नहीं। यहां तो आना जाना चलता ही रहता है।

भैया! एक वृक्षसे पत्ती गिरी तो गिरती हुई पत्ती वृक्षसे कहती है, 'पान गिरता यों कहे सुनो वृक्ष बनराय। अबके बिछुड़े कब मिलें, दूर पड़ेंगे जाए॥' वह पत्ती कह रही है कि हे बनराज वृक्ष! अब आपसे मेरा बिछुड़ना हो गया है तो अब यह तो बताओ कि आप से बिछुड़ना हो रहा है, हम दूर पड़ जायेंगे, अब कब मिलना होगा? तब वृक्ष कहता है: 'तब वृक्ष यों बोलियों सुन पत्ता इक बात। या घर या ही रीत है इक आवत इक जात॥' एक आता है और एक चला जाता है। नई पत्तियां आ जाती है और पुरानी पत्तियां चली जाती है। यही इस जगत्की रीति है। जिस तरहसे जो घरमें बच्चा है वह जवान होगा, फिर बूढा होगा, फिर खत्म होगा। इस जगत्मे कोई ऐसी चीज नही है जो जमकर रह सके, मेरी होकर रह सके। सोचो जब कुछ नहीं है, फिर मोहमें फंसे रहें, रागमें फंसे रहें, यह मेरा फला है, मेरा हितकारी है, यह मेरा कल्याणकारी है– ऐसी जो कल्पनाएं बना रखी है उनसे क्या लाभ होगा? यह मोही प्राणी इन कोरी कल्पनाओंमें ही रहकर परेशान होता है। शांतिका उपाय आत्मज्ञान है। आत्मज्ञानके बिना शांति नही हो सकती है।

पूर्यते पुण्यकामार्थैर्न किञ्चिन्मे ततो हि तान्।
त्यक्त्वात्मन्येव तिष्ठेयम् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–१४॥

पुरुषार्थ चार होते हैं– (१) धर्म (२) अर्थ, (३) काम और (४) मोक्ष। सभी लोग जानते हैं। सब धर्मोंमें बताया गया है कि पुरुषार्थ चार होते हैं। इसमें से धर्म नाम तो पुण्य है। जीवों पर दया करना, परोपकार करना, सेवा करना, त्याग, वृत्ति, संयम आदि ग्रहण करना ये सब पुण्य कहलाते हैं। अर्थ पुरुषार्थ नाम है धन कमानेका। व्यापार आरम्भ करना कहलाता है अर्थपुरुषार्थ। अपने कुटुम्बकी, देशकी खबर रखना, पालन करना और अपने खाने पीनेकी तथा अपने विषय इत्यादिके भी कार्य करना ये सब कार्य कामपुरुषार्थ

कहलाते हैं। कर्मोंसे छूटनेका उपाय करना ही मोक्षपुरुषार्थ है। इन चारोंमें से मोक्षपुरुषार्थ से ही इस आत्माका पूरा पड़ता है अर्थात् आत्माको इस मोक्षपुरुषार्थसे ही लाभ है। जो तीन पुरुषार्थ और हैं (१) पुण्य, (२) अर्थ और (३) काम, इन तीनों पुरुषार्थोंसे मेरा कुछ भी पूरा नहीं पड़ता। पुण्य किया तो देव हो गये, राजा महाराजा हो गये या धन सम्पदा मिल गई। देव देवियाँ हो गये तो विषयोंके साधन ही तो मिले। जिन विषयोंमें रति करके पाप कमाये जायेंगे और उन पापोंके फलमे दुर्गतिको पाना होगा। यह पुण्यसे ही मिला।

मोक्षपुरुषार्थमें दृष्टि नहीं है तो पुण्यसे क्या मिला? कुछ भी नहीं। उस पुण्यसे भी पूरा न पड़ेगा। कुछ वर्षोंके लिए, एक भवके लिए मोक्ष मान लिया और क्या होगा? पुण्य से कुछ पूरा न पड़ेगा।

धन कमानेसे क्या पूरा पड़ेगा? धन कमानेसे मान लो लाखोंकी सम्पदा जोड़ ली, तो उस सम्पत्तिसे, उस सम्पदासे कुछ सुख सहायता मिल जाय, ऐसी बात तो नहीं है। धन से भी पूरा नहीं पड़ेगा। इस यत्नमे रहकर अन्तमें बीमार ही होते हैं, झंझट ही लगते हैं, परेशान ही होते हैं और कुछ समय बाद अकल्पित क्लेश ही होते हैं। कारण कि बड़ा यत्न करके लाखोंका धन कमाया, अब वह छूट रहा है। धनमें तो आरम्भमे लेकर अन्त तक दुःख ही दुःख है। कहाँ धरें? बैंकमें धरें तो उसकी भी शंका रहती है। अभी सरकारको जरूरत हो तो कहे कि बैंकोंका हिसाब किसीको नहीं देना है अथवा कुछ गडबड़ हो जाय तो यों ही गये। अब कहाँ धरें? लोगोंको ब्याज इत्यादि पर रुपया उठानेमे विश्वास नहीं। यदि धन घरमे ही धरा रहे और घरसे ही कोई पुरुष जबरदस्ती ले जाय तो क्लेश होगा। इस प्रकार धनकी रक्षा करनेमे भी तो क्लेश ही है। ऐसा भी नहीं है कि वह सम्पदा सदा तुम्हारे ही पास बनी रहे। क्या कभी मरण नहीं होगा? अवश्य होगा, अचानक होगा। मरते समय वियोगका दुःख जरूर होगा, अचानक होगा। मरते समय वियोगका दुःख जरूर होगा तो धन से भी पूरा नहीं पड़ता।

क्या कामसे, विषयभोगोंसे पूरा पड़ेगा? इन विषयोंसे भी पूरा न पड़ेगा। इन विषयों से आत्मबल घटता है। मोह और रागके प्रसंगोंसे आत्मा बरबाद होती है। मेरा पूरा पड़ना तो दूर रहा, उल्टा पतनकी ओर ये राग द्वेष मोह ले जाते हैं मुझे। तो इन कामोंसे भी पूरा नहीं पड़ेगा। फिर क्या करें? जिनसे मेरा उल्टा काम बिगड़ता है, लाभ कुछ नहीं मिलता है, उनको तो त्यागना ही अच्छा है। तो इनको कैसे त्यागा जाय? विषयभोगोंको त्याग दो, अपना ज्ञान संभालो, इन कामोंसे भी पूरा नहीं पड़ेगा।

देखो भैया, स्पर्शन इन्द्रियका विषय है कामसेवनका। कामसेवनसे मनुष्यको लाभ है

या नहीं ? अरे इन विषयभोगोंसे लाभ नहीं है, इनसे तो शक्ति क्षीण होती है, उपयोग उलझ जाता है । एक मोही जीवको अपनी आत्मा सौंप देते हैं । कुछ लाभ मिलता है क्या ? इस रसनाइन्द्रियके विषयोंसे लाभ कुछ मिलता है क्या ? स्वादमें आकर पक्का खाना खावें, मिठाई खावें, और-और भी चीजें खावें, इससे तृप्ति हो जायगी क्या ? स्वाध्याय, आत्मज्ञान अगर ठीक रखते हैं तो परमार्थ भोजन वही है । इस ज्ञानभोजनसे ही तृप्ति होगी । स्वाध्याय नहीं करते, इसीसे दिल दुःखी रहता है । देहका भोजन तो हृष्ट पुष्ट रखने वाली चीजोंका करना चाहिए । रसीली चीजोंका भोजन करनेसे तो सब गड़बड हो जाता है, खोटे विकार होते हैं, आलस्य आने लगता है । इससे भी क्या जीवका पूरा पड़ता है ? घ्राणइन्द्रियके विषयकी बात देखो । व्यर्थके इत्र लोग लगा लेते हैं । अरे उससे सुगन्ध आ गई तो कौनसा स्वाद मिल गया ? पापबध कितना किया, सुगन्धकी भी तो तृष्णा होती, फिर नाक भी बेकार हो जाती । ऐसी ही आँखोंकी बात है । आँखोंसे देख लिया सुन्दर रूप, उससे तो कुछ मिल नहीं जाता । लाभ क्या होता है ? कुछ भी है तो नहीं । उल्टा पराधीन बन जाते हैं । ऐसी ही है कामकी बात, मनके विषयकी बात । इन कामोंके विषयसे पूरा नही पड़ेगा । तब तो इनको त्याग दो । ज्ञानस्वरूप ही अपनेमें देखो और विषयोंसे प्रीति छोड़ दो, यह तो हुआ विषयोंका त्याग ।

अब रही धनकी बात, सो इस धनको तो पुण्यपर सौंप दो । धन आनेको होगा तो खुद आयगा, उसकी अधिक चाह मत करो । धन अधिक होनेपर भी देना तो पड़ेगा ही । इस धनके कमानेमें भी क्लेश करने पड़ते हैं । धन संचित हो जाए तो उसकी रक्षा करनी कठिन है और फिर समयके अनुसार सबको देना पड़ेगा । जैसे आजकल जरूरत है तो किसीने १० लाख दिया, किसीने ५ लाख दिया सरकारको । सो भैया, धन आता है दूसरोंको देनेके ही लिए । धन कुछ खा नही लिया जाता है । तो इस धनको तो पुण्यपर सौंप दो । धन आता हो तो आवे, न आता हो तो न आवे । जब पुण्यका उदय होगा तब धन जरूर आयगा । धनके लिए कोई परिश्रम नही करना पड़ता है । किसीसे ईर्ष्या करना बेकार है कि यह तो लखपति है और मेरे पास कुछ नही है, यह मालोमाल बैठा है, ये तो व्यर्थकी बातें हैं । अरे धनसे आत्मामें कोई लाभ नही होता । सबकी अपने कर्मोंके अनुसार ही परिणति होती है । जिसका जैसा भाग्य है वैसे ही धन मिलता है । सबके भाग्यकी बात है । भाग्य अपने परिणामसे बनता है और फिर वह धन दूसरोंके ही काममें आयगा ।

धन मिला तो वे धनी पुरुष स्वयं ही उदार हो जाते हैं और वे बिना संकोचके दूसरो की रक्षा करते हैं । खैर, इस धनका विकल्प करनेसे क्या ? आता हो तो आवे और अगर न आता हो तो न आवे । इस धनसे जीवका कुछ पूरा नही पड़ेगा । पुण्यके काम होते हैं तो

हों । अन्तरमें यह विश्वास रखो कि मेरा स्वरूप तो ज्ञाता दृष्टा रहनेका है और यही धर्म है, यही असलियत है । ज्ञातादृष्टारूप जो धर्म है वही मेरा पालन करेगा । उसका ही आश्रय लें । पुण्य होता हो तो हो, मगर पुण्यसे पूरा न पड़ेगा । ऐसी दृष्टि रखो । इस तरह इससे अपने को न्यारा करनेमें अपनी आत्मा दृढ़ हो जाती है । सो अपनी आत्माके उपयोगको दृढ़ करो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो ।

भूतो भवेषु सम्पन्नो न तुष्टोऽभूदनर्थता ।
मायाविनो किमाशासे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥–१५॥

बतलाओ परपदार्थोंके संगम करके कुछ संतुष्ट हुए ? कुछ संतुष्ट न हुए । अब तक इतनी उमर हो जाने पर भी यदि किसीसे पूछें कि अब तुम्हे संतोष हो गया क्या ? अब आगे सुखकी आवश्यकता तो नही रही ? तो कौन ऐसा बता देगा कि तुष्ट हो गये है और उसे अब सुखकी कोई आवश्यकता नही रही । कोई तुष्ट नही हुआ । नदियोंके भरनेसे समुद्र क्या कहेगा कि अब पानी मत लाओ ? अरे उसमें तो जितना ही पानी आयेगा उतना ही समुद्र महान् कहलायेगा । नदियोंके गिरनेसे समुद्र तुष्ट नही होता । जलती हुई अग्निमें तृण डाल देनेसे अग्नि तुष्ट नही हो जायगी । वह तो जितना ही ईंधन पाती जायगी उतना ही जलाती जायगी । अब उसे ईंधनकी जरूरत नही है ऐसा अग्नि कभी न कहेगी । अग्निको ईंधन मिल जानेसे संतोष नही होता है ।

इसी तरह विषयोंके साधन मिलनेसे क्या संतोष हो जायगा ? संतोष नही होगा । जो आज ऐसा सोच रहे है कि मुझको इतना मिल जाएगा तो फिर मुझे न चाहिए कुछ, तो मिल जाने पर क्या वे संतोषसे रहेगे ? संतोषसे वे नही रह सकते है । गुजारा तो सब परिस्थितियोंमें चलता ही है पर ऐश आरामकी और-और बड़ी बातें चाहनेसे इनको सुख नहीं रहता है । जो वर्तमानमें धन मिला हुआ है उससे भी सुख नही रहता है क्योंकि यह चाह रहती है कि और मिले । इस भावनासे जो गाँठमे है उसका भी सुख भोग नही पाता है आगेके सोचनेसे वर्तमानमें भी सुख नही भोग सकता है । आपकी इच्छाएं तो अनादिसे ही बाधा डालने वाली है । इन भोगोंसे, कामसे अनर्थ ही तो होगा । फिर ये समस्त सम्पदाएं मायारूप है । आज यहाँ कल वहाँ, ये मेरी निजकी चीजें नही है । इन चीजोंका मैं क्या विश्वास करूं । इनका तो विश्वास ही करना व्यर्थ है । किसी भी परपदार्थकी आशा न हो, क्योंकि ये परपदार्थ इतने जड़ है कि इनकी आशा जहाँ करी तो आत्माको कुछ भी नही मिलता है । सो इस मायामय सम्पदाकी मैं क्या आशा करूं ? उनकी आशा छोड़कर मैं अपनेमें अपने आप ही स्वयं सुखी होऊं ।

यह सम्पदा शांतिका तो कारण नहीं है। जिसके पास सम्पदा है उसके खलबल मचा देती है। इसे कहते हैं निन्यानवेका फेर। जब कुछ नहीं है, १० रु० की ही पूंजी है तो ऐसा कुछ सोचो कि १० रु० में ही मेरा काम बने। रोज कुछ लोग खोम्चा ही फेर लेते हैं। १० रु० में खोम्चा हो ही जाता है। गांवमें फेरी लगा दिया तो गांवमें सब खाने वाले हैं ही। जिसकी गांठमें दाम हो खरीद ही लेगा। खरीद लेनेसे उस बेचने वालेका भी काम हो गया। गुजारे का काम चल गया। इस तरहसे जब ग्रामदनी बढ़ती जाती है तो उसकी ग्राशा भी बढ़ती जाती है। इसी तरह ग्रौर भी बढ़ करके ग्रगर कोई काम करता है तो ग्राशा बढ़ती जाती है। धीरे-धीरे यह ग्रसंतोष भी बढ़ता जाता है। यह माया मोह हो जाना बुद्धिके ही बिगाड़का कारण है। बिगाड़ करना धोखा देना इससे तो उसको कुछ फायदा नहीं। बाह्यकी चिंता छोड़ कर ग्रपने स्वरूपको देखो ग्रौर ग्रपने स्वरूपको देखकर सुखी होग्रो।

पुण्यापुण्यफलं दृश्यमदृश्या चिच्चमत्कृतिः।
वीततृष्णस्य स्वस्थस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–१६॥

लोकमें जो कुछ देख रहे है वह सब पुण्य पापका फल है। जो जीव सुखी दुःखी देख रहे, जो व्यवहार देख रहे, जो जीव कुछ नजर ग्रा रहे है ये सब पुण्य पापके फल हैं ग्रर्थात् पुण्य भाव हो उसका फल है, पाप भाव हो उसका फल है। जो सत्य है वह तो पुण्य पापका ठाठ है, मगर जो वास्तविक ठाठ है, चैतन्यका जो चमत्कार है वह इन्द्रियगम्य नहीं। उसका ग्रनुभव उस पुरुषको होता है जो तृष्णावोंसे दूर है ग्रौर ग्रपनी ग्रात्माकी ग्रोर झुका है उसे ही चैतन्य चमत्कारका ग्रनुभवका होता है। वही वास्तविक ग्रपनी विभूति है। इन बाह्यसंयोगोंके लिए जो ललचाते हैं, जो इससे ग्रपना बड़प्पन मानते हैं यह उनका मात्र मोह है। उनको ग्रपने नाथका पता नही है। इसलिए बाहर ही बाहर सब कुछ खोजना चाहते हैं, पर ये सब हेय हैं। पुण्य ग्रौर पाप जो भी परिणाम व फल हैं उनसे विविक्त ग्रात्माका चैतन्यस्वरूप ग्रनुभवमें होगा तो शाश्वत ग्रानन्द प्राप्त होगा। पाप तो बहुत भयावह है ही पापके फलमें जो चीज मिलती है सब लोग जानते हैं कि सब दुःख देने वाले प्रसंगही मिलते हैं। पर पुण्यका जो भाव है ग्रौर उसके परिणाममें जो कुछ संगत होता है वे भी संतोषकी चीजें नहीं हैं। पुण्यका फल क्या है ? इन्द्रिय विषय। बाह्यमें कुछ इष्ट पदार्थ मान लिए जाते है जिनको देखकर हम ग्रपना मौज मानते हैं। यह हुग्रा रौद्र ध्यान, यही तो पुण्यका फल है। ज्यादासे ज्यादा देव हो गये, राजा महाराजा हो गये, पर इन बातोंके हो जाने पर भी कुछ सारकी चीज मिलती है क्या ? दुःख वहीका वही है।

तृष्णावोंके साधन हैं। देखलो यह पुण्यका फल है।

थोड़ा धन है तो मामूली उड़ान है और जब धन बढ़ जाता है तब तृष्णावोंकी उड़ान भी बढ़ जाती है। गरीब आदमी जो रोज-रोज मजदूरी करता है और गुजर करता है उसकी उड़ान चलेगी तो सोचेगा कि सो पचास रुपयेकी पूंजी होती तो कुछ चिंता न रहती, कुछ दिन मजदूरी न करनी पडती तो अच्छा गुजारा चलता। तो उस गरीब की उड़ान इतनी ही हो पाती है मगर जो लखपति हैं, करोड़पति हैं, जिनको सम्पत्ति मिली है उनकी इतनी ही उड़ान है क्या? अरे वे कोई चीज बनवायेंगे। और-और भी जगह उनका बंधन होता है, वे फंसे रहते हैं, उनको झंझटें ही रहती हैं। यहाँ पुण्यका फल और पापका फल दोनों बराबर हैं। उनमें ही फंसकर वे मग्न हो जाते हैं। पापका फल तो विपत्ति है। सो विपत्तियोंमें प्रभुकी याद रह सकती है, भगवानका ख्याल हो जाता है, पर पुण्यके फलमें सम्पदा है, आराम मिल जाय तो उसमें ही मग्न हो जाते है और प्रभुकी याद नहीं रहती है।

प्रभुकी यादमें जो शान्ति मिलती है वह किन्हीं भी परपदार्थोके समागममें है ही नहीं और प्रभुको भूल गये तो वहाँ अशान्ति ही रहेगी। विषय सुख शान्तिको भोगे जाते हैं, पर उनसे होती है अशान्ति। वे भोजन करते है ना शान्तिसे करते हैं कि अशान्तिसे करते है? अशान्तिसे। अशान्ति न हो तो भोजनका श्रम क्यों करें? देखो भोगनेकी विधि भी अशान्ति पूर्वक है। तो क्या भोगोंसे कुछ शान्ति मिल जाती है? अरे भोगोके प्रसंगसे तो शान्ति होती ही नहीं। जब भोगोंमें लगे रहेंगे तब तो अशान्ति ही रहेगी। यही भोग तो रोग है अथवा जब मनमें खेद है तभी भोगोमें प्रवृत्ति है और मनमें प्रशान्ति हो तो भोगोंमें प्रवृत्ति नहीं रहती। जैसे जिसके फोड़ा हो, घाव हो, फट गया हो, वह ही तो मलहम पट्टी करेगा। इसी तरह जिसके खेद है, भोगोंकी वाञ्छा है वही पुरुष भोगोंमें प्रवृत्ति करेगा और जो शान्त है, वह भोगोंमें प्रवृत्ति न करेगा।

स्नेह कौन करेगा? जिसके कुछ वेदना है, भीतरमें तकलीफ है, कष्ट है, उसको भूलने के लिए, उसका निवारण करनेके लिए उसका इलाज स्नेह माना है कि मोह करे, राग करे, स्नेह करे, मगर यह प्रवृत्ति तो खेदके कारण होती है, आकुलतावोंके कारण होती हैं। तो यह जो कुछ ठाठ लोकमें है, जिसके कारण लोग इतराते हैं य सब ठाठ हेय हैं। इनमें कोई सारकी चीज नहीं है। यहाँ चित्त फंसाने लायक कुछ नही है। चित्तमें बसने लायक तो आत्मा ही है, प्रभुका स्वरूप है, चैतन्यचमत्कार है, जो कि इन्द्रियोंसे गम्य नही है, किन्तु ज्ञान द्वारा सहजगम्य है।

सो भैया, कर्तव्य यह है कि इन ठाठोंसे मोह त्यागकर अपना जो साक्षात् प्रतिभास-

स्वरूप है, जो कि आनन्दमय है, उसमें ही रुचि करनी चाहिए। यह स्वरूप ही सार है, यह स्वरूप ही सर्वस्व है, यह स्वरूप ही हितरूप है, ऐसा लक्ष्य बनना चाहिए और उस आत्मस्वरूपकी ओर झुकना चाहिए। इन बाहरी पदार्थोंमें कुछ अन्तर पड़ता है तो पड़े, इष्ट संयोग कम होता हो, होवे। उन पदार्थोंके आनेसे तो विकल्प ही बढ़ते हैं। ये विकल्प अर्थकारी नहीं हैं, किन्तु अनर्थकारी हैं। ये विकार भी उपाधिके निमित्तसे आते हैं। इनसे मेरा कोई फायदा नहीं है। लाखोंकी सम्पत्ति बढ़नी होगी तो खुद बढ़ेगी, विकल्प करनेसे नहीं बढ़ेगी। मेरा केवल इतना ही काम रहे कि निजके स्वरूपको देखें। बाह्य चीजोंसे दृष्टि हटा लें। बाहरी पदार्थोंके लिए इतनी आकुलताएँ करना बिल्कुल व्यर्थ है, अनर्थकारी है। उन कल्पनावोंको त्याग कर, इन बाह्य समागमोंसे दूर रहकर अपने आपके स्वरूपमें रुचि करो, अविनाशी निजस्वरूपमें रुचि करो। मिटने वाली चीजसे प्रेम है तो यह खतरनाक है, खतरेसे भरा हुआ है। इसका परिणाम दुःख ही है।

इस विनश्वर सम्पदाके कमानेमें क्लेश, रक्षा करनेके समयमें क्लेश, रक्षा करते हुए जब नष्ट हो जाती है तब क्लेश होते हैं। यह जो सम्पदा है वह प्रारम्भ, मध्य और अंतमें सर्वत्र क्लेशका कारण बनती है। इसलिए इस सम्पदाका भीतरसे मोह छोड़ो अर्थात् सत्य ज्ञान बनाये रखो। सारे पदार्थ स्वतंत्र हैं, वे स्वयं अपने स्वरूपमें हैं इसलिए कोई पदार्थ किसी दूसरेको कुछ करता नहीं है। कोई पदार्थ किसी दूसरेका मालिक नहीं है। सारे पदार्थोंको स्वतंत्र देखो। स्वतंत्र देखनेका प्रयोजन है कि अपने आपमें स्थित होओ। आनन्द पानेका दूसरा उपाय नहीं है। जगत्‌में कितने ही झंझट लग जाते हैं। शान्ति तो तब मिलेगी जब अपने आपके सहजस्वरूपमें दृष्टि होगी। इसलिए तृष्णावोंको छोड़कर अपने आपमें स्थित होवो।

> वर्तते मेऽद्य किं सम्पज्जन्मजन्मार्जितं यशः।
> दूरमास्तां विपन्मूलं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-१७॥

पूर्वजन्ममें पायी हुई सम्पदा आज कुछ है क्या? पूर्वभवमें जो समागम मिला था वह आज है क्या? किसी का पता है क्या? पूर्वभवमें माता कौन थी? पिता कौन था? भाई कौन था? बहिन कौन थी? यह कुछ किसीको पता है क्या? अथवा यह नहीं सही, कीड़े मकोड़े पूर्वभवमें थे तो कहाँ पर थे? किस स्थान पर थे? अपनेको कुछ पता नहीं। लोग मरनेपर श्राद्ध करते हैं। श्राद्धके मायने असौजके महीनेमें कृष्णपक्षमें पंडाके आगे जाकर कहते हैं कि आज इतना अनाज हमारे बापको पहुंचा दो, इतने कपड़े भेज दो। अरे देखो मरने पर वे श्राद्ध करते हैं। इससे तो अच्छा यह था कि बाप जब जिन्दा था तो सुखसे पानी तो पिला दिया करते। जब तक बापकी जिन्दगी रही तब तक तो बहुत-बहुत गालियाँ

की, समय पर खाना नहीं दिया, पानी नहीं पिलाया। अब बापके मर जानेपर श्राद्ध करते, तीर्थोंमें जाकर कहते कि इतना मेरा अनाज बापके पास भेज दीजिए, कपड़ा भेज दीजिए। यह सब व्यामोह ही तो छाया हुआ है कि जो मर गया है वह तो मर ही गया, उसके लिए दूसरोंसे प्रार्थना करते हैं कि अनाज पहुंचा दो, कपड़ा पहुंचा दो। कोई क्या मरे हुए बापके पास कुछ भेज सकता है? बहुतसे लोग कहते हैं कि दूध पीनेके लिए गयाको भेज दो जिससे कि मरा हुआ बाप दूध वहां पीता रहे। अरे भाई जो मर गए हैं उनके पास दूध पीनेके लिए गया भेजते हैं।

भैया, पूर्वजन्ममें जो कुछ समागम किया था आज वह नहीं है और आज जो कुछ समागम कर रहे हैं वह पूर्वजन्ममें न रहेगा। जैसी सम्पदाकी बात है तैसी ही कीर्ति और यशकी बात है। तो सोचो पूर्वजन्ममें कुछ अच्छा व्यवहार करके जो यश प्राप्त किया था वह कुछ आज है क्या? इसी तरह इस जन्ममें जो कुछ यश प्राप्त कर लिया जाय, वह सब अगले भवमें न रहेगा। पहिली बात यह है कि ये सब असार चीजें हैं, अहित हैं। इन से मेरा कुछ हित नहीं है! इनमें राग न करो। यह ज्ञान अपने ज्ञान स्वरूपमें लगावो। जब ऐसी स्थिति होगी तब संतोष प्राप्त होगा और जब यह ज्ञान राग द्वेष सयोगमें ही फंसा रहेगा, बाहरी पदार्थोंमें ही विचरता रहेगा तो इससे तो असंतोष ही प्राप्त होगा। उसमें तुम्हारा हित नहीं है। अपना ज्ञान बाहरी पदार्थोंमें उलझाते रहे तो सुख दुःख मान मोह आदि ये ही सब बनते रहेंगे।

सो भैया, वह यश और सम्पदा सब विपदायें ही देती हैं। सम्पदा वालोंको ही अधिकतर विषयभाव आया करता है। अनेक प्रकारकी झंझटें उनके सिर पर आती हैं। अब देखिये चीन और भारतमें आजकल आक्रमणकी बात चल रही है, चीन और भारतके आक्रमणोंके कारण शहरोंके लखपति करोड़पति लोगोंके दिल कांप रहे हैं। तो भैया धनके पीछे हमेशा शंका बनी रहती है ना? अभी कोई दूसरे ही चढ़ आयें तो दूसरोंके आ जाने पर यही सम्भावना रहती है कि अब तो मेरी सम्पत्ति गई। फिर साम्यवादी मुल्क चढ़ रहा है तो उसमें अधिक संदेह रहता है। जब कि देहातोंमें लोगोंको युद्धकी बातें सुनकर दिल दहल जाता है। तो उन शहर वालोंको क्या कहना है? युद्धके इन प्रसंगोंमें अधिकतर बात ऐसी है कि सम्पदा न रहेगी हाथ, किन्तु आत्मसाधनामें बाधा न आये, इसके लिए भी कई लोग दहलते है।

इस सम्पदासे तो विपदाएं ही मिलती हैं। दो भाई थे। वे कमाने के लिए विदेश चले गये। उन दोनों ने इतना अच्छा कमाया कि लाखोंका धन कमा लिया। अब सोचा कि

लाखोंका धन विदेशमे कमा तो लिया, अब इसे ले कैसे जायें ? ले जानेकी चीज तो छोटी होनी चाहिए। तो सब धन सम्पदा बेचकर दो लाल अथवा रत्न खरीद लिए। अब रत्न ले कर जा रहे हैं। रत्न बड़े भाईके पास थे। बड़ा भाई सोचता है कि समुद्रमें जहाजमें बैठे चले जा रहे हैं किन्तु घर पर एक मुझे मिलेगा और एक इसको मिलेगा। सो ऐसा करें कि पानीमें जा रहे है। भाईको एक ऐसा धक्का दे कि वह पानीमें गिर जाय और दोनोंके दोनों रत्न हमें मिल जायें। ऐसा उसके भाव आया। फिर बादमें संभला और उसने विचार किया कि इसी छोटे भाईकी बुद्धि से ही तो ये रत्न पैदा हुए, यह मैं क्या सोच रहा हू ? इस भाईके प्रति ऐसा मुझे न करना चाहिए। अब वह बड़ा भाई कहता है कि भैया आप इन दोनों रत्नोंको अपने पास रख लें। इन रत्नोंके पीछे मैंने बड़े विकल्प किए। इन्हें मैं नही रखना चाहता। सो छोटे भाईको दे दिये। अब छोटा भाई थोड़ी देरमें सोचता है कि हमारी ही बुद्धिसे ये रत्न कमाये गये हैं, घर पहुंचते ही ये बँट जावेंगे। तो ऐसा करें कि जरासा काम है। धक्का देकर भाईको गिरा देवें तो दोनों रत्न हमें प्राप्त हो जावेंगे। ऐसा सोचा ही था कि वह झट संभल गया। छोटा भाई बड़ेके पैरोंमें गिर गया, कहता है कि ये दोनों रत्न रखनेके काबिल नहीं हैं।

खैर, किसी तरह घर पहुंचे। दोनों भाइयोंने सलाह की कि रत्न हम दोनों न रखें, छोटी बहिन रखे। छोटी बहिनको रत्न दे दिये। अब दोनों रत्न छोटी बहिनके धरोहरमें थे। वह सोचती है कि इनके रख लेने मात्रमे ही मुझे लाभ नहीं, ये तो धरोहर हैं, फिर ले ही लेंगे ये भैया। नही तो इन दोनों भाइयोंको खत्म कर दें कुछ खिला पिलाकर, जिससे ये रत्न मेरे हो जायें। थोड़ी देरके बादमें वह भी कुछ संभली। बोली—भैया, ये रत्न तो मैं अपने पास न रखूंगी। इन दोनों रत्नोंमें बड़ा पाप है। अब विचार किया कि सबकी जननी अर्थात् माता जो है उसको दे दिये जायें। वे दोनों रत्न माँ को दे दिए। अब वह माँ सोचती है कि ये रत्न मेरी धरोहरमें हैं। हम तो इन्हे छिपाकर रखें क्योंकि जब धन रहेगा तो कोई भी लोग मेरी अच्छी तरहसे जिन्दगी बितायेंगे। अब तो माँ को लोभ आ गया, गंदे विचार आ गये कि सबको मार डालूं कुछ खिला-पिलाकर। इस प्रकारके गंदे विचार आ जानेके बाद माँ भी झट ही सभली। माँ बोली—मैं इन रत्नोंको अपने पास नहीं रखूंगी। इन रत्नोंसे मेरे ऐसे विचार हो गये। इसी प्रकार छोटा भाई तथा बहिनने बताया कि मेरे विचार ऐसे हो गये थे। बड़े भाईने भी बताया कि मेरे विचार भी ऐसे हो गये थे। अब तो यह विचार हुआ कि दोनों रत्न समुद्रमें फेंक दिये जायें तभी ठीक है। दोनों रत्न समुद्रमें फेंक दिये गये, तब वे सब मजेमें हो गये।

यह जो सम्पदा मिलती है उससे जुदा रहनेकी भावना रहनी चाहिये। किसीने अधिक मांग लिया तो क्या वह किसीके पास चली गई? यह सम्पदा तो आने जाने वाली चीज है, चंचल है। यदि सम्पदा रहती हो तो रहे और न रहना हो तो न रहे इसलिए कहते हैं धनकी वांछा नहीं करनी चाहिय। इस सम्पत्तिसे अलग ही अलग रहनेकी भावना करनी चाहिय।

हे प्रभु! मेरी यह कब कामना सफल होगी कि समस्त परपदार्थोंसे हटकर आपकी ओर ध्यान लगाऊं? यह मैं कब इन वैभवोंके विकारोंसे हटकर आपमें रुचि लगाऊं? हे प्रभो! बाह्यपदार्थोंके विकारोंमे मेरी रुचि न जाए। मेरा जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है उस चैतन्यस्वरूपमें ही दृष्टि दूं, यही मेरा लक्ष्य रहे। इस स्वरूपके आलम्बनके प्रतापसे ही कर्मों का क्षय हो सकता है। परमात्मा बननेके लिए एक ही काम करने योग्य है कि अपने आपका परिचय करें और अपने ही स्वरूपमें रमण करें। शांति प्राप्त करनेका मुख्य उपाय यही है कि हम भगवान्के दर्शन करें। प्रभुके दर्शन करनेके लिये केवल प्रभुके शुद्ध स्वरूपको ही निरखना है। उस प्रभुको सोचते हुएमे अपने स्वरूपमें दृष्टि दूं, जिसके प्रतापसे समस्त क्लेश दूर हो जाते हैं। भैया, अपनेमें यह भावना करो, जब प्रभुके दर्शन करने जावो तो उस प्रभुमें ही दृष्टि देकर उससे यह वर मांगो कि हे प्रभु! मुझे ऐसा वर दीजिये कि मैं अपने सत्यस्वरूपमें दृष्टि लगाऊं। यहाँ लोग अक्सर करते क्या है कि भगवान्की देहरीमे सिर नवा कर कहते हैं कि भगवान् मेरे बच्चोंको खुश रखो। हे भगवान्! मुझे सुखी करो। कोई-कोई तो ऐसा स्पष्ट कह भी देते हैं। दूसरोंके विनाश तकके लिए लोग भगवानसे प्रार्थना करते है। यह कोरी बात नही कहते है। यदि सुनना चाहो तो सुन भी सकते हो, छिपकर चुपचाप रहकर।

भैया, देखो अपने निजस्वरूपको भूलकर मोही प्राणी बाह्य पदार्थोंमे ही चित्त गड़ाए रहते हैं। यह तो विवेककी बात नही है। इन बाह्यपदार्थोंमे तो हटकर रहना चाहिए। जो हितकी बात हो उसमें ही अपना लगाव रखना चाहिए। इसके लिए भैया रोज-रोजका उपाय तो यह है कि स्वाध्याय करो। यही ज्ञान प्राप्त करनेका मुख्य उपाय है। ज्ञान ही ग्रहण करने की चीज है, ज्ञान ही रक्षक है और ज्ञान ही शरण है। भैया! अपने ज्ञानको स्वच्छ बनाओ और स्वयं सुखी होओ।

स्वात्मचिन्तापि चिन्तैव चिन्ता स्वानदाबाधिनी।
सर्वं चिन्तां विमुच्यातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-१८॥

हम आप जितने भी जीव हैं, इन सबका स्वरूप ज्ञान और आनन्द है। जैसे इन

दिखने वाले पदार्थोंका स्वरूप जान पाते हैं कि इसमें रूप है, इसमें रस है, इसमें गंध है, इसमें स्पर्श है, इसी प्रकार इस आत्माको जानना चाहिये कि कौनसा ऐसा तत्त्व है आत्मामें, जो इसका अनाद्यनन्त रूप हो। आत्मामें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि तो कुछ मिलेगा नहीं। इस आत्मामें तो ज्ञान और आनन्द ही मिलेगा। यद्यपि इस आत्मामें सुख-दुःख, राग-द्वेष, विषयकषाय इनका अभाव ही मिलता है, किन्तु ये सब भाव जीवोंमें जीवके अस्तित्वके कारण नहीं हैं। जीवोंमें जीवकी सत्ताके कारण जो भाव हैं वे ज्ञान और आनन्द हैं। जब यही निश्चय हो कि जीवका स्वरूप ज्ञान और आनन्द है, यह स्वरूप स्वयं आनन्दमय है, इसको आनन्द पानेके लिए दूसरोंकी उपेक्षा नहीं करनी है और न दूसरे पदार्थोंसे हमको आनन्द ही आता है। दूसरोंकी अपेक्षा करनेमें तो आनन्दमें बाधा आती है। इस जीवके स्वभावमें आनंद है। भैया! राग द्वेषके आवरणसे दबनेके बाद भी कुछ न कुछ आनन्द बचा रहता है। उस बचे हुवे आनन्दसे यह मोही जीव मान रहा है कि मुझे तो बाह्यपदार्थोंसे आनन्द आता है।

जब तक यह दृष्टि रहेगी कि मुझे परवस्तुओंसे आनन्द आता है तब तक शांति न मिल सकेगी। परवस्तुओंके संयोगका कोई विश्वास नही है कि यह संयोग कब तक रहेगा? बाबा दादा इत्यादिसे संयोग हुआ है, ठीक है, किन्तु इनका वियोग भी जरूर होगा। जो-जो भी आपको प्राप्त होता है उन संयोगकी चीजोंमें विश्वास न करो। यह समझते रहो कि जहाँ पर संयोग है वहाँ वियोग नियमसे होगा।

भैया! इस संयोगमें कोई सार नही है। अरे ये चीजें तो बिछुड़ जायेंगी। बुद्धिमानी तो यह है कि संयोगके समयमे हर्ष न मानो। यदि विषय कषायोंमें ही रहे तो संयोगके समय में भी आकुलता रहेगी और वियोगके समयमें भी आकुलता रहेगी। जैसे कोई आदमी एक दो महीनेसे बीमार पड़ा हो और कठिन बीमारीमें रहा हो, अनेक वैद्य डाक्टर आवें, पर वह पुरुष ठीक न हुआ हो। उस पुरुषका यदि मरण हो जाता है तो घर वालोंको विशेष शोक नहीं होता, क्योंकि घर वालोंको दो-तीन महीने पहलेसे ही यह मालूम हो जाता है कि अब यह बचेगा नही। इसलिए दुःख कम होता है। और यदि कोई हट्टा-कट्टा जवान व्यक्ति अचानक ही मर जाता है तो उससे घर वालों पर बहुत बड़ा धक्का लगता है, बड़ा दुःख होता है, क्योंकि पहिलेसे यह नहीं मालूम रहता कि अभी इसका मरण होगा। अब तो यही निर्णय होना चाहिए कि जो कुछ मिलता है उसमें वियोग जरूर होगा। गृहस्थको ऐसा ज्ञान बनाए रहना एक बहुत बड़ा तप है। यह विचार हो कि इन चीजोंमें हम आसक्ति न करेंगे, संयोग होने पर मौज न मानेंगे तो भैया वियोग होने पर दुःख भी न होगा।

आत्मामें आनन्द किसी भी परवस्तुसे नहीं आता है। आनन्द स्वभाव है आत्माका।

उस आत्मामें स्वभावसे ही प नन्द प्रकट होता है । परवस्तुओंसे आनन्द मिलना तो दूर रहा, उन वस्तुओंके आलम्बनसे कितना ही आनन्द नष्ट हो जाता है । यह तो आनन्दके स्वभावकी महिमा है कि बचा हुआ आनन्द फिर भी रहता है । उस समय मोहीको ऐसा लगता है कि मुझे इन विषयोंसे आनन्द हुआ ।

ज्ञानी पुरुष इन विषय सुखों पर लात मार देते है । जैसे कोई रईसका बालक है । छोटी ही अवस्थामें उसका पिता गुजर जाय तो सरकार उसकी जायदादको कोर्ट ऑफ बोर्ड कर लेती है और उस लड़केको ५०० रु० महीना या कुछ भी हो खर्चा बाँध देती है । मानो ५० लाखकी सम्पदा सरकारने ले ली है और ५०० रु० महीना बाँध देती है । जो कुछ भी फायदा होता है, सरकार ले लेती है । उस लड़केका पालन-पोषण सरकार ही करती है । पर लड़का जब १४ वर्षका हुआ, १६ वर्षका हुआ तो वह सोचता है कि ५०० रु० महीना खर्च को मिलता है, सरकार बड़ी दयालू है । उसे अभी तक पता नही कि लाखोंकी सम्पत्ति सरकारने ले ली है । और जब १८-१६ वर्षका हुआ तो वह यह जानकर कि मेरी लाखोंकी जायदाद सरकार लिए हुए है, सरकारको नोटिस कर देता है कि मैं बालिग हो गया हूँ, मेरी जायदाद दी जाय । सोचता है कि मेरी जायदाद अधिक है । यह जो सरकार ५०० रु० महीना भेजती है उसकी मुझे जरूरत नहीं है । मेरी जायदाद सरकार मेरे सुपुर्द कर दे । जब वह अपनी जायदाद अपने कब्जेमें कर लेता है तब वह अपनी जायदादको देखकर खुश रहता है ।

इसी तरह जगत्के जीवोंकी अनन्त आनन्दकी विभूति है, मामूली नहीं क्योंकि स्वयं ही आनन्दसे भरा इस जीवका स्वरूप है । 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम् ।' ज्ञानी संत पुण्य कर्म सरकार द्वारा हड़प किये गये वैभवको ही चाहता है । पुण्यके उदयसे मिले हुए सुखका तिरस्कार करता है अर्थात् उन कर्मोंके उदयकालमें सुखाभास मिलता है, उसमे रुचि करनेसे आत्मीय आनन्द सब निकल जाता है । उसका घाटा हो गया विषयप्रेममें । जब तक उस जीवके मिथ्यादृष्टि है तब तक पुण्य कर्मोंके बड़े गुण गाता है । कर्मोंको ही वह बहुत अच्छा मानता है । समझता है कि कर्मोंकी कृपासे ही सारा वैभव मिला, सारा सुख मिला ।

अभी बूढोंसे पूछा कि मजेमे हो ? तो कहेंगे बहुत मजेमें है । हमारे लड़के हैं, नाती हैं, सब कार्य करते है और हम मौज मनाते हैं । उनका मौज केवल पुत्र नाती तक ही सीमित हो गया । वह दूसरोंके भी गुण गाता है । फलाने तो बहुत अच्छे हैं, उनका ऐसा काम चलता है । अगर इस जीवके मिथ्यादृष्टि हो जाती है तो वह इधर उधर ही भटकता रहता है । यदि जीवको सम्यग्दृष्टि हो जाती है तो यथार्थज्ञान हो जाता है, कर्मोंको नोटिस

दे देता है। वे जीव जिनको सम्यग्ज्ञान हो गया, वे विषय कषायोंको नहीं चाहते, उनकी दृष्टि तो आनन्द वैभवमें रहती है, बाहर ही बाहर उनकी दृष्टि नहीं रहती है।

है तो यह आनन्दमय स्वरूप, ज्ञानघनस्वरूप, मगर परपदार्थोंमें ही पड़कर यह जीव दुःखी हो रहा है। इन विकल्पोंने ही इसके विकासमें बाधा डाल दी। कोई दूसरे पदार्थ उसके आनन्दमें बाधा नहीं डालते हैं। केवल उन पदार्थोंके प्रति विकल्प बनानेसे ही बाधाएं आ जाती है। कोई परपदार्थ उसे दुःखी कर ही नहीं सकते। सब स्वतन्त्र-स्वतन्त्र जीव हैं। किसीका परिणमन किसी अन्यसे नहीं होता है। किसी एक पदार्थका असर दूसरे पदार्थमें नहीं होता है। दूसरे पदार्थका निमित्त बनाकर उनमें ही विकल्प बनाकर वे स्वयं असर उत्पन्न कर लेते है। देखने वाले लोग कहते है कि आफिसर साहब और जज साहब जरूर मजेमें होंगे, पर वे मजेमें नहीं होते। उनकी बात उनमें है। उनके सामने जानेमें किसीका दिल घबड़ाता है, कोई भयभीत होते हैं। जो लोग यह कहते हैं देखो जज साहबमें कितना तेज है कि उनके सामने खड़े होनेमें भय लगता है, डर महसूस होता है। प्रायः सारे मनुष्य ऐसा ही स्वयं ख्याल बनाने वाले है, ऐसा अनुभव करने वाले हैं सो कहते हैं, परन्तु बात है यह कि जज साहबका निमित्त बनाकर वे अपनेको भयभीत बना लेते है। जज यद्यपि कुछ नहीं करता। देखो स्वयं ही तो वे कल्पनाएं बनाकर दुःखी हो जाते हैं। वे अपनी गल्तीको नहीं देख रहे हैं। पर दूसरोंके कार्योंको, दूसरेकी गल्तियोंको सब देख रहे है। इससे दूसरा कोई दुःखी नहीं होता, स्वयं ही सब अपनी गल्तीसे दुःखी हो रहे है।

ये लौकिक जीव परपदार्थोंसे ही अपनेमें बाधा डालकर आनन्द नहीं प्राप्त कर पा रहे हैं, क्योंकि जब किसी परकी आशा रखोगे तो उसकी चिंता बढ़ेगी। चिंताओंके बढ़नेसे ही वे दुःखी हो जाते हैं। चिंताए ही आनन्दमें बाधा डालती हैं। इस कारणसे चिंताओंको छोड़कर अपने स्वरूपको देखो तो अपने आपमें आनन्द प्राप्त कर सकते हो।

यह जीव अपनेमें ही परिणमन कर पाता हैं। अपनेसे बाहर कुछ नहीं कर सकता है। जैसे देहातोंमें घर पास-पास बने हैं तो एक घरकी स्त्री दरवाजे पर खड़ी होकर दूसरे घरकी स्त्रीको हाथ फटकार-फटकार कर गालियां देती है। वह अपने ही दरवाजे पर खड़े होकर बोल रही है। न एक कदम आगे बढ़े और न एक कदम पीछे। सुनने वाले लोगोंका जत्था लग जाता है। न तो वे स्त्रियां एक दूसरेको मारें पीटें, केवल हाथ फटकार-फटकार कर गालियां देती हैं। केवल गालियां ही वे एक दूसरेको दे लेंगी। कोई स्त्री किसी दूसरी स्त्रीका कुछ कर तो न लेगी। वे स्त्रियां स्वयं ही अपनेमें विकल्प बना-बना कर गालियां दे रही हैं। वे दोनों ही दरवाजेपर खड़ी होकर एक दूसरेको गालियां दे रही हैं, पर एक स्त्री

दूसरी स्त्रीका कुछ नही कर सकती। केवल कल्पनाएं बनाकर, ख्याल बनाकर वे दुःखी हो रही हैं।

इसी प्रकार जगत्के जितने भी जीव है वे सब अपने अपने कषाय करके अपने ख्यालों के अनुसार अपना परिणमन करते है। पिता सोचता है कि मैं पुत्रको पढ़ाता हूं पर ऐसा सोचना व्यर्थ है। पुत्र स्वयं अपने भाग्यसे पढता लिखता है। उस पुत्रका भाग्य अधिक अच्छा है। उसका भाग्य अधिक अच्छा है तभी तो पिताजी उसकी चिंता करते हैं। उसकी बडी संभाल करते है। पुत्रका भाग्य तो उस पिताके भाग्यसे अच्छा है। जहां पुत्र १ वर्षका हुआ उसके लिए बाम्बेसे खिलौने मंगाते है, उसको खिलाते पिलाते है, पालन पोषण करते हैं। पिताके भाग्यसे लडकेका भाग्य अच्छा है। अच्छा तुम्हीं बताओ कि इसमें पिताका भाग्य अच्छा हुआ कि लडकेका भाग्य अच्छा हुआ ? अरे ! इसमे तो लडकेका ही भाग्य अच्छा हुआ। पिता तो उस लडके की चाकरी कर रहा है। पिता यह सोचता है कि हम नही होंगे तो इस लड़केकी कौन सेवा करेगा ? घरको कौन सेवा करेगा ? इस प्रकारकी फिकर पिता रखता है।

किसी गांवमें एक गरीब ब्राह्मण था। वह परेशानीसे लाचार था। गांवमें जावे और दो तीन सेर आटा ले आवे और बसर करे। यह उसका रोजका काम था। एक दिन वह गांवमें ही आटा मांग रहा था। एक सन्यासी निकला, बोला कपट कर रहे हो ? बोला किसी तरहसे भीख मांग करके खाते हैं और घर वालोंको खिलाते है, बडी परेशानी है। संन्यासीने कहा—बेटा चिंता छोड़ो। अब हमारे साथ १५ दिनके लिए चलो, अब तुम्हे इस घरमे आराम कहां मिलेगा ? तुम कहां घर वालोको खिलाते हो ? घर वालोंको खिलाने वाला तो और कोई है। अच्छा अब तुम चिंता छोड़ दो। वह सत्यवान पुरुष उस सन्यासी के साथ १५ दिनके लिए चल दिया। घर वालोंने यह सोचा कि घर वाला वापिस नही आया, किसी जानवरने खा डाला होगा। किसीने मजाक भी कर दिया कि हां तुम्हारे घर वालेको गांवके बाहर किसी शेरने खा डाला।

अब घर वालोने यह सुना तो रोना शुरू कर दिया। अब मां वगैरा रोने लगी। जब समाचार मिला तो पड़ोसी भी जुड गये। पड़ोसी घर वालोंको समझाते हैं कि भैया वह तो मर ही गया, अब रोनेसे तो वह बच्चा नही आ जायगा। सो किसीने उसके घर वालोंको अनाजका दान किया, किसीने ४ बोरा अनाज, किसीने २ बोरा अनाज, किसीने घी का कनस्तर दे दिया, किसीने कपड़ेके थान दे दिये। अब तो उसका घर भर गया। वे आनन्दसे बढ़िया खाने लगे, मौज उड़ाने लगे। अब वह ब्राह्मण साधुसे कहता है कि महाराज १५ दिन

हो गये अब तो हमें जाना चाहिए। देखें तो जाकर कौन मरा है, कौन जिन्दा है क्योंकि घर के लोग भूखे रहे होंगे। साधुने कहा—अच्छा जावो, जाकर देख आवो, मगर छिप करके देखना।

अब वह ब्राह्मण अपने घर आया, देखा कि सब लोग मौज उड़ा रहे हैं। कहाँ तो कुछ खानेको न था और कहाँ पकौडी, पूड़ियां उडा रहे हैं। सोचा कि अच्छा मौज आ गया यहां तो। सारा घर सम्पदासे भर गया है। अब वह घरके अन्दर गया। घर वालोंने सोचा अरे घर वाला जो मर गया था, वह अब घरके अन्दर आ गया है। अब तो शायद यह भूत बनकर आया है। उसको भूत जानकर चूल्हेमे लगे हुए लूगरसे उसको खदेडा। वह डरके मारे भागा। साधुके पास वह फिर लौट आया। संन्यासीसे बोला— महाराज घरकी बहुत ही अच्छी दशा हो गया है। घरके सब लोग आरामसे थे। पहिले तो खानेको नहीं था, पर अब सब पूड़ी पकौड़ी उड़ा रहे है। मैं जब घर गया तो घरके लोगोंने मुझे चूल्हेके लूगरसे भगा दिया। सन्यासी कहता है कि तुम्हें अभिमान था कि घरके लोगोंका पालन-पोषण हम ही करते है। अब उन्हे मौज है, इसलिए उन्होंने तुमको भगाया। जब तक तुम घरमें रहे तब तक परेशानियोंसे दिन गुजरे थे, पर जबसे तुम हटे तबसे उनकी अच्छी स्थिति हो गयी है। अब वे सब मजेमे हो गये तो तुम्हे पूछे ही कौन ?

भैया, सब स्वतत्र-स्वतंत्र जीव है। तुम किसकी चिंता करते हो ? भीतरमें यदि सम्यग्ज्ञान हो तो चितावोंमें फर्क पड़ जाता है। यदि ज्ञान नही है तो चिंताएं हो जाती हैं। करने लायक काम तो यह है कि भीतरमें ऐसा ज्ञान बने कि मैं ज्ञाता द्रष्टा हूं, जाननहार हूं, आनन्दस्वरूप हूं—इतना ज्ञान होनेसे आकुलताएं नही रह जाती हैं। यदि अज्ञान का कुछ असर हुआ तो आकुलताएं रहती है। यदि सम्यग्ज्ञान करो तो आकुलताएं छूटें। यदि चिंताएं छूटें तो यह जीव अपने आप सुखी हो सकता है। चितावोंमें बने रहनेसे तो आत्माका कल्याण नही होगा। यदि चिंताएं छूटें तो अपनी आत्माका आनन्दस्वरूप देखने में आ जाये और की तो बात ही क्या यदि कल्याण भी करते हो और आकुलतावोंकी कल्पनाएं बनालो तो आकुलताएं छा जाती हैं। जगत्से तो इतना ही प्रयोजन रखो कि मैं तो जान गया। जानने तक ही मेरा काम है। इसके आगे मेरा काम नहीं है। इसके आगे और मत सोचो। इसके आगे यदि सोचा तो दुःख ही है। अपने आपको जानलो और देख लो और इसके आगे मत सोचो।

एक भक्त था। साधुके पास बैठ गया। भक्तने सोचा कि साधुसे नियम कुछ ले लें। साधुने कहा—मंदिर रोज दर्शन करने जाया करो। बोला—महाराज, मंदिर तो दूर पड़ता

है। साधु बोला—अच्छा अगर दूर पडता है तो घरसे जो चीज नजदीक हो उसका दर्शन कर लिया करो। भक्त बोला—महाराज, हमारे घरके सामने तो कुम्हारका घर पड़ता है। उस कुम्हारके घरके भैंसेका चांद ही घरसे निकलने पर सबसे पहिले दिखाई पड़ता है। तो साधु बोला कि उस चांदका ही रोज दर्शन कर लिया करो और फिर खाया करो। उसने यह मान लिया। अब वह उस भैंसके चांदका ही दर्शन करके खाना खावे। एक दिन कुम्हार मिट्टी लेने बाहर चला गया, वह झट कुम्हारके यहां पहुंचा। जब वह वहां पहुंचा तो भैंसा न था। मालूम करके वह खान पर पहुन्च गया। उसी समय खानमें अशर्फियोंका एक हंडा कुम्हारको मिला। जब अशर्फियोका हंडा मिला तो इधर-उधर देखा कि कोई देखता तो नहीं है। उस भक्तने उस भैंसेका चांद देख लिया। कुम्हारने भक्तजी से कहा—अरे सुनो, बोला—बस देख लिया। भक्तसे फिर कहा—सुनो, कहा—बस देख लिया। अब वह किसीकी भी न सुनें। बस देख लिया, बस देख लिया यही वह कहे। तब वह कुम्हार भक्त जी के घर ही अशर्फियां उड़ेलकर कहता है कि कहीं कहना नहीं, ये आधी तुम ले लो।

भैया, कितना भी वैभव मिले, केवल यही विश्वास रहे कि देख लिया, जान लिया। इसके आगे और कुछ नहीं करना चाहिए। इस वृत्तिसे कोई रहता है तो आनन्द मिलता है। यदि अपने ज्ञानकी दृष्टि रहे तो यही पुरुषार्थ है, इसमें ही आनन्द है। जो कुछ वैभव है वह तो तितर-बितर हो जायेगा, सब चला जायेगा। उससे सुख न प्राप्त होगा। केवल अपने आत्माकी ओर दृष्टि हो तो वही अपना रक्षक है, बाकी तो सब गैर हैं।

वित्त विषयदस्युः क्व मित्र शत्रुः क्व पाटवम्।
तन्मूलाशा न मे यस्मात्त्या स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥४-१६॥

जगत्के प्राणी पंचेन्द्रियोंके वशमे होकर पराधीन हो रहे है। तो इनका स्वरूप ज्ञानमय, आनन्दमय है। पर अपने इस महान् स्वरूपको न जानकर, उस ही आनन्दस्वरूपका अनुभव न कर बाहरमे ही आनन्द ढूंढ़ रहे हे और पचेन्द्रियमे आकर अपने हित और आनद की बात खोज रहे हैं। अपने कल्याणका मार्ग खो रहे हैं। ये विषय हो ज्ञान वैभवसे अलग कर दुर्गतिमें ले जाने वाले है, ठग हैं और चोर है। यदि किसी भी प्रकारके विषयोंकी इच्छा न हो तो यह आत्मा आनन्दस्वरूप है ही, ज्ञानस्वरूप है ही। प्रत्येक विषय कषायकी विकृतियोंने इस जीवको उल्टा बना दिया है। जगत्में इसके अतिरिक्त यह जीव मित्र और शत्रु की कल्पनाएँ करता है। जो विषयोंके साधक हैं उनको तो यह जीव मित्र मानता हे और जो विषयोंके बाधक है उनको यह जीव अपना शत्रु मानता है। मित्र और शत्रुकी कल्पनाएँ ही इस जीवको इस प्रकार चला रही है। घरके परिवारके लोगोंमे इसको क्यों रुचि है?

यह धन वैभवके कषायोंसे ही सताया जा रहा है। ऐसा यह मोह, ऐसे ये गंदे विचार, इनमें ही ये जीव पड़े हुए हैं। सो इनको यह विकल्पोंकी गंदगी खुद ही मुहा रही है। जो विषयों के साधक हैं वे इसको मुहा जाते हैं। वे ही इनके बन्धु बन गये, वे ही मित्र बन गये। और जिनके कारण विषयोंमें बाधा आवे उनको यह मोही प्राणी दुश्मन मान रहा है।

कभी कोई साधु चला जा रहा है, उसे किसी शिकारी ने देख लिया तो वह साधु भी शिकारीका दुश्मन बन गया। शिकारी सोचता है कि यह मेरा असगुन है। तो उसके विषयोंमें बाधा आयी ना? इसलिये उसे भी दुश्मन मान लिया। और फिर उसके आगे क्या सोचते हैं कि यदि विषयोंमें ही अपने को लिप्त कर डाला और किसी प्रकारका छल करके विषयोंके साधन अच्छी तरह जुटा लिए तो उसमें वे अपनी चतुराई समझते हैं। इस मोही प्राणीकी यह क्या चतुराई है? केवल विषयोंके साधनको जोड लिया और विषयोंके बाधकोंका नाश कर दिया। करता तो कुछ नहीं है यह अन्यमें, केवल ख्याल बनाता है।

हे आत्मन्, जरा अपने हितकी बात तो सोचो कि इन विषयोंसे किसीका पूरा पड़ा है? इस जीवनमें विषयोंमे ही जुते, बड़ी उम्रके हुए, वृद्ध हो गए, बाल पक गये, शरीरमें झिरियां पड गयी। बतावो कौनसा लाभ इस मनुष्यभवको पाकर पाया? वे अपने जीवन के क्षण व्यर्थमे ही गुजार देते है। वह विषयोंका ही तो असर है। ये विषय ही इस जीवके वास्तविक दुश्मन हैं। इन विषयोको जिसने जीता है वही ज्ञानी है, वही विजयी है। जगत् के सभी जीव अपने समान है। तुम्हारे और सब जीवोंके स्वरूपमें कोई अन्तर नही है। सभी जीवोंका स्वरूप अत्यन्त जुदा है। सभी जीव मेरे स्वरूपके अत्यन्त समान हैं। फिर इन जीवोंमे यह छटनी कर लेना कि यह मेरा है, यह पराया है, यह गैर है ऐसी छंटनी कर लेना क्या यही पारमार्थिक चतुराई है? यह सब मोहकी लीला है। जो विषयोंके साधक प्रतीत होते हैं, उनको ही इस जीवने अपना मान लिया और जो विषयोंमें बाधक हैं उनको ही इस जीवने दुश्मन मान लिया, पराया मान लिया। ऐसी वृत्ति कर लेना ही अज्ञान है।

भैया! विषयोकी आशा जिनके लगी रहती है उनके ही दुनियामें शत्रु और मित्र होते हैं और जिनके विषयोंकी आशा नहीं लगी होती है उनका जगत्में न तो कोई मित्र ही होता है और न कोई शत्रु ही होता है। यह सब कल्पनाजाल है, केवल आशाओं तक ही यह रहता है। जिनके आशा नही रहती, उनका सब जाल समाप्त हो जाता है।

समय तेजीसे गुजर रहा है, आयु प्रतिदिन घटती जा रही है, मृत्युका समय निकट आता जा रहा है, क्यों आशाओंमें फर्क न डाला? क्योंके त्यों आशाओंके दास ही बने रहे तो फिर दुर्लभ नर-जीवन व्यर्थ ही गंवाया ना? जो कुछ भी बाहर दिखते हैं सब छूट जाते

हैं, यहाँसे चले आते हैं। आशाएँ करके इस भवको बिगाड़ लेना, जन्म-मरणकी परम्परायें कर लेना, यह तो चतुराई नहीं है। कुछ ही दिनमें सब चीजें साफ हो जाती हैं। यहाँ पर कोई चीज विवेककी नहीं, सारकी नहीं। यदि परमें मोह ममत्व बसाये रहे तो जीवन बेकार है।

जीवनका सार तो प्रभुभक्ति और आत्मध्यानमें है। इन कामोंके अलावा और कोई काम यहाँ सारका नहीं है। सो अपने जीवनमें यह देख लो कि प्रभुभक्ति तुम्हारे कितने उपयोगमें है ? आत्मध्यानमें मैंने कितना यत्न किया है और कितना नहीं किया है ? इस तरह नफे और टोटेका हिसाब लगाओ। धन बढ़ गया तो यह नफेकी बात नहीं। अरे, धन बहुत बढ़ गया और एकदम छोड़कर चले गये तो मुनाफा क्या मिला ? वैभवका बढ़ जाना मुनाफा नहीं है। परिवारका बढ़ जाना आत्महित नहीं है। नफा तो वह है जिसके कारण शान्ति रह सके। ऐसा यत्न कर ल तो यही एकमात्र सार बात है। सो सीधी बात है कि प्रभुभक्ति और आत्मध्यान यदि बनाते हो तो जीवन सफल है, नहीं तो पशुवोंके और मनुष्योंके जीवन मे कोई अन्तर नहीं है।

भैया, बाल बच्चे मनुष्योंके होते हैं तो क्या पशुवोंके नहीं होते ? विषय भोग यदि मनुष्य करते हैं तो क्या पशु नहीं करते ? जो कुछ लौकिक मनुष्य करते है वह पशु भी तो करते हैं। बल्कि पशु उन मनुष्योंसे कई बातोंमे अच्छे है। पशुवोंका आहार पूरा हो जाये तो उन्हें संतोष हो जाता है। मगर मनुष्योंका आहार पूरा हो जाये, फिर भी उन्हें संतोष नहीं होता है। उन्हें इच्छा यही बनी रहती है कि कोई रसीली चीज मिल जाये। आहार हो जाने पर भी चाट वाट हो तो अभी एक तोला खानेकी इच्छा बनी ही रहेगी। तो यहाँ पशुवोंमें और मनुष्योंमे फर्क आ गया। पशुवोंको कल परसोंके भोजनके लिए फिक्र नहीं, पर मनुष्योंको कल परसोंके भोजनके लिए फिक्र बनी रहती है। परिग्रहका संचय मनुष्योंमें ही लगा रहता है, पर पशुवोंको जो कुछ भी मिल जाये उसमें ही संतोष हो जाता है और भी देख लो पशुवोंको डर अधिक नहीं रहता है। जब कोई लाठी लेकर आ जाये तभी थोड़ा पीछे हटते हैं। पर मनुष्योंको सदा भय बना रहता है। सम्पदाकी रक्षा करेंगे, अपने बाल-बच्चोंकी रक्षा करेंगे। सदा उनको भय ही बना रहेगा। तो मनुष्योंसे पशु अच्छे ही रहे।

भैया, पशुवोंसे मनुष्य तब अच्छे हैं जब कि मनुष्योंमें धर्म आ जाये। धर्म ही मनुष्यकी विशेषता है। यदि धर्मका पालन करें तो पशुवोंसे मनुष्य भले हैं, नहीं तो मनुष्योंसे पशु ही भले है। यहाँ प्रायः विषयोंमें ही धुन लगाये है और अपना समय गुजार रहे है। यहाँसे चले जायेंगे, कुछ हाथ न लगेगा। इस कारण मनुष्यभव पाकर मुनाफा तो तब समझो जब

अपनेमें प्रभुकी भक्ति आवे। अपने आत्माके सहज स्वरूपमें जो कि एक चैतन्यशक्ति मात्र है ऐसा अनुभव हो जाये कि मैं ज्ञानमात्र हूं, आनन्दघन हूं, सबसे निराला हूं, ऐसा अनुभव हो जाये तो जीवन सफल हो सकता है। तभी मनुष्यभव पानेमें मुनाफा है, नहीं तो टोटा ही बैठता है। कहते हैं कि जब विषयोंकी आशा न रहे, आशावोंका त्याग हो तभी शान्ति मिल सकती है।

निर्वाणं भोगवैरस्यं बन्धो भोगेषु गृद्धता।
स्वायत्तमेव निर्वाणं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-२०॥

थोड़े ही शब्दोंमें यदि यह कहना हो कि निर्वाण क्या है और बंध क्या है? मुक्ति क्या है और बंधन क्या है तो उसका उत्तर है कि भोगोंमें विरक्तता आ जाय, भोगोंसे राग हट जाय तो यही मुक्ति है। और भोगोमें आसक्ति आ जाय तो यही बन्धन है और कोई दूसरा बन्धन नही है। आप जकड़े हुए हो। अपने बारेमें जैसे कोई विचार करता है कि मुझे झंझट लग गई, इतने बाल-बच्चोंमें फिक्र बन गई और इतने कामोंमें झंझट बढ़ गया, इन सब कामोंने मुझे फांस लिया, इन बाल बच्चोंने मुझे फांस लिया, तो जरा सही तो विचारें कि हमें किसने फांस लिया? आप कहेंगे कि हमें बाल-बच्चोंने फांस लिया, स्त्रीने फांस लिया। नही, किसी दूसरेने नही फांसा है। विषयोंकी जो आशा बना रखी है, जिस विषय-वृत्तिके भावसे विवाह किया, उस विषयकी इच्छाने फांसा है, स्त्रीने तुझे नहीं फांसा है। आपकी स्त्रीने, आपके बाल-बच्चोंने आपको नहीं फांसा है। आपके विषयकषायोने ही आपको फांस लिया है।

यदि बंधन हटाना है तो कषायोंसे वैराग्य हो जाये। बंधन सुगमतया ही हट जावेगा। इन विषयकषायोंमें कुछ सार नहीं है, इनमें कुछ हित नहीं है, ऐसा समझो। यही मुक्ति है। जिसके भोगकी इच्छा नही है उसके बंधन नही है। भोग विरस लगने लगें यही निर्वाण है। भोगनेकी आसक्ति आ जाये, बस यही बंधन है। सब जीव अपनी-अपनी परेशानियां अनुभव कर रहे हैं। यह क्यों कर रहे हैं? उनको अपनेका पता नहीं कि मैं क्या हूं? मेरा करनेका काम क्या है? यह तो सोचा ही नही और इन इन्द्रियोंके बहकानेमें आ गये, मनके कहनेमें लग गये, बस परेशानियां हो गयीं। इन परेशानियोंको मिटाने वाला केवल ज्ञान ही है। ज्ञानसे परेशानियां मिट जाती हैं। अन्य किन्हीं चीजोंसे परेशानियां न मिटेंगी। सारी व्यवस्था आय आदिकी बना लें तब निवृत्ति हो जायेगी, ऐसा जो सोचा करते हैं उनकी निवृत्ति नहीं हो पाती है। वर्तमानमें जो कुछ प्राप्त है उसमें ही रास्ता निकाल लो। अपने कल्याण की बात तो सोच लो।

मैं अभीसे अहितकी चीजोंको त्यागकर निवृत्तिमें लगूं। जब वर्तमान भाव ही खोटा है, वर्तमान भावमें ही जब परिग्रहकी आशा हो तब भविष्यमें इस आशाके कारण क्या आशा रखी जा सकती है कि निवृत्ति हो जायेगी ? अरे धनके कारण निवृत्तिकी आशा करना तो दूर रहा, पर वर्तमानमें कोई विपत्ति आ जाये और उस विपत्तिमें धर्मकी ओर झुकें तो विपत्तियों के कम होते ही धर्मभावना खत्म हो जाती है। जैसे कोई बीमारीमें अधिक फस गया तो वह अपने मनमें निर्णय कर लेता है कि इस बीमारीसे बच गया तो मेरा जीवन धर्मके लिए है और जब बीमारीसे थोडा ठीक हुए तो वह धर्मकी भावना खत्म हो जाती है।

एक कथानक है कि एक पुरुष खजूर खानेके लिए खजूरके पेड़ पर चढ़ गया। बड़ा लम्बा खजूरका पेड होता है। वह चढ़नेको तो चढ़ गया, पर जब उतरने लगा तो डरा कि कैसे उतरूँ ? उसने सोचा कि भगवान् मैं कैसे उतरूँ ? बोला—भगवान्, यदि मैं उतर गया तो सौ आदमियोंको भोजन खिलाऊँगा। फिर साहस किया, कुछ जरासा उतरा तो बोला—१०० तो नहीं, पर ५० को जरूर खिलाऊँगा। और उतरा तो बोला कि १० को जरूर खिलाऊँगा। इसी तरहसे और नीचे उतरा तो बोला—५ को जरूर खिलाऊँगा। ऐसा कह-कर जब बिल्कुल नीचे उतर गया तो बोला-अरे उतरे तो हम है। मैं क्यों दूसरोंको जिमाऊँ ? सो भैया ! ऐसे ही सब अपनी विपदाओंमें सोचते हैं। जब यह जीव विपदावोंमें फसा होता है तब उसको धर्मकी सूझती है और जहाँ संकट हटे तहाँ यह जीव भगवान्की भक्तिको भूल जाता है। यदि यह जीव भगवान्का ध्यान रखे तो निराकुलता रहती है और निराकुलतासे ही उसका जीवन पार हो जायेगा। यदि प्रभुभक्ति नहीं है, आत्माका ध्यान नहीं हैं तो जैसा जीवन गुजर रहा है वैसा ही सब पर्यायोंमें जीवन गुजरता जायेगा।

भैया, स्त्री पुत्रमें कुछ भी शरणकी बुद्धि न रखो। जो अपनी आत्मा है वह स्वय ही ब्रह्मस्वरूप है। उस आत्मामें मात्र प्रकाश है। ऐसा शुद्ध ज्ञानस्वरूप, ज्योतिमात्र वह आत्मा है। अपने प्रभुकी उपासना करो और पूजा करके यह भाव करो कि मैं ज्ञानज्योति मात्र हूं। यह मैं तो प्रभुस्वरूप ही हूँ। ऐसा ही अपने प्रभुस्वरूपका ख्याल करो। ५ पापोसे दूर रहो। किसी जीवकी हिंसा न करो। बुरे विचार न करो, किसीकी झूठी गवाही न दो। जरा-जरा सी बातोंमें विचलित हो जायें, पापवृत्तिमें उतारू हो जायें तो बतावो इस आत्माका क्या महत्त्व रहा ? किसी जीव पर जी ललचा गया तो आत्माका क्या महत्त्व रहा ? यदि किसी स्त्री पर कुदृष्टि डाली या कामवासनाके भाव बनाये तो उसने स्वयं अपना घात किया। यदि परिग्रहके ही स्वप्न देखते रहे, अपने आपकी दृष्टि न की तो वहाँ अपनी बरबादी ही है।

भैया, यदि परमात्मस्वरूपकी कुछ भी उपासना नहीं की, इन बाह्य पदार्थोंमें ही

कुबुद्धि रही तो समझो कि तुमने अपनी बर्बादी ही कर डाली है । यदि विषयकषायोंमें ही जीवन रहा तो जीवन व्यर्थ है । इसलिए अपना उपयोग जगाओ, ज्ञान जगाओ । भैया ! मोह ममताको छोड़कर अपने आत्मस्वरूपकी ओर झुको । क्या तुम अपने आत्मस्वरूपकी ओर झुक नहीं सकते ? घर गृहस्थोंमें रहते हुए भी भीतरमें ज्ञान जगाना चाहिए । यह स्मरण रखना चाहिए कि मेरी मदद करने वाला दूसरा नहीं है । न पुत्र रक्षा करेंगे, न मित्र रक्षा करेंगे, न स्त्री रक्षा करेगी, अपने ज्ञानस्वरूपमें ही विश्वास हो । यदि ज्ञान और आचरणके माफिक तेरा भविष्य बन गया तो तेरा रक्षक तू ही है ।

आप बिगड़ते चले जा रहे हैं तो यहाँ मदद देने वाला कोई भी न होगा । ऐसा जानकर मोह ममताको त्यागो । इसके त्यागनेमें ही शूरवीरता है । यदि मोह ममता न त्याग सके तो खुदकी ही बरबादी है । अपने स्वरूपको बिगाड़कर क्यों अपने आत्माके महत्व को खो रहे हो ? इसमें तो दुःख होगा, खुदको ही दुःख होगा । खुदके दुःखोंको मेटनेका उपाय है मोह ममताको त्यागना । दूसरा और कोई उपाय नहीं है । भगवान्‌के दर्शन हम किसलिए करते हैं ? यह सीखनेके लिए कि प्रभुमें किसी प्रकारके विषय कषाय नहीं हैं, किसी प्रकारका विकार नहीं है, इसी कारण ये सर्वोत्कृष्ट, सर्वज्ञ व आनन्दमय हुए । प्रभुकी भक्ति और आत्मज्ञान ही आपके आधीन बातें हैं । निर्वाण अपने आधीन है । जो अपने आधीन नहीं है उसमें रति मत करो । यदि अपने आपको न देख सके तो सुख न मिलेगा । यदि खुद अच्छे हो तो सुख हो सकता है ।

भोगमोक्षेप्सिवोऽनेके वाञ्छाहीनो हि दुर्लभः ।
स एव सहजानन्दः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-२१॥

इस लोकमें जितने भी लोग दीख रहे हैं वे कुछ न कुछ वाञ्छा लिए हुए हैं । वाञ्छारहित पुरुष इस लोकमें दुर्लभ है । इच्छाएं अनेक प्रकार की होती हैं । कोई धनकी इच्छासे मलिन हो रहा है, कोई विषयोंकी इच्छाका भिखारी बन रहा है, तो कोई परोपकार के भावोंको लेकर नाना प्रकारकी सेवाओंकी इच्छा करके भ्रमण कर रहा है । इच्छाएँ सबके साथ लगी हुई दिख रही हैं । जो जीव भोगोंसे विरक्त होकर त्याग मार्गमें आया उसके भी मोक्षकी इच्छा लगी है । कोई भोगोंको चाहता है, कोई मोक्षको चाहता है । जिनको हम समझते हैं कि ये बड़े महान् हैं, उनके महती तपस्या है, विरक्ति है उनके भी मोक्षकी इच्छा पायी जाती है । ये इच्छाएं प्रायः सबके साथ लग रही हैं ।

क्या इस लोकमें ऐसा भी कोई पुरुष होगा जिसके किसी भी प्रकारकी इच्छाएं न हों ? मोक्ष तक की इच्छा न हो ? ऐसे भी पुरुष होते हैं, पर कोई विरले । जगत्‌का जैसा

गाय, गायका बछड़ा, स्त्री, स्त्रीका बच्चा सभी उस साधुसे चिपकने लगे, सभी बहने लगे, साधु भी बहने लगा। जब इतनी विपत्तियां साधुके सामने आ गयीं तो उसने समझ लिया कि सब विपत्तियोंका कारण केवल एक लंगोटी है। इस लंगोटीके ही कारण ये सारी विपत्तियां सहनी पड़ी। उसने लंगोटीको खोल कर फेंक दिया यानी सबके ममत्वका त्याग कर दिया। जब उसने लंगोटीको फेंक दिया तो सारेके सारे नदी पार हो गये। साधुने फिर सबका मोह त्याग दिया।

यदि सारे झंझटोंसे छूटना हो तो मोहको त्याग दो। इस मोहके कारण ही सारे झंझट लग जाते हैं। आराम तो एकाकीमें है। आराम अकेलेमें है। अपना जीव किसी दूसरेके साथ पैदा होता है क्या? अथवा मरने पर किसीको साथ ले जायेगा क्या? हजारों लाखोंका कोई वैभव जोड़ ले और मरते समय यदि वह यह कहे कि इसे हमने कमाया है, हमारे साथमें एक चवन्नी ही भेज दो तो चवन्नी तो दूर रही, एक धागा भी साथमें न जायगा।

यह जीव अपने ही स्वरूपको लिए हुए है, जगत्के सब पदार्थोंसे न्यारा है—ऐसा अपने इस स्वरूपका ख्याल करो, अपनी ही और दृष्टि दो, मोह ममताको त्याग दो तो कुछ शरण भी मिलेगा और अपने को भूल जायें बाह्यपदार्थोंकी इच्छाओंमें ही फंस जायें तो बाह्य पदार्थ तो शरण होते ही नहीं। शरण तो अपने अन्तरंगमें ही मिलेगी। बाह्यपदार्थोंमें शरण नहीं मिलेगी। ये बातें सभी अपनी-अपनी हैं। यदि बाह्यकी आशा छोड़ दो तो आकुलताएं दूर हो जावेंगी। जिसने बाह्यपदार्थोंकी आशा नहीं त्यागी, उसको आकुलताएं ज्योंकी त्यों हैं।

सुख दुःख भोगने वाले, तर्क वितर्क करने वाले यदि भीतरमें यह ख्याल बना लें कि मैं एक जीवपदार्थ हूं, इस जीव नामक पदार्थका दुनियामें कोई सम्बन्ध नहीं है, कोई किसी को कुछ मदद नहीं कर सकता ऐसा यदि ख्याल बनाते हैं तो उनका कल्याण है। जब कोई दूसरे सहायक बन जाते हैं तो वह तो उनके पुण्यका उदय है, उनके भाग्यका उदय है अथवा यह कह लिया जाय कि उनके शुद्ध आचार विचारका प्रताप है जो दूसरे लोग कुछ कुछ सहायक बन जाते हैं। अपना शरण तो अपना स्वरूप है कोई दूसरा अपनी शरण नहीं है। इसलिए किसकी आशा करते हो? सभी जगह धोखा ही मिलेगा, क्योंकि कोई भी परपदार्थ मुझमें आता नहीं है, मुझमें कुछ करता नहीं। अपने पापके कारणसे स्वयं दुःखी करता है व सब प्रकारकी बाधाओंको छोड़कर अपने सहजानन्दमें आऊँ और इसी वृत्तिसे अपने आपमें सुखका अनुभव करूं। यह अपने पलेकी बातें हैं। यही तो धर्मकी बात है।

भैया! अपना अपनी अपनेमें है। जो अपना स्वभाव है वही धर्म है। अपना स्वभाव

है वही धर्म है। अपना स्वभाव है ज्ञान और दर्शन। जानना, देखना, ज्ञाताद्रष्टा रहना अपना स्वभाव है। यह स्थिति बन पाये तो धर्मात्मा है, यह समझ लीजिए। यदि यह स्थिति नहीं बन सकी तो वह धर्म नहीं है। इन वांछाओंको त्यागो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

ज्ञाने रतस्य धर्मार्थकाममोक्षे जनो मृतो।
हेयादेयेऽपि चिंता न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-२२॥

जो किसी प्रकार अपने ज्ञानस्वभावका ,विश्वास कर लेता है, सारे पदार्थोंका विकल्प छोड़कर, परम विश्राम से रहकर ज्ञानका अनुभव जिसके हुआ करता है ऐसा ही यत्न करके जो अपने ज्ञानमें रत होगा उसको फिर किसी प्रकारकी चिंता नही रहती। चिंता तो तब है जब ममता है। जिसका शुद्ध ज्ञान होगा उसको बाहरकी चीजोंमें ममता नही रहती है। जब तक ममता रहेगी तब तक शांति नहीं रहेगी क्योंकि ममता व्यर्थकी है। ममता बरबाद ही करने वाली है, उससे कल्याण नहीं होता है।

भैया! इस लोकमें आपका क्या है? अच्छी तरह निर्णय कर लो। शरीर तो आप का होगा नहीं यह भी धोखा दे देता है। यह आत्मा चली जाती है और शरीर यहीका यही रह जाता है। जब तक यह शरीर है तब तक दुःख ही दुःख है। अपने इस शरीरसे बड़ा प्रेम करते हैं। लड्डू भी खूब खिलावें, मिठाइयाँ भी खूब खिलावें, सब कुछ करते, मगर अंतमें खाँसीमें आकर, बीमारियों आकर दुःखी बन जाते हैं। इस शरीरसे इतना प्रेम करते और यही दुखोंका कारण बनता है। इस शरीर पर भी क्या कोई अपना अधिकार है? नही। कोई नहीं चाहता कि बाल सफेद हो जायें, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जायें। खिजाब लगा कर बालोंको काला करते हैं। कुछ भी करें, पर इस शरीर पर अपना कोई अधिकार नही है।

जब आयुका क्षय हो जाता है तब यहाँसे विदा होना ही पड़ता है। लाखों यत्न करें पर यहाँ कोई नही रह सकता है। मंत्र तंत्र कुछ भी हों पर यहाँसे बचाने वाला कोई नही है। यह तो बताओ कि इस लोकमें है क्या तुम्हारा? तुम्हारा इस लोकमें कुछ भी तो नही है। अटकी बातोंकी कोई दवा नही, मिथ्यात्वकी कोई दवा नही, कल्पनाओंका कोई इलाज नहीं। ऐसी ही चुपचाप मान लेनेकी बात है कि वास्तवमें मेरा इस जगत्में कुछ नहीं है। कोई बनावटकी बात नही करता है, किन्तु भीतरमें ज्ञान जगाओ कि यह मैं अकेला ही हूं। इस मेरेमें जगत्का कोई पदार्थ नही है। जो भीतरमें ऐसा मान लेगा तो उसकी आकुलताएँ समाप्त हो जायेंगी। आकुलताएँ तो मिथ्यात्व भावसे लगी है। यदि इन तकलीफोंसे छुटकारा

प्राप्त करना है तो अपने ज्ञानको जगाओ और दूसरा काम नहीं है।

जङ्गलमें एक साधु महाराज नग्न दिगम्बर ध्यानस्थ थे। गर्मीके दिन थे। वहांसे एक राजा निकला। उस साधुकी तकलीफको देखकर राजा वहीं बैठ गया। जब साधुका ध्यान टूटा तो राजा बोला—महाराज ! आप इस प्रकारकी धूपमें इस प्रकारसे क्यों परेशान हो रहे हैं ? आपके पास यहां पर खाने-पीनेका भी प्रबन्ध नहीं, आपको धूप भी बहुत लग रही होगी। कमसे कम एक छतरी तो आपको दे ही दूं जिससे आप ऊपरकी धूप तो बचा सकेंगे। साधु बोला—ऊपरकी धूप बच जायगी, पर नीचेकी तपन कैसे मिटेगी ? राजा बोला—महाराज ! जूते बनवा दूंगा। साधुने कहा—भाई ! नीचेसे जूते, ऊपरसे छाता और शरीर नंगा, यह भी तो ठीक नहीं है। राजा बोला—महाराज ! मैं वस्त्र बनवा दूंगा, सुन्दर वस्त्र मंगा दूंगा। साधु बोला—जब मैं वस्त्र पहिनकर रहूँगा, वेशभूषामें रहूंगा तो फिर मुझे कौन पूछेगा ? तब राजा बोला—महाराज ! तीन-चार गांव मैं लगा दूंगा, जिससे खूब खाना पीना और आरामसे रहना। साधुने कहा—अच्छी बात है। साधुने कहा—फिर खाना कौन बनायगा ? राजाने कहा—महाराज ! आप चिंता न करें, दुःख न उठावें, मैं आपकी शादी कर दूंगा, सब ठीक हो जायगा। साधुने कहा—अच्छा जब सब साधन हो जायेंगे तो फिर मैं पैदल ही क्यों चलूंगा ? राजाने कहा—महाराज ! मोटर दे दूंगा। तो मोटरका खर्च कैसे चलेगा ? राजाने कहा—महाराज ! मोटरके खर्चके लिए मैं ५ गांव लगा दूंगा। साधुने कहा—फिर बच्चे होंगे तो उनकी शादी वगैरा कौन करेगा ? राजाने कहा—अच्छा १० ग्राम और लगा दूंगा। साधुने कहा—अगर घरमें कोई मर गया तो फिर कौन रोवेगा ? राजाने कहा—महाराज ! मैं और सब कुछ तो कर सकता हूं, पर मैं रो नहीं सकता। रोना तो आपको ही पड़ेगा। जिसके ममता है वही रोवेगा। सो भैया ! मुफ्तकी इस ममतासे दुःख ही रहेंगे। तत्त्वकी वृत्ति कुछ भी नहीं रहेगी।

भैया ! घर गृहस्थीमें रहते हुए सारे काम चलने दो, घर गृहस्थीके काम करो, दुकान का काम करो, किसी भी कामके लिए अभीसे निषेध नहीं किया जा रहा है। मगर भीतरमें यह उजेला तो बना रहे कि दुनियामें सब धोखा है। यहां मेरा कुछ नहीं है। अगर हो सके तो ये सब बातें भीतरसे मान लो। भैया ! यह सोचो कि यहांपर मेरा कुछ भी तो नहीं है। यहां तो केवल भ्रमजाल है। ममताके प्रसंगमें केवल पाप ही रहेंगे। सो भैया ! मोहकी बात मोहकी ही है और ज्ञानकी बात ज्ञानकी ही है। ज्ञानी सभी जीव हो सकते हैं, केवल अपने ज्ञानको जगावें। मनुष्यकी तो बात क्या ? गाय, भैंस, सूकर, गधा, सांप और नेवला इत्यादि सभी संज्ञी जीव ज्ञानी हो सकते हैं। पुराणोंमें दृष्टान्त देखो, ये सभी जीव ज्ञानी दिखाये गये

है।

एक गृहस्थ कैसे ज्ञानी हो सकता है ? गृहस्थ घरमें रहता हुआ भी अपनेको पृथक् समझे। जिस प्रकार जलके मध्य कमल बिल्कुल पृथक् है, उसी प्रकार गृहस्थोंमें रहते हुए भी पृथक् रहना चाहिए। कितना भी पानी कमलके पत्तोंमें डाला जाए, अलग हो जाता है। स्वरूप तो सर्वदा अलग है। उसी प्रकारसे एक गृहस्थको ज्ञानमुक्त रहना ही धर्म बतलाया है। यह ज्ञान ही एक अमृत है। यदि इस ज्ञानरसका पान हो जाए, तो जीवन सफल है। विषादने का कोई काम नहीं है। जो करेगा वही प्राणी सुखी होगा।

ये जगत्की चीजें दिखती सब मायारूप है। इनमें कोई सारकी चीज नहीं है। सब इन्द्रजालवत् क्षणिक है। कोई शकल-सूरत वाला सदा रहे ऐसा, यहाँ कोई नहीं है। इसके अतिरिक्त ये मोही जीव ऊपरसे चिकने चुपड़े भले लगते हैं, मुद्रा भी अच्छी है, ठीक लग रहे है। मगर भीतरमें आत्मा कैसी है ? प्रत्येक संसारी जीवकी आत्मा कुछ न कुछ मलिन है। वे अपने आपमें ही सब समझ सकते है। इन बाह्य पदार्थोंके देखनेमें कोई लाभ नहीं है। अपने ज्ञानस्वरूपमें रमो। यदि आपने अपने शुद्ध स्वरूपको समझ लिया तो सुखी हो जाओगे। जो ज्ञानमें रत होगा उसके चिन्ताएँ न रहेंगी। विषयोंकी भी चिन्ता न रहेगी। वह ज्ञानी पुरुष अपने आपमें ही आनन्दमग्न हो जाएगा।

भैया ! बाह्य पदार्थोंकी ओर ध्यान न दो, केवल ज्ञाताद्रष्टा मात्र रहो। कर्ममुक्त भगवान्के विनयभक्ति करनेसे आत्मदेव भगवान्की भक्ति आयगी। मोक्ष तो विनय करनेसे ही मिलता है। भगवान्की प्रार्थना ऐसी हो कि भगवान्के गुणोंका स्मरण करके अपने ज्ञानको सभालें तभी मुक्तिमार्ग प्राप्त कर सकते है। चारों पुरुषार्थोंकी भी चिन्ता ज्ञानी जीवको नहीं होती है। उसे जन्म और मुक्तिकी भी चिन्ता नहीं रहती है। यहाँ तो केवल अपने संभालने का काम है। अपनेमें विकार भाव न आना, अपनेमें किसी भी प्रकारके मलिन भाव न उत्पन्न हो, इसी प्रकारके व्यक्तिको ज्ञानी जीव कहते है। इसके फलमें वर्तमानमें भी सुख रहता है और भविष्यमें भी सुख रहता है, ऐसा समझना चाहिये।

हेय और उपादेयरूप कल्पना भी चिन्ता है। किसी भी वस्तुका विकल्प जिसे नहीं रहता है वह परमहंसकी अवस्था है। परमहंसकी क्या अवस्था है ? पर माने उत्कृष्ट, अहं माने मैं, अर्थात् ज्ञानी जिसकी सर्वोत्कृष्ट अवस्था हो, ऐसा ही वह आत्मा है अथवा परमात्मा, अन्तरात्मा व बहिरात्माका जिसे विशद बोध है वह परमहंस है। यदि ज्ञान है तो जीवन सफल है, नहीं तो जीवन व्यर्थ है। इस कारण अपनेमें ज्ञान बढ़ानेकी कोशिश करो तो जीवन सफल हो जायेगा। सो भैया, ममताको हटाकर भीतरमें ज्ञान बनाओ और अपने

में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होगा।

स्वभावसिद्धि मूर्तिकीर्तिमां तस्यत्यागैं विना न शम्।

स्वात्माश्रयाममर्थं आने स्थाँ स्वयमेव स्वैं सुखी स्वयम् ॥४-२३॥

कहते हैं कि सम्पत्ति और कीर्ति कितनी ही प्रा जाये तो भी शांति तो उनके त्याग बिना और आत्मस्वरूप आत्माको परखे बिना नहीं हो सकती है। शांति धनमें उत्पन्न नहीं होती। ख्याल बना रखा है, मोहमें ही बड़े हुए में शांति मिलनेकी आशा करते हैं, यह निरा भ्रम है। शान्ति तो ज्ञानसे उपजती है। शांति ईंटोंमें नहीं, पत्थरोंसे नहीं, सोना चांदीसे भी नहीं उपजती है। शांति तो केवल ज्ञानसे ही प्रगट होती है। यह ज्ञान, ज्ञान ही है, इसमें दूसरी चीज नहीं है। वह तो सबसे जुदा है ही। वह तो स्वयं त्यागरूप है। सो शांति होगी तो त्यागसे ही बनेगा। यदि त्याग है तो शांति प्राप्त होती है। जैसे कोई जबरदस्ती आ जावे और जबरदस्ती करके धन छीन लेवे और तब यदि धनका ममत्व न रहे तो जब उससे निबटारा हो जाता है तो उसमें ही शांतिका स्वाद आता है। यदि हृदयमें त्याग पैदा हो तो कितना भी दुःख हो जाये, पर शांति अडिग रहेगी। शान्ति बाहरी पदार्थोंसे आती ही नहीं।

एक बुढ़िया थी, उसके ७ लड़के थे। उनमें से एक लड़का गुजर गया। उस लड़केके गुजर जाने पर बुढ़िया मां बहुत व्याकुल हुई। बुढ़ियाको लड़कोंने बहुत समझाया कि मां अभी हम ६ लड़के हैं, हम सबको ही देखकर संतोष करो। क्यों इतना अधिक रोती हो? मां बोली—हम क्या करें, हमारे सामने तो वही एक नाचता है। इस प्रकारसे वह दुःखी होती थी। दूसरा लड़का गुजर गया। बुढ़िया बहुत परेशान हुई। लड़कोंने फिर समझाया कि मां क्यों दुःखी होती हो? अभी हम ५ लड़के हैं। हम ५ लड़कोंको ही देखकर संतोष करो। बुढ़िया मां तब कहती कि हम क्या करें? हमारे सामने तो वही दो बालक नाच रहे हैं। लड़के बहुत समझाते, पर बुढ़िया न मानती। अब उनमें से एक और गुजर गया। अब चारोंने उस बुढ़िया मां को बहुत समझाया कि मां क्यों अधिक रोती हो? अभी हम चार लड़के हैं। हम चारोंको ही देखकर संतोष करो। पर बुढ़िया मां यही कहती कि हम क्या करें, हमारे सामने तो वही तीन बालक नाच रहे हैं। अब वह बुढ़िया मां बराबर उन्हीं लड़कोंके पीछे शोक करती। बच्चे बराबर समझाते, पर मां सदा दुःखी रहा करती थी। इसी तरहसे जब एक ही पुत्र रह जाता तो मां बहुत ही अधिक दुःखी होती थी। वह लड़का बराबर समझाया करता था कि मां ज्यादा शोक न करो, अभी हम तो हैं, हमको ही देखकर संतोष करो। वह बुढ़िया मां कहती कि पुत्र हम क्या करें? हमारे सामने तो वे ही ६ पुत्र नाचते हैं। जब वह ७वां पुत्र भी खतम हो गया। इस प्रकारसे सभी पुत्र उसकी

आंखोंके सामने ही मर गये और बुढ़िया मां ने सुख न पाया।

इस तरह वर्तमान व भविष्यमें भी मोही प्राणी आनन्द नहीं पाता है। भैया, दुनिया आनी-जानी है। आज आया, कल चला गया। इस जगत्में जो आया है सो जायेगा। यदि केवल यही दृष्टि बनी रहे तो सुख है। सो यहां पर यह बताया जा रहा है कि यह जीव ख्याल बनाकर ही दुःखी होता है। चीजके आने-जानेका दुःख नही है। यदि इस जगत्के जीवके विवेक जगे तो ठीक है। यह आत्मा धनके कमाने वाला नही है। उस धनके आनेका तो कारण कर्मका उदय है। और भैया, धन आ जानेसे ही कोई बड़प्पन नहीं है। किसीके पास धन ज्यादा इकट्ठा हो गया तो उससे कोई बड़प्पन नही है। यदि उदारता है, त्याग है, खोटे परिणाम नहीं है और आत्माको दृढ़ बनाओ, मजबूत बनाओ तो यही बड़प्पन है, यही सुख है।

धन होनेसे बड़प्पन नही है। बड़प्पन अपनी उदारतासे ही होता है। कितना भी लाभ हो जाये, कितनी भी कीर्ति हो जाये, पर बिना त्यागके शांति नही प्राप्त हो सकती है। अभी देखो ये सारे जगत्के प्राणी दुःखी नजर आते हैं। भिखारीको देखो वह भी दुःखी रहता है, एक लखपति करोड़पतिको देखो तो वह भी दुःखी रहता है। यही हालत सारे प्राणियोंकी रहती है। जो बच्चा मां को गोदमे रहता है, यदि मां गोदीसे उतारकर नीचे रख दे तो वह भी रोकर गोदमें भागता है। वह समझता है कि अब मैं नीचे रख दिया गया। इसीसे वह दुःखी होता है। इसी प्रकारसे जिनके लाखों करोड़ोंकी सम्पत्ति है वे भी अपना अपमान महसूस कर दुःखी हो रहे है। अहंकार सब जीवोंके पीछे लगा हुआ है। इस अहंकारसे सब जीव बरबाद है। अरे जगत्में जो कुछ होना है वह हो रहा है। जो कुछ होता है बाहरमें ही होता है, उससे तुम्हारा कोई भला बुरा सम्बन्ध नही है। इसलिए जो कुछ होता है सब ठीक ही है, होने दो।

एक बादशाह और वजीर थे। दोनों जंगलमे चले जा रहे थे। बादशाह जो कुछ भी वजीरसे कहता तो वजीर यह ही कहता कि बहुत अच्छा हुआ। जो होता है वह अच्छा होता है। बादशाहके ६ अंगुलियां थी। सबके ५ होती हैं। इसीसे वे छंगा कहलाते थे। जंगलमे बादशाहने वजीरसे पूछा कि मेरे ६ अंगुली हैं वह कैसे हैं? तो वजीरने कहा कि बहुत अच्छा है। अब बादशाहको गुस्सा आ गया, इसलिए कि मैं तो छंगा हूं फिर भी यह कहता है कि बहुत अच्छा है। गुस्सेमें आकर वजीरको बादशाहने उस जंगलके ही एक कुवेंमें गिरा दिया। अब बादशाह अकेले रह गये। अकेले ही चले जा रहे थे। दूसरे देशमें हो रहा था नरमेध यज्ञ। उस यज्ञमें योग्य और सुन्दर नरकी बलि दी जाती थी। वहांसे चार पंडे

छूटे। वहीं बादशाह मिल गये। यह भी खूब सुन्दर ही थे। इनको पकड़कर वे ले गये। एक जगह खूंटीमें ले जाकर बांध दिया। पर यज्ञमें कम या ज्यादा अंग वालेकी बलि नहीं दी जाती थी। इसलिए जब किसी पंडेने देखा व बताया कि इसके तो ५-६ अंगुली हैं, तब पंडे लोगोंने उसे डंडे मारकर भगा दिया। खुश होकर बादशाह चले आये। मनमें सोचते कि वजीर अच्छा कहता था कि बहुत अच्छा हुआ यदि ६ अंगुलियाँ हैं तो। ६ अंगुली हैं, इसलिए मैं बच गया। अब बादशाह खुश होकर उस कुवेंके पास गया जहाँ कि वजीरको ढकेल दिया था। वजीरको बादशाहने कुवेंसे झट निकाल लिया। बादशाहने वजीरसे कहा कि तुम बड़ा अच्छा कहते थे। ६ अंगुलियाँ थीं, इसलिए आज मैं बच गया, यही सोचकर मैंने तुमको निकाला है। अच्छा बतावो मैंने तुमको कुवेंमें ढकेल दिया था सो कैसा हुआ? वजीरने कहा कि यह भी अच्छा हुआ। कहा—कैसे? वजीर बोला—ऐसे कि यदि मैं भी साथमें होता तो हम भी पकड़े जाते। आप तो ६ अंगुलियोंसे बच जाते और हम ही मारे जाते।

भैया, ममता करनेमें, चिंता करनेमें, घबड़ाहट करनेमें क्या तत्त्व रखा है? वे तो बाहरी चीजें हैं। ज्ञान बनाओ और देखते रहो अपने आपके स्वरूपको, बस यही ठीक है। क्या-क्या संकट इस जीव पर नहीं आते? वर्तमानमें किसी संकटको बुरा संकट क्यों समझें? इससे हजार गुना, लाख गुना, करोड़ गुना संकट सहना पड़े तो भी घबड़ाना नहीं चाहिए। कोई भी परेशानी हो, किसी भी प्रकारका संकट हो, पर संकटोंसे न घबड़ावो, यही ज्ञानका काम है। यदि अपने ज्ञानको सही न रखा तो खुद ही दुःखी होगे। कोई दूसरा तुम्हारी एवज पर दुःखी नहीं होगा। सो चाहे कितना भी लाभ हो, कितनी ही सम्पदा आवे, कितना ही यश फैल जावे, पर यदि राग द्वेष नहीं मिटे तो शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है। सो आत्मा का जो यह ज्ञानस्वरूप है वह स्वरूप ही स्वयं ज्ञानमय है। इसमें किसी दूसरेका प्रवेश नहीं है। सो अपने स्वरूपको देखो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

मुमुक्षुर्वो बुभुक्षुश्चालम्बताम् हि शिवाशिवम्।
इच्छाहीनः स्वविश्रान्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–२४॥

दो तरहके प्राणी होते हैं इस लोकमें। एक तो भोगकी इच्छा करने वाले और दूसरे मोक्षकी इच्छा करने वाले। दो तरहके प्राणी इस लोकमें मिलते हैं। सो जो भोगकी इच्छा करने वाले हैं, वे तो सभी मलिन चीजों का आश्रय करते हैं और जो मोक्षकी इच्छा करने वाले हैं वे सिर्फ विशेष चीजोंका आलंबन करने वाले हैं। कहते हैं भैया! इच्छाएँ जो आत्मा के अंदर हैं। किसीको मोक्षकी इच्छा लगे, किसीको भोगोंकी इच्छा लगे और चिंताएँ जितनी होती हैं वे सब दुःखके लिए ही होती हैं। यदि ये इच्छाएं दूर हों तो अपनेको विश्राम

मिलता है। जब तक किसी भी बातकी इच्छाएं रहती हैं तब तक दुःख होता है।

भैया! यही देख लो कि खेतोंमें २० मन उर्द उपजे, घरमें आये। अभी तक था २७ का भाव, अब सुनते हैं कि ४२ का भाव हो गया तो दुःखी हो गये। उर्द बेचे भी नहीं हैं, घरमें रखे हैं, पर ख्याल बना लिया कि १०० रु० का नुकसान हो गया। यह ख्याल ही बनाकर दुःखी हो जाते हैं। अभी घरमें सोना चांदीका गहना है, कोई बेचना नहीं है, घरमें रखा है। अभी तक भाव १०० रु० का था, अब सवा सौ का होगया, लो घर बैठे ही ख्याल बनाकर प्रसन्न हो गये और जब सुना सोना बावनका हो गया तो वे दुःखी हो गये। परके समागमसे ही ख्याल बनाकर प्रसन्न हो जाते और परके समागमसे ही ख्याल बनाकर दुःखी हो जाते हैं। इन बाह्य पदार्थोंसे जिनमें कोई फायदा नहीं है, उन्हीके पीछे दुःखी हुआ करते हैं, पर अन्तमें सारी चीजें छोडकर चले जाते हैं। इन चीजोंसे लाभ तो होता नहीं है; टोटा ही टोटा इनमें बना रहता है। क्या है इन टोटे वाली चीजोंके पीछे पडनेसे? आखिर इन्हें अन्तमें छोड देना ही पडेगा। जैसे अन्तरंगमें बुद्धि जागे तो शान्ति प्राप्त हो सकती है। अंतरंगमें यथार्थ ज्ञान जगाना चाहिए।

जब यथार्थ ज्ञान अन्तरंगमें जागेगा तभी शान्ति प्राप्त होगी, यदि अन्तरंगमें ज्ञान न जग सका, स्त्री पुत्रके पीछे ही मोहमें पडे रहे, कुटुम्ब, परिवारके पीछे ही पडे रहे तो इससे उपद्रव ही आवेंगे। इनमें गिरने पडनेसे कोई हितकी बात नहीं मिलेगी। कहीं बडा लडका गुजर गया, कहीं छोटा लडका गुजर गया, यही सारी बातें हुआ करती हैं। इन सारी बातों के होनेमें संकट ही आते हैं, क्लेश ही आते हैं। संसारकी जो रीति है वह तुम्हारे लिए न्यारी नहीं होगी। किसीके लिए पद्धति नहीं बदल जायगी। यह तो संसार है, पुण्य पापका ठाठ है, जन्म मरणके चक्कर है, यह तो ऐसा होगा ही। अब बुद्धिमानोंकी चीज तो यह है कि अपने ज्ञानके अनुसार विचार बनाओ। अपने माफिक दुनियाको मत निरखो। दुनिया जैसी है वैसी देखो। हम आप जैसा सोचते हैं जैसा विचार करते हैं वैसा ही देखना चाहते हैं। बस इसीसे दुःख है, और कोई दुःख नहीं।

इस जीवकी जितनी इच्छाएं होती हैं, वे सब जीवके क्लेशके लिए ही होती हैं। धर्म में और क्या किया जाता है? चाहे वह गृहस्थ हो, चाहे साधु हो, सभी ज्ञानी अपनेको सबसे पृथक् देखते हैं और अपनी इच्छाओंको नष्ट करनेका यत्न करते हैं। कहते हैं कि अपना खोटा ही छानो, कुआं नहीं छनेगा। सुखी होनेका उपाय केवल एक ही है कि जो जैसा है उसे वैसा ही जानो। क्यों जी, जो कुछ आप चाहें यदि वह मिल जाय तो क्या आप सुखी रहेंगे? सुखी कदापि नहीं रह सकते हो। मुझे कुछ नहीं चाहिए। ऐसी इच्छा हो तो यही सुखका उपाय

है।

भैया! तुम्हारे अधीन कौनसी चीज है? अरे! कोई भी चीज तुम्हारे अधीन नहीं है। तुम्हारे आधीन तुम तो हो सकते हो। अपना ज्ञान जगाओ और तो सब बाकी असार है। शान्तिका उपाय तो केवल इच्छाओंका अभाव है। जैसे घरमें ४ बालक अमरूदके पीछे आपसमें लड़ने लगें। एकके हाथ अमरूद है तो दूसरे उसे छुड़ाते है, मारते है, पीटते है। अगर वह बालक अमरूदको फेंक दे तो वह परेशानियोंसे मुक्त हो जाय।

सब कुछ मिल जाय, घर-द्वार मिल जाय, गाय-भैंस सभी कुछ मिल जाय तो इससे ही सुख नही प्राप्त होता है। रोज यही देखते है कि यहाँ कुछ रह नही जाता है, इन सबके कारण ही जीवनमें संकट बने रहते है। यदि ये इच्छाएं न हों तो संकट कभी न आवें। इच्छाओंके अभावसे ही संकट दूर होते है। विषय भी उससे होते हैं जिसके इच्छा हो। इन इच्छाओंके ही कारण विषय हो जाते है। यह सारा संसार पड़ा हुआ है। यहां पर कल्याण की कोई चीज न मिलेगी। कल्याणकी चीज तो केवल अपने आत्म-प्रदेशसे ही मिलेगी। इस आत्मामें यथार्थ ज्ञान है, सब स्वतन्त्र वस्तुऐं हैं, सब न्यारी-न्यारी है। किसीका किसीसे कुछ सम्बन्ध नही है। यदि ऐसा विचार न बना तो शांति नही प्राप्त हो सकती है।

अभी धनिकवर्गोंको देख लो। लोगोंके देखनेमें वे चिकने चाकने बड़े भले लगते हैं, पर वे मोहमें रहकर दुःखी हुआ करते है। यदि धनिक लोगों की आत्मा देखो तो खोखली ही हो गयी है। उन्हे सुख और आनन्द नही प्राप्त होता है। जिसने धनका विकल्प किया, घरके २–४जीवोमे ही विकल्प किया तो वह सदा दुःख ही पाता रहता। सुख किसी दूसरेके द्वारा नही प्राप्त होगा। किसी की आशा न करो। आशा तो केवल अपने प्रभुकी ही करो। वह प्रभु ही तुम्हारी शरण होगा। वही तुम्हारी रक्षा करेगा। अन्य कोई तुम्हारी रक्षा न करेगा।

जिसके मोह नहीं है, जिसने सारे विकल्प त्यागकर अपने प्रभुके ऊपर ध्यान दिया है उसे कभी क्लेश नही प्राप्त होंगे। अरे मोह करनेसे कोई फायदा नही होगा। यदि मोह करना है तो अपने प्रभुसे करो, अपने ज्ञानस्वरूपसे करो। बाहरसे मोह करना छोड़ दो। आत्मस्वरूपके मोहको मोह नहीं कहते, मोक्षमार्ग कहते हैं। विषयोंमें आसक्ति छोड़ दो तो अपने आप सुखी हो सकते हो।

देहादिकं पृथक् कृत्वा ज्ञानि लिङ्गानि केवलं।
पश्यामि भो मयि भोग्ये स्वयं स्वमें स्वे सुखी स्वयम्॥४–२४॥

यह देह भी अपनी नहीं है और की तो बात ही क्या है ? जब देह भी अपनी नहीं

है तो फिर दूसरे अपने कैसे होंगे ? इस देहसे पृथक् अपनी इस आत्मा को समझो। अपने को केवल ज्ञानस्वरूप मानो। कुटुम्ब परिवार इत्यादिके मोहको छोड़ दो। २४ घंटे पड़े हैं। इन २४ घंटोंमें प्राय: सारा ही समय विकल्पोंमे ही लगा देते हो। २४ घंटोंमें से ५ मिनट का समय तो आत्मस्वरूपकी दृष्टिमें लगावो, किसी भी अन्य बातोंका ख्याल न करो, अपने इस शरीर तकको भूल करके अपने आत्मस्वरूपका चिंतन करो, प्रभुभक्तिमें ही वह नियत समय बितावो तो शांति प्राप्त हो सकती है।

ज्ञानज्योति और शांति आत्मस्वरूपमे ही है। बस आत्मामे ज्ञानके बिना अन्य कुछ नही होता। केवल अपने आपका अनुभव हो तो आनन्द प्राप्त होगा। अपने ज्ञानस्वरूपके दर्शनसे ही सारी इच्छाएँ समाप्त हो सकती हैं। बाहरी पदार्थोंमें अपना उपयोग न लगावो। बाहरी पदार्थोंमें शांति नही है, आकुलताएँ ही मिलती हैं। हमें बाह्यपदार्थोंके प्राप्त कर लेने पर ही खुशी नही माननी चाहिए। खुशी तो अपने आपके आत्मस्वरूपको देखकर होनी चाहिए। अपने आत्मस्वरूपको देखो, मोह ममताको छोडो तभी शांति प्राप्त हो सकती है। इस धन-वैभवके पीछे पड़नेसे कभी शांति नही मिलती है। इस धन-वैभवमें कुछ भी तो सार नहीं है। यदि धन-वैभवमें सार होता तो बड़े-बड़े महापुरुष ६ खण्डकी विभूतिको त्यागकर जंगलमे क्यों रहते ? परचीजोंकी मोह ममतामें कुछ नही है। बाहरी पदार्थोंकी मोह ममतामे पड़नेसे तो दु:ख ही है। सो अपनी इस मोह ममताको त्यागकर अपने आपके स्वरूपको देखो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

इदं ज्ञानं न मे ज्ञानं दर्शनं च न दर्शनम्।
चिन्तयालं न मेऽन्तर्वाक स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–२६॥

हमारा और आपका स्वरूप आनन्दसे भरा हुआ है। जैसे पुद्गलके बारेमें पूछा जाये कि इस पुद्गलमें क्या चीज है ? तो कहा जा सकता है कि इसमें रूप है, रस है, गंध है और स्पर्श है। इसी तरह पूछा जाये कि आत्मामें क्या चीज है ? तो बहुत खोज कर लो खोज करने पर यही समझमें आयेगा कि आत्मामें ज्ञान है और आनन्द है। या यों कह लो कि ज्ञान और आनन्दका ही नाम आत्मा है। वह आत्मा ज्ञान और आनन्दसे पृथक् नहीं है ज्ञानानन्द निराधार नही है। उसका आधार यह आत्मा है। हमारा और आपका स्वरूप आनन्दसे परिपूर्ण है। परन्तु आज स्थिति देख रहे हैं कि आनन्द नही नजर आता है।

भैया, सभी लोग किसी न किसी क्लेशकी बातोंसे अपना उपयोग बना रहे हैं।

इसका क्या कारण है ? कारण भी बहुत सीधा है जो जल्दी बतानेमें ही आ जाता है। उसको दूर करनेका उपाय अत्यन्त सीधा है। अतः जल्दी संभालमें आ जाता है। अभी देख लीजिए, हम और आप अकेले-अकेले हैं कि नहीं ? केवल अपने स्वरूपको देखो। अपनी स्वरूप सत्ता का विचार करो कि मैं अकेला हूं कि नहीं, किसी जीवसे मिला हुआ है क्या कोई ? किसी दूसरे पदार्थसे जुड़ा हुआ है क्या ? नहीं, बिल्कुल अलग है। चाहे वह किसी भी स्थितिमें हो, मुक्त स्थितिमें हो, स्वतंत्र स्थितिमें हो, जीव सब अलग हैं। जीवका स्वरूप जीवमें है, वह किसी द्रव्यसे मिला हुआ नहीं है। फिर यह मिला-जुला क्यों हो गया ? ऐसा जुड़ा हुआ क्यों बन गया, इसका कारण है कि इस जीवके जाननेकी एक कला है जो और द्रव्योंमें नहीं पायी जाती है। और विकारों रूप परिणमनकी योग्यता है। इस कारण इसने अपनेको अकेला न जानकर दूसरे पदार्थोंसे मिला-जुला मान रखा है। बस यही भूल ही सारे दुःखोंका कारण बनी हुई है। यह तो सोचनेकी बात है, कहीं बाहर देखनेकी बात नहीं है। गुपचुप, छिप-छिपकर जो अपने अन्तरज्ञानका प्रकाश करेगा और उस प्रकाशके साथ चलेगा तो उसका भला है। भैया, जब भी भला होगा, अपने आपके विचारसे होगा। बाह्य पदार्थोंसे भला न होगा। धन वैभव तो प्रकट पराये हैं, पर ही नजर आते हैं। उनका क्षेत्र जुदा है, तुम्हारा क्षेत्र जुदा है। किसी भी प्रकार उनसे मेल नहीं दिखता है। वे प्रकट पराये हैं, और जो दूसरे जीव हैं, जिन्हें परिवार मानते हैं, मित्र जन मानते हैं वे भी प्रकट जुदा हैं। किसी जीवका किसीसे कोई बंधन गुंथा हो, गांठ लगी हो, एक हो गया हो तो बतलावो। दूसरे जीव अपनी जगह है, हम आप अपनी जगह हैं, कुछ सम्बन्ध नहीं है। इतना भी नहीं है कि हम उनको जैसा बनाना चाहें वैसा ही बन जावें। यह भी सोच लो कि जैसा हम चाहें वैसा वे काम भी कर लें। उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ये चेतन बाह्यपदार्थ मेरे कुछ नहीं हैं। जब जीव चला जाता है तब इस शरीरको कोई घरमें नहीं रखना चाहता है। यह एक मोटीसी बात है। अपने-अपने शरीरको पकड़ कर देखो कि यह शरीर मित्रजनोंके ही द्वारा अंतमें जलाकर खाक कर दिया जाता है। तो यह शरीर भी नहीं रहेगा, खाक कर दिया जायेगा। केवल अपने आपमें अपना ठीक ज्ञान करो तो यही सारे सुखोंका कारण है। यदि सुख प्राप्त करना है तो वास्तविक ज्ञान प्राप्त करो। ज्ञान ही वास्तवमें सुखोंका कारण है। ज्ञानसे ही सुख मिलता है। शांति किन्हीं भी बाह्य चीजोंसे नहीं मिलती। केवल एकमात्र ज्ञानसे ही शांति एवं संतोष प्राप्त हो सकता है। यह देह भी अपनी नहीं है। जिन कर्मोंसे सुख दुःख मिलते हैं वे कर्म भी अपने नहीं हैं। वे भी अपनेसे जुदा हैं। उनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। पदार्थ जुदा हैं, उनका परिणाम उनमें है। उनसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं। फिर भी उनका

कर्म अनित्य हैं, मिटने वाले हैं, असार हैं, मायारूप हैं। वे कर्म भी मेरे नहीं हैं। यहाँ सुख दुःखकी जो मेरी परिणति है क्या वह मैं सुख दुःख हूं? मैं तो वह हूं जो सदासे हूं, सदा रहूंगा। मेरी भी वह चीज है जो सदासे है और सदा तक रहेगी। जो माया है वह मिट जायेगा। जो मिट जायेगा वह मेरा कैसे हो सकता है? मेरा तो वह है जो मेरे साथ सदासे है और सदा तक रहेगा। ये सुख दुःख क्या सदासे हैं? क्या सदा तक रहेंगे? जो सुख दुःख हैं वे भी मिट जाने वाले हैं। ये सुख और दुःख भी मेरी चीजें नहीं हैं।

अब और आगे बढ़िये। यह तो जान रहे हैं कि यह मेरा घर है, यह शरीर है, यह चौकी है, यह हाल है, और और भी जानकारियाँ होती हैं, ये तो मेरी होंगी ना? ये जानकारियाँ भी मेरी नहीं हैं। ये परिणतियाँ भी हो जाती हैं। ज्ञानावरणका क्षयोपशम अन्तरंग कारण है, सो कुछ ज्ञान होता है और साथमें राग-द्वेष लग रहे हैं। सो इन रागद्वेषोंने तो इस ज्ञान की पद्धतिका यंत्र बदल लिया है। जिस प्रसंगका छोटा मोटा ज्ञान कर रहे हैं यह छोटा मोटा ज्ञान भी, छोटा मोटा जानन भी मेरा नहीं है। मेरी तो वह वस्तु है जो मेरे साथ अनादिसे है और अनन्तकाल तक रहेगी। जो मेरा सहज है वह मेरा है। सहज कहते हैं "सह जायते इति सहजम्।" जो साथ उत्पन्न हो वही सहज है। मैं कबसे हूं? मैं अनादि से हूं। मेरेमें जो अनादिसे है वही मेरा है। छुटपुट ज्ञान आदि मेरे नहीं हैं।

भैया, इस छुटपुट ज्ञानका भी जीवको अभिमान हो जाता है। इसका कितना अहंकार होता है? इस पर बड़े-बड़े सामाजिक कलह हो जाते हैं। घरमें अनबन हो जाती है। कोई पूछे भाई यह बहुत बड़ा झगड़ा क्यों हो गया? किस चीजका विवाद था कि इतना बड़ा झगड़ा हो गया? तो वह कहेगा कि झगड़ा खड़े हो जानेकी चीज कुछ नहीं थी। बात बिल्कुल थोड़ी सी थी। वह बताई नहीं जा सकती है। बताओ कैसे झगड़ा हो गया? इसी प्रकार परतत्त्वमें आत्मबुद्धिके कारण संसार बन गया। ये छोटी जानकारियाँ भी कुमतिके संगसे हमारे आपके वैभवमें बाधक बन गयी हैं। यह ज्ञान भी मेरा नहीं है।

इस समझकी प्रतिभारूप शब्दावलि जो समझके साथ-साथ अन्तरंगमें लगी हुई है वह भी मेरी नहीं है। जो कुछ भी भीतरमें बोलना होता है ऐसे अन्तरंगकी वाणी भी मेरी नहीं है। इस अवस्थामें हम और आपके जो ज्ञान जगता है वह सब ज्ञान कुछ न कुछ शब्दों की वाणीको लेकर जगता है। जिससे कि शब्दाद्वैतवादियोंने एक दर्शन ही निकाल दिया कि सारा जगत् शब्दमय है क्योंकि कुछ भी जानो, जाननेके साथ साथ कुछ न कुछ शब्द अन्तरंगमें आ खड़े होते हैं। वह अन्तरंगशब्द भी, वह अन्तरंग वाणी भी मेरी नहीं है, फिर और किसीका अहंकार ही क्यों करते हैं?

गरीब सुनारने किसी तरहसे कमी करके बखोरा बनवा दिये। मगर इस देशका रिवाज लंबी और मोटी धोती पहिननेका है, जिससे कि सारा अंग ढक जाता है। सो सारा अंग ढके होनेके कारण बखोरे दिखाई ही न पड़े। इसलिए किसीने भी उसकी प्रशंसा न की। बहुत दिन हो गये, किसीने भी प्रशंसा न की तो वह मन ही मनमें कुढ़ने लगी। उसको अधिक गुस्सा आ गया। जब किसीके तीव्र गुस्सा आ जाता है तो अपना भी नुकसान करनेकी मनमें बात बैठती है। जैसे अपने घरमें बातचीतमें ही सास-बहूमें झगड़ा हो गया तो गुस्सेमें आकर घरका ही डबला फोड़ देती है। तो उस सुनारिनने क्या किया कि जिस झौंपड़ीमें रहती थी, गुस्सेमें आकर उस झौंपड़ीमें ही आग लगा दी। आग लगा देनेके बादमें ही उसे चिन्ता हो गयी कि अरे घर जला जा रहा है। दौड़ो, रस्सी वह पड़ी है, बाल्टी वह पड़ी है। सभी पड़ोसी अपने-अपने घरसे निकल आये। जब हाथ फटकार कर वह कह रही थी तो बखोरे एक स्त्रीको दिख गये। बोली—अरी जीजी, ये बखोरे कब बनवाये ? ये बखोरे तो बड़े सोने है, बड़े सलोने हैं। वह बोली—अरी रांड, इतनी बात यदि पहले कह देती तो हम अपना घर ही क्यों जलाते ? आप बतलावें कि इस यशमे यहांके लोगोंकी बरबादी हो रही है कि नहीं हो रही है ? कहते हैं ना कि यह तो लम्बासा ऐंठ जाता है। पैसेमें नहीं, जमीनमें नहीं, खाने-पीनेमें नहीं, वे बातोंमें ही ऐंठ जाते हैं। ये जो जानकारियां बन रही हैं, ये भी मेरी चीजें नहीं हैं। ये भी माया रूप बन रही हैं। अरे उन जानकारियोंकी क्या चाह करते हो ? क्या उस यशकी चाह करते हो ? चाह करो अपनी उस आत्माकी, आंतरिक तपस्याकी, चित्तमें शुद्ध दृष्टि लानेकी। जिन्होंने आत्माको सिद्ध किया, निर्वाण प्राप्त किया उन्हें भी कौन जानता था ? मगर वे निर्वाणको गये। जो इस लोकमे बहुत अधिक प्रसिद्ध हुए ऐसे आदिनाथ भगवान भी निर्वाण होने पर उन सबके आनन्दमें कुछ अन्तर नहीं माना है। तो अपने ज्ञानस्वरूपका परिचय होनेके लिए ज्ञान शुद्ध होना चाहिए। यहाँ कोई जानने तो आयेगा नहीं, मगर अन्तरंग शुद्ध होगा जिसका, शांति तो वही पावेगा।

अब तो काम करने लायक यह बात है कि भीतरमें ज्ञान शुद्ध हो। भीतरमें ज्ञान शुद्ध होनेसे ही अपना बेड़ा पार है। जो अपने अंतरंगको शुद्ध नहीं कर सकता है उसकी क्या कीमत है ? यश तो झूठा भी फैल सकता है, अशुद्ध यश भी फैल सकता है। बहुतसे लोगोंको धोखेबाजी, राग इत्यादि रुचते है, लोग बहकावेमें आ जाते हैं, उससे कोई सुख नहीं। उसी प्रकार वैभव भी कितना ही बढ़ जाये, सौ हो गये, हजार हो गये, लाख हो गये, अरब हो गये, यह सब क्या है ? यह पुद्गलका ढेर है, उससे कोई जीव लिपटा तो नहीं है। मरने

के बाद कुछ भी तो हाथ नहीं लगता है। वह तो केवल ख्यालका ही धन है। ख्यालमें ही लगी है। चीजें कुछ नहीं है। चैतन्यस्वभावको लक्ष्यमें लेकर सोचो, यह जो अपना स्वरूप है, अपनी परिणति है, इसके आगे अपनी बात कुछ नहीं है।

भैया, बाहरी चीजोंसे आनन्द नही आता, शांति नहीं मिलती। यह बाह्यविषय तो अशान्तिरूपी अग्निका ईंधन हैं। यश क्या है ? अशान्तिरूपी अग्निका ईंधन है। जैसे ईंधन जलते रहनेसे अग्नि शान्त नहीं होती है, अग्नि बढ़ती ही रहती है इसी प्रकार यश होते रहने से यशकी दृष्टिमें अशान्ति बढ़ जाती है, अशान्ति कम नहीं होती है। जैसे अभी तक तो हमें दस-बीस लोग जानते थे, अब हजारों लाखों जानने लगे। इससे कहो एक समय ऐसा आयेगा कि इस यशके ही पीछे मर जावेंगे।

बड़े महाराज सुनाया करते थे कि बनारसमें एक वयोवृद्ध विद्वान् पंडित थे। वह बहुत ही विद्वान् थे। विद्वान् होने पर भी वे रात दिन अध्ययन करते थे, ग्रन्थोंको देखते थे। धीरे-धीरे पंडित जी की ख्याति फैल गई, अच्छे विद्वानोंमें से हो गये। कुछ लोगोंने पूछा, इतना विद्वान् होने पर भी आप इतना परिश्रम क्यों करते हैं ? पंडित जी बोले कि यदि कभी किसी शास्त्रार्थमें हम हार गये तो कुवेंमें गिरकर मर जाना पड़ेगा। कभी शास्त्रार्थमें हार न जायें इसलिए अध्ययन करते हैं। कुछ दिनोंमें ऐसा ही घटित हुआ। किसी विद्वान्से शास्त्रार्थमें हार गये और कुवेंमें गिरकर मर गये। तो यह यश भी अशांति रूपी अग्निका ईंधन है।

इस यशके पीछे हजारों रुपया पैदा किये। जब हजारों हो गये तो लाखोंकी फिक्र बढ़ी। और जब लाखों हो गये तो सोचा कि अभी और होने चाहियें। करोड़की फिक्र बढ़ी। कभी भी इस धनसे शांति न मिलेगी। जब करोड़ हो गये तो अरबकी चिंता बढ़ेगी। क्या अरब हो जानेसे शांति हो जायेगी ? शान्ति कदापि न मिलेगी। यदि शांति मिल जाती हो तो बतलावो। यश और वैभव तो अशांति रूपी अग्निके ईंधन है। सो इन दृष्टियोंको छोड़ो और भगवानकी भक्तिका सहारा लो। अपने आपके आत्मध्यानसे पूरा पड़ेगा। अपना आत्मस्वरूप ही हितरूप है।

आर्तकारणमाशैव कमाशासेऽत्र को मम।
दूरमास्तां न मेऽर्थो हि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-२८॥

इस लोकके सब जीव केवल एक ही चीज चाहते हैं कि दुःख न हो। व्यवहारमें कितने ही कर्म किए जायें, कुछ भी चाहा जाय, पर सबके मूलमें वही बात है कि दुःख न हों। सबका एक ही ध्यान है कि दुःख न हो। जो विषयोंमें लगते हैं उनका भी वही विचार

है कि दुःख न हों। विषयोंकी इच्छासे जो वेदना उत्पन्न होती है उसको मिटानेका भाव रहता है। वह वेदना कैसे मिटे ? तो सारे लौकिक जनोंको यह उपाय सूझता है कि विषय भोग लें तो इसकी वेदना मिट जायेगी। सो विषयोंमें लगते है वे अपना दुःख मिटानेके लिए। और जो ज्ञानीजन है, जिनका यथार्थज्ञान विशद रहता है कि विषयोंसे तृप्ति नहीं होगी, विषयोंसे पूरा न पड़ेगा। ऐसा जिनके स्पष्ट ज्ञान होता है वे विषयोका त्याग कर देते है और अपने अन्तरज्ञानमें प्रवेश करनेका यत्न करते हैं कि दुःख न हों।

भैया, जीवोंमें यावन्मात्र परिणमन हैं, प्रयत्न हैं, वे सब एक ही ध्येयके लिए है कि दुःख न हो। दुःखोंका कारण है क्या ? सीधा साफ कारण आशा है। जिनको भी दुःख लगता है उनके आशा पायी जाती है। यदि आशा न हो तो क्लेश हो ही नही सकते। हाँ आशाके रूपोंमें फर्क हो सकता है। किसीकी कुछ आशा, किसीकी कुछ आशा। जो जैसी स्थितिमे है उससे बढ़कर आगेकी आश सबके अन्दर लगी हुई है। भिखारी है उसके दो दिन के खानेका सामान है। यदि उसे दो-चार दिनको और सामान मिले तो उतने तक ही वह आशाकी कूद लगाता है। जो हजारपति और लखपति है वह भी करोड़पति बननेका स्वप्न देखता है। सब ऐसी ही आशाए लगाये बैठे हैं। इन आशावोके होनेके कारण ही जब वैभवमें कोई बाधा आये, डकैतोके आक्रमण होते नजर आये तो दुःखी होते है। आशाकी बजहसे जो वर्तमानमें रहा सहा प्राप्त वैभव है उसका भी सुख नही पाया जा सकता है। सर्वत्र देखो दुःखोंका कारण एक आशा ही है। परन्तु इस आशाको सीमातीत जो आलम्बन करता है वह तो लोकमें भी निंद्य होता है। और देखो वह तो दुःखी है ही, किन्तु जो कुछ थोड़ी बहुत आशा करते हैं वे भी दुःखी ही है।

दुःखोंका कारण आशा ही है। बच्चा दुःखी होता है तो यह निर्णय निकालो कि इसको किसी चीजकी आशा लग गयी, इसलिए दुःखी हो रहा है। जवान दुःखी हों, बूढ़े दुःखी हों उनका भी यह निदान है कि इनको किसी चीजकी आशा लग गयी है, इसलिए दुःखी हैं। तो जिस पदार्थकी आशा लग गयी वह पदार्थ तो अपने आपमें अपनी जगह पर है, उन पदार्थोंकी आशा करनेसे वे पदार्थ आशावानकी ओर झुकते नही हैं। वे तो टससे मस नही होते हैं। कुछ उसके लिए कोई हाव-भावकी प्रवृत्ति नही करते हैं। ये पदार्थ तो अपने स्वरूपमें है। ये आशाएँ व्यर्थ की जा रही है। इन आशावोंका फल यह होगा कि दुःखी रहना पड़ेगा।

भैया, लोकमें दो प्रकारके रूपोंसे आशाएँ की जा रही हैं—(१) चेतन (२) अचेतन। धन-वैभव, मकान, महल, सोना, चाँदी ये तो सब अचेतन हैं। इनकी आशा रखते हैं। इसके

बदले ये विचारे जड़ पदार्थ मुझको कुछ खुशी नहीं दिला सकते। वे तो स्वयं जड़ है उनको उठाया जा सकता है, भेदा जा सकता है, फेंका जा सकता है, पर उनमें स्वयं तो कु दम नहीं है। एक तो वे ऐसा अलग रहते हैं कि अब भी सबको अलग लग रहे हैं। ऐ उन जड़ पदार्थोंकी कीमत लोग बना बैठे हैं, क्योंकि प्राय: सब लोग उनमें लगे बैठे हैं। केव उनकी ओरसे देखो तो उनकी क्या कुछ कीमत नहीं? जैसे बाजारमें भाजी न मिले, भा का टोटा पड़ जाये तो सड़ी भाजी भी अधिक मूल्यसे बिकने लगती है। सड़ी भाजी औ अच्छी भाजीमे फिर कोई अन्तर नहीं रह जाता है। चाहने वाले लोग उस सड़ी भाजीपर टूट पड़ते हैं। वह सड़ी चीज भी ऊँचे भावसे बिकती है तो चीजका कुछ भाव नहीं होता भाव तो चेतनमें है, चीजोंमें कुछ भाव नहीं है।

कोई कहे कि गेहूंका क्या भाव है? तो उसका अर्थ यह हुआ कि गेहूंके बारेमें लो के भाव क्या हैं? सो चीजोंका जरा भी भाव नहीं। कोई भाव पूछे तो उसका अर्थ यह कि चीज चाहने वाले लोगोंका क्या भाव है? लोगोंके क्या ख्याल हैं? लोग कितना उसक ओर झुक रहे है? सीधा अर्थ तो यह है। जिन पदार्थोंकी आशा लगाये हैं सारे पदार्थों इस गरीबकी ओर ध्यान नहीं है। यह व्यर्थ ही अपनेमे आशाएँ लगाता हुआ दु:खी बनत रहता है।

ज्ञानी विवेकी कहते किसे हैं? जो परकी आशा न करे उसे ज्ञानी विवेकी कहते हैं धन बढ़ा-बढ़ाकर कोई महान् पुरुष बन सकता है क्या? इतिहासमें देख लो, पुराणोंमें दे लो, युक्तिसे सोच लो, जो भी महान् हुए हैं उनकी आशा खुद महान् हुई है तो महान् हु हैं। तुम्हारी महत्ताको तो इस आशाने बरबाद कर दिया है। दु:खोंका कारण केवल आश ही है। यह मैं कैसी भी आशाएँ करूँ, तो कुछ मेरा है क्या? खूब सोच लो जिसका आपक भरोसा है कि ये मेरे हैं, कितना भी भरोसा रख लो कि ये मेरे पिता हैं, ये मेरे भाई है पर उनसे तुम्हारा जरा भी सम्बन्ध नहीं है। वस्तुस्वरूपकी इजाजत ही नहीं है कि को किसीका बन जाये। आपकी कल्पनाएँ बड़ी हैं कि वस्तुका स्वरूप बड़ा है। यदि कल्पनाओं ही काम होने लगेगा तो एक साधारण आदमी ही सारी दुनियाको वशमें करना चाहेगा फिर तो सारा मामला ही खत्म हो जाये।

वस्तु स्वयं बनती और मिटती हैं तथा रहती हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपकी सीम में है। अपने ही सत्त्वमे है। अपने आपमें ही उनकी परिणति बनी रहती है और आदिसे अन्त तक वे अपनेमें रहते हैं। खोटे बने तो अपनेमें और भले बने तो अपनेमें। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे बाहर नहीं होता। तब फिर कौन पदार्थ किसके हो जायेंगे? दु:ख मिटानेक

उपाय मुफ्त है। सस्ता है, कुछ धन नहीं लगता। कुछ परपदार्थ उसमें नहीं पड़ता। केवल ज्ञानदृष्टिकी बात है। कितने ही संकट हों, सारे संकट ज्ञानके ही जगनेसे समाप्त हो जायेंगे। भगवान रामचन्द्रजी के पूर्वजोंमें से एक वज्रभानुकी कहानी है। वज्रभानु अपनी स्त्रीमें बहुत आसक्त था। एक बार वज्रभानुका साला उदयसुन्दर वज्रभानुकी स्त्रीको लिवाने गया। वज्रभानु भी स्त्रीके पीछे-पीछे चल दिया। मार्गमें शान्तमुद्रामे बैठे हुए एक साधु महाराजको देखा। देखते ही ज्ञानदृष्टि जगी और मोहके सारे संकट उसके मिट गये।

भैया! क्या संकट हैं? कितने संकट है? ये सब ख्यालके संकट हैं। ख्याल मिटे, ज्ञानदृष्टि जगे तो सारे संकट समाप्त होंगे। इन संकटोमें कुछ दम ही नही है। इन जीवोंने तो केवल ख्याल बना लिया है और सारे संकट खड़े कर लिए हैं। ये तो धन वाले है, ये तो इज्जत वाले हैं, ये तो पंडितजी हैं, ये तो इतने रुपये कमाते हैं, हम गरीब हैं– ऐसे ख्याल बनाकर वे दु:खी हो जाते हैं। तो इन कल्पनाओंके ही कारण तो ये सारे संकट आ गये। सभी मोही जीव अपने आपमें कुछ न कुछ अपनेको बिगाड़ करके, ख्याल करके उथल पुथल मचा रहे हैं। इस समय नही फिर सही, अपना ज्ञान जगाओ, अपने वातावरणको शुद्ध बनाओ, तभी शान्ति मिल सकेगी। बाहरकी रूपरेखा कुछ न कुछ बना लेनेसे भीतरकी बातों में क्या फर्क आ जाता है? भीतरका फर्क तो फर्क मिटानेसे ही मिटेगा, फर्क मिटानेके उपाय से ही फर्क मिटेगा। सारे संकट ज्ञानसे ही मिटेंगे। परवस्तुके भेदज्ञानसे ही संकट मिटेंगे।

भैया! प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है। यदि अपना स्वतन्त्रस्वरूप समझमें आ गया तो मोह मिट गया और जहाँ मोह मिट गया तहाँ शान्ति हो गयी। बतलाओ, कौन जीव अपना है और कौन पराया? सब जीव अपने है और सबके सब पराये हैं। स्वरूप देखो तो अपने ही समान है और यदि विलक्षण देखा जाय, सत्य देखा जाय तो सब पराये हैं, सब पर हैं। एक मोहका अन्धकार ऐसा इस जीवके छा जाता है कि इन सब प्रभुस्वरूप जीवोंकी एक छंटनी कर ली जाती है। यह मेरा है, यह पराया है आदि। यह अज्ञानका फल है। कोई भी पदार्थ मेरा नही है, सब पराये हैं, सब मेरे उपयोगसे पृथक् है, ऐसा विश्वास करके मैं अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी हो सकता हूं, आनन्दमय हो सकता हूं।

बहिर्बहिर्भ्रमो व्यर्थो ज्ञानं तत्त्वमिदं स्फुटम्।
इतोऽन्यन्मे सहायं न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-२६॥

यह जीव जा रहा है, पैरोंसे जा रहा है क्या? इस जीवके पैर ही नहीं हैं। पैरोंसे नहीं जा रहा है। यह उपयोगसे जा रहा है, बुद्धि द्वारा जा रहा है। कहाँ जा रहा है? कहाँ घूम रहा है? तो बाहर ही बाहर घूम रहा है। बाहर देखो तो बढ़िया बगीचा, बढ़िया मैदान,

सुहावने दृश्य सब कुछ बाहरमें नजर आ रहे हैं। पर यह अन्तरंगमें बसा हुआ स्वरूप कैसा है, यह नहीं नजर आ रहे हैं। उपयोग बाहर ही बाहर घूम रहा है। उपयोगका बाहरमें घूमना व्यर्थ है अर्थात् यह आत्मकल्याणका साधन नहीं है। यह तो अशांतिको ही बढ़ाता है।

जैसे कोई रोटा भाजी खाता था। वह अच्छे ग्रामके निकट पहुंच गया तो दाल रोटी खाने लगा। अब वे रोटा बिरस लगने लगे। शहरमें पहुंच गया, मिठाइयोंके भोजनसे भेंट हो गयी तो रोटी दाल भी फीकी लगने लगी। और भी बढ़ते चले जावो तो केवल भोजनकी ही ही बात नहीं, धन-वैभव चाहिए, यश चाहिए। अभी २० हैं, फिर ५० चाहिए। फिर १०० चाहिएँ, फिर हजार चाहिए। अब भी संतोष नहीं है, लाख चाहिए। इस प्रकारसे बाह्य दृष्टि से कभी संतोष न हो सकेगा। अभी नाम चलता है, कोशिश यह करते हैं कि कई पीढ़ियों तक नाम चले। इस तरहसे भी संतोष नही होता है। जैसे सब चेतन हैं वैसे यह भी चेतन है। इसका नाम कहीं खुदा है क्या? जिस नामके द्वारा इन सब जीवोंमें से छंटनी कर लेते हैं वह नाम तो शक्ल सूरतका है। आत्मपदार्थका कोई नाम नहीं है।

किसी भी पदार्थका कोई नाम नहीं है। ये जितने भी नाम हैं सब तारीफोंके नाम हैं। अब आप कहेंगे कि चौकी तो नाम हैं। अरे चौकी नाम क्या? यह तो उसकी तारीफ है कि चार कोनों वाली। कोई कहे कि यह घड़ा तो नाम है। अरे घड़ा भी नाम नहीं है यह भी एक तारीफ है। जो घड़ा जाय वह घड़ा है। यह है उसका अर्थ। तो यह भी विशेषण ही हैं। व्याकरणमें कृदन्तका प्रकरण आता है उसमें उणादि प्रकरण है कि भीतर की धातु कुछ नजर आवे। मान लें और गड़बड़ कुछ भी प्रत्यय लगे तो शुद्ध अर्थ निकाल लें। वह भी विशेषणमें ही निकाला गया जो कि नाम नहीं है। ऐसे पदार्थोंका नाम बनवाते जाना, नाम मानते जाना, यही तो अंधकार है।

हम सुखी कैसे रह सकते हैं। हमारे भीतरमें तो सारा विकार हो, अंधकार ही भरा है। रात-दिन प्रवृत्ति तो बाहर ही बाहर जा रही है। बाहरमें है कुछ नहीं, पर जोरसे भागे जा रहे हैं। यह जो बाह्यका घूमना है वह व्यर्थका है। यह मैं स्वयं आनन्दमय ज्ञानतत्त्व हूं। मैं पुरुष नहीं हूं, मैं स्त्री नहीं हूँ। मेरेमें कोई लिंग भी नहीं है। यह मेरेको बताने वाला जो शब्द 'मैं' है उसमें लिंग नहीं है। चाहे कोई स्त्री कहे, चाहे कोई पुरुष कहे, सभी अपने को 'मैं' कहते हैं। जैसे मैं जाता हूं या मै जाती हूँ। हिन्दीमें क्रिया ही बदली, कर्ता नहीं बदला। इंगलिसमें देख लो। कहेंगे कि 'आई गो।' तो स्त्रियाँ क्या कहेंगी? 'आई गो' ही तो कहेंगी। इसमें लिंगका अन्तर कहीं भी कुछ नहीं है। अरे यह आत्मा तो एक पदार्थ है

उसमें लिंगोंकी कोई बात नहीं और आकार भी कोई नहीं। यह तो मात्र ज्ञानप्रकाशमें ही है।

भैया, इस आत्माका क्या आकार है? कुछ भी तो आकार नहीं है। अपने ही स्वरूप में अपनेमें अपनेका प्रकाश होगा। चींटीके शरीरमें है तो ज्ञानप्रकाश प्रदेशरूपमें सीमित हो गया। पुरुषके रूपमें है तो उसके उतने विस्तारके आत्मप्रदेशमें ज्ञान फैल गया। स्वयं किस आकारमें है यह जीव? कैसे बतलाया जाये? इस जीवका अनुभव भावोंसे होता है। इस पिंडके रूपसे, क्षेत्रके रूपसे, कालके रूपसे जीवको ज्ञानका अनुभव नहीं होता है। पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावात्मक है। जैसे यह घड़ी है तो यह एक पिंड हो गयी। जिसे हम पकड़ते हैं, धरते हैं, देखते हैं, और जितना ही अपनेको यह घेर है, औकोपाई किए है, उतना ही क्षेत्र हो गया, जितना लम्बा-चोड़ा वगैरा क्षेत्र है, इसमें जो रूप रंग है, नई पुरानी है इत्यादि वह काल हो गया और इसमें जो शक्ति है वह इसका भाव हो गया। इसी तरह जीवोमें द्रव्य हुआ एक जीवपिंड, क्षेत्र हुए उसके प्रदेश, उसका विस्तार, काल हुई उसकी जो भी परिणति है और भाव हुए उसके गुण। अनादि अनन्त स्वतःसिद्ध सनातन अहेतुक सहज जो शक्ति है वह इसका अभेद भाव हुआ। हम जब अपने ज्ञानस्वरूपको देखते हैं, जानते हैं तो ज्ञानको ज्ञान रूपमें जानते हैं। ऐसा जब ज्ञान और ज्ञेयका अभेद होता है तब अपने आपका अनुभव होता है।

इस ज्ञानभावको छोड़कर जब हम यह कहते हैं कि यह जीव कितना लम्बा चोड़ा है? यह वृक्ष कितना लम्बा चोड़ा है? यहाँ फैला, वहाँ फैला। अपने आपको देखो कि मैं कितना लम्बा-चोड़ा हूं? यह जीव कितना लम्बा चोड़ा है? अंगूठेसे सिर तक नापा साढ़े ५ फिट लम्बा, ढाई फिट चोड़ा। अरे यह इसकी लम्बाई-चोड़ाई पर ही दृष्टि है। इतने वर्ग हो गया, इतने घनक्षेत्र हो गया, प्रदेश देख लिया, हिसाब हो गया, इससे इस जीवके स्वरूप का अनुभव न होगा। यदि कालकी मुख्यतासे देखोगे कि यह अमुक कार्य कर रहा है, यह घमंड कर रहा है, यह शांत बैठा है, यह कषाय कर रहा है, यह आग बबूला हो गया इत्यादि तो इस कालकी दृष्टिमें भी कुछ लाभ नहीं होगा। खूब परिणतियां होती जाती हैं, पर उनकी दृष्टिसे लाभ न होगा।

भैया, द्रव्य, क्षेत्र, काल ये तीन जाननेके लिए तो हैं, पर अनुभवके लिए, ध्येय बनाने के लिए ये विषय नहीं हैं। ध्येय बनानेके लिए भाव है, चैतन्य प्रतिभास, दर्शन, शक्ति, प्रकाश, ज्योति अर्थात् जानने वाली ज्योति, स्वरूप ज्योति। सो जब ज्योतिके द्वारा ज्योति ज्योतित रहती है उस समय ही जीवका अनुभव है। यह ज्ञानतत्त्व है। ज्ञानदृष्टि वालोंको

यह बिल्कुल स्पष्ट है इसकी दृष्टि, इसका आलम्बन, इसकी उपासना ही इसके लिए सहाय है, और कुछ भी इसके लिए सहाय नहीं है। यहाँ किसका भरोसा रखते हो ? मरनेके बाद भारत छोड़कर फिर और किसी अन्य साम्यवादी देशमें पैदा हो गये तो उस जीवके लिए यहाँका क्या कुछ रहा ? उल्टा यह इस देशके विरुद्ध भाव कर लेगा।

भैया, लोकव्यवस्थाके लिए संचयादिक तो ठीक है, पर व्यवस्था तक ही हम रहें। अपने परमार्थभूत ज्ञानस्वरूपको न जान सके तो हमें शान्ति नहीं हो सकती है। ये बाहरी समागम तो सब अशान्तिके कारण हैं, क्योंकि ये भिन्न हैं व विनाशीक हैं। अभिन्न व अविनाशी तो ज्ञानतत्त्व है। सो इस ज्ञानतत्त्वके अतिरिक्त और कोई सहाय नहीं है। केवल अपने आपका आलम्बन ही अपना सहाय है, शरण है। बाहरमें शरण ढूंढना सब व्यर्थ है। सब पदार्थोंके पास शरणके लिए पहुंच जावो, पर सभी जगह ठोकर ही मिलेगी, धक्का ही मिलेगा, कही भी शरण न मिलेगी। शांति कही भी न मिलेगी। पुत्र अगर सपूत हो गया तो उससे भी धक्का लगता है और अगर कुपूत हो गया तो उससे ही धक्का लगता है। पुत्र अगर सपूत हो गया तो यही सोचोगे कि इसे किस प्रकार अच्छी तरहसे रखें। उसके ही पीछे मोहमें रहकर कमानेका श्रम करोगे व सदा आकुल रहोगे। दूसरोंके लगावके विषयसे ज्यादा दुःख पहुंचते हैं। इसलिए दूसरोंकी आशा न करो। आशा करो तो केवल अपने स्वरूपकी ही करो। आशा केवल अपने प्रभुकी ही करो। सो अब आशाओंको त्यागकर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

मूढोऽन्यममृतं मत्वा भ्रमेन्मे त्विह निश्चयः।
एकत्वममृतं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-३०॥

लोग कहते हैं कि अमृत पी लो तो अमर हो जाओगे। अमृतके पी लेनेसे जीव अमर हो जाता है, लोग ऐसा कहते हैं। तुम यह तो बतलाओ कि वह अमृत क्या है ? कोई पानी सा अमृत है या लड्डू है ? आखिर अमृत क्या चीज होती है ? कैसा होता है ? अमृत कोई रस वाली चीज है या कोई ठोस पदार्थ है ? वह अमृत क्या होता है ? जरा ध्यान लगाकर कुछ कल्पना तो करो कि वह अमृत क्या मिलेगा ? कौनसी चीज अमृत हो सकती है ? ऐसा कौनसा पदार्थ है जिसके पी लेनेसे मृत्यु न हो ? ऐसा सम्भव है क्या ? कुछ सम्भव नहीं। मोही पुरुष अमृतके बारेमें कुछ भी कल्पनाएँ कर लेते हैं और इस लोकमें उस अमृतके लिए घूमते रहते हैं अथवा किसी भी चीजको अमृत मानकर उसका सेवन करते हैं और जन्म मरण की परम्परा बढ़ाते हैं।

अमृतका निश्चय तो ज्ञानी जीवको है। वह सोचता है कि आत्माका जो एकत्वस्व-

रूप है, चैतन्यलक्षण है वही अमृत है। उसकी ही दृष्टि हो तो अमरत्व है। अब देखो आजकल चीन भारतके आक्रमणका वातावरण चल रहा है। जब भी कोई बात आक्रमणके प्रति आती है तो दिल कांप जाता है, क्योंकि देह तक ही दृष्टि डाली है। इतना ही मैं हूं, इतना ही केवल सोच रखा है। यह देह मिट जाए तो सब मिट जाए। इस देहमें मोह होने से ही मृत्युकी बात आते ही अपना दिल कांप जाता है। सो अपने स्वरूपकी दृष्टि हो कि मैं तो एक चैतन्यपदार्थ हूं। मेरा तो किसीसे कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। मैं तो सबके स्वरूपसे न्यारा हूं, अविनाशी हूं। मेरा तो नाश ही नहीं है। मान लो कि यदि मैं यहां न रहा, अन्यत्र कहीं चला गया तो यह मैं पूरा हूं। चाहे यहां होऊं चाहे दूसरी जगह होऊं।

भैया! साहस बना लो, यहांके बाह्यपदार्थोंसे मुंह मोड़ना होगा। धन वैभवमें अपना मन लगाना और सत्य अमृतका पान करना—ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं। या तो मोह बना लो, दुःखी होवो, घबड़ा लो या मोह छोड़कर अपने आपके स्वरूपको देखो। जो पंथ चाहो चल लो। लोग मर जानेका इतना दुःख नहीं मानते जितना परचीजोंके छूट जानेसे कल्पनाएँ बना लेनेसे दुःखी हो जाते हैं। सो दुःखी ही क्यों होवें अमृत पी लें और अमर हो जावें, पर अमृत कोई अलग चीज ही नहीं है। अमृत तो वह ज्ञानस्वरूप है जो मरे नहीं, जिसका विनाश न हो, जिसका वियोग न हो उसका नाम अमृत है।

वह अमृत है ज्ञानस्वरूप। सो जब हम यह निर्णय कर लें कि मैं तो अविनाशी हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानमात्र हूं, सदा इसीमें तन्मय हूं, ऐसा विश्वास कर लो तो कुछ भी भय नहीं रहता है। भय होना तो संसारी और लौकिक जनोंका काम है। जो योगी पुरुष है, ज्ञानी पुरुष है, उसको भय कभी होता ही नहीं है, क्योंकि उसको मोह नहीं है। जिसके मोह होता है वही डरे। जैसे जिसके पास सम्पत्ति है, धन है, मकान इत्यादि हैं और उनमें ममता है तो उनको डर रहता है और जो ममतारहित है या फक्कड़ है, जिसके पास कुछ नहीं है वह नहीं डरता है। उसके डरनेका कोई कारण ही नहीं है।

गुरुजी सुनाते थे कि शिष्य गुरु थे। उनको कहीं सोनेकी एक ईंट मिल गयी। गुरु जी आगे चलते जाते और शिष्य पीछे-पीछे चला। शिष्य अपने सिर पर वह सोनेकी ईंट रखे था। जहां जङ्गल आवे, गुरु शिष्यसे कहे कि जरा संभलकर चलना। चलतेमें पैरोंकी ज्यादा आवाज न हो, पत्तियों पर पैर रखकर नहीं चलना। इस प्रकारसे वह गुरु डरता जाता था और शिष्यको परेशान करता जाता था। शिष्यने सोचा इस विडम्बनासे हम कैसे छूटें? हमें तो यह ईंट लादनी पड़ती है, हमीं परेशान होते हैं। सो एक बार मार्गमें शिष्यने

धीरेसे उस ईंटको कुवेंमें पटक दिया। आगे जङ्गल मिला तो गुरु कहता, बच्चा धीरे-धीरे आना, यहाँ डर है। तो शिष्य बोला—महाराज! डरको तो मैंने कुवेंमें पटक दिया। तुम अब खूब आरामसे चलो। तो डर किसमें है? इसलिए मोह ममतामें ही डर होता है।

मोह ममतामें ही डर लगता है। यदि मोह न हो तो किसी प्रकारका डर नहीं। शरीरका मोह है कि हाय हम मर न जायें। तो यहाँ पर डर लग गया, क्योंकि उसके मरने का भय लग गया और यदि यह विचार बनें कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं, मैं कभी असत् हो ही नहीं सकता हूं तो फिर अपने शुद्धस्वरूप पर दृष्टि होनेके कारण सारा डर खत्म हो गया, अमर हो गया। मरनेका फिर भय ही नहीं रहा। ऐसा जो हो गया वही अमर कहलायेगा। किसी भी कल्पनागत बाहरी चीजमें अमृत नहीं मिल सकता, पर निश्चय हो कि अपना जो ज्ञानस्वरूप है वही अमृततत्त्व है। सो उस अपने अमृततत्त्वको पीकर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

रागद्वेषपरित्यागे कर्म मे किं करिष्यति।
त्यागो हि केवलं ज्ञानं, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-३१॥

इस लोकमें देख रहे हो ना, कोई किसी प्रकार दुःखी है, कोई किसी प्रकार दुःखी है। दुःखका कारण क्या है? निमित्त कारण है कर्मोदयका उदय। ये कर्म ही नाना प्रकार की अवस्थायें जीवकी बनाते है। निमित्तदृष्टिसे यह कहा जा रहा है कि कर्मने जीवको पशु बना दिया, पक्षी बना दिया, कीड़े मकौड़े बना दिया, मनुष्य बना दिया। जीव जो रागद्वेष करते हैं उनका निमित्त पाकर कर्म बन जाते हैं और उन कर्मोंके उदयसे दुःख बन जाते हैं। यदि रागद्वेष न हों तो कर्म नहीं बन सकते हैं, दुःख नहीं हो सकते हैं।

कोई अपना राग द्वेष मिटा ले तो कर्म उसका क्या करेंगे? ये राग द्वेष ही उन प्राणियोंके कष्टके कारण हो जाते हैं। रागके मायने प्रेम सुहाना। ये जब बाह्य चीजें सुहावनी लगीं तभी तो अपना उनसे कुछ भला माना। इन बाह्योंमें पड़नेका कारण है मोह। मोह किया तो राग हो गया। भीतरमें राग न हो, मोह न हो तो फिर राग द्वेष कब तक होंगे? यदि राग द्वेषको त्याग दो तो कर्म फिर क्या करेंगे? कैसे त्याग करें राग द्वेषोंका? क्या यह राग द्वेषोंका त्याग है। ज्ञान स्वयं त्यागस्वरूप है और त्याग क्या कहलाता है?

देखो कोई किसीकी चीज लिए है और भ्रम ऐसा हो जाय कि यह चीज मेरी ही है तो भ्रममें ही वह निःशंक होकर उस अपनी मानी हुई चीज पर टूट पड़ता है। और अगर किसी प्रकारका चिन्ह देखकर यह ज्ञान हो जाय कि यह मेरी नहीं है, यह तो दूसरेकी है तो उसका भ्रम छूट जायगा। ऐसा ज्ञान हो जाने पर उस वस्तुसे उसका मोह छूट जायगा, ऐसा

ज्ञान होनेका नाम ही आन्तरिक त्याग है। भीतरमें त्यागकी बात हो, बाहरमे चीजोंका त्याग हो जाय, इतना ही नहीं, इससे आगे और कदम बढ़े कि उसका विकल्प भी न हो तो वही त्याग कहलायेगा।

त्याग वह नहीं कहलायेगा जिसमें किसी प्रकारका विकल्प बना रहे। कोई खानेकी चीज छोडी और उसके एवजमें अन्य कोई खाने पीनेकी चीजका भरोसा बना रहे तो वह त्याग नहीं है। वास्तविक त्याग तो वह है कि उस चीजके बारेमें कल्पनाएँ ही न उठें और न उसकी एवजका ख्याल बनावें। ऐसा त्याग तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। शुद्ध ज्ञानमें किसी तरहका विकल्प नहीं होता है। वह शुद्ध ज्ञान स्वयं त्याग है और ऐसा त्याग स्वयंमें है, क्योंकि मेरा स्वरूप तो ज्ञान ही ज्ञान है। जीवका और क्या स्वरूप है? यह जीव ऐसा विलक्षण पदार्थ है कि वह सर्वत्र ज्ञानसे तन्मय होता है। इसको कहते हैं कि जैसे नमककी डली है उस डलीमें प्रत्येक जगह खारा ही खारा स्वाद है, नमकका कोई भी भाग जीभ पर रख लो तो खारा, किसी भी तरहसे खावो तो खारा। नमकमें सारा खारपन ही रहता है। इसी तरह इस आत्मामें सर्वत्र ज्ञानकी ही वृत्ति है।

यदि नमकसे नमककी क्षारता भंग हो जाय तो नमक कैसा? उसी प्रकार आत्मासे ज्ञान भंग हो जाय तो फिर आत्मा कैसा? आत्मा तो एक ज्ञानघन वस्तु है, ज्ञानस्वरूप है। इस आत्मामें सर्वत्र ज्ञान ही भरा हुआ है। यह मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूं, ऐसी ही वृत्ति रहे, इष्ट अनिष्टकी बुद्धि न रहे, किसी भी परपदार्थको अंगीकार करनेकी भावना न रहे तो यही है उत्कृष्ट त्याग। ऐसा त्यागकर ज्ञानमात्र हो रहकर मैं अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

रागो योगेऽपि हेयश्चेदसम्बन्धे पुनर्न किम्।
अयोगे रागता चेद्धा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-३२॥

प्राप्त वस्तुमें भी राग न हो तो यही एक अपना विवेक है। किसी चीजमें राग करते हो तो क्या चीज तुम्हारी है? तुम एक पदार्थ हो, अपनी सत्ता लिए हुए हो, सो तुम, तुम ही हो; तुम्हारी कोई अन्य चीज नहीं है। फिर राग करना मूर्खता है, क्योंकि तुम्हारी चीज कुछ है ही नहीं। अपनेसे बाहरमें तुम व्यर्थकी दौड़ लगा रहे हो। बाह्य चीजोंका आश्रय कर राग हो गया। रागके कारण ही ये सारे दुःख हैं। घरकी, स्त्रीकी, पिताकी, मित्रोंकी अनुरक्ति रखना ही राग है। इस रागसे तो दुःख ही होगा।

सुख तो एक परम समाधि दशामें है। सबसे हट गये, विकल्पोंसे परे हो गए, ज्ञान-ज्योति मात्र अपना अनुभव कर लिया तो समझो आनन्दका मार्ग मिल गया। आनन्द किसी

परवस्तुसे नहीं मिलेगा। राग छोड़ दो तो आनन्द मिल जायगा। किसी भी वस्तुसे राग हो तो आनन्द मिलेगा ही नहीं। जैसे विद्यार्थी लोग पाठ रटते हैं, याद करते हैं यह तो अच्छी बात है। मगर जो उनमें व्याकुलताएँ हैं वे किस कारणसे हैं कि राग उनमें लग गया है कि मैं पास हो जाऊँ। बहुतसे ऐसे कुशाग्र बुद्धि वाले भी लड़के होते हैं जो केवल पढ़नेका ही यत्न करते हैं। पास फेलकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती है। वे अत्यन्त सरल सीधे सादे होते हैं। वे केवल पढ़ना ही अपनी जिम्मेदारी समझते हैं। इसीसे वे खुश रहते हैं।

बहुतसे विद्यार्थी ऐसे होते हैं जिनका आशय केवल पढ़ना व जानकारी करना ही होता है, उन्हें प्रसन्नता भी रहती है और सफलता भी मिलती है और बहुतसे विद्यार्थी ऐसे भी होते हैं जो इस विचारसे पढ़ते हैं कि पास होना जरूरी है, यदि पास नहीं होंगे तो साल बेकार हो जायगा, आर्थिक नुकसान भी हो जायगा। इस प्रकारके विद्यार्थियोंको आकुलताएँ ही हो जाती हैं, क्योंकि उनके राग है। घरमें ही देखो तुम्हारे माँ-बाप कितना तुम्हारे पीछे खर्च कर रहे हैं ? वे सारे कष्ट तुम्हारे पीछे उठा रहे हैं तो उनका तुम्हारे प्रति राग है, इसी से उनमें आकुलताएँ हैं। आकुलताएँ तो रागसे ही हैं। यदि राग न हो तो आकुलताएँ ही क्यों हों ?

एक देहाती था। उसका लड़का शहरमें किसी कालिजमें पढ़ता था। वह लड़का बोर्डिंग हाऊसमें रहता था। उसके पिताने सोचा कि चलें लड़केसे मिल आवें, कुछ नाश्ता वगैरा दे आवें, पैसे दे आयें। सो वह घुटनों तक धोती पहिने, तनीदार मिर्जाई पहिने और सिर पर एक साफा बाँधकर कालिज गया। बोर्डिंग हाऊसके लड़कोंसे बुलवाया कि फलां नामका एक लड़का है उसको बुला दीजिए। अब वह लड़का आ गया। साथमें ४–६ जो दोस्त थे वे भी आ गये। वे सब तो अच्छी पोशाकसे, वेश-भूषासे आए, कोट पैन्ट, बूट, टाई लगाकर और उसका पिता उसी देहाती सूरतमें मिलने आया। अब दोस्त लोग पूछने लगे कि कहो मित्र ये तुम्हारे कौन हैं ? जो खाना-पीना भी लाये हैं ? सो वह शानमें आकर बोला कि यह तो हमारा मुनीम है, चाकर है। ऐसा उस लड़केने इसलिए कहा कि साथके बैठने वाले लोग जान न जायें कि इनका पिता ऐसा देहाती है। इतनी बात सुनकर बापका मन लड़केसे हट गया। उसने सोचा कि यह मेरा लड़का होकर भी हमें नौकर बताता है। तबसे उस बापने लड़केकी कोई खबर नहीं ली। पिताका तभीसे उस लड़केके प्रति जो राग था, वह दूर हो गया।

जब तक राग है तब तक बंधन है और जहाँ राग छोड़ दिया तहाँ बंधन छूट गया। ज्ञानकी बातें यदि उपयोगमें नहीं आती हैं, मोह रागके ही चक्कर बने रहे तो उससे

मनोबल मिटता, वचनबल खत्म होता, कायबल भी क्षीण होता और धनबल भी खत्म होता। किसीसे राग करनेमें आत्मामें प्रगति नहीं है। सो भाई जिन पदार्थोंका संयोग है उनका राग हेय है। जो चीज पासमें नहीं है इसका क्या राग करना? जो चीज पासमें है उसका भी राग नहीं करना चाहिए। पास है तो होने दो। राग करनेसे लाभ कोई नहीं है। राग करने से तो आकुलताएं ही बनती है। पास हुई चीजमें भी राग नहीं करना चाहिए। फिर यदि न हुई चीजमे रागद्वेष बना रहे तो यह बड़े खेदकी बात है। इस मोही जीवको देख लो कि चीजके न होते हुए भी इसके अधिक राग होता है। आकुलताएं बनी रहती है। ऐसी आकुलताओंसे हटनेका उपाय है वस्तुस्वरूपका सम्यग्ज्ञान करना। मिली हुई चीज हो या न हो, यह जीव तो ख्याल बना करके राग बना लेता है। सो यदि हिम्मत बन सके तो इन ख्यालोको छोड़ दो। ख्यालोंको छोडनेसे ही सुखी हो सकते हो।

शुद्धात्मानं विहायान्यचिन्ता पापोदयस्ततः।
अन्यचिन्तां पृथक्कृत्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-३३॥

एक शुद्ध निज आत्माका चिंतन हो यह तो है विवेककी बात और अपने आत्मतत्त्व को छोड़कर अन्य किसी चीजकी चिंता न हटी तो यह है पापका उदय। चिंतावोंसे आत्माको कोई लाभ नहीं है। चिन्तावोंसे तो बुद्धि भी बिगड़ती है। सो अन्य चिन्तावोंके वातावरणों से दूर होनेपर ही कुछ लाभ मिल सकेगा। यदि चिन्ता (चिन्तन) ही करना है तो अपने आत्मस्वरूपकी चिन्ता करो कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं, आनन्दमय हूं। केवल दृष्टिके फेरसे सारे संकट छा गये है। सो इस बाह्यदृष्टिको मिटावो, शुद्ध दृष्टि करो तो ये सारे संकट समाप्त हो जावेंगे। सो मैं अपने ज्ञानस्वरूपको संभाल कर रखूं, इस आत्माको ही अपना रक्षक बनाऊं तो इस तरहकी भावनाओंसे, पुरुषार्थसे चिन्ताए दूर हो सकती है। चिन्ताए न होनेका यही उपाय है। यह लड़का बहुत अच्छी तरहसे रहे, दुकान अच्छी तरहसे चले, समाज और राष्ट्र के मैं कुछ काम कर डालूं तथा अन्य-अन्य विषयक भी चिन्ताएं होती हैं। ये चिन्तायें सब पापोंके उदयका कारण होती है व पापोका बन्ध कराने वाली है जिससे भविष्यमें पापोदय होगा व क्लेश होगा। अतः बाह्यदृष्टिको मिटावो। बाह्यदृष्टि ही चिन्तावोंका कारण है।

गुरु जी सुनाया करते थे कि एक गाँवमे एक युवक रहता था। वह बड़ा बलवान् था। राजाका हाथी जब निकलता था तो हाथीके पैरोमे बधी हुई साँकलको वह पैरोंसे दाब लेता था तो हाथी खड़ा हो जाता था। राजा बहुत परेशान कि जब भी हाथी यहाँ आता है तो यह हाथीकी साँकल पर पैर रखकर हाथीको रोक लेता है। इसको कुछ चिन्ता नहीं है, इसीसे यह ऐसा बलवान है कि हाथीको यह खड़ा कर लेता है। अगर इसके चिन्तायें

बना दूं तो इसकी पहलवानी सब रह जायेगी। हाथीको फिर न रोका करेगा। राजाने सोचा कि कोई न कोई चिन्ता इसके लगा दूं। उस राजाने उसको बुलाया, उसकी माँ को भी बुलाया। कहा देखो उस मंदिरमें रोज चिराग जला दिया करो तो मेरे राज्यकोषसे तुम दोनोंको खानेको अन्न सामग्री मिला करेगी। उसने स्वीकार कर लिया। अब उसे केवल दीपक जलानेकी चिन्ता हो गयी। जब दोपहर हो जाती तो शामको चिराग जलानेकी चिन्ता लग जाती। केवल इतनी ही चिन्तामें उसका सारा बल घट गया। अब वह राजा अपना हाथी लाता तो सांकल पर पैर रखकर वह दाबे तो हाथी झटका देकर निकल जाता। अब उसके पैरसे दाबनेका कुछ असर नहीं पड़ता।

भैया, चिन्तासे केवल शारीरिक बल ही नष्ट होता है ऐसा नहीं है, चिन्तासे आत्म-बल भी क्षीण हो जाता है। सो भैया, चिन्तावोंको त्यागो। जब तक मोह है तभी तक चिन्ता है। इन चिन्तावोंसे यदि छूटना है तो मोह को त्यागो। यह बात निश्चित है कि इस मोहके कारण ही सारी चिन्ताएं लग जाती हैं और इन चिन्तावोंके कारण ही सारी आकुलताएं बनी रहती हैं। इसलिए सब प्रकारके मोहको त्यागकर अपनी आत्माके निकट रहो। किसी भी चीजमें मोह न रहे क्योंकि वे सब पदार्थ तुमसे बिल्कुल जुदा हैं। कोई भी चीजें तुमसे मिली हुई नहीं है। उनकी आशा न करो। उनमें मोह करनेसे पूरा नहीं पड़ेगा। इसलिए बाह्यपदार्थोंकी चिन्ताएं छोड़कर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

पराशाजीविनो मूढः स्वातन्त्र्यं मन्यते बुधः।
शं स्वातन्त्र्यं विना नातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-३४॥

जो परपदार्थोंकी आशा रखकर जीवित हैं, वे मोही हैं। परकी आशा करनेके मायने हैं परपदार्थोंसे ही अपने सुख एवं हितकी आशा मान रखी है। जब तक यह आशा है तब तक मन चंचल है। जिससे सम्यग्ज्ञान नहीं है अर्थात् परपदार्थोंका जो स्वतन्त्र स्वरूप नहीं जानता वही परकी आशा करता है। वस्तुका स्वरूप आचार्योंने बताया है—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त यह पदार्थ है। इस लक्षणमें सब प्रकारका उपदेश समाया हुआ है। पदार्थ स्वयं अपनी परिणतिसे उत्पाद करता है और अपने पूर्वपर्यायका व्यय करता है। फिर पदार्थ अपने स्वभावसे शाश्वत ध्रुव रहता है। यह स्वयं पदार्थोंका स्वभाव है कि वे बनें बिगड़ें और बने रहें। किसी परपदार्थके कारण कोई दूसरा पदार्थ नहीं बनता है। किसी दूसरे पदार्थके कारण दूसरे पदार्थ नष्ट नहीं होते हैं और किसी दूसरे पदार्थके कारण कोई दूसरा पदार्थ ध्रुव नहीं है। अपने ही स्वरूपसे वह उत्पन्न होता है, विषयोंको प्राप्त होता है और सदाकाल बना रहता है। इससे यह शिक्षा मिली कि मैं भी

एक पदार्थ हूं। सो अपने स्वरूपसत्त्वके कारण परिणमनशील हूं, क्योंकि यदि परिणमन न होता तो इसके सत्त्व नही रह सकता था।

जो भी पदार्थ हैं वे नियमसे परिणमनशील हैं। मैं हूं तो मेरा काम भी हो रहा है। वह काम चाहे परपदार्थोंका निमित्त पाकर विभावरूप हो और चाहे शुद्ध स्थिति पाकर उसके स्वभावरूप हो, परिणमन जरूर होता है। मेरा स्वरूप परिणमन मेरे ही स्वरूपमें मेरे अस्तित्वके कारण होता है। मुझमे कोई दूसरा परिणमन कर देता हो, ऐसी बात नहीं है। हां विभावपरिणमनमे परपदार्थ निमित्त होता है। जैसे यही गैस है, कल हवा चलनेके कारण फक-फक कर रही थी, आज कचरा अटकनेसे अंधेरा उजेला कर रही है, इसी तरह इस जीव के असंभव बननेके दो कारण हैं—भीतरका भावकर्म और बाह्यमें द्रव्यकर्म। कर्मका उदय होनेसे भावकर्म बन गये। द्रव्यकर्मके उदयमें भावकर्म हो गये। ऐसा निमित्तनैमित्तिक भाव है। फिर भी प्रत्येक जीव खुद ही बुरा बनता है। कोई दूसरा उसे बुरा नही बनाता। यह जीव यदि मुक्त होता है तो खुद ही मुक्त हो जाता है। दूसरा जीव उसे मुक्त नहीं कर देगा। यद्यपि निमित्तनैमित्तिक भाव बना रहा, फिर भी प्रत्येक पदार्थ अपनी ही परिणतिसे परिणमता है। इस वस्तुस्वरूपका जिन्हे ज्ञान नही है परकी आशासे ही वे अपना हित समझते हैं।

जगतमें अनन्त जीव हैं। उन अनन्त जीवोंमें सबको इस मोही जीवने छोड़ दिया और उन चार व्यक्तियोंको ही पकड़ लिया जो चार घरके बीचमे रहते हैं। उनकी इतनी ही सारी दुनिया है। किन्तु ज्ञानी पुरुष सारी दुनियाके समस्त जीवोंको अपने ही सामान निरखता है या फिर उसका कोई नही है, केवल वही है। अनन्त जीवोंमे से ये घरके दो चार जीव मेरे है ऐसी छंटनी ज्ञानी जीव नही करता है। यह संसार बड़ा गोरखधंधा है कि पर को छोड़ते भी नही बनता और उनका बनाव बिगाड़ भी कुछ किया नहीं जा सकता। कोई जीव किसी अन्यको ग्रहण कर सकता है क्या? उन पर अधिकार रख सकता है क्या? ये तो बाहरी पदार्थ है। जब तक निकट है तब तक है और जब नही है तब नहीं हैं।

भैया, बाहरी पदार्थोंमें राग हो अथवा उनका समागम हो तो भी यह जीव केवल अपना ख्याल बनाता है। ख्यालके आगे इस जीवकी अन्य कुछ करतूत नही। सो यह जीव बाह्यपदार्थोंको बिगाड़ नही सकता और न सुधार सकता है, किन्तु इतना शुद्ध उपादान नहीं है कि ऐसा साहस बने कि बाहरी पदार्थोंको छोड़नेका भाव रखें सो छोड़ते भी नही बनता। ग्रहण तो वैसे होता ही नही है। वस्तुत: तो जीव न परको ग्रहण करता और न छोड़ता, केवल परविषयक ग्रहण त्यागके भाव बनाता है। कैसी भी स्थिति हो, आनन्द प्राप्त होगा तो यथार्थ ज्ञानसे ही होगा। छोड़ना तो सबको ही पड़ेगा, सदा कुछ नहीं रहेगा। यह तो

लौकिक संग है। कोई अभी मिटेगा, कोई बादमें मिटेगा। चीजें कभी भी मिटें, पर उनके मिटने पर जरूर वियोग होगा। ज्ञानी पुरुष वस्तुओंके संयोगके समय भी यह समझता है कि इस वस्तुका वियोग जरूर होगा। इस काल संयोगमें भी वह हर्ष नहीं मानता। ज्ञानी जीव परवस्तुसे अपने स्वरूपको पृथक् समझता है। वह जानता है कि मैं मैं हूं और यह, यह है, पृथक् है। ऐसा ज्ञानी जो कि यथार्थ ज्ञानी है वह परकी आशासे जीवन नहीं मानता।

अज्ञानी जीव यह समझते हैं कि परवस्तुओंसे ही हमें प्रसन्नता मिलती है, उनसे ही हमारी जिन्दगी चलती है। सो उस प्रभुसे ही उसे आकुलताएँ मिलती हैं। पर ज्ञानी जीवके आकुलताएँ बिलकुल नहीं होती हैं। ज्ञानी पुरुष अपनेको स्वतन्त्र जानते हैं, अपनेको सबसे न्यारा केवलज्ञान आनंदभावस्वरूप, सबसे निराला, एक विलक्षण किन्तु सबके स्वरूपके समान मानते हैं। यह है और परिणमता रहता है। इसमें किसी दूसरेका दखल नहीं है। दूसरोंके विरोधी कार्य देखकर यह गुस्सा भी हो जावे, तब भी वह गुस्सा किसी दूसरेकी परिणतिसे नहीं होता, वह स्वयं ही अपना विचार बनकर अपनेमें विचार बना रहा है। इसी तरह सारी उसकी परिणतियाँ उसके ही परिणमनसे हो रही हैं। दूसरे मेरे आधीन नहीं। मैं भी दूसरों के आधीन नहीं हूं। जब स्वतन्त्रदृष्टिसे अपनेको देखें तो परमें विकल्प ही न प्रकट हो। यदि ऐसी स्थिति हो तो सुख प्राप्त हो सकता है। इस कारण मैं अपने ही स्वरूपको निरखता हुआ अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होनेका प्रयत्न करूं।

देवभक्तावपि ध्यानं भाव: स्वस्यैव वर्तते।
स्व: स्वस्मै शरणं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-३५॥

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि कमसे कम प्रभुभक्ति तो शरण है, प्रभु तो शरण बनेगा। फिर क्यों कहा जा रहा है कि एक पदार्थका दूसरा पदार्थ शरण नहीं है। मेरे लिए मैं ही शरण हूं, दूसरा कोई शरण नहीं है। भगवानकी भक्तिसे तो भक्त संसारसे पार हो जाते हैं प्रभुकी शरण तो सच है। इसके समाधानमें यह कहा जा रहा है कि प्रभुकी भक्ति जो करते हैं, आप पहिले इसका ही निर्णय कर लें। प्रभु तो अपनी ही जगह विराजे हैं प्रभु तो अपने ज्ञान और आनन्दमें मग्न है। प्रभुको हम कुछ कर लिया करते हैं क्या? अगर हम प्रभुको कुछ कर देते हैं तब तो हमारी बड़ी ऊँची नवाबी हो गयी कि हम तो भगवानको भी कुछ कर देते हैं। भगवानका हम कुछ बिगाड़ सकते हैं क्या? नहीं। भगवानमें हम कुछ सुधार कर सकते हैं क्या? नहीं। भगवानकी हम निंदा कर सकते हैं क्या? नहीं। भगवान की हम प्रशंसा कर सकते हैं क्या? नहीं। भगवानकी हम प्रशंसा कर सकते हैं क्या? नहीं। भक्त भगवानको अपने उपयोगका विषयमात्र बनाकर भजन कर सकते हैं, इसके अतिरिक्त

और भी कुछ करते हैं क्या ?

आप कहेंगे कि निन्दक भगवानकी निन्दा तो करते हैं—भगवान बुरा है, वह अच्छा नहीं है, दुष्ट है। अरे जो निन्दा करते हैं अपने ही कषाय उगल रहे हैं। वे भगवानकी कुछ निन्दा नहीं कर सकते हैं। भगवानका कोई दूसरा कुछ नही करेगा। जिसमें जैसी अज्ञानता है, मूढ़ता है उतना ही वह अन्तर्विकार व्यक्त कर रहा है। परिणाम प्रकट कर रहा है। भगवानका वह कुछ नही कर रहा है। इसी तरह भगवानकी कोई प्रशंसा करता है तो वहां भी वह भगवान्की प्रशंसा नही कर रहा है, किन्तु वह भक्त सत्य है; सरल है, शुद्ध ज्ञानका प्रेमी है, भगवानका जो शुद्ध स्वरूप है उसको रुच गया है सो अपनी जो विशुद्धि है उसको ही व्यक्त कर रहा। वह भगवानकी भक्ति नही कर रहा है, किन्तु अपनी विशुद्धि व्यक्त कर रहा है।

भैया, प्रभुभक्तिमे भी जो ध्यान बनता, वह ध्यान प्रभुका है कि तुम्हारा है ? वह ध्यान तुम्हारा ही तो है। प्रभुके पूजनमे जो कुछ भी परिणाम बनें वे तुम्हारे हैं कि उस प्रभुके हैं ? वे परिणाम भी तो तुम्हारे ही हैं। प्रभुके गुणस्मरणरूप परिणाम तुम्हारे ही हैं। प्रभुकी भक्तिमें जो भाव बनते है वे भाव तुम्हारे ही हैं। वे भाव प्रभुके नहीं हैं। इसलिए भक्तिके समयमें भी जो शरण बना, वह खुद ही खुदके लिए शरण बना। लोकमे भी देखो—जब तक तुम अच्छे हो तब तक तुम्हारे लिए सब लोग अच्छे है, पड़ोसी भी अच्छे हैं और तुम यदि बुरे हो गये, खोटे हो गये, विरोधी हो गये तो पड़ोसी भी तुम्हारे लिए बुरे हो गये। यदि हम चाहते हैं कि लोग-बाग अच्छे रहे तो इसका उपाय क्या है कि हम स्वयं अच्छे रहे। इस लोकमे जो कुछ भी मुझे मिला वह मेरे आचरणसे ही मुझको मिला, दूसरेसे कुछ नही मिला।

निश्चयसे खुद ही खुदके लिए शरण है। दूसरा कोई मेरे लिए शरण नही है। कोई चाहे कि खुद बुरे बन जायें, पाप करें, दूसरे जीवोंकी हत्या करें, अथवा दूसरोंकी स्त्रीको सतायें, बुरी दृष्टि करें और फिर भी लोग उसको मानते रहे, प्रेम करते रहे यह तो नही हो सकता। खुदका ही आचरण खुद ही का शरण हुआ। दूसरोंका कुछ परिणमन शरण नहीं हुआ। प्रत्येक स्थितिमें यह आत्मा अपना उत्तरदायी है। इसका जिम्मेदार कोई दूसरा आत्मा नहीं है। खुद ही खुदके लिए शरण है। परका विकल्प छोड़कर अपनी ही जिम्मेदारी समझकर अपनी भूमिकाको शुद्ध बनाओ और ऐसा ही शुद्ध रहनेका यत्न करो, इससे ही अपने आपमे सुखी हुआ जा सकता है। यही यत्न निश्चय रखो।

किं स्वानुकूलनेऽन्येषां किं स्वस्यान्यानुकूलने ।
शं स्वानुकूलने स्वस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-३६॥

मैं दूसरोंको अपने अनुकूल बना लूं ऐसा भाव स्वयं जीवमें रहता है और मैं दूसरोंके अनुकूल बन लूं यह भी भाव जीवके रहता है। दूसरोंको अपने अनुकूल बनायें तो उसमें भी आत्मा सुखी नही, क्योंकि इन यत्नोंमें परकी दृष्टि हैं, परकी आशा है। जिस-जिस वृत्तिमें परकी दृष्टि है अथवा परकी आशा है उन-उन वृत्तियोंमें सुख नहीं हो सकता है। हम चाहते है कि ये जीव मेरे अनुकूल बन जायं अर्थात् ऐसी मंशा रहती है कि इन लोगोंकी मेरी इच्छा माफिक प्रवृत्ति हो जाय, पर ऐसा नहीं हो सकता है।

कोई सोचे कि ये मेरे भाई हैं, ये तो मेरी इच्छाके विरुद्ध चल ही नहीं सकते। ये मेरे मित्र हैं, ये मेरे बिरुद्ध नहीं हो सकते हैं, स्त्री पुत्र मेरे हैं, ये मेरे विरुद्ध नहीं चल सकते हैं, ऐसा सोचना भ्रम है। जब तक आपके कारण उन्हें सुख है तब तक अपने आपका मतलब हल करनेका वे यत्न करेंगे। मैं इनका स्वामी हूं इनका अधिकारी हूँ यह सोचना बिल्कुल झूठ हैं। वे आपके अनुकूल चल ही नहीं सकते हैं। वे अपने विषयकषायके कारण, अपनी खुदगर्जीके कारण अपने कषायके अनुकूल चलते हैं। जब सबका एक ध्येय होता है, प्रवृत्ति भी परस्पर अनुकूल हो जाती है सो वहाँ भी एककी वजहसे दूसरेकी प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु कषायसे कषाय मिल गई सो मित्रता मान लेते हैं।

कभी किसी मुनिसंगमें हजारों मुनि साथमें रहते थे और उनमें एक मुख्य आचार्य थे। हम आपको तो यहां पर एक घरमें चार आदमी संभालनेमें मुश्किल पड़ता है और वहाँ हजारों मुनियोंमें एक आचार्य था। वह कैसे सबको संभालता था। भैया, वे मुनि अगर आत्मकल्याणकी इच्छा रखते हैं, मोक्ष प्राप्त करने, निर्विघ्न रहनेका ही उनका प्रयोजन है तो उन्हें संभालना नहीं पड़ता था। यदि वे मुनि भ्रष्ट होते उनको आत्मकल्याणकी इच्छा न रही, केवल पेटपूर्तिकी ही इच्छासे रहे होते तो उन्हें संभालना पड़ता, पर वे स्वयं अपने आत्मकल्याणकी इच्छा करते थे इसलिए उन हजारों मुनियोंको संभालना नहीं पड़ता था। सर्व आगमानुकूल प्रवृत्तिका व निवृत्तिका भाव रखते थे। परस्पर उनका व्यवहार विनयपूर्वक होता था। सबकी दृष्टि एक थी।

किसी घरमें अगर चार भाइयोंकी दृष्टि एक है तो वे संभलके हुए रहते हैं, और यदि उनके ध्येयमें विवाद हो जाय तो उन्हें संभालनेमें बड़ी कठिनाई पड़ती है। जब कोई साधु अपनी मान प्रतिष्ठामें रहता है, अकल्याणके भावोंमें प्रवृत्ति रहती है तब तक उसे संभालनेमें बड़ी परेशानी होती है, पर उसका तो लक्ष्य एक होता है, कल्याणकी भावना रहती है यदि

उन सबका संग व्यवस्थित रहता है, वे स्वयं आत्मकल्याणकी इच्छासे ऐसी प्रवृत्ति रखते हैं तो आचार्यादिके अनुकूल हो जाता है। दूसरोंको अपने अनुकूल करनेमें क्या लाभ है ? लाभ तो अपने आपके अनुकूल होनेमें है अर्थात् जैसा अपना सहज स्वरूप है उस स्वरूपके निरखने में है। सो मैं अपने स्वरूपको निरखकर अपनेमें अपने लिए आप स्वयं सुखी होऊं।

सुखी होना या दुःखी होना यह होता है अपनी करतूतसे। दूसरोंकी करतूतसे न सुख होता है और न दुःख होता है। दूसरोके करनेसे या कहनेसे न बुरे हो सकते हैं और न धर्मात्मा हो सकते हैं। खुदका आचरण जैसा है तैसा ही सामने आयेगा। दूसरोंके आश्रय पर तुम्हारा भविष्य निर्भर नही है। तुम्हारा भविष्य तो तुम्हारे ऊपर ही निर्भर है। दूसरे उसमें क्या कर सकते हैं ? पुराणमे कितनी ही कथायें आती है। किसीके पापका उदय हुआ तो उसको कितना ही धन दे दिया, कितनी ही सम्पदा उसके पास रख दी तो भी सुखको प्राप्त न हो सका। दूसरेकी करतूतसे दूसरोंको सुख नहीं प्राप्त हो सकता है। अन्य चेतन या अचेतन पदार्थ उसके सुखका कारण नहीं बनेगा। कहो ऐसी भी कुबुद्धि आ जाय कि वह उन हितैषियोंको बैरी मानने लगेगा और उन हितैषियोंके विरुद्ध होकर वह यत्र तत्र चला जायगा।

भैया, पापोंके उदयमें कोई सहायक नही होता और पुण्यका उदय है तो उसे कोई दुःखी नही कर सकता। जैसा धवल सेठने श्रीपालको मारनेके लिए कितने प्रयत्न किये, पर वह सेठ श्रीपाल का बाल बाँका न कर सका। राम, लक्ष्मण, सीता जंगलमें रहे, सो जंगलमें क्या रोज-रोज ही उनको आराम मिलता रहा ? नहीं। किसी किसी दिन तो राजा महाराजा भी भगवान् रामकी सेवा करनेके लिए जंगल जाते थे, पर कभी कभी बहुत कष्ट भी होते थे। १२ बर्ष तक वनमें रहे, उनको वैसे तो कोई कष्ट नही रहा। ऐसे दिन भी हुए तो होंगे कि कंकरीली जमीन पर लेटे होंगे। भाजी फलका ही भोजन किया होगा। पुण्यका उदय विशेष था सो ऐसे दिन बहुत कम रहे होंगे जब कष्ट उठाना पड़ा होगा। कष्टके दिनोंमें चूंकि तीनों का एकसा भाव था, तो वे भी दिन आरामसे गये, सुखसे ही गये।

आराम इसका नाम नहीं है कि गद्दी मिले और आरामसे पड़े रहें। कितना ही काम करो और चित्तमें प्रसन्नता है तो आराम है और अगर चित्तमें प्रसन्नता नही है तो आराम नहीं है। चित्तमें प्रसन्नता होती है सहज ज्ञानसे। भ्रममें ही न पड़े रहें, वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान करें तो उसको आराम मिल सकता है। परवस्तुकी आशा रखी, अपने अधिकारमें करने की इच्छा की तो ऐसे भावसे आराम नही मिल सकता। सो दूसरोंको अपने अनुकूल करने का विकल्प किया और अपनेको दूसरेके अनुकूल करनेका विकल्प बनाया तो उससे आराम नहीं रहेगा, व्यवहारमें तो ऐसा कुछ करना पड़ता है, पर परमार्थसे इन बातोंसे आत्माको

तत्वकी बात कुछ नहीं मिलती। आत्मतत्त्वकी बात तो यह है कि जैसा आत्माका स्वरूप चैतन्यमात्र है, उसको ही अपने उपयोगमें लावो, उसकी ही दृष्टि रखो तो शांति प्राप्त होगी। यदि ऐसा उपयोग न बन सका तो शांति न प्राप्त होगी। भीतरमें यह निर्णय होना चाहिए कि मेरे लिए मैं हो हूं, मैं ही ज्ञानज्योतिमात्र हूं, मैं ही सर्वस्व हूं। इस अपने स्वरूपका ही मुझे भरोसा हो तो इसकी ही उपासनासे सुख प्राप्त हो सकता है।

न हानिः सहजे ज्ञाने किन्त्विच्छानीं न सा दशा।
अतश्चिच्छानिरोधेन स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-३७॥

यह जीव ज्ञान तो करता है। पर ऐसा ज्ञान हो कि जाननेका यत्न न करना पड़े और अपने आप जानता हुआ रहे। तो उस जाननेमें जीवको लाभ है और जो जान-बूझकर किसी चीजको जानता है तो उस ज्ञानमें राग द्वेष मिला हुआ है। किसी बातको जान-बूझकर अपनी तरफसे कोशिश करके जानता है तो उसमें राग द्वेषका पुट है और जो कोशिश करके नही जानता, किन्तु अपने आप स्वयं ज्ञान हो जाये तो उसमें राग द्वेष नहीं है, उसमें लाभ है। उसमें जीवको हानि नहीं। ऐसा जो सहज ज्ञान है उस ज्ञानमें हानि नहीं, पर इस समय तो ऐसो दशा हम आप लोगोंकी है नहीं, जान बूझकर जाननेका यत्न करते हैं, राग द्वेष भरे हुए हैं। सो जब तक सहज ज्ञानकी दशा नहीं होती तब तक जीवको शांति नही होगी।

जैसे धनसे शान्ति नहीं होती है। सौ हो गये, हजार हो गये, फिर लाख हो गये, कभी शान्ति नही होती है। इसी तरह जो जान बूझकर ज्ञान किया गया है उस ज्ञानके साथ में आशा लगी ही रहती है। सो उस जीवको अच्छा फल न होकर बुरा फल हो जाता है। अब जैसे मान लिया कि बी. ए., एम. एस. सी. कुछ भी पास कर जाए तो उसके सामने और कुछ न कुछ पढ़नेको रखा है। अभी एम. ए. होंगे। एक विषयमें एम. ए. हो गए, अभी एक बिषयमें एम. ए. और करेंगे। अभी डाक्ट्रेट कर लें, और जो जो कुछ है कर लें। जैसी धनकी बात है वैसी ही बाहरी विद्याकी बात है।

बनावटी ज्ञानकी तो यह दशा है और जो स्वयं ज्ञान है। सहज ज्ञान है, उसकी प्रारम्भिक अवस्था तो ऐसी है कि कह लो वह संकुचित रह जाता है। पर उस सहज ज्ञान का ऐसा प्रताप है कि उसका प्रसार होगा। वह रस्साकस्सीकी तरह है। जितना प्रतिभास हो जाये डटकर, मेहनत कर उतना हो ज्ञानका फैलाव होगा। सो वह भी लब्धिके अनुसार है। सर्वका ज्ञाता बननेका कारण भेदज्ञान है। सो वह सहजज्ञानके परिचयसे ही मिलेगा।

यहाँ दो विषय हैं। एक आत्महितका विषय है और एक लौकिक सुख साधन

बनाने का, पाप बनाने का विषय है । दोनों ही विषय अलग-अलग हैं । लौकिक विषयोंकी बात तो आजकलकी जो परम्परा है उसमें मिलती है और आत्मज्ञानकी बात आत्मस्वरूपके अथवा द्रव्यस्वरूपके, वस्तुस्वरूपके अवगममें मिलती है ।

लौकिक प्रताप तो आजकी विद्यामें देखते हैं । शांतिका मार्ग और तात्विक बात अपने इस आत्मज्ञानमें दिखती है । सो जिसका जैसा रूप है, जिसका जैसा भविष्य है, उसकी वैसी रुचि है । कितने ही लौकिक विद्यामें निपुण होते हैं और कितने ही आत्मविद्यामें निपुण होते हैं । किसीके दोनों ही बातें एक साथ हैं । इन सब बातोंमें जो सहज ज्ञान है, उससे जीव को कभी भी हानि नहीं है । पर अभी तो वह दशा नहीं है । यह सहजज्ञान कैसे बने ? यहाँ तो यहाँ वहाँकी चिंतायें ही लगी रहती हैं, विकल्प ही मचा करते हैं । यहाँ वहाँकी चिंताएं रखने से अपनेमें सहजज्ञान नहीं बनता है । सो चिंताओंका निरोध करके अपने आपको जो कुछ भी स्वयं ज्ञान होता हो, वह होने दो । उस ज्ञानसे ही स्वाभाविक आनन्द उत्पन्न होता है ।

सुखं हि सर्वसंन्यासस्तु कुर्वे सर्वसंग्रहम् ।
दुःखोपायेन किं मं स्यात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।४-३८।।

सुख तो सबके त्यागमें है । जितना जो कुछ लपेटा रहेगा उतना ही दुःख बना रहेगा दुःख तो रागमें है, मोहमें है । जिन लोगोंके मोह है वे दुःख ही दुःखमें है । राग करते समय तो दुःख नहीं मालूम देता है । राग तो करते समय अच्छे लगते हैं, मेरा घर है, द्वार है, लोग हैं, इष्ट है, प्रिय हैं—ऐसा मोह करते समय तो बडा अच्छा लगता है पर इसका परिणाम खोटा ही होवेगा । मोहमें तो रागकी ही धुन रहती है । वहाँ विवेक नहीं जगता है, पर यह तो निश्चय है कि जहां संयोग होगा वहाँ नियमसे वियोग होगा । इसके वियोगकी दो ही बातें हैं या तो खुद यहाँसे चले जायें या अपने देखते-देखते ही चीजें विनश जायें । सो वियोगमें तो आत्माको प्रकट दुःख ही होगा । जिस संयोगमे राग किया उस समय ही तो आकुलता करता है । उस परिणतिके दुःखमें भी तो तेरे लिए कोई रक्षक नही है । वियोग होते समय तो आँसू बहाकर रोने की नौबत आती ही है ।

जिसने विवेकका परिणाम बना लिया उसको दुःख नही मिलेंगे । उसको तो सुख ही रहेगा और जो अपनेमें अज्ञानका हो परिणाम रखेगा तो वहाँ दुःख ही रहेगा । किसीका कोई साथ देने वाला नहीं है । कितना ही आज्ञाकारी पुत्र हो, शिष्य हो, भाई हो, पर हैं तो भिन्न भिन्न स्वरूप चतुष्टय । सो तेरा अन्य रक्षक तो कोई भी नही है । रावणके कितने भाई थे ? कैसा पुत्र था ? बड़ा वीर पुत्र था, पर जब पापका उदय आया तो न भाईने मदद किया और

न पुत्रने मदद किया । भाई भी विरोधी पक्षमें चला गया । तो जितना भी संयोग है वह सब क्लेशोंको ही उत्पन्न करता है । और जितना संन्यास हो जायेगा, त्याग हो जायेगा, कोई आश्रय न रह जाये, खटपट न रह जाये तो इस संन्यासमें ही उसको सुख होगा ।

देखो भैया, सुख तो त्यागमे है । पर करते हैं सबका संग्रह । सुखसे बिल्कुल उल्टे रास्ते पर चलें तो सुख कैसे मिलेगा ? देखो पहिले गांधी जी वगैरह हुए ? क्या उन्होंने सम्पत्ति जोड़ी थी ? वे दो एक कपड़े ही तो पहिनते थे । तो हमारे बुजुर्ग लोग धनका संचय बिल्कुल नही करते थे और भी देखो, बड़े-बड़े लोगोंने धनके संचयका त्याग कर दिया था तो इसका अर्थ यह निकला कि बड़प्पन तो ज्ञान और आचरणमें है । बड़प्पन धनमें नहीं है । यदि ज्ञान और आचरण सही है तो वही सबका त्याग है । सुख तो सबके त्यागमें है । पदार्थोंमें संग्रहसे सुख नहीं मिलता है ।

भैया, दु:खका उपाय करके सुख चाहें तो कैसे सफलता हो सकती है ? बबूलका पेड़ बो कर अगर आमका फल चाहें तो यह कैसे हो सकता है ? महुवाकी गुठली बो देवें और आमके फलकी आशा करें तो यह तो नहीं हो सकता है सुख तो अन्तरसे सबके त्याग से ही होगा । केवल अपने आत्मारामको अन्तरङ्गमें जागृत करते रहो, तो सत्य सुख है । गृहस्थीमें रहकर सब कुछ करना पड़ता है । पर सब कुछ करते हुए भी यदि ज्ञान रहता है तो ज्ञानका फल जो संतोष है वह आ जायेगा । उस ज्ञानीको २४ घन्टेमें कभी न कभी अपने आत्मस्वरूपका ख्याल आता ही है । और अगर ऐसा उपयोग बनने लगे कि किसीका भी विकल्प न हो, केवल अपना ज्ञान सही रहे, स्त्री पुत्र इत्यादिका ख्याल न रहे, उस समय तो सहज आनन्द जग ही जाता है ।

ऐसा विशुद्ध उपयोग गृहस्थ कर सकता है कि नहीं ? बतावो । कर सकता है । वह तो ज्ञानकी चीज है । बाहरकी चीजोंसे फँसाव अलग हो तो यों भी कर सकता है और सबके बीचमें रहकर बाहरमें दृष्टि न फँसाकर भी सबको भूलकर अपने आपकी ओर ही रहे, ऐसा भी वह कर सकता है । त्याग जो है वह तो ज्ञानका नाम है । वह ज्ञान यदि बहुत काल तक रखना चाहता है तो उसका उपाय बाह्य पदार्थोंका त्याग है । परन्तु वास्तवमें त्याग तो ज्ञान का नाम है । यदि ज्ञाता दृष्टा हो गये तो समझो कि सबका त्याग हो गया । सो सुख अगर चाहो तो सबका त्याग करो । यदि संग्रहका आशय भी किया तो सुख नहीं प्राप्त होगा । सो भैया, दु:खके उपायोंको त्यागो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ ।

भैया, परद्रव्यकी आशा करनेसे छल, कपट आदि अवगुण घर कर लेते हैं । एक सेठने बड़ी भक्तिसे किसी साधुको आहार दिया । उसके फलमें उसके यहां रत्नोंकी वर्षा होने

लगी। जब किसी पड़ौसीने यह वैभव देखा तो सोचा कि यह तो धन कमानेका बड़ा ही अच्छा उपाय है। सो हम भी ऐसा ही करें, साधुको आहार दें। हम भी धनी हो जावेंगे। पहिलेसे ही ऐसी आशा कर ली। एक दिन साधुको आहार देता जाये और ऊपरको देखता जाये कि अब रत्नोंकी वृष्टि हो। इस प्रकारसे उसकी आशा बनी रहनेसे रत्नोंकी वर्षा न हुई। तो जब तक मूलमें कपट रहे, आशा रहे तो उसमें चमत्कारकी आशा कैसे की जा सकती है? जब मूलमें दुःखका उपाय रहे, परिग्रहके संचयकी बुद्धि रहे तो इन उपायोंसे कहाँसे सुख प्राप्त हो सकता है? सो भैया, दुःखका उपाय छोड़ो, संग्रहकी बुद्धिको त्यागकर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

परसंगरतो बद्धः स्वस्थो मुक्तोऽग्रहो ग्रहः।
तस्याग्राह्यस्य ग्राह्यस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-३६॥

जो परपदार्थके संगमें लीन हैं वे पुरुष बद्ध हैं। बतलाओ कोई पुरुष रस्सेसे, साँकलसे बँधा है क्या? मोड़ा मोड़ीसे बँधा है क्या? वह तो स्वतंत्र बैठा है। किसीसे बँधा नहीं है। यदि परपदार्थोंके संगमें बुद्धि लगाये हैं कि ये मेरे है, इनके लिये खूब धन-वैभव जोड़कर रख दूं इत्यादि रूपसे पुत्रादिक परजीवोंमें जिसने बुद्धि लीन कर रखी है तो वे तो बंधे ही हैं। वे अपना यह बंधन तोड़कर कहीं नहीं जा सकते हैं। तो जीवका बंधन तो भीतरका भ्रमभाव ही है। अन्य पदार्थोंके बंधन जीवके साथ नही हैं। वे तो पर हैं, बंधन तो अशुद्ध भावोंसे ही हैं। यों भाव कर लिया कि स्वयं ही पराधीन बन गये। सो परिग्रहोंमें रत होनेसे ही वे बद्ध हैं और जो परके संगमें रत नहीं हैं, जिनकी अपनी निज आत्मामे ही दृष्टि है वे मुक्त हैं, छूटे हुए हैं।

बड़ी कठिन तपस्या है यह कि परमें बुद्धि न की जाय, केवल अपने आपमें ही बुद्धि रहे तथा बड़ा पाप है यह कि परमें आत्मदृष्टि कर ली, लो बंध हो गया। स्त्री-पुत्रादि क्या जीवनभर साथ देंगे? जीवनभरकी बात तो दूर रही, यही मतलब सिद्ध न होने पर वे जरा सा भी साथ दें सो भी बात नहीं है। वे तो जब तक दूसरोंसे सुख मिलता है तब तक साथ देंगे और यदि सुख नहीं मिलता है तो साथ नही दे सकते हैं। यहाँके जीव भी तो मलिन हैं, बद्ध हैं, उनसे क्या आशा करते हो? बद्ध जीव कौन है? जिसने अपनेको परसे बाँध लिया हो, वह बद्ध है। उसका यह बाह्यसंगम व्यवहारमे निमित्तबंधन है। निश्चयतः कोई भी जीव किसी दूसरे जीवका कुछ नही कर सकता है। वस्तुस्वरूपकी बातके विरुद्ध कोई भी यह समझे कि ये मेरे हैं और मानता भी व्यवहारमें है, किन्तु उसमें आसक्ति है तो आसक्तिके फलमें कोड़े लगते हैं। तो खावो कोड़े और अगर आसक्ति नही है तो क्लेश नहीं है। जितने

भी लोग घरके संगमें लीन होंगे वे कभी सुखसे नहीं रह सकते हैं।

बहुतसे लोग कहते हैं कि मेरा भारी परिवार है। छोटे-छोटे बच्चे हैं, लोग हैं, उनको तो कैसे छोड़ना चाहिए ? यदि उनको छोड़ दें तो पाप है। क्यों भैया, उनको अगर ज्ञाता द्रष्टा रहनेके परिणामके कारण छूट जाते हैं तो क्या पाप करते हैं ? यह तो 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा' वाली बात है। बातोंसे विरक्ति नहीं होती है, विरक्ति तो स्पष्ट ज्ञानसे होती है।

भैया, सच तो यह है कि मोह ही उन्हें पकड़े है। मोह नहीं रहा तो उन्हें पकड़े कौन ? पाप तो कलुषित परिणामोंसे ही है। अच्छा बतलावो भाग्य उन बच्चोंका अच्छा है कि तुम्हारा अच्छा है ? भाग्य तो उन बच्चोंका ही अच्छा है। कैसे ? सो सुनो। लोग सोचते हैं कि इन बच्चोंकी हम खूब खुशामद करें, उनका हम अच्छा पालन-पोषण करें। सो उनकी सेवाके विकल्पसे उनमें ही वे बँधे रहते हैं। यह निर्णय नहीं कर पाते कि हम बंध रहे है जिनकी हम खुशामद करते है उनका पुण्य बड़ा है। खुशामद करने वालेका पुण्य बड़ा नहीं। वह तो मोह ही करता है। मोहको छोड़कर अपना तो काम केवल एक ही है कि शुद्ध ज्ञान करें। ज्ञानके सिवाय अन्य कोई प्रवृत्ति करना यह कोई आत्माका कर्तव्य नहीं है।

यह तो विवशताकी बात हो गयी कि शुद्धोपयोग नहीं होता तो शुद्धोपयोग करो, उसमें भी यह नहीं तो यह कर लो। जैसे कि रात्रिको भोजन करनेका त्याग होना चाहिए। यदि भूख ज्यादा सताती है तो पानी और औषधि रख लो और यदि भूख न सधे तो दूध मेवा रख लो, और यदि भूख न सधे तो साग-सब्जी रख लो, पर अन्नका त्याग कर दो। हमारा कर्तव्य है कि रात्रिको कुछ भी भोजन पान न करें। यदि दूध मेवा इत्यादि भी रात्रि को खाते है तो यह कायरता है। यहाँ यह बात जल्दी समझमें आ जाती है। अगर भीतरकी बात भी इसी प्रकारसे जल्दी समझमें आ जाये तो यही बुद्धिमानी है। सच ज्ञान आ जाये, मोह हट जाये तो उसके अज्ञान प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

जब तक गृहस्थ अपने धर्मकी रक्षा नहीं करता है, अपनेमें निवृत्तिकी भावना नहीं लाता है तब तक उसकी आन्तरिक कमजोरी है। भाव उच्च ही होना चाहिए। इसी कारण पहिले गृहस्थधर्मका उपदेश हो और पीछे साधुधर्मका उपदेश हो—यह पद्धति जिनशासनमें नहीं है। पहिले है साधुधर्मका उपदेश और फिर पीछे है गृहस्थधर्मका उपदेश। साधुताकी बात ऐसी है कि साधु अपनी आत्मामें रहे, मोह भावको त्याग दे, गृहस्थीको अंगीकार न करे। अपने आत्माके धर्मको ही करता जाये, उसमें ही वह संतुष्ट रहे। गृहस्थको यह सोचना चाहिए कि मेरे मोह बिल्कुल न रहे। ऐसा ज्ञान हो कि मेरे घरके जो लोग हैं वे मेरे कुछ नहीं हैं। यहाँ ग्रहण करने योग्य कुछ भी चीज नहीं है। कुछ भी चीजें मेरे लिए हितरूप

नहीं है। सो यथासम्भव यथासमय अपनी आत्मामें ही रमो और सारे विकल्पोंको त्यागकर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

सुखायान्यत्प्रतीक्षैव सुखहत्यामता यतः।
सुखेनास्मि स्वयं पूर्णः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–४०॥

सुखके लिए दूसरे पदार्थोंकी प्रतीक्षा करना, बस यही तो सुखकी हत्या करना है। यह आत्मा तो स्वयं सुखसे भरा है। इसका स्वरूप ही आनन्द है। इसको आनन्द कहीं बाहर से नहीं लाना है। सो परपदार्थोंसे मुझे सुख मिलेगा, ऐसी आशा करना यही तो संकट है। बाहरी पदार्थोंके चाहनेसे सुख नष्ट होता है और बाहरी पदार्थोंसे सुख न चाहें, तो सुख तो स्वयंमें ही भरा हुआ है। मैं स्वयं सुखसे परिपूर्ण हूं। परन्तु जीवोंमें ऐसा मोह लगा है कि अपने आपको रीता समझते हैं, अपने आपको न कुछ समझते है, अपने आपकी कोई कीमत नहीं मानते हैं।

मोही जन अहंकारमें आकर तो अनेक झगड़े कर डालते हैं, अनेक क्लेश उठा लेते हैं, पर अपने इस ज्ञानस्वरूपके देखनेकी जिम्मेदारी नहीं समझते हैं। मैं ही मेरेको सुखका दाता हूं, मैं ही सुखस्वरूप हूं, ऐसा मानकर अपने आपकी ओर ये जीव नहीं आना चाहते हैं। दूसरे पदार्थोंके ही पीछे खुदका विश्राम नष्ट कर देते हैं। दूसरे स्त्री-पुत्रोंके सुखके लिए उनकी ही वृद्धिके लिए सारे जीवनभर जुतते रहते हैं। सो ऐसी जो पद्धति है यह हितकारी पद्धति नहीं है।

देखो भैया, प्रातः व सायंको प्रभुके दर्शन करनेका नियम क्यों है कि दिन भरके जो उपयोग यत्र-तत्र रहे, यहां-वहां भटके, दिन भर जो पाप बंधे है उन पापोंको दूर करनेके लिए हम आप प्रभुके दर्शन करनेके लिए आते है। प्रभुकी मुद्राको देखकर अपने आपमें यह भाव भरते हैं कि हे प्रभो, मैं गलतियोंके मार्ग पर हूं। जिन कामोंमें मैं लग जाता हूं वे सब काम असार हैं। आपने जिस मार्गको अपनाया था उसमें ही सार है—ऐसा अपने आपमें ख्याल रखनेके लिए और प्रभुके गुणोंका स्मरण करनेके लिए, इस अपवित्र हृदयको पवित्र बनानेके लिए हम आपके दर्शन करने आते हैं।

हम सब प्रातः दर्शन करने क्यों आते हैं कि रात्रिके समयमें प्रमादकी बुद्धिमें जो हमने पाप किये हैं और मोक्षमार्गसे विमुख रहे हैं उन पापोंको दूर करनेके भावोंसे हम सब आपके दर्शन करने आते है। हम यह ख्याल करते हैं कि हे प्रभो! करने योग्य काम तो ज्ञानका ही था। केवल हम ज्ञाता दृष्टा रहें, राग द्वेष मोहसे परे रहें, अपने अज्ञानसे भ्रमसे परकी आशा न कर सकें, अनेक प्रकारके प्रसंगोंमे अपनेको दुःखी बनाते रहे, वे काम ठीक

नहीं थे। जो कार्य आपने किये, जिस मार्गसे चलकर आप प्रभु हुए, स्वयं समर्थ हुए, वह मार्ग मेरे चलनेके लायक है। इस तरह दोनों समय अपने आपको सावधान रखनेके लिए प्रभुके दर्शन करनेका नियम है।

सम्यग्ज्ञानमें ही यह शक्ति है कि बाह्य पदार्थोंकी आशाका त्याग कराये। आज यह सब दुनिया अथवा ये मोही लोग केवल परसे हित माननेके भ्रममें बरबाद हैं, जिससे कि सुख नहीं पाया जा रहा है। दूसरोंको तंग करके क्या सुख हो सकता है? नहीं। परमार्थसे तो खुदको ही तंग करते हो। ये विषयसे सुख मानते हैं, परिग्रहोसे आनन्द मानते हैं, और वैभवके संचय करनेमें, जोड़नेमें अपनेको कष्ट दे रहे हैं। अपने सहज चिन्मात्र प्रभुको देखो। अपने ही स्वरूपके समान दूसरे जीवोंको मानो। जैसा विश्राम, आराम तुम चाहते हो वैसा ही दूसरे जीवोंके लिए सोचो। परमार्थकी बात तो यह है कि हम अपने लिए किसी भी पदार्थ से कुछ आशा न रख, अपने आप पर ही अपने सुखकी जिम्मेदारी मानें तो अपना सुख अपने सामने है।

बतलावो बच्चोंसे जो आशा रखते हैं वे जीवनभर बच्चोंके दास रहते हैं कि नहीं? आप स्त्रीसे, बालकोंसे, पड़ौसियोंसे अपने मतलबकी आशा रखते हैं। व्यवहारमें ढग खराब है वह तो अलग बात है, मगर भीतरमें अंधेरा मच जाता है। आपको अपने आपके इस चैतन्यमात्र, ज्ञानानन्दमय, सबसे न्यारे निजस्वरूपका कुछ भान ही नहीं रहता है। जो खुद ना बन जाते हैं वे अपनेको ना समझते हैं। परसे ही अपना अस्तित्व व रक्षण समझते हैं। इसी कारणसे उन्हें बहुत क्लेश होते हैं। सुखके लिए दूसरे पदार्थोंकी प्रतीक्षा न करो अपनी ही ओर झुको और उस ही आनन्दस्वभावमें छककर, लीन होकर सुखी होवो।

उत्तमस्त्याग आशा न प्रतीक्षा यत्र वर्तते।
पराद्दृष्ट्या न सा स्वास्थ्ये स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-४१॥

देखो दो ही तो बातें हैं—आशा करना और त्याग करना। जहाँ आशा है वहाँ क्लेश है और जहाँ त्याग है वहाँ आनन्द है। पर उत्तम त्याग वही है जहाँ आशा व प्रतीक्षा नहीं रहती है। घर छोड़ो और घरकी आशा रखो तो वह त्याग है क्या? नहीं। कोईसी भी चीज छोड़ो और फिर उसकी आशा करो तो वह त्याग है क्या? नहीं है। कोई कहे कि इससे अच्छा तो न त्यागना है। सो भी बात बुरी है। यदि आशा रहे तो चाहे बाह्यका त्याग हो, चाहे न हो, आशाका तो स्वभाव ही है कि वह क्लेश ही उपजायेगी। आशा तो दुःख ही देगी। चाहे छोटी आशा हो, चाहे बड़ी आशा हो, आशाएँ दोनों ही एक प्रकारकी हैं, उनमें तो क्लेश ही हैं। सो उत्तम त्याग वहाँ है जहाँ कोई आशा न हो और न कोई

प्रतीक्षा हो। यदि ऐसी बात बन गई तब फिर आत्महित बन गया।

सो भैया, परद्रव्योंमे दृष्टि ही न रखो। अच्छा बताओ यह धन-वैभव कितना ही मिल जाये तो शांति है? क्या इसका भी कोई निर्णय है? क्या हजार मिल जायें तो शांति हो जायेगी? शांति नही होगी। तो क्या लाख मिल जायें तो शांति हो जायेगी? शांति नहीं होगी। अच्छा करोड़ हो जानेपर शायद शांति हो जायेगी। अरे उसमें भी शांति नही होगी। और अगर कोई देश मिल गया तो? तब भी शांति नही होगी। यही इच्छा हुआ करेगी कि अभी और जमीन जीत लें, अभी और लड-लड़कर भूमि बना लें। पहिले तो राजा बनानेकी पद्धति थी। अब तो वह बात ही नहीं रही। अब तो सोसायटी और कमेटी बन गयी हैं, वे ही राज्य चलाती है। सो इसपर भी जरा-जरासी भूमिके पीछे राष्ट्रोमें झगड़े चलते रहते है। जब तक परकी दृष्टि रहेगी, परके संचयमें हित मानता रहेगा, तब तक यह जीव अपने आपमें नही रह सकता है, वह बाहर डोलता रहेगा।

देखो यह आत्मा बिल्कुल अकेला है, यह जीव बिल्कुल असहाय है। किसी भी समय इस जीवका मरण हो जाये तो वह शरीरको छोडकर अकेला ही चला जायेगा। इस जीवका संगी साथी कोई नही होता। अगर शुद्ध ज्ञानकी बात अपनी ही इस जिन्दगीमें रख लें और अपने ही ज्ञानसे चलें अर्थात् यह सब रहते हुये भी उन चीजोंका मोह छोड़ दे और अपना सच्चा ज्ञान बना लें तो सुखी रह सकते है। परन्तु भैया, हो क्या रहा है, जब तक जिन्दा है, घरमें रह रहे हैं तब तक दो मिनटको भी मोह नही छोड़ सकते और मरने पर सब छोड़ जाना ही पड़ेगा। परन्तु जिन्दा रहते हुये गम नहीं खाते है। जब तक शरीरमें प्राण है तब तक मोह करते ही रहेगे। न सुखसे रह सकेंगे, न खा पी सकेंगे, न कुछ त्याग कर सकेंगे, न कुछ परोपकार कर सकेंगे। जिन्दगी यों ही बिता देंगे।

एक जगह किसी कविने लिखा है कि कंजूस लोग सबसे बड़े दानी कहलाते हैं। जो कंजूस होते हैं वे पैसा नही खर्च कर सकते, न खा सकते, न पी सकते, न दूसरोंकी सेवामें लगा सकते, ऐसे जो कंजूस होते है उनको सबसे बड़ा दानी कहा है। कैसे दानी बतलाया है कि देखो उस धनमें से कुछ भी अपने लिए खर्च नही करते और अंतमें साराका सारा एकदम दूसरोंके लिए छोड़ जाते है। इसीको मान लो, सर्वस्व दान करके चले जाते हैं। अपने लिए उसमें से कुछ नहीं किया और साराका सारा दूसरोके लिए छोड़ दिया। तो यह कितना बड़ा दान है। तो वह कजूस सबसे बड़ा दानी हुआ।

अरे भैया, हंसो न, बात तो ठीक है। वह दानी कैसे हुआ? उसके परिणाम तो जिन्दगीभर गंदे रहे, उसने पाप किए, मलिन परिणाम रखे, वह अगर सबको ले जा सकता

तो क्या एक पाई भी छोड़ना ? सो सबने इन बातोंमें घुटने टेक दिए। किस बात पर कि मरण पर एक पाई भी साथ नहीं जाती। जब तक जिन्दगी है तब तक माना करते हैं पर घुटने यहाँ टेक देते हैं। वे मरने पर कुछ भी साथ नहीं ले जा सकते हैं। सो जीवित अवस्थामें जैसे परिणाम किए उन परिणामोंके फलमें यह जीव उसी संस्कार में उसी भावमें लीन है सो ऐसे कंजूस लोग मरकर उस सम्पत्ति पर सर्प बन जाएं तो कोई आश्चर्य नहीं है मगर सर्प होकर भी क्या उस धनको वे खा भी लेंगे ? नहीं।

मोही जीवके ऐसे संस्कार हैं, उनमें वासना भरी है। उनमें ऐसा भाव भरा हुआ है कि परमें ही दृष्टि रहेगी। जब तक इस जीवकी दृष्टि परमें रहेगी तब तक वह अपने आपमें नहीं आ सकता है और जब तक यह जीव अपने आपमें नहीं आता तब तक यह सुखी नहीं हो सकता है। सो परकी दृष्टिको त्यागकर भैया, अपने आपमें आवो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

भोगे योगे न शान्तिस्त्विच्छाहीनो वर्तते हि यः।
शान्त्याधारः स एवातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-४२॥

जिसके जब तक इच्छा है तब तक उसे शांति नहीं है चाहे वह भोगमें रहता हो, चाहे योगमें रहता हो, चाहे त्यागवृत्ति बना ली हो और चाहे घर कुटुम्बमें रमता हो, पर जब तक इच्छा है तब तक उसे शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है। भैया, शांतिका आधार तो वे खुद ही हैं, किन्तु शान्ति ढूंढ़ते हैं परद्रव्योंमें। सो जहाँ परमें दृष्टि गई तहाँ अशांति है। जब मोह छाया हुआ है, मूढ़ता सिर पर सवार है, बेटे, पोते इत्यादि मलिन गंदे कषाय वालों में ही मोह ममता लगाये हैं तो कल्पनावश पराधीन हो जाना प्राकृतिक बात है। उनका बन्धन तो है ही। यह रोग एकको नहीं है, लोकमें प्रायः सभीको है।

गांवोंमें घरके गाय, बछड़ इत्यादि सवेरे जंगलमें चरनेके लिए छोड दिए जाते हैं और वे ही पशु शाम होते ही उसी घर चले आते हैं तो वे गाय, बछड़े इत्यादि भी उस घर से बँधे हैं। कभी कभी किवाड़ खोलकर वे घरके अन्दर घुस जाते हैं। अगर घरके अन्दर न घुसे तो दरवाजेमें ही खड़े रहकर दरवाजा खुलनेकी प्रतीक्षामें वे खड़े रहते है। देखो उन पशुवोंको भी मोह सता रहा है। उसी तरह मनुष्यके भी मोह लगा है। मनुष्य भी बाहर बाहर भ्रमण करके आयेगा और घरमें ही विश्राम लेगा। इसलिए वे भी घरसे बँधे हुए हैं, वे स्वतंत्र होकर विचार ही नहीं सकते हैं। सो इन सब बन्धनोंका कारण इच्छा है।

यदि इच्छा है तो न भोगोंमें ही शांति है और न योगमें ही शांति है। यदि अन्य वृत्तिसे परका मोह छोड़ दो तो शांति वहाँ रहती है। मोहमें बसे रहनेसे तो अशान्ति हो

रहती है। घरमें किलकिल मची रहती है। घरमें छोटे-छोटे बच्चे कहीं रो रहे हैं, कहीं माँ उन्हें डांट रही है, कहीं कुछ हो रहा है। इस तरहसे बैठे-बैठे ही रात दिन दुःख बने रहते हैं। कहीं स्त्रीने बच्चोंको गालियां दे दीं, कहीं बापने बच्चोंको पीट दिया, इस तरहसे परिवार में क्लेश ही क्लेश रहते हैं। परन्तु जैसे गोबरके कीड़ेको गोबरमें ही रहना पसंद है, उसीमें रहकर वह खुश रहता है उसी तरह हम आप लोग जो गृहस्थीमें फँसे हुए हैं, वही गृहस्थीमें ही रहकर प्रसन्न रहते हैं। इस माया मोहमें ही अपना चैन मानते हैं।

जरा घरके ऊपर भी क्लेश देखो। कहीं एक बच्चा चिल्ला रहा है, कहीं एक गोदी में चिल्ला रहा है, कहीं भाई वचनबाण छोड़ रहा है तो कहीं स्त्री माँ का झगड़ा हो गया। अनेक परेशानियां गृहस्थीमें रहती हैं। अगर स्त्री माँ के झगड़ेमें पुरुष स्त्रीका पक्ष लेता है तो लोग उसको कहते है कि यह इसकी असभ्यता है, और अगर माँ का पक्ष लेता है तो चैन से नहीं रह सकता। कितने-कितने संकट इस संगमें हो जाते हैं, परिग्रहमें हो जाते हैं। सो ये सब संकट कैसे बनें? घरमें इच्छा है, लगाव है, आशा रखे हैं, दूसरोंके बीच बस रहे हैं सो सारे संकट छाये हैं। कहीं सुख नहीं है। सुख तो वहीं है जहाँ इच्छा न हो।

एक बार किसी महाराजाने किसी दूसरे राजा पर चढ़ाईमें विजय प्राप्त कर ली। उस चढ़ाईमें उस राजाके कुटुम्बके सभी लोग मारे गये। अंतमे महाराजाको ऐसा विवेक उपजा कि अब वह राज्य न ले और इसके कुटुम्बमें जो कोई बचा हो उसको ही यह राज्य सौंप दे। ऐसा सोचकर राजा अपने वंशजको तलाश करनेके लिए निकला। एक आदमी जो घर गृहस्थी छोड़कर जंगलमें रहता था वही केवल बच गया था। महाराजा उस पुरुषके पास गये, बोले कि जो कुछ चाहते हो ले लो। मतलब उसका यह था कि सारा राज्य जब देनेके लिए तैयार हू तो इससे बढ़कर और क्या मांगेगा? सो कहा कि जो इच्छा हो ले लो। वह बोला—मैं जो कुछ चाहूंगा वह आप देंगे? तो राजा बोला—हाँ हाँ दूंगा।

जङ्गलनिवासीने कहा—राजन्! हमें ऐसा सुख दो कि जिसके बाद फिर दु.ख न आवे। भाइयो! बोलो कि है कोई ऐसा सुख कि जिसके बाद फिर दुःख न हो? ऐसा कोई भी सुख नहीं है कि जिसके बाद फिर दुःख न हो। ज्ञानी पंडित बननेमें ऐसा सुख है कि जिसके पीछे दुःख नहीं है। पंडित बननेमें ऐसा तो नहीं है, अगर परमार्थसे ज्ञानी बन जाय तो वह कुछ बाहरी चीजें चाहेगा ही नहीं। तो सुख उसे अपने आप हो जायगा। जगत्में कोई ऐसा सुख नहीं है जिसके पीछे दुःख न हो। सो महाराजने हाथ जोड़ दिये कि क्षमा करो, मैं इस चीजको तो नहीं दे सकता। दूसरी और कोई चीज मांगिये।

वह बनवासी फिर राजासे बोला कि हमको ऐसा जीवन दो, जिन्दगी दो कि कभी

फिर मरण न हो। बताओ ऐसी कोई जिन्दगी है कि जिसके पीछे मरण न हो ? महाराजने फिर हाथ जोड़ दिये, कहा—कुछ और मांगो। उसने कहा—अच्छा और कुछ नहीं तो हमको ऐसी जवानी दो कि जिसके बाद फिर बुढ़ापा न आवे। सो वह हाथ जोड़कर वापस चला गया। उसने सोचा कि यह तो कुछ नहीं चाहता है। यह तो अपने आत्माकी मोजमें मस्त है। तो ऐसे ही लोग जो इच्छारहित होते हैं वे ही शान्तिके आधार हैं, उनको ही शांति प्राप्त होती है।

भैया ! दिल्लीमें एक जैन सेठ था। जिस समय सन् ५७ के समयके गदरमें लूटमार हो रही थी उस समय उस सेठने तिजोरियोंसे हीरे जवाहरात गहने इत्यादि जो कुछ भी थे खोलकर बाहर रख दिये। चार लूटने वाले आये। सेठ जी बोले—आप लोग परिश्रम न करें, जो कुछ भी घरमें धन था, हमने निकालकर बाहर रख दिया। इतनी बात देखकर चारों लुटेरोंके मनमें असर हुआ। वे बोले—सेठजी, अब हम लोग तुम्हारा धन नहीं लूटेंगे। हम अपने दो आदमी इस धनकी रक्षाके लिए छोड़े जाते हैं। कोई भी इस घरके अन्दर नहीं घुसने पायेगा। देखो लूटने वालोंको भी ज्ञान प्राप्त हो गया। यदि इच्छा है तभी क्लेश हैं। इन इच्छावोंसे सुख नही प्राप्त हो सकता है। इन इच्छावोंसे पूरा नहीं पड़ेगा।

कृपां कर्तुं न शक्योऽन्यो मय्यहमेव तत्क्षमः।
ततोऽन्याशां परित्यज्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-४३॥

मुझ पर कोई दूसरा पुरुष कृपा नही कर सकता है। हम पर हम ही कृपा रख सकते हैं। सुखका आचरण खराब हो और चाहें कि दुनियामे आदर मिले तो क्या मिल सकता है ? नही। तो अपने कियेका फल अपनेको ही मिलता है। कभी कोई खोटी गैल चले और चाहे कि सम्मान मिले तो क्या मिल सकता है ? नही। अच्छा बोलेगा, सदाचारसे रहेगा तो दुनिया यश गायेगी अथवा सुखके साधन मिलेंगे। यदि ऐसा नहीं है तो सुख न मिलेगा। मुझ पर कृपा करनेके लिए कोई दूसरा समर्थ नही है। मैं ही मुझ पर कृपा कर सकता हूँ।

रावणके खोटे परिणाम जब हुए तो वह चाहता था कि परिवारसे मदद मिले तो कैसे मदद मिल सकती थी ? परिणाम तो उसके खोटे हो गये थे। खोटी राह चलने वालेके फिर मित्र नही रहते हैं। रावणका भाई विभीषण तक रावणका साथ छोड़कर रामसे जा मिला था। यदि खुद अच्छा रहे तो काम बनता जायेगा, नहीं तो काम नहीं बननेका है। परमार्थसे देखो तो खुद अच्छे भी चल रहे हैं और लोग बड़ा साथ भी दे रहे हैं तो भी लोग मुझ पर कृपा नहीं कर रहे हैं। लोग जो साथ दे रहे हैं उनको रुच गया है तो वे कषायसे

अपना काम कर रहे हैं। सो इस लोकमें मुझ पर कृपा करने वाला दूसरा समर्थ नहीं है। तब हमें क्या करना है कि अन्य पदार्थोंका व्यामोह छोड़ना है।

भैया, जितने भी जगत्के पदार्थ होते हैं वे पदार्थ स्वयं परिपूर्ण होते हैं और उन पदार्थोंमें उनका ही सब कुछ है, दूसरेका उनमें कुछ नही है। जैसे तुम्हारे जीवमें तुम्हारा ही तो जीव है। हम तो बाहर बैठे है, हम अपना विचार करते हैं, तुम अपना गुनतारा लगाते हो तो हमारे जीवसे तुम्हारा सम्बन्ध तो कोई नही रहा। कुछ भी तो आपके और हमारे जीवमें सम्बन्ध नहीं है। भले ही हम आपकी एकसी मशा है, पर दोनों ही अलग हैं। हम अपने स्वभावसे अपनी परिणति करते है और तुम अपने स्वभावसे अपनी परिणति करते हो। कोई दूसरा न तो मेरा कुछ काम कर रहा है और न मैं किसी दूसरेका काम कर रहा हूं।

यद्यपि समान विचार होनेसे काम मिल-जुलकर होता रहता है फिर भी हम अपने स्वरूपसे अपना परिणमन करत है। वास्तवमें मिल-जुलकर काम नही होता है। देखो एक ही चक्कीमें दो औरतें आटा पीसती हैं, एक साथ पीसती है, हिल-मिलकर गाना गाती हुई पीसती है, मगर एक औरत दूसरी औरतका काम नहीं करती है। वह अपना परिणमन करती है और वह अपना परिणमन करती है। जीव सब न्यारे-न्यारे हैं। एक जीव दूसरे जीवका कुछ नहीं कर देता है। भले ही हम मिल-जुलकर रहें, पर हम अपना परिणमन करेंगे। कोई जीव किसी दूसरे जीवका अधिकारी नही है, मालिक नहीं है। सब अपने-अपने मालिक है। इस कारण कोई जीव किसी दूसरे जीव पर कृपा नहीं करता है।

मुझे किसी दूसरेसे कोई आशा भी नही है। बेकारमें आशा करते है तो उस आशा का फल बढ़िया नही होता है। उस आशासे आकुलताएँ ही होती है, फंसाव होता है, झंझट लग जाते है। और जब तक किसीका परिचय नही है, लगाव नही है तब तक आनन्दसे हैं। पर अज्ञानावस्थामें एक जीव दूसरे जीवके लगाव बिना नही रह पाता। कुछ न कुछ राग करता ही है सो इस अज्ञानके ही कारण जीवका परपदार्थोंमें लगाव होता है। एक आशा होती है। उस आशामें ही यह जीव दूसरेमे बँध जाता है। सुख दुःख कुछ भी हो, आपके भीतरमें सच्चा ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

भैया, सच्चा ज्ञान जगे बिना जीवमें शांति बिल्कुल नही हो सकती है। यदि बाहरी पदार्थोंमें ही दृष्टि रहेगी तो दसों प्रकारके भाव बनेंगे, दसों प्रकारकी आशाएँ बनेंगी। सो बाहरकी दृष्टि हटे और अपने आपके स्वरूपमें ही अपने आपका निश्चय हो तो शान्ति मिलेगी अन्यथा शान्ति न मिलेगी। यदि हम लड़कोंके बारेमें, भाइयोंके बारेमे कुछ चाह करें, उनसे आशा करें तो दुःख ही मिलेगा। हम आप उनके पीछे सोच-सोचकर दुःखी होते रहते हैं।

जब तक उनसे मोह नहीं छूटेगा, उनसे आशा नहीं छूटेगी तो इन बाह्यसे ही कोई लाभ न हो सकेगा। जैसे किसी चीजका हठ करते हैं तो उससे नुक्सान ही होता है। उसी तरह उनमें हठ करनेसे नुक्सान ही रहेगा। उनमें ही अपना लगाव रखनेसे बड़े-बडे दुःख पाते हैं। यदि इन दुःखोंसे हटना है तो परका लगाव छोड़ो। परकी आशा छोड़ो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

सुखं नैराश्यमेवास्ति दुःखमाशैव केवलम्।
स्वदृष्टेः काचिदाशा न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४–४४॥

सुख तो नैराश्यमें होता है अर्थात् कोई आशा न रहे वहाँ सुख होता है। गृहस्थीमें रहते हुए भी यदि मनुष्य धर्मके काममें ऊँची ही बात सोचे तब ही धर्म कर सकता है और अगर वह ऐसा ही सोचे कि हम तो गृहस्थ हैं, दसों प्रकारके सम्बन्ध हैं तो हम लोगोंको आशा कैसे छूट सकती है? हम लोगोंका तो इसीसे पूरा पड़ेगा, ऐसा पहिलेसे ही सोच रखा है तो उस गृहस्थमें धर्मकी उन्नति नहीं हो सकती है। धर्मकी उन्नति तो तब होगी जब अपनेमें बहुत ऊँची बात सोचें। जैसे कि साधु संत सोच सकते हैं। गृहस्थ अपने ज्ञानसे ऊँचे भाव सोच सकते हैं। गृहस्थ अपने ज्ञानसे ऊंचे भाव रखकर अल्प संयममें भी यथायोग्य विशेष निम्नलिखितरूप धर्म कर सकता है—सुख आशाके अभावमें है। जिस चीजकी आशा लगी है उस चीजकी ओर ही दिमाग है। तुम्हारा दिमाग जैसा है वैसा होता नहीं है तभी तो दुःखी होते हो। सो दुःख इसी बातका है कि जैसा चाहते हैं वैसा होता नहीं है। जीवको इतना ही तो दुःख है। यह दुःख तब मिटे कि जैसा हम चाहें वैसा हो जाय या फिर उस चीजकी आशा ही नहीं करनी चाहिये और न ही चाह करनी चाहिये।

किसी मामलेमें सुख तभी हो सकता है कि या तो इच्छा ही न करें या जैसा चाहें वैसा काम बन जाय, मनमाफिक काम हो ही कैसे सकता है? कितना ही महापुरुष क्यों न हो जैसा वह चाहे वैसा हो जायगा क्या? वैसा काम नहीं हो सकता है। छोटे आदमीको छोटी भी चाह है तो बड़ी चाह नहीं पूरी होती। दोनों ही जैसा चाहें वैसा काम हो जाय यह तो नहीं हो सकता है। यह उपाय तो गलत है कि जैसा चाहें वैसा काम बन जाय, पर यदि यह उपाय बन जाय कि हम किसी चीजको चाहें ही नहीं तो दुःख फिर रह ही कहाँ सकते हैं? इच्छाके अभावका उपाय बन तो सकता है, पर ऐसा कोई प्राणी प्राय इस जगत्में नहीं दिखाई पड़ता है जिसके कुछ चाह न हो। ऐसे आदमी तो दिख जाते हैं कि बहुत बड़ी-बड़ी चाहें खत्म कर दीं, उनमें घरकी चाह न रही, ऐश आरामकी चाह न रही, ऐसे व्यक्ति तो मिल जाते हैं। मगर जिनके बिल्कुल चाह न हो ऐसे व्यक्ति आजके युगमें इस

लोकमें नहीं दिखते हैं । बड़ी-बड़ी चाहें मिट जायें, साधारण चाहें रह जायें तो चलो यही अच्छा है । यथार्थज्ञान जग जाये तो चलो यही अच्छा है, सारी चीजें रहते हुए भी आशा खत्म हो जायगी । आशा ही से क्लेश होते हैं । कोई आशा कर ली कि लो दुःखी हो गये ।

एक नाईने एक सेठकी हजामत बनायी । हजामत बनानेमें २-३ जगह छुरा लग गया या मार दिया । खून निकल आया । सेठने हजामत बन जानेके बाद नाईसे पूछा कि कितनी जगह छुरा मारा ? नाईने सोचा कि छुरा कई जगह लग गया है, अब तो मजदूरी भी न मिलेगी, पर डरते हुए उसने कहा कि दो जगह लग गया है । दो जगह लगनेसे उस सेठने उनको दो रुपये दे दिए । नाईने सोचा कि हमे तो डर लगता था कि सेठ जी कुछ भी नहीं देंगे, पर दो रुपये कमानेका बड़ा ही अच्छा उपाय है । एक दिन एक बाबूजी की हजामत बनाने लगा । दो छुरे उसके भी लगा दिए । सोचा कि इनसे भी एक दो रुपया मिल जायगा । बाबूजी ने १०-५ जूते मारे । अब वह सोच रहा कि हमारा हिसाब कहांसे गलत हो गया ? सेठके दो छुरे मारे थे तो उसने दो रुपये दिये थे । यहां कैसे हमारा हिसाब गलत हो गया ? भैया ! सेठने तो इसलिए रुपये दिए थे कि इसके कुछ आशा लग जाये कि फिर ये हजामत ठीक बनाने लगे ।

किसीको क्लेशमें डालनेकी सुगम औषधि यह है कि उसको कुछ परिग्रह दे दें जिससे उसकी तृष्णा, आशा बढ़ जाये । जिसका अपने कुटुम्ब परिवारमें कषाय रहेगा, कुटुम्ब परिवारसे आशा रहेगी उसे क्लेश ही रहेगा । जो अपने बच्चोंकी खुशामदमें ही रहेगा, उसे क्लेश ही मिलेंगे । जो अपने मित्रोंसे, कुटुम्ब परिवारके लोगोंसे कुछ आशा न रखेगा उसे सुख मिलेगा । अब देख लो किसी बड़े आदमीके यहां नौकर तो खुश रहते है और मालिक या बड़ा आदमी जिसका फर्म चलता है उसे क्लेश रहते है, और दो रुपयेका मजदूर गाता हुआ आता है और गाता हुआ ही चला जाता है । मालिक रातभर जागता रहता है, अभी इसका हिसाब ठीक करना है, रजिस्टर भरना है, इसीमें वह व्याकुल रहता है । रात-दिन चिंता लगी रहती है कि कहीं नुक्सान न हो जाये ।

भैया ! मजदूर तो सुखी रहते हैं, क्योंकि उन्हें तो दो रुपयेसे ज्यादाकी आशा ही नहीं है । सेठको किसी दिन लाख बच जायें, किसी दिन हजार बच जायें । टोटा पड़े तो किसी दिन ५० हजारका टोटा पड़े तो किसी दिन ७० हजारका टोटा पड़े, इस तरहका उतार-चढ़ाव रहता है । सदा बेचैनी बनी रहती है । यदि आशा न रहे तो सुख है और यदि आशा है तो दुःख है । तब दुःख मिटानेमें क्या चाहिए ? आशा न रहे यही तो चाहिए । आशा न रहे इसका कोई उपाय है ? इसका उपाय है कि आशा जिसका स्वरूप नहीं है,

उसमें ऐसी दृष्टि हो कि यही तो मैं चैतन्यमात्र हूं, इसमें आशाकी कोई तरंग ही नहीं है। इसका काम तो केवल देखने जाननेका है, ज्ञाता द्रष्टा रहने का है। ऐसी आशारहित अपने स्वभावकी दृष्टि करें तो उसके आशा नहीं रहती है। जो अपनेको आशारहित बना ले वह सुखी हो जाता है।

इन्द्रोऽप्याशान्वितो दुःखी गताशोऽङसंगकः सुखी।
स्वास्थ्यमेव गताशत्वं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-४५॥

देखो इन्द्र भी हो और आशा करे तो वह दुःखी है। इन राजा महाराजा लोगोंको न खाने-पीनेकी कमी है, न कपड़ोंकी कमी है, न किसी प्रकारका दुःख है, फिर भी वे दुःखोंसे दुःखी रहते हैं। उन दुःखोंका कारण क्या है? उनके दुःखोंका कारण केवल आशा ही है। उनके आशा रहती है इसलिए वे दुःखी रहते हैं। एक कबीर साहबका दोहा है—

माया मरी न मन मरा, मर मर गए शरीर।
आशा तृष्णा ना मरी, कह गये दास कबीर॥

माया मर गई, जो कुछ वैभव पाया था वह नष्ट हो गया। मन मर गया, वृद्ध हो गये, सब कुछ बरबाद हो गया, पर आशा नहीं मरी। ज्यों-ज्यों कमजोर होते गए त्यों-त्यों आशाओंका प्रसार होता जाता है। आशाका मनसे ताल्लुक नहीं है, शरीर जीर्ण हो गया तो क्या हो गया, पर आशा तो जीर्ण नहीं होती है। सो आशाका ऐसा फल है कि इन्द्र भी हो और आशा रखे तो वह भी दुःखी हो जाता है, औरकी तो बात ही क्या है?

सुखी कौन है? जिसके आशा न रहे। चाहे उसके कौड़ी न हो, वस्त्र भी न हों, ऐसी भी स्थिति हो, मगर आशा न रहे तो वह सुखी है। इसको कहते हैं गताश्य, नैराश्य। आशाका न रहना यही जीवका उत्कृष्ट स्वास्थ्य है। स्वास्थ्यका अर्थ क्या कहते हैं कि भाई तुम्हारा स्वास्थ्य अब कैसा है? लोग समझते हैं कि तबियत, हालत, शरीरकी दशा अब कैसी है? लोक-व्यवहारमें स्वास्थ्यका यह अर्थ लगाया जाता है, पर इसका अर्थ यह नहीं है। स्वास्थ्यका अर्थ है कि स्वमें ठहर जाना। अपने आत्मामें, अपने उपयोगमें स्थिर हो लें। इसीको कहते हैं स्वास्थ्य कैसा है—ये वचन पूछे तो अर्थ यह कि तुम्हारी आत्मा अब सावधान है कि नहीं। किन्तु लोग बतलाते यह है कि हां स्वास्थ्य बिलकुल ठीक है याने कि तंदुरुस्ती ठीक है, शरीरकी हालत ठीक है—ऐसा उल्टा जवाब देते हैं।

कोई बहिरा आदमी बाजारसे भुट्टा खरीदकर लिए जा रहा था। रास्तेमें एक किसान खेत जोत रहा था। सो उसने उस बहिरे आदमीको आवाज दी कि भाई राम-राम। वह तो बहिरा आदमी था, कुछ न सुनता था, समझा कि मुझसे कुछ कहता है। उसने समझा कि

यह पूछ रहा है कि क्या लिए जा रहे हो ? उसने कहा कि मै भुट्टा लिए जा रहा हूं। फिर पूछा कि घरमें बाल-बच्चे तो सुखी है ? उसने यह समझा कि पूछ रहा है कि भुट्टोंका क्या करोगे ? उसने कहा कि सारोंको भूनकर खायेंगे। कैसा अटपटा उत्तर है ? इसी तरह कोई पूछता है कि आपका स्वास्थ्य कैसा है ? तो अटपटा उत्तर देते हैं। तो पूछते हैं कि अब आत्माकी क्या स्थिति है ? आत्मा सावधान है कि नही ? आत्मामें शांति है कि नहीं ? पूछते तो यह है और जवाब क्या देते हैं कि शरीर हट्टा-कट्टा है, निरोग है। इस प्रकारका अटपटा उत्तर देते हैं।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि अपनी आत्मामें स्थिर रहें, किसी भी परपदार्थकी आशा न करें। जब कोई आशा न रहे तो यह जीव अपने आपमें ही विश्राम लेगा, क्योंकि जीवका स्वभाव तो कुछ न कुछ चेतनेका रहता है। यदि यह बाह्यपदार्थोंमें न चेतेगा तो अपने आपको देखने जानने लगेगा। इसीमें सुख है। इसलिए अपने आपके आत्मस्वरूपको देखें और सुखी होवें।

आशा गतास्तदा सिद्धिर्नाभिलष्यं यतस्तदा।
स्ववृत्तिस्तत्पद तस्मात्स्यां स्वस्मै स्व सुखी स्वयम् ॥४-४६॥

हम सब आत्मा सभी सिद्धिमय हैं। जो सिद्ध हुए है और उत्कृष्ट सिद्ध हुए हैं, जैसी सिद्धि मुक्त आत्माओंने पाई है वैसी ही सिद्धिका हम सबमें माद्दा है। इसलिए हम सब स्वयं सिद्धिमय हैं। जैसे जीव सिद्धिके लिए तरसते है कि हमको अमुक चीजकी सिद्धि नहीं है, सिद्धि करना है, वे सब सिद्धि प्रसिद्धियाँ सब आत्मा ही की कलायें हैं, लेकिन इन सिद्धियों में बाधा है तो एक आशा की बाधा है। किसी परकी आशा लग गई तो सारी सिद्धियाँ रुक गईं। जैसे किसी सुरम्य चीजके देखनेमें बीचमें कोई पर्दा आ जाय तो सारी सुरम्य चीज का आवरण रुकने लगेगा। इसी प्रकार जितनी सिद्धियां हैं, जितने चमत्कार हैं, जितने सब वैभव हैं उनके ऊपर एक विषयाशाका आवरण लगा है कि ये सिद्धियां रुकी है। सिद्धियाँ तो आत्माका परिणमन है।

विद्यासिद्ध, ज्ञानसिद्ध, आत्माका प्रताप तेज—ये सब आत्माके परिणमन हैं। आत्मा का ही कोई परिणमन हो सकता है। परमार्थसे एक द्रव्यके परिणमनको दूसरे द्रव्यका परिणमन नहीं रोकता है। निश्चयसे उस दृष्टिके परिणमनको रोकने वाला उस ही द्रव्य का कोई परिणमन तेज प्राप्तिका होता है। जितनी सिद्धि हैं, ज्ञानकी सिद्धि अथवा आत्माकी सिद्धि हैं, सबको रोकने वाला आत्माका ही कोई परिणमन होना चाहिए। हम आशा करते हैं इस कारण प्रगति रुकी हुई है। हम सिद्धिके योग्य नही बन पाते हैं। और जिस समय

आशा नष्ट हो जाती है उसी समय सारी सिद्धि प्राप्त होती है।

हम भगवानके आगे दर्शन करने आते हैं, पर आशा लेकर आयें तो न तो वह सिद्धि मिलती है और न वर्तमानमें पुण्य पुण्य मिलता है। भगवानके दर्शन करके संसारी जीव आशा रखते हैं, न तो वह चीज मिलती है, क्योंकि वे अधर्मको साथ लेकर चल रहे हैं तो पुण्य कहाँ तक फल देगा ? दूसरे मोक्षमार्ग भी रुक गया। प्रभुदर्शनका वास्तविक लक्ष्य समाप्त हो गया। सो प्रभुके जब दर्शन करने जायें तो इच्छा कुछ नहीं चाहिये। यह भाव बने कि हे प्रभु ! मुझे कुछ नहीं चाहिये, ऐसा फकीर दिल होकर प्रभुके दरबारमें जाये तो कुछ सिद्धि हो सकती है। आशा खत्म हो तो सिद्धि है। यही मोक्षमार्गकी बात है, परमार्थकी बात है। परिवारकी बातोंसे गृहस्थीको मेल नहीं लगाना चाहिये। जब परमार्थकी ओर हम चलें तो अपनेको गृहस्थी भी नहीं समझना चाहिये। जैसे हम साधनामें लगें, प्रभुकी भक्तिमें लगें, लगें और लगे रहें तो उस समय हम अपनेको गृहस्थी न अनुभव करें कि मैं दो लड़कों वाला हूं, मैं ऐसी पोजीशन वाला हूं। इस बातका तो ख्याल नहीं रखना चाहिये, क्योंकि परमार्थके काममें लगनेकी इसने योजना बनायी है।

भैया ! जिसके यह आशा जब तक रहे तब तक वह पनप नहीं पाता है और बतावो भैया ! इस जगत्में इच्छा करने लायक वस्तु कौनसी है ? कौनसी चीज ऐसी है कि जो मेरे पास रहे और मुझे शान्ति दे सके। प्रत्येक वस्तु पृथक् है, उसका परिणाम उसके अनुसार है, उसका संयोग वियोग जितना जब जैसा होता है, उन पर मेरा अधिकार नहीं है। परपदार्थ कोई भी शान्तिके कारण नहीं होते हैं। मेरी शान्तिका हेतु तो मेरा ही दर्शन है, मेरा ही आलम्बन है। एक निज एकत्व पर दृष्टि हो तो शान्ति मिले। इस जगत्में इच्छा करने योग्य पदार्थ कोई नहीं है। मैं अपने आपमें ही लीन रहूँ, यदि ऐसी वृत्ति रहे तो यह वृत्ति ही मेरा उद्धार करने वाली है।

भैया ! जब इन चर्मचक्षुओंको बाहर पसारकर देखो तो एक लालसा आ जाती है। फलां मिनिस्टर कैसे बढ़ रहे हैं, कितनी उन्नति पर हैं ? जब देश धार्मिक रूपसे चलता है तो उस देशकी प्रसिद्धि अधिक हो जाती है। फिर यत्न कर, चलकर वहांके लोगोंमें धर्मके मामलोंमें शिथिलता बढ़ जाती है, फिर तृष्णायें बढ़ने लगती हैं। जगत्के लिए मैं कुछ बनकर रहूं ऐसी भावना वाले धर्मकी साधना नहीं कर सकते हैं। परपदमें शान्ति नहीं, वह निज पर क्या है ? अपना सहज चैतन्यभाव है। 'मैं रहूं आपमें अपने आप लीन' ऐसी वृत्ति हो तो उसीमें शान्ति है, उसीमें सुख है। सो अपने आपमें ऐसी भावना बनें और अपने स्वरूपमें झुककर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

यावन्मूर्च्छाऽस्ति कस्मिंश्चित्तावन्निःशल्यता न हि।
स्ववृत्ता नास्ति मूर्च्छाऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-४७॥

जब तक इस जीवके किसी भी पदार्थकी मूर्छा है तब तक इस जीवके निःशल्यता कभी नहीं हो सकती। वे मूर्छा कहते हैं दोषोंको। लोकमें मूर्छाका अर्थ है कि भ्रम बुद्धि करना, मतलब परमें अहम् बुद्धि करना, यही मूर्छा है। सो ठीक ही है जब तक हम किसी परपदार्थमें लीन हैं तब तक मूर्छा रहती है परन्तु जब अपने भीतरमें लीन है तब तब होश बना रहता है। जो परपदार्थोंसे ही बड़ी-बड़ी खुशियाँ मनाते हैं, भीतरमें उमंग बना बनाकर बाह्य पदार्थोंमें ही लीन होते हैं उनके होश कैसे आयेगा? उनके तो बेहोशी बनी रहती है। भीतरमें होश उसके नहीं है। ऐसी मूर्छाको बेहोशी कहो, ममता कहो एक ही बात है। ममताका ही नाम बेहोशी है।

भैया! जब तक मूर्छा है तब तक इस जीवको निःशल्यता नहीं हो सकती। मूर्छाको ही तो बेहोशी कहते हैं, इसमें तो कुछ शक नहीं है। यह मूर्छा जब तक रहती है तब तक निःशल्यता नहीं आती, यह समझ जगनेमें ही कल्याण है कि मैं सहज चैतन्यमात्र हूं। इस आत्मामें अपने आपकी सत्ताके कारण जैसा इसका स्वरूप है वही मैं हूं, इस प्रकार अपना स्वभाव उपयोगमें निकट लाकर इस आत्मामें मिलना चाहिए, ऐसी वृत्ति हो तो मूर्छा नहीं है, बेहोशी नहीं है। भोगोंको जानकर कुछ यत्न करना, विस्तार बनाना, फैलाव बनाना यही तो सब बेहोशी है। जितना ही अपने आत्माके स्वभावके निकट आवे उतनी ही सावधानी है।

यदि मूर्छाकी स्थिति बनेगी तो वह अपने आपको सतायेगा और यदि सद्गुण करके, भगवानकी भक्ति करके अपना उपयोग ज्ञानानुभवका बनायेगा तो बेहोशी नहीं है। हे प्रभु! मूर्छारहित परिणामका आदर करूँ। इन मूर्छाके परिणाममें क्या रखा है? अपने अपने घरमें देख लो कि कोई १० वर्षमें मरा, कोई २० वर्षमे मरा, कोई ५० वर्षमें मरा तो कोई कभी मर गया। पर जबसे यह जीव पैदा हुआ तबसे मूर्छाका ही तो काम किया। जब बच्चा दो वर्षका हो जाता है तभीसे उसमें मूर्छा आ जाती है। भला उसके घरसे उसके रहते रहते कोई सामान तो ले जावे। बचपनसे ही उस बच्चेमें मूर्छाका प्रारंभ हो जाता है। सबने अब तक मूर्छा तकका ही काम किया, उससे कुछ हाथ लगा हो तो बतलावो सब रीतेके रीते बैठे हैं।

आप अपनेको अनुभव करके देख लो—अकेले ही हो, केवल हो, जैसे हो सके वैसे ही हो, कुछ साथ नहीं है। जो अपने आत्मस्वरूपको अपने दिलमें बसाये रहता है उसका कोई

दुश्मन नहीं है। यदि कोई दुश्मन है तो मोह ही है। यह मोह पतनके लिए, दुर्गतिके लिए आता है। खूब देख लो, ज्यादा राग हुआ तो पतन है। जो हमारा जैसा इष्ट है उसको देख-कर हम फूलें नहीं। अपना रक्षक तो अपनी दृष्टि है, आत्मदया ही अपनेकी रक्षा कर सकती है। सो इन क्लेशोंसे हटो, मूर्छाको अपनेसे हटाओ और अपने स्वरूपको देखकर अपने आपमें सुखी होवो।

देहिनां देहभोगानां दुःखं संयोगतस्ततः।
संयोगं कस्य वांछानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४-४८॥

शरीर और भोग दोनोंका जो संयोग है यही माया है, यही दुःखका कारण है या तो देहका संयोग जीव चाहता है या भोगोंका संयोग जीव चाहता है। दो ही तो चीजें हैं। चाहने के लिए इन मोहियोंको देह और भोग है। देहमें तो आया खुदका शरीर जिसमें कि यह मोही रहता है। भोगोंमें आये पंचेन्द्रियके विषय और छठवां मनका विषयभूत अनेक अटपट ख्याल ये ही तो सब भोगते आये हैं। देहमें आया शरीर और बाकीमें आयीं और सारी चीजें। इनका जो संयोग है उन्हींसे तो इन देहियोंका ऐसा देखना जानना बन गया है। जहां तक देखते हैं, सभी इस शरीरमें ही उमंग रखे रहते हैं। अपनेमें सद्बुद्धि आये, उनसे चित्त हटे तो ज्ञानप्रकाशका अनुभव हो। उसमे होने वाली जो सहज निराकुलता है उस निराकु-लताका स्वाद आये तो उसका उसे स्पष्ट पता होगा, पश्चात् कि समस्त संयोग दुःख रूप है।

इन दुःखोंका कारण है जो चीज जैसी है उसको वैसी न मानना वैसी न जानना है। बस इसीसे तो दुःख है। मोटे-मोटे दृष्टान्त ले लो। घरमें अगर कोई महीनोंसे बीमार हो, बड़ी कठिन बीमारी हो, जैसे कह लो कि दूसरे स्टेजकी टी० बी० हो गयी हो, बहुत दिनोंसे बीमार हो, उसके बचनेकी कोई आशा न हो, ऐसा बहुत दिन पहिलेसे ज्ञान हो गया, महीनों पहिलेसे ज्ञान हो गया, उसकी सेवा भी करते रहें और अगर वह मर भी गया तो घर वालों के दिलमें इतना धक्का नहीं पहुंचता है, क्योंकि उसके मर जानेका ज्ञान पहिलेसे था। और अगर कोई हट्टा-कट्टा हो, घरका प्यारा हो, वह अचानक गुजर जाये तो बताओ उसके घरके लोगोंको कितना दुःख होगा? इसका बहुत ही बड़ा दुःख होगा, क्योंकि पहिलेसे कुछ मालूम न था।

इसी तरह अनित्य तो चीज है और उसे नित्य मान बैठे तो जो कुछ समागम मिले हैं वे सब विनाशीक तो हैं ही, वे नष्ट होने वाले हैं, उनके नष्ट होने पर दुःख होगा ही। देखो भैया, अपने घरके मिले हुए समागमके विषयमें कोई यह ख्याल नहीं करता कि मिट जाने

वाली चीजें हैं। दूसरोंकी चीजें मिटने वाली हैं यह झट समझमें आता है। ये चीजें जब मिटती हैं तो उनमें आसक्ति करनेका फल क्या होता है कि तीव्र क्लेश उठाने पड़ते हैं। जैसी बात है वैसा न मानना, यही दुःखका कारण है। अभी कोई विपत्ति आ जाये, प्राणों पर संकट आ जायें तो दुःख होगा। क्यों दुःख होता है कि मनमें आ गया कि हाय हम मर जावेंगे, बरबाद हो जावेंगे।

मैं क्या हूं ? मैं एक सत् हूं, चैतन्य हूं, अविनाशी हूं, मरने वाला नहीं हूं, सदा रहने वाला हूं, ऐसी दृष्टि आये और यह सोचें कि यह समागम झूठा है, मायारूप है और फिर समागममें सर्वत्र मौजूद हैं। जहाँ यह जीव जायेगा तहाँ समागम तैयार हैं। कैसा भी हो, समागमका जो आदर है वह व्यामोह मात्र है। यह छूटता है तो इसका खेद ही न होना चाहिए। ये समागम मेरे नहीं हैं, ये तो मेरेसे अत्यन्त दूर हैं। शुद्ध दृष्टि करके देखो तो ये बाहरी पदार्थ हम आपसे अत्यन्त दूर हैं। इस आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाहमें रहने वाला यह शरीर भी तो इस आत्मासे अत्यन्त दूर है। जितना दूर हजारों कोसमें रहने वाला पदार्थ है उतना ही यह मेरे एकक्षेत्रावगाहमे रहने वाला शरीर भी इस निजक्षेत्रसे अत्यन्त दूर है।

स्वरूपदृष्टि करके देखो — किसीके स्वरूपमें अन्य कोई मिला हुआ नहीं है। जितने दुःख इस जीवको है वे इस जीवके देह और भोगोंका सयोग विकल्प पाकर हो जाते हैं। जितने भी सयोग है उन संयोगोंसे दुःख ही होते है। तो बाह्यपदार्थोंका संयोग जब होता है तभी दुःख होते है। यदि संयोग न हो तो दुःख ही क्यों हो ? अर्थात् यदि संयोग न हो तो वियोगकी अवस्था ही क्यों हो ? जितने भी लोग हैं वे पति पत्नी हैं या अन्य कोई हैं, वे क्या हजार वर्ष तक रहेंगे ? अभी ही बतावो जितने बैठे हैं इनमें क्या कोई १०० वर्ष तक रहेंगे ? मरने पर चाहे पतिका वियोग हो, चाहे पत्नीका वियोग हो, होगा तो अवश्य तब कष्ट ही तो होगा। वियोगका कारण तो सयोग ही है। यह सयोग ही सब जीवोंके दुःखका कारण है। सो इस संयोगमे रुचि न करें तभी सुख प्राप्त हो सकता है।

भैया, जितने भी परपदार्थ हैं उनसे कुछ नहीं मिलता है। हम स्वयं अन्य पदार्थोंके बारेमें ख्याल बनाकर दुःखी हो रहे हैं। उन बाह्यपदार्थोंसे हमें दुःख आता हो तो बतलावो ? ये तो हैं और परिणमते रहते हैं। इतनी ही तो बात है। इन सब पदार्थोंकी सत्ता अलग है, वे सब हैं, और अपनेमें ही परिणमते रहते हैं। अगर परपदार्थोंका निमित्त पाकर हमें दुःख आते हैं तो परपदार्थोंका इसमें कोई कसूर नहीं है। जितने भी कष्ट होते हैं वे दूसरोंके द्वारा नहीं होते हैं। अपनेमें ही उनका ख्याल करके वे दुःख बना लिये जाते हैं।

जब दूसरे पदार्थोंसे दुःख नहीं होते हैं तब ख्याल बनाना व्यर्थ है कि परवस्तुवोंसे

हमें दुःख आते हैं । अज्ञानमें दुःख होना प्राकृतिक बात है । प्रभु जिनेन्द्रके शासनमें यह स्पष्ट घोषित है कि इस जगत्में सुख और दुःखका प्राप्त होना यह सब ज्ञानके ऊपर निर्भर है । यदि अपनेमें सम्यग्ज्ञान है तो सारे क्लेश छूट जावेंगे । वस्तुओंका संयोग करके तो दुःख न मिटेंगे ।

भैया, यह दुर्लभ नरजीवन पाया है, इसमें भी उच्च बुद्धि प्राप्त हुई है, उत्तम विचार प्राप्त हुए है, श्रेष्ठ धर्म प्राप्त हुआ है । यदि सम्यग्ज्ञान न किया तो सब व्यर्थ ही चले जायेंगे, और यों ही अगर मर गये तो समझो सारी लुटिया डूब जायेगी । ऐसी वाञ्छा बने कि हमें परपदार्थोंका उपयोग नहीं करना है । किसी भी पदार्थकी वाञ्छा न करके अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होना है ।

यदाप्नोति सुखं स्वस्थो न तल्लेशं प्रतिष्ठितः ।
स्वास्थ्ये शं न हि रागेऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-१॥

अपने आपकी आत्मामें स्थित होने वाला जीव जिस सुखको प्राप्त करता है उस सुख के लवलेशको भी बड़े-बड़े दुनियाके प्रतिष्ठित पुरुष भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं । पंचेन्द्रियों का विषय है—रूप, रस, गंध, स्पर्श व शब्द, और इनके अतिरिक्त और जितनी भी झंझटें है वे सब मनके विषय हैं । कितना भी वैभव आये तो भी लालायित रहना, दुनियामें अपनी इज्जत चाहना, इज्जत बढ़ानेका यत्न करना—ये सब मनके विषय हैं । जो असंज्ञी जीव हैं उनमें मनके विषयोंकी झंझटें नही है । उनका पर्याय निम्न है और वे चार संज्ञाओंसे पीड़ित हैं, अज्ञानी है, हित करनेमें असमर्थ हैं, पर उनमें इज्जत बेइज्जतके परिणमन आते हों ऐसी बात नही है ।

संज्ञी जीव मानते रहते हैं सन्मान अपमानके सुख-दुःख, सो मानने वाले जीवोंका यश बेकार है । प्रतिष्ठा पायी, सन्मान किया, ये तो लोभके साधन हैं । दुनिया सुखके लिए तरसा करती है । सो सुखमय तो सहज ज्ञानस्वरूप यह अपने आप है, अपने सत्के कारण है । एक उस स्वरूपका ही अपना उपयोग बना रहे उसे तो कहते हैं आत्मामें स्थिति है । और आत्मामे न ठहरें बाहरके पदार्थोंमें ही दृष्टि रहे, बाहरी पदार्थोंमें ही मोह ममता रहे, ये सब कहलाते हैं प्रतिष्ठादिके सुख । इन दोनों सुखोंमें कितना अन्तर है ? स्वस्थितिमें किसी परवस्तुको आश्रय न करके स्वयं होने वाले सुखका परिणमन है, और प्रतिष्ठामें अनेक प्रकार के लोगोंका आश्रय करके विचित्र ख्याल बनाना ही दुःखका परिणमन है । केवल कल्पनामात्र सुख है ।

काल्पनिक सुखके पीछे दौड़नेसे प्रतिष्ठामें सुख प्राप्त नहीं कर सकते, प्रगति नहीं कर

सकते। मनका काम विवेक करना था, कोई ऊँचा लाभ उठानेका था, उपयोगको ज्ञानदेवके दरबार तक पहुंचा देनेका काम था। और यदि इज्जत प्रतिष्ठामे मुग्ध हो गया तो एकदम पतन हो गया। जैसे एक ज्ञान चौपरका पर्चा होता है, जिसमें कहीं-कहीं पर साँप बने होते हैं, उन साँपोंके मुंहके पास गोट पहुंच जाये तो नीचे पतन हो जाता है। यदि एक गोट सीढ़ी के पासमें है तो वह गोट ऊपरको चढा दी जाती है। जब नम्बर बदला और ऊँचेके खंडमें बड़े साँपके मुंहमें गोट आ गयी और मुंहमें वहाँसे वह गोट गिरी तो बिलकुल नीचे आ जाती है। इसी तरह इस मनुष्य पर्यायको पाकर यदि गिरे तो बिल्कुल ही नीचे गिर जायेंगे।

सबसे बड़ा नाता है यही प्रतिष्ठाकी इच्छिका। जो सबसे ऊपरके खानेमें नाग बना है वह बडा भारी है। जितना विशेष लोकोत्सर्ग हो गया उतना ही अधिक प्रतिष्ठाभाव हो सकता है याने वह बडा नाग बन जाता है। सो इस बहुत बड़े मनुष्यपर्यायमें आये तो यहांसे गिरेंगे तो बहुत विकट गिरेंगे। जो बड़े ऊँचेसे गिरता है उसको अधिक चोट आती है।

भैया, प्रभुके दर्शन मिले ऐसा भी मनका उपयोग किया जा सकता है, उसका उपयोग धर्मध्यानमें भी किया जा सकता है, उसका उपयोग चिन्तावोंमें भी किया जा सकता है, अपने-अपने अन्तस्तलके ध्यानमें भी लगाया जा सकता है और यहाँ न लगाकर इन विषयो की ओर लगाया तो विषयोंमें ज्यादा तेज जा सकता है। पशुवोंका क्या है कि उनको किसी प्रकारके इन्द्रियविषयोंको करना है तो वे एकदम गंवारपनमे करेंगे। परन्तु मनुष्योंको अनेक कलायें याद है। कविता बनाना, अच्छे ढंगसे बोलना इत्यादि कलावोंसे विषयोंकी वासनाका कोई गुण बढ़ाकर मग्न हो सकता है।

मनुष्यके हित करनेके जो साधन है उनमे उनकी इज्जत और प्रतिष्ठाके साधन भी हैं। अब यह बताओ कि ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमें यहाँसे मरकर किसी दूसरी जगह पैदा हो गये तो यहाँका कुछ सम्बन्ध रहेगा क्या ? नही।

कोई किसीकी प्रशंसा करता है तो वह यहांके मायामय स्वरूपोंको देखकर स्वयं मायामय हो उनकी ही प्रशसा यह कर दिया करता है। उससे कुछ भी तो लाभ नहीं है, पर हठ इतना है कि जैसे कहावतमे कहा करते है कि पंचोका हुकुम सिर माथे है, परन्तु पतनाला यहीसे निकलेगा। पूज्यपाद स्वामी जी की बात सिर माथे, मगर अज्ञानका पतनाला यहीसे निकलेगा। जो कुछ करोगे उसका फल तुम्हे ही भोगना पड़ेगा। "चार दिनकी चांदनी फिर अंधेरी रात।" बाह्यदृष्टिमें सर्वत्र देखा, भैया ! दुःख हैं, झंझट हैं। जिधर देखो उधर ही स्पष्ट रूपसे झंझट ही दिखाई पड़ते है, पर वे सब झंझट, वे सब परेशानियाँ इस जीवको अच्छी लग रही है। जैसे स्वप्नमें देखी हुई चीज सत्य लगती हैं वैसे ही ये सब बाह्य चीजें

रुत्य लग रही हैं। जैसे स्वप्नमें देखते हैं कि शेर सामने आ रहा है, सांप काटनेके लिए दौड़ रहा है या राज्यपद मिल रहा है, ये सब सत्य लगते हैं। उसी प्रकार इन बाह्य चीजोंसे जो आनन्द मिलता है वह भी सत्य लग रहा है। यह मां है, यह भाई है, यह सब सत्य लग रहा है। अरे! ये सारे झंझट हैं।

जैसे स्वप्नमें देखी हुई चीज झूठ कब मालूम हो सकती है जब कि नींद खुल जाये। इस मोहकी नींदसे पूरा नहीं पड़ेगा। प्रतिक्रमणमें यह कहा करते हैं—'मिच्छामें दुक्कडं होज्ज।" अब इसका कितना अर्थ है? अगर लोग सुनेंगे तो कहेंगे कि चार सौ बीस कर रहे हैं। लोग पुस्तक निकाल लेते हैं और पढ़ते हैं कि 'मिच्छामें दुक्कडं होज्जं।" याने सारे पापोंको कहा जाता है कि मेरे पाप मिथ्या हों। अरे! मेरे पाप मिथ्या हो जायें यह न कहो। ज्यादासे ज्यादा यह कह लो कि ये पाप आगे न हों। यदि यह कहलाओ तो भी गनीमत है। वे तो सीधा यों ही कह लेते है कि मेरे पाप मिथ्या हों। ऐसा कह देते हैं कि जिसके आगे कहनेकी गुंजाइश ही न हो। क्या ऐसा ही कहना ठीक है? परमार्थसे देखो तो इसमें ज्ञानकी बातें भरी हैं।

ये प्रतिक्रमण करने वाले ज्ञानी संत जब सहजस्वभावकी दृष्टिका स्वाद लेते हैं तो आत्माका जो ध्रुव स्वरूप है उस स्वरूपमय अपनी प्रतीतिकी अनुभूति करते हैं तब पश्चात् यह सब जितना परिणमन है संसारमें वह सब उसे नाटक मालूम होता है। इस नाटकमें पुण्य और पापके सब भाव आ गये। यह नाटक ही उपाधिका निमित्त पाकर हो गया है, इस मुझमें स्वरसत: नहीं होता है। ऐसी स्थितिमें यह सब परिणमन मिथ्या है कि नहीं? स्वभावदृष्टिकी यह बात है, सहजस्वरूपकी निजकी बात है। उस दृष्टिमें यह सब संयोगज भाव मिथ्या हुआ अर्थात् इसका ऐसा स्वरूप दृढ़ रहा कि जिसके आगे अन्य सब बातें मिथ्या हैं, नाटक हैं। दूसरी बात यह है कि मिथ्याका अर्थ है संयोगभाव। मिथ्यामें मिथ्या धातु है कि जिससे मिथुन और मैथुन शब्द बना, उससे ही मिथ्या बना। मिथ्यात्वका अर्थ अब घटा लो। उपाधिके संसर्गका निमित्त पाकर होना यह मिथ्यात्वकी बात है। वह अर्थात् विभाव उसके स्वरूपमें हो, स्वभावमें हो, उसके ही खुद एकत्वसे निरपेक्षतया हो ऐसी बात नहीं है। मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वरूप हूं। ये सब विभाव पराधीन ही हैं, अध्रुव हैं सो मिथ्या हैं।

भैया! सब दृष्टिका प्रताप है। यदि दृष्टि मिथ्यात्वकी है तो इससे सदा दुःख ही बने रहेंगे। यदि स्वास्थ्य रहेगा, स्वयंमें स्थिति होगी तो आनन्द रहेगा। साधन तो सभी अपने आपके हैं, अपने स्वरूपसे बाहर अपना कोई साधक नहीं है। अपना उपयोग अपने

सहजस्वरूपको ही अंगीकार कर रहा है, ऐसी स्थिति हो तो उसमें जो आनन्दको प्राप्त करता है उस आनन्दको बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पुरुष भी रंचमात्र भी नहीं पा सकते हैं।

आजके जमानेमें पंडित नेहरूको सब जानते हैं। जिसका देशमें विदेशमें नाम चलता है ऐसे प्रतिष्ठित पुरुषको भी वह आनन्द नहीं प्राप्त होता, जो स्वस्थितिका आनन्द है। अपने आपकी साधनामें रहनेसे ही सत्य आनन्द है। रागमें सुख नहीं है। रागोंको तो वेदना ही बताया है। रागोसे तो जिधर जावो ठोकर ही मिलती है। जो तुम्हारा भला चाहते हों उनके पास पहुंचो तो ठोकर मिलती है।

वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि कोई भी वस्तु किसी पर कृपा नहीं कर सकती है। कोई कहे कि भाई हमें बड़ा दुःख है, हमारा आधा दुःख बंटा लो तो उसके दुःखको बंटा ले ऐसा कोई नहीं हो सकता है। चाहे यह हो जाय कि मोह होनेके कारण वह भी दुःखी हो जाय, नया-नया दुःख वह भी मोल ले ले, पर वह उसके दुःखको नहीं बंटा सकता है। इस लिए प्रभु जिनेन्द्र देवका उपदेश है कि यदि विपत्तियोंके पीछे ही दौडते रहे, मोह ममतामें ही रहे तो बडा भारी खतरा है। यदि इस खतरेसे बचना चाहते हो तो राग, द्वेष, मोह आदिको छोड़ो, अपने आपके निजस्वरूपको देखो, अपने भीतरकी यात्रा करो तो शिवमय बन जावोगे, यह प्रभुका उपदेश है और यही आचार्योंने ग्रन्थोमे कहा है कि सबोको छोड़कर अपनी ओर आवो, इसमें ही तुम्हें शान्ति प्राप्त हो सकती है।

चिन्तेच्छया ततः क्लेशो गताशः सौख्यसागरः।
गताशयं मंगलं स्वास्थ्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-२॥

जीव पर कितने संकट हैं? भिन्न-भिन्न प्रकारके संकटोंको सोचते जावो। संकट विकट जो होते हैं आखिर उनका मूल मामला क्या है? इसकी खोज जब करने चलो तो मिलता क्या है? केवल इच्छा। इच्छाके कारण ही इतने बड़े संकटोंका बोझ लद गया। यह क्या मामूली बात है कि यह जीव शरीरके बंधनमें फंसा है। यहाँसे हट नही सकता है। शरीर जाये तो आत्मा साथमें घिसटता रहता है। आत्मा जाये तो शरीर भी साथ-साथ घिसटता जाता है। आत्मा छूट जाये तो मरने के बाद यह स्थूल शरीर तो नही जाता किन्तु सूक्ष्म शरीर अर्थात् कार्माण शरीर और तैजस चिपटा चला जाता है।

भोगोंके चाहने वालोंको दुःख आते ही हैं। दुःख भी कहीं बाहरसे नहीं आते हैं, मात्र ख्याल बना लेनेसे आते हैं। देखो एक तो वे मनुष्य है कि जो भूख प्यासके मारे परेशान रहा करते हैं और दुःखी हुआ करते हैं और दूसरे वे जो हट्टे कट्टे हैं, जहाँ गये वहाँ अच्छे-अच्छे आरामसे रहते हैं। अच्छा-अच्छा भोजन भी आनन्दसे करते हैं। चारपाई पर

पड़े हैं, फिर भी ख्याल बना बना कर दुःखी हुआ करते हैं। दिखाऊ स्थितिमें तो मौजमें हैं, किसी भी प्रकारकी तकलीफ नहीं है, फिर भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी कल्पनाएं करके ख्याल बना करके दुःख बना लिया करते हैं।

भैया, ख्याल बना करके तो लोग दुःखी हो जाते हैं। नहीं तो खाने-पीनेकी सामग्री है, पहिननेके लिए कपड़े हैं, फिर दुःख काहेका? और चाहिए ही क्या? दुःख तो सबके झूठे हैं, पर भीतरमें वेदना तो साँची है। शरीरके इन झूठे संकटोंको भी भीतरसे वेदना रूप में देखो तो सच्चे लगते हैं। ये जो अटपट संकट इस जीवपर घिर गये हैं उन सबका मूल कारण क्या मिलता है? केवल इच्छावोंका असर। एक भावात्मक चीज न करते तो क्या था? और कर डाला तो इतनी विपत्ति है।

जैसे कोई किसी जगह किसीके लट्ठ मारे, झगड़ा हो जाये, विवाद बढ़ जाये तो वहाँ पर कोई आकर पूछता है कि आखिर क्या मामला है? क्यों झगड़ा हुआ? तो उत्तर क्या मिलता है कि हुआ क्या, छोटीसी बात हो गई है। अन्तमें देखते हैं तो क्या मिलता है कि ये बैठे थे और वहाँसे निकले तो इन्होंने उसको राम-राम नहीं कहा या कहा कि यह बड़ा घमंडी है। इसीसे विवाद बढ़ा और यह नौबत आ गई। तो देखो मूलमें बात कितनी छोटी है? जरासी बातमें मार हो गयी। कोई-कोई जगह तो ऐसा झगड़ा हो जाता है कि जिसमें कुछ भी कारण नहीं रहता। इसी तरह इतना जगजालका रूपक बन गया है, इसमें नाना प्रकारकी मलिनताएँ बन गई हैं। एक दूसरे पर भ्रम, मोह, राग द्वेष हो गया है, नाना संकट आ गये हैं। इसके मूलमें क्या निकला? केवल इच्छावोंका असर।

भैया, एक कथानक है कि एक सेठजी थे। उसके एक धोबी कपड़े धोया करता था। एक दिन धोबी सेठके घर कपड़ा देने गया। उस दिन धोबी रो रहा था कारण कि उस दिन धोबीकी गधीका एक बच्चा मर गया था। जिस गधेका नाम धोबीकी बच्चीने गंधर्वसेन रखा था। सेठने धोबीसे पूछा—क्यों रो रहे हो? धोबीने कहा कि अरे तुम्हें मालूम नहीं, आज गंधर्वसेन जी मर गये हैं। सेठने कहा—अरे गंधर्वसेनजी मर गये? धोबी बोला—हाँ गंधर्वसेन मर गये। सेठने यह सुनकर अपनी मूंछ बनवा ली। एक सिपाही सेठको मिला तो सिपाहीने सेठसे पूछा कि सेठजी, आज मूंछ क्यों बनवा दी? तो सेठने कहा—अरे अभी तुम्हें मालूम नहीं, सारी रैयत, सारी प्रजा अपनी-अपनी मूंछ बनवावेगी, क्योंकि गंधर्वसेनजी की मृत्यु हो गयी है। अब सिपाहीने भी मूंछ बनवा ली। सिपाहीको कुछ ऑफीसर मिले, थानेदार, तहसीलदार आदि तो उन्हें भी सिपाही द्वारा ज्ञात हुआ कि गंधर्वसेन जी की मृत्यु हो गयी है। तो उन सबने भी अपनी-अपनी मूंछ बनवा ली। अब सब दरबारमें आकर बैठे

हुए थे, थानेदार, तहसीलदार इत्यादि सबमें बात चली कि वे कौन थे गंधर्वसेन जी, जिनकी मृत्यु हो गयी। तो थानेदारने कहा — मुझे सिपाहीने बताया। सिपाहीसे पूछा गया तो उसने कहा कि सेठ साहबने बताया। सेठ साहबने बताया कि हमें धोबीने बताया। धोबीसे पूछा गया तो धोबीने बताया कि हमारे घरकी गधीका एक बच्चा मर गया था, उसका नाम हमारी बच्चीने गंधर्वसेन रखा था। उसीके मर जानेसे मुझे दुःख रहा और मैं रोता हुआ जब सेठके यहाँ गया तो सेठके पूछने पर मैंने बता दिया था कि आज गंधर्वसेनकी मृत्यु हो गयी है।

देखो इस छोटीसी बातसे ही कितनी हलचल मच गयी। इसी तरह यह सारा विकट संकटजाल कितना इस जीवने बना लिया है? बिना किसी कामके, बिना किसी प्रयोजनके इस जीवने संकट बना लिया है। इन भाव कर्मोंसे ही वे बाह्यपदार्थोंमे बंध गये है, अन्यथा उनका क्लेश पानेका और क्या कारण है? बतलावो। भावकर्म ही क्लेशोंके कारण हैं और स्वयं क्लेश रूप हैं। द्रव्य कर्मोंका उदय उन क्लेशोंका कारण है। द्रव्य कर्मोंके उदयका कारण क्या है? बतलावो। इन जीवोंका विभाव परिणमन ही उन द्रव्यकर्मोंके बंधनेका कारण था सो उसका विपाक आया, यही उदय होनेका कारण है। यह तो बडा अंधेर छा गया है। इच्छाएँ जो जीवोंको सुहा गयी हैं, जिनमें कोई सार नही है, अपने संकटोंके मूल कारण हैं। मोह लगा है, अज्ञान छाया है, वस्तुस्वरूपकी दृष्टि नही है, तो इतनी बातका बतंगड़ क्या बन गया? यह सारा जगजाल।

इन संकटोंके दूर होनेका उपाय है वस्तुस्वरूपका ज्ञान। ये संकट वस्तुस्वरूपके ज्ञानसे ही दूर हो सकते हैं। इच्छाएँ हो जानेसे चिंताएं हो जाती हैं, क्लेश हो जाते है। इन क्लेशों को दूर करनेके लिए मैं अपने ज्ञानस्वरूपको देखूं और अपनेमे अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

आकिञ्चन्यभवं स्वास्थ्यं, स्वास्थ्यं सुखस्वरूपकम्।
न किंचिन्मे न किंचिन्मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–३॥

स्वास्थ्य कैसे उत्पन्न होता है? ऐसे प्रश्नमे कहा है कि स्वस्थ होनेका उपाय आकिंचन्य भावना है। ये जीव बाह्यपदार्थोंको अपना कुछ मानकर उनकी ओरका विकल्प कर रहे हैं अर्थात् परकी ओर झुक रहे हैं। जब परकी ओर झुके हैं तो अपनी ओर कैसे आ सकेंगे? जब परका झुकाव मिटे तो अपने आपमे स्थिति हो। परमें झुकाव तब ही मिटेगा जब यह भावना हो कि जगत्में मेरा कहीं कुछ नही है। बात ऐसी ही है, अन्यथा ऐसी भावना करनेके लिए कहा ही कैसे जाये? बात और तरहकी हो और भावना और तरहकी बनानेको कहा जाये तो यह विपरीत मार्ग है।

मेरा जगत्में कहीं कुछ नहहीं है, क्योंकि समस्त परपदार्थ अपने स्वरूपके दुर्ग किलेमें है। जैसा कि मैं अपने स्वरूपके दुर्ग किलेमें हूं। किसी भी पदार्थसे कुछ भी बात उस पदार्थ से बाहर नहीं निकल सकती। इसलिए सभी पदार्थ सुरक्षित हैं। किसीको गालियां दें और उनको सुनकर कोई गुस्सेमें आ गया तो गाली देने वाले पुरुषसे गुस्सा उसमें नहीं आया। गाली देने वाला तो अपने आपके कषायसे अपनी पर्याय कर चुका है। इतने तक ही उसका काम था। बहुत दूर खड़ा हुआ दूसरा पुरुष जो निशंक था, निर्दोष था उन गालियोंको सुनकर अपने भीतर ख्याल बनाता है व दुःखी होता है और गुस्सेमे आ जाता है। परपदार्थके काम उस ही अपनेमें समाप्त होते हैं, इस कारण किसी पदार्थसे किसी दूसरे पदार्थका कुछ नही होता है।

भैया, हम जो यह भ्रम लिए हुए हैं कि हम बच्चोंको पालते हैं, उनकी रक्षा करते हैं सो देखो कितनी विचित्र बात है? पुण्यका उदय उन बच्चोंका अधिक है कि आपके पुण्य का उदय अधिक है बतलावो? अरे उन बच्चोंका ही पुण्य अधिक है जिनके पीछे हम आप रात-दिन परेशान रहते हैं। जिन बच्चोंको बड़े प्रेमसे खिलाते, बोम्बेसे बग्गी मंगाते, खिलोना मंगाते, नौकर लगाते, बढ़िया बढ़िया कपड़े पहिनाते, उनकी चाकरी करते तो अब यह बतलाओ कि पुण्योदय अधिक आपका है कि उन बच्चोंका? इन बच्चोंकी ममतामें पड़े रहनेसे चिंताएँ बनी रहती हैं।

जगत्में कहीं भी अपना कुछ माना तो वहां विपदायें हैं। बतलाओ जरा अपनेमें इतने संकट कहांसे पैदा हो गये? अपनी ही गल्तीसे तो ये सारे संकट खड़े हो गये। भीतरमें यह बुद्धि आये कि यह मेरा है, यह उसका है तो केवल भाव ही तो किया, पदार्थको नहीं बिगाड़ा और कुछ ऐब नहीं किया, बाहरमें किसीका नाश नही किया, भीतरमें यह सोच लिया कि मेरा कुछ है, इतनेमें इतना बड़ा संकट हो गया कि ये सारे बन्धन हो गये, फंसाव हो गये। मिलेगा क्या? केवल पाप। यह मेरा है, यह उसका है खूब मानो, पर मेरा तो वह बननेका नहीं, क्योंकि वे भिन्न पदार्थ हैं। उन भावोंसे मिलेगा क्या? केवल पाप, केवल कर्मबन्ध, केवल दिलमें दुःखी होना। मिलना कुछ नहीं। इसलिए जो कुछ चाहते हो उसमें मिलेगा क्या? केवल खाक और कुछ नहीं हाथ आता।

एक सेठजी थे। उन्होंने नाईसे हजामत बनवायी। सेठजी वहमी थे। हजामत बनवाते जाते और सोचते जाते कि मेरी जान तो इसके हाथमें है। कहीं छुरा मार दे तो बड़ी आफत आ जायगी। सो सेठजी कहते हैं कि देखो अच्छी तरहसे हजामत बनाना। हम तुमको कुछ देंगे। उसने कहा—अच्छा हुजूर। जब हजामत बन गई तो सेठने अठन्नी निकालकर

दी । उस नाईने कहा कि हमें अठन्नी नहीं चाहिए, हमें तो कुछ चाहिए । मोहर दी । कहा— हमें यह भी नहीं चाहिए । हमें तो कुछ चाहिए । अब तो सेठजी परेशान हो गये । कुछ क्या चीज कहलाती है ? कुछ कोई चीज हो तो इसे दूं । नाईने कहा कि आपने तो हमें कुछ देने का वायदा किया । सेठ हैरान होकर नाईसे कहता है कि भैया ! देखो, आलेमें गिलास रखा है उसे ले आओ, दूध पी लें । मैं तो परेशान हो गया । गिलास आलेमें उठाने गया, ज्यों ही गिलास उठाता है उसकी दृष्टि उस दूधमें ही जाती है । देखा कि इसमें क्या है ? दूधके अन्दर कुछ काला काला उसे नजर आया । बोला कि इस गिलासमे तो कुछ पड़ा हुआ है । सेठजी जरा कुछ आशुवृत्तिके थे । बोले कि क्या इसमें कुछ पड़ा हुआ है ? तो नाई बोला कि हाँ । सेठने कहा कि तो उसे तू उठा ले, क्योंकि तूने कुछ लेनेका वायदा किया था । तो उसे जिद्द करनेसे क्या मिला ? कोयला ।

जो हठ करता है उसे क्या मिलता है ? कोयला अर्थात् पाप कलंक का कोयला । परपदार्थको जो चाहता है उसे मिलेगा कुछ नही । पदार्थोंको अपना मानते जाओ । २०, २५, ३०, ३५, ४० वर्ष उनसे संयोग ही कर लो, यह स्त्री है, यह पुत्र है, यह मेरा घर-द्वार है ऐसा मानते जावो । मानते जाओ, यह तो एक एकांकी नाटकसा हो रहा है । एक ही तरफसे हो रहा है । दूसरी तरफसे उत्तर कुछ नहीं मिलता । उन बाह्यपदार्थोंमे उजाला कुछ नही है । दूसरे पदार्थोंमें कुछ कर देनेसे उन पदार्थोंसे इज्जत कुछ नही है वे सब मेरे लिए मौन हैं । मैं हाथ-पैर जिस तरह हिलाता हूं, वचन हिलाता हूं, वह सब अपनी ही तरफ से हिलाता हूं ।

जैसे पहिले बिना बोलता सिनेमा था तो पर्दे पर जो आदमी बना होता था । वह अपने ओंठ केवल हिलाता रहता था, हाथ-पैर हिलाता रहता था न बोलता सिनेमामें ऐसा नजर नही आता था कि यह इससे कुछ कह रहा है । केवल मुंह पर्देपर चलता रहता था । उसका शरीर उस पर्दे पर चलता फिरता रहता था । उनका परस्परमें कुछ सम्बन्धसा नहीं नजर आता था । तितर-बितर चित्र नजर आते थे । इसी तरह ये सब बिखरे हुए चित्र सामने हैं । किसीका किसीमें कुछ नहीं है । इन पदार्थोंमें चाहनेका जो संकल्प रखते हैं वे अपने स्व-रूपमें स्थित नहीं हो सकते अर्थात् उनका स्वास्थ्य नहीं बन सकता । यहाँ स्वास्थ्यका मतलब शरीरकी तन्दुरुस्तीसे नहीं है । स्वास्थ्यके मायने समता, समाधि, शान्ति, निर्विकल्प परिणमन से है ।

सुख तो स्वास्थ्यमें भरा हो है । आनन्द तो अपने आपमें स्थित होनेपर ही है । यह भावना होनी चाहिए कि मेरा कुछ नहीं है । देखिए आँखके आगे तिल बराबर भी कागज

लगा दिया जाय तिलके आगे तो सारा पहाड़, सारा लोक जो दिखनेमें आता है वह सब ढक जायगा। कोई कहे कि बड़ा गजब है। तिलके दानेके बराबर ही तो कागज चिपका हुआ है, मगर यहाँ सब ओझल हो गया, ढक गया। जैसे जरासे कागजकी ओटमें सब कुछ ढक जाता है, इसी तरह अणुमात्र रागसे भी यह आत्मस्वरूप ढक गया।

कोई कहे कि न तो हम किसीको सताते हैं, न खोटा व्यवहार करते हैं, चुपचाप रहते हैं, २०० रु० महीना किराया आता है, हम पुरुष स्त्री दो जने हैं, खूब आनंदसे गुजारा होता है। हम किसीकी बुराईमें नहीं पड़ते, किसीको कभी कुछ बुरा नहीं कहते। मुझे दुनियाके किसी पदार्थमें राग नहीं है। मैंने सबका राग छोड़ दिया, पर थोड़ा स्त्री भरका राग है और बाकी राग छोड़ दिया। तो वह तनिक हो या मनिक, राग है तो सारा आत्मस्वरूप ढका है। राग है तो ज्ञानानुभव नहीं हो सकता है। हम कह रहे हैं उस रागकी बात जहाँ भीतरमें यह बुद्धि है कि मेरा ही तो है अर्थात् अनन्तानुबन्धी रागकी बात। मिथ्यात्वकी बातें है तो आत्माका कल्याण नहीं हो सकता।

भैया! अपनेमें ऐसी श्रद्धा आनी चाहिए कि मैं निर्मल हूं। जगतके सब पदार्थोंसे हटा हुआ हूं जैसे कि मुनि रहते हैं। ऐसे भाव न बनें कि वे तो मुनिराज हैं, उनकी श्रद्धा पूरी है। वे समझ रहे हैं कि मेरेमें श्रद्धा कुछ नहीं है। सो हम क्रोध करें, अपने घरके दो-चार प्राणियोंको समझ लें कि मेरे हैं। इस प्रकारके विचारोंसे तो क्रोधका मार्ग बना ही रहेगा। साधुमें और गृहस्थमें चारित्रकृत भेद है, श्रद्धामें भेद नहीं है। श्रद्धासे हम जगतके समस्त पदार्थोंसे परे न्यारा अपने आपको निरख सकते हैं। यदि हम ऐसा कर सकते हैं तो समझें कि धर्मपालनके कदममें चल रहे हैं।

मेरा कुछ नहीं है ऐसी बार-बार भावना करो। कुछ समय जबरदस्ती भी भाते रहो कि मेरा कुछ नहीं है। फिर अन्तरमें भी ऐसी भावना हो जायगी कि उपाय तो असली वस्तुस्वरूपके ज्ञानका करना है। जब यह बात बैठ जाती है कि जगत्में मेरा कुछ नहीं है तब इस भावनासे ही स्वास्थ्य पैदा होता है, आत्मामें स्थिरता होती है। ऐसा स्वास्थ्य करके अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

यदा यत्कर्तुमायात्वायातु चेन्न मया कृतम्।
ज्ञप्तिमात्रविधो भक्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४॥

जिस समय जो बात करनेमें आती हो आवो, जो बात मुझ पर गुजरती हो, गुजरे, फिर भी उसे मैंने नहीं किया। यह हो रही है ज्ञानीकी भावना जिसने अपने सहजस्वरूप पर दृष्टि दी है। यह मैं एक शुद्ध चैतन्य वस्तु हूं। मेरा स्वयं काम तो केवल जानना देखना है।

और यह अन्दाज हो रहा है कि राग द्वेष विषयकषाय झगड़े—ये भाव तो पर्यायमें ही रहे हैं। जो कुछ आ रहा है, आवे, तो भी वह मेरे द्वारा किया हुआ नहीं है, क्योंकि मैं तो केवल जाननेके ही काममें समर्थ हूं। मेरा काम जानना देखना है। बाकी और काम उपाधिके संसर्गसे उत्पन्न होते हैं। इस तरह अपने शुद्ध स्वरूपको देखने वाले ज्ञानी इन सब बखेड़ोंसे विरक्त रहते है।

भैया, अपना काम तो केवल जानना देखना है। यदि ऐसा ख्याल है तो घरमें रहते हैं तो आनन्द, कहीं भी रहे तो आनन्द। कुटुम्ब परिवारके लोगोंसे हितकी बात समझा दी जाय, प्रेमसे बात समझा दी जाय तो भी वे नहीं समझेंगे और डांट डपटकर समझाया जाय तो भी वे नहीं समझ सकेंगे। जो लोग कुटुम्ब परिवारके लोगोंमें अपना हित नहीं समझते वे देखने जानने वाले ज्ञानी जीव हैं। घरके ये जो चार जीव है उनसे शांति न प्राप्त हो जायगी। यदि घरके व स्वभावके ज्ञातामात्र रहो तो शांति होगी।

एक किसान और किसानिन थे। किसानिन शांत थी और किसान क्रोधी था। उसने बहुत चाहा कि इसे कुछ पीट लें, मगर शान्तिके कारण किसानिनको किसान कभी पीट न सका था। निम्न श्रेणीके जो लोग होते हैं वे स्त्रीको एक दो बार पीट लेने पर ही अपनेको मर्द समझते हैं। ऐसी कुबुद्धि उनमें छायी हुई है। आषाढ़के महीनेमें वह किसान एक दिन खेत जोत रहा था। दोपहरमें रोज रोज स्त्री उसके लिए रोटी ले जाया करती थी। तब किसानने एक षडयन्त्र रचा। एक बैलका मुंह पूरबको किया, एकका पश्चिमको किया और जुवां दोनों बैलोंकी गर्दन पर धर दिया। उसने यह सोचा कि ऐसी विचित्र हालत देखकर कुछ न कुछ तो बोलेगी ही। क्या लड़कों बच्चोंका गुजारा इस तरहसे हो जायेगा? इस तरह से कुछ न कुछ तो कहेगी ही, सो हमे पीटनेका मौका मिल जायेगा। स्त्री आई और बाहर से ही सब तमाशा देख लिया। उसको समझमें झट आ गया कि आज पीटनेका कार्यक्रम बनाया है। वह आई व बोली कि चाहे औंधा जोतो चाहे सीधा, इससे हमें क्या प्रयोजन? हमारा तो काम केवल रोटी देनेका है, ऐसा कहकर रोटी धरकर वह चली गयी। किसान बैठा ही टापता रह गया। यह ज्ञानका ही फल है जो वह निर्बाध रह सकी।

मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूं, ज्ञायकस्वरूप हूं, सबसे निराला हूं। अन्यकी परिणतिसे मेरा कुछ सुधार बिगाड़ नहीं है। ज्ञानकी स्थिति इस प्रकारके परिणामके अतिरिक्त अन्य कल्पनाओंसे आ सकती है क्या? क्या ऐसी भी कोई मां है कि बच्चेको बिना पानी छुवे तैरना सिखा दे? ऐसा तो नहीं हो सकता है। अगर हम अपनेमें ज्ञान करना चाहते हैं तो जो ज्ञायकस्वरूप ही उसका ज्ञानोपयोग द्वारा स्पर्श करें, तभी प्रभुके पास पहुंच सकते हैं, हम

अपने जीवनको सफल कर सकते हैं। ऐसा उपयोग करनेसे ही हम अपना मन शान्त रख सकते हैं। ईर्ष्या, माया, मद, लोभ इत्यादि तो व्यर्थकी बातें हैं।

अब तो प्रायः यह जमाना है कि बाल-बच्चोंके लिए तन, मन, धन सब खत्म कर दो। फिर भी सत्कार नहीं मिलनेका है। यदि अपना जीवन सफल बनाना है तो एक घंटा रोज स्वाध्याय करो, चर्चा करो। यदि हम अपने ज्ञानका चमत्कार करना चाहते हैं तो अपने आपसे ही कर सकते हैं। घरके तीन चार प्राणियोंके नौकर बने रहनेसे, समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेनेसे, शरीरको सुख देनेके साधन प्राप्त कर लेनेसे अपना कल्याण नहीं होगा।

कुछ भी आप ग्रन्थोंका नियमित अध्ययन करो, यदि उन प्राचीन ग्रन्थोंको नहीं समझते हो तो उनके अनुवादरूप सरल ग्रन्थोंको रख लो। उन सरल ग्रन्थोंसे अपने छोटे छोटे बच्चोंको शिक्षा दो। अगर नियम बना लो कि एक घंटा रोज स्वाध्याय करेंगे। मिल-जुलकर सब लोग एक घंटेका समय दिया करो। आपसमें एक दूसरेसे धर्मचर्चा किया करो। ऐसा केवल एक सालका नियम बना लो। केवल एक घंटा समय स्वाध्यायमें लगावो तो देखो एक सालमें ही कितनी बुद्धि आ जायेगी। पर करना कुछ न पड़े और बुद्धि आ जाये यह तो नहीं हो सकता है।

भैया, जुट जावो ज्ञानार्जनमें। जिस वाक्य या प्रकारका अर्थ नहीं समझमें आता है उसको नोट करते जावो। जब कभी विद्वत्समागम मिले, यहाँ ऐसे प्रतिवर्ष मेलेमें विद्वत्समागम होता ही है। दूसरे वर्ष जब फिर मेला लगेगा तो हम लोग न आयेंगे, कोई दूसरे आयेंगे, वे भी इसी प्रकारसे समझायेंगे। तो भैया अब जो कुछ सोचकर इस मेलेमें आये हो, यह एक नियम अवश्य लेकर जावो। अपना समय व्यर्थ ही गप्पोंमें मत बितावो। बाकी समय अपनी कमाईमें लगावो, पर एक घंटा समय स्वाध्यायमें जरूर दो। यहाँसे सब लोग स्वाध्यायका एक घंटा धर्मचर्चाका नियम लेकर जावो, यही मेरी कामना है।

शास्त्राण्यधीत्य स्वास्थ्यं न सर्वविस्मरणाद्विना।
तस्माद्विकल्पनाशस्यथा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–२॥

स्वास्थ्य सर्वोत्तम कल्याण है। स्वास्थ्यके मायने हैं अपनी आत्मामें स्थित हो जाना। स्वास्थ्य कब हो, जब कि किसी भी परमें स्थिति न हो। अपने आपमें स्थित होते तब बनेगा जब किसी भी परमें हम न ठहरें। अपने आपमें ठहरना ही अपना स्वास्थ्य है। हम किसी भी परमें न ठहरें। स्वमें स्थित हों, सर्व परको भूल जायें। अनेक शास्त्रोंका अध्ययन कर लिया जाये तो भी सबको भूले बिना स्वास्थ्य नहीं हो सकता। इसलिए जिसको शान्ति

चाहिए वह सबको भूल जाये। सब प्रकारकी कल्पनावोंको भूलकर अपने आपको खोजे, अपने आपमें रहे तो यह जीवन सुखी हो सकता है।

जरा बतलावो तो कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, ऐसा मानना उद्यम है या नहीं? यह मेरा है, यह उसका है, इसके फलमें हानि ही हानि है। रोटी खानेके लिए मात्र कोई राग करे वह भी ठीक है, पर खानेके लिए ही नहीं, बल्कि लोगोंके हृदयसे उठता है राग मोह कि यह मेरा है। यही इस जीव पर संकट है। पुत्र है, धन है, कुटुम्ब है, इनको अपना मानते रहो, मेरा कोई नुकसान नहीं, पर वास्तवमें ये किसीके हैं नहीं। वे तो परपदार्थ हैं। वे तो अपनी परिणतिके अनुसार परिणमेंगे। हम चाहेंगे कुछ और, वे और तरहसे परिणमेंगे, तब केवल क्लेश ही होगा।

सो भैया, अभी जान लो ना कि सब भिन्न हैं, सब एक समान हैं। जैसे घर वाले हैं वैसे सब हैं। ऐसा मान लो और दृढ़ हो जावो तो अभीसे ही शान्ति मिले। न घरमें अशान्ति है और न धनके कम होनेसे अशान्ति है, अशान्ति तो केवल व्यर्थकी कल्पनावोंसे ही है। परको मान लिया कि ये मेरे हैं, घरके लोगोंको, पुत्र स्त्री वगैराको मान लिया कि ये मेरे हैं बस इतना माननेसे ही अशान्ति है। जिसका जो प्रदेश है, जिसका जैसा स्वरूप है वह उसमें ही है। जो दूसरे जीव हैं वे अपने ही स्वरूपमें हैं। वे अपने स्वरूपसे बाहर नहीं हैं। किसीका लक्ष्य करके कितना भी राग करते रहो, पर वे तुम्हारे कभी हो ही नहीं सकते हैं। वे अन्य पदार्थ हैं। वे खुदके अपने रूपमें परिणमते रहते हैं और अपना कषाय करते हैं। आप अपने कषायरूप परिणमते रहते हो और वे सब अपने कषायरूप परिणमते रहते हैं।

भैया, सब झूठे स्वप्नों जैसी बातें हैं। कुटुम्ब है, धन है, वैभव है, ये सब मेरे हैं। ये लोग मुझे अच्छा कहें ऐसी आशाएँ रखते हैं। ये जो कलंकित लोग हैं, मोही हैं, अज्ञानी हैं, बुद्धू हैं, उनसे आशा करते हो कि ये मुझे अच्छा मान लें—यही व्यर्थका दुःख है। अब जरा मीठे मोहकी बात देखो—कहते हैं लोग कि धर्म करो। धर्मका ही एक वहम लगा लो। धर्म कहाँ होगा? धर्म तो अपने आत्मस्वरूपकी पहिचान है जिससे कषाय मिटती। धर्म और किसी जगह नहीं है। आपको अपने स्वरूपकी पहिचान हो कि मैं सबसे निराला शुद्ध चैतन्य-मात्र हूं। इसका ऐसा दृढ़ परिचय हो, जिससे जब चाहो अपनी ओर झुक सको तो इसी बल से कषाय मिटेगी, यही धर्म है।

धर्मके नामपर कषाय करना, ईर्ष्या करना, इससे फायदा कुछ नहीं है। जो धर्मके नाम पर कषाय करते हैं, ईर्ष्या करते हैं वे धर्मको लूट लेते हैं और अज्ञानको सजाते हैं। वे अधर्म ही तो कर रहे हैं। धर्म तो स्वास्थ्यकी बात है। सबको भूले बिना यह स्वास्थ्य नहीं

उत्पन्न हो सकता। इसलिए सारे विकल्पोंको त्यागकर अपनेमें अपने आप सुखी होनेको यत्न करो। सुखी होनेका और कोई उपाय नहीं है।

लोग अपनेको बड़ा अच्छा मानना चाहते हैं कि लोग मुझे बड़ा अच्छा कह दें। ये नाक, कान, थूकके पिंड वाले लोग मुझे अच्छा कह दें। इन सबको भुला दो तो विलक्षण आनन्द प्राप्त होगा, मुक्तिका मार्ग मिलेगा। इन बाहरी बातोंसे क्या मिलता है? इन बाहरी चीजोंका तो दान कर दो अर्थात् संन्यास कर दो। यदि सुखी होना चाहते हो तो सुखी हो लो। अपनी उदारता दिखावो, जो कुछ भी उसे समझो कि मेरा कुछ नहीं है। हम तो प्रभु में लीन होंगे। हम तो अपने प्रभुमें ही लीन होनेकी धुन सवार करेंगे, ऐसी उदारता दिखावो। किसी भी चीजकी इच्छा न रखो। अपने आपको शुद्ध चैतन्यस्वरूप अनुभव करो। अपने आपमें ही झुको तो शान्तिका मार्ग मिलेगा।

ज्ञोत्वालस: श्रमं व्यर्थं नेत्रोन्मेषनिमेषयो:।
स्वस्थ्य: सुखी स एवात: स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-६॥

देखो जो ज्ञानी पुरुष हैं, जिनका ज्ञानसे प्रेम है, स्थिर होकर ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहने के ही यत्नमें हैं तो वे परके कामके लिए महान् आलसी बन जाते हैं। और देखो तो सही कि बड़े ऊँचे ज्ञानी योगी पुरुष इन नेत्रोंको उघाड़ने और बंद करनेमें भी आलस्य करते हैं। परपदार्थोंके लिए ज्ञानी पुरुषोंको इतना आलस्य होता है। वे अपने स्वरूपको देखनेमें ही प्रयत्नशील रहते हैं। वे जानते हैं कि आँखें उघाड़ने और बंद करनेसे कुछ भी न मिलेगा। उनको क्या करना है? उनको परपदार्थोंके देखनेका ध्यान भी नहीं रहता है। वे जब थक जाते हैं तो जान-बूझकर आँखें खोलते हैं। उनके लिए आँखोंका खोलना मींचना कुछ नहीं है। वे अपने ज्ञानका ही स्वाद ले रहे हैं।

अब जरा यहांकी बातें तो देखो—ये संसारी गृहस्थ लोग जो दूसरोंके पीछे दु:खी होते हैं, चार पैसे आने पर ही अपने कर्मोंको सफल समझते हैं। जब चार पैसेकी कमाई हो जाती है तो वे समझते हैं कि मैंने आज कुछ काम किया। वे अन्याय करके धनसंचय करने में अपना बड़प्पन समझते हैं। यह अज्ञानका ही तो फल है। मिलता जुलता कुछ नहीं है। घूरेके पास कोई सांड पहुंच जाये और उसे सींगोंसे उलीचे, दहाड़ मारे, अपने पैर फेंके, पूंछ उठावे और गर्दन ऊंची करे, अपनेमें घमंड करे और समझे कि मैंने बहुत बड़ा काम किया, तो उसने कौनसा बड़ा काम किया? घूरा उलीचा।

इसी तरह यह काम किया, वह काम किया, कम्पनी खोली, हिस्सा लगाया, मुकदमे-बाजी की, धन संचय किया, इस प्रकारसे अनेक घमंड किया, पर अन्तमें क्या किया? केवल

पूरा उलेखा। कितना ही धन जोड़ लो कितना ही किसीको बिगाड़ दो, पर इसमें क्या रखा है ? धन आता है तो आवे, नहीं आता है तो न आवे। हम धनके लिए ही पैदा हुए हैं क्या ? मनुष्य होकर क्या हम केवल धन कमानेके लिए ही पैदा हुए हैं ? हम तो आत्म-कल्याणके लिए, आत्मज्ञानके लिए पैदा हुए हैं।

मनुष्योंको श्रेष्ठ मन मिला है, इस मनुष्ययोनिमें ही आत्मकल्याण कर सकते हैं। आत्माके संयममें आ सकते हैं। हम पैदा इसीलिए हुए हैं कि आत्मकल्याण करें। इस लिए हम नहीं पैदा हुए कि धन संचय करें। इस धनको तो भाग्य पर छोड़ दो। धन तो भाग्यके अनुकूल ही आयेगा। तो जैसी चाहो वैसी व्यवस्था बना लो। रही दुनियामें इज्जत की बात। दुनियामें इज्जत धनके कारण नहीं है। इज्जत तो सदाचार तथा परोपकार करनेमें है। सदाचार परोपकार इत्यादि करनेसे ही इज्जत बढ़ती है। कितना भी धन हो और दुराचार हो, दूसरोंका बिगाड़ करने वाला आचरण हो तो उसको इज्जत मानते हैं क्या ? भले ही धन ऐंठनेमें चार आदमी प्रशंसा करदें, दस बीस हजार मिल जायें पर इसमें इज्जत नहीं है।

भैया ! इज्जत तो सदाचार और परोपकारमें है। धन हो तो और न हो तो, इससे इज्जत नहीं मिलती है। हम मनुष्य क्यों हुए ? इस बात पर विचार तो करें। केवल मोह ही करनेके लिए हम जिन्दा रहें क्या ? राग करते हैं तो हम राग करनेके लिए जिन्दा हैं क्या ? जितने घरके लोग हैं उन सबके लिए धन पैदा करके रख जाओगे तो उससे तुम्हें क्या मिला ? वे भी तो सब तुमसे भिन्न हैं। जैसे और सब लोग हैं वैसे ही ये घर वाले लोग हैं। यदि धन पैदा होता है तो धर्मके लिए खर्च करो। जितना बच्चोंके लिए धुन सवार है उतना दूसरोंके लिए करो। दानकी बात ऐसी ही है कि वह सदा धर्मके लिए रहती है, खानेको अच्छा नहीं खायेंगे, जिन्दगी भर किसीको पानी नहीं देंगे, पर अन्तमें क्या करते हैं कि यह बनवा दें वह बनवा दें। जिन्दगी भर तो कंजूसी की, पर अन्तमें केवल नामके लिए कुछ न कुछ बनवानेको तैयार रहते हैं। उनके धर्मका कोई पागलपनसा सवार रहता है। मरते समय ही वे बीस बीस हजार रुपया खर्च कर देंगे, उससे कुछ नहीं होता। यदि उसे ही कभी दो आने, चार आने, रुपया, दो रुपया दान करते तो ऐसा धर्म करनेसे लाभ भी था। पीछे जो बचे उसे भी दे डालें, मनाही नहीं है, पर जिन्दगी भर तो सूखा रूखा खाना खाया, धनको जोड़कर रखा और भिखारी को कभी भीख न दी हो, पर अन्तमें कहते हैं कि भैया ! यह बनवानेके लिए ५ हजार लगा दो, इसके लिए १० हजार

समा दी, ईंट पत्थरकी दीवारोंमें ही कुल धन खर्च कर देते हैं।

जिन्दगी भर जितने भी संक्लेश किये वे ठीक नहीं। यदि उस धनको शिक्षाके लिए लगाते तो भी ठीक था। जिन्दगी भर दूसरोंसे इज्जत पानेकी उत्सुकता बनी रही, पर इज्जत भी न पायी। इस धनसे अपनी जिन्दगीमें यश भी नहीं ले पाया, इसलिए अब मरते समय कुल धन खर्च करना चाहते हैं कि रहेगा तो कुछ नहीं, सब छूटता ही है। जो धन वैभव को व्यर्थ मानता है वह ज्ञानसे ही व्यर्थ मानता है। धन खर्च करते हैं तो वे धर्मके लिए नहीं खर्च करते हैं वे धर्मशाला बनवाते हैं। पर कहते हैं कि इसमें हमीं रहेंगे। बतलाओ इसमें धर्म कहां रहा ?

जो दूसरोंको सहयोग देते हैं उनकी उदारता तो देखो। धर्म उसे ही कहते हैं। धर्म कहीं दूर नहीं है। धर्म तो अपना विशुद्ध ज्ञान बनानेमें है। वही जीव सुखी है जो स्वस्थ है। इसलिए तन, मन, धन, वचन न्योछावर करके भी अपने आपमें ज्ञान पाया तो समझो कि हमने सब कुछ पा लिया। सब कुछ मिले पर आत्मज्ञानको न जगाया तो कुछ नहीं किया। यह आत्मज्ञान क्या करोड़ रुपयोंसे कम है ? अरे ! करोड़ क्या ? इस जगतमें जितना भी धन वैभव है सब हो जाये तो भी आत्मज्ञानके बराबर मूल्य नहीं हो सकता। इस आत्मज्ञानकी विभूतिके सामने संसारका समस्त धन वैभव व्यर्थ है।

भैया, चाहे जितना भी धन वैभव इकट्ठा कर लें पर वह धन वैभव भी उन्हें कलंकित करेगा। जन्ममरणका पात्र होना ही पड़ेगा। इस मेरेपनका भाव छूटे तो ठीक है। आप कहेंगे कि त्यागी पुरुषोंके कर्तव्यकी बात कह रहे हैं। मैं यह नहीं कहता कि घर द्वार, स्त्री पुत्र परिवार छोड़ दो। छोड़नेकी बात नहीं कही जा रही, यथार्थ ज्ञान करनेकी बात कही जा रही है। अगर छोड़नेकी सुबुद्धि जगे तो और भी भला है।

यहां यह बात कही जा रही है कि परिवारमें रहते हुए भी अपनेको पृथक् समझो। अपनेको पृथक् समझनेमें कुछ बिगाड़ होता है क्या ? कुछ भी तो बिगाड़ नहीं होता। उनकी पृथक् सत्ता है। देखो जब कोई मर जाता है तो कुछ न कुछ भाव ऐसा हो जाता है कि यह मेरा नहीं था। पर यदि ऐसा ही ख्याल जिन्दा रहतेमें कर लें तो सुखी हो जायें। होता तो आपका कोई है नहीं। आपका केवल इतना ही वश है कि यह भाव कर लो कि ये मेरे हैं।

और भी देखो यहां सारी बातें उल्टी चल रही हैं। जैसे लोग मरे पर श्राद्ध करते हैं जान कि पिता मर गया तो पंडाको गेहूं दे दो तो पिताके पास पहुंच जायेंगे। गाय दे दो तो पिताके पास पहुंच जायेगी। जब तक पिता जिन्दा रहा तब तक मांगनेसे पानी भी नहीं दिया। अब मरने पर श्राद्ध करते हैं। तो सोचो तो कि लोगोंमें कितनी अज्ञानताकी छाई

हुई है। जो करना चाहते हैं जिन्दामें करें। सारी बात विवेककी है। यदि विवेक है तो उससे लाभ है। धर्मकी बात यह है कि ज्ञान हो, कषाय मंद हो, परोपकारकी वृत्ति जगे तो धर्म होगा। यदि ऐसा नहीं है तो धर्म नहीं है। तो ऐसे ही पुरुष जो ज्ञानसे सावधान होते हैं वे ही पुरुष स्वस्थ हैं और उन्हीं पुरुषोंको सुख है। सो भैया विपरीत सारी कल्पनाओंको छोड़कर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

दिष्टोदीशोऽपि साक्षाच्चेद्विना स्वास्थ्यान्न मंगलम्।
सुखदुःखे स्वयंदायी स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-७॥

अपना मंगल, अपना कल्याण अपने आपमें ठहरे बिना नहीं हो सकता। दूसरोंका उपदेश वचन कितना ही मिले, साक्षात् भगवान ही उपदेश क्यों न दे रहे हों तब भी अपने आपका श्रद्धान ज्ञान आचरण हुए बिना अपनेको शांति, मुक्ति, आनन्द, मंगल, कल्याण न मिल सकेगा। यह जीव अपने सुख और दुःखका स्वयं जिम्मेदार है, दूसरा कोई उत्तरदायी नहीं है। घरमें, कुटुम्बमें, परस्परमें कितना ही स्नेह हो, कितनी ही मित्रता हो, उसमे किसी अन्यसे कोई लाभ मिल जाये ऐसा नहीं हो सकता। अपने सुख और दुःखके जिम्मेदार हम आप सभी अपने आप हैं।

जगत्में पदार्थोंका परस्परमें विभावके विषयमें निमित्तनैमित्तिक सम्बंध तो होता है, पर कर्ता कर्मभावोंका रंच भी सम्बन्ध नहीं होता है। परिणमने वाला पदार्थ यदि अशुद्ध उपादानका है तो वह कब किस निमित्तको पाकर स्वयं अपनी बनावट कर लेता है। यह सब परिणमने वाले पदार्थोंकी एक कला है। परिणमने वाले पदार्थ तो निरन्तर प्रतिक्षण परिणमनके लिए उतारू हैं। परिणमनशीलता तो एक स्वभाव है। परिणमे बिना कोई नहीं रह सकता है। सो परिणति चलती जाती है। अब किस योग्यता वाला किस उपादानका पदार्थ कैसा निमित्त पाकर किस प्रकार परिणमता रहता है, ऐसी उन विविध परिणतियोंमें मूल कारण तो परिणमने वाले पदार्थकी कला है।

जैसे दर्पण है, उस दर्पणमें छायारूप, प्रतिबिम्बरूप परिणमनेकी उसकी योग्यता है। वह दर्पण सन्निधिमें आये हुए, गुजरते हुए पदार्थोंका निमित्त पाकर वह नाना रूप परिणमता रहता है। ऐसे परिणमनकी विशेषतामें कला तो उस दर्पणकी ही है। वह दर्पण जैसी उपाधि की सन्निधि पाता है वैसा अपनेको परिणमा लेता है। उस परिणमनमें उपाधिकी कुछ वहाँ कला नहीं होगी। कला तो परिणमते पदार्थकी है। पर वह उस ढंगकी है कि जैसे निमित्त को पाये, उसमें अगर परिणमनकी योग्यता है तो उस रूप परिणम जाता है। यह परिणमन की कलाका प्रताप है। उस विभावके होने पर यद्यपि यह बात है कि निमित्तकी सन्निधि

बिना होता नहीं। इतने पर भी स्वरूप पर दृष्टि देते हैं तो निमित्त वहाँ अपनी कला नहीं खेलता है। निमित्त जो कुछ खेलता है वह अपने आपमें खेलता है। सो उनमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होकर भी कर्ता कर्मभाव नहीं है। इस बातको ठीक-ठीक परखनेमें सब बातें सामने आती हैं।

अब बात सोचनेकी यह है कि अशुद्ध विकासके परिणमनका ढंग तो यह है और शुद्ध विकासके परिणमनका क्या ढंग है? भैया, शुद्ध विकासके परिणमनका यह ढंग है कि अशुद्ध विकासके परिणमनका जो निमित्त है उस निमित्तका अभाव होने पर अशुद्ध विकास छूटता है और शुद्ध परिणमन होता है। वहाँ पर भी परिणमने वाले पदार्थकी कलाका प्रताप है। वह शुद्ध परिणमनकी योग्यता वाला अमुक-अमुक प्रकारके परपरिणमनको निमित्त पाकर स्वयमेव परिणम जाता है। स्वयमेवका अर्थ स्वयं स्वरसतःसे नहीं किन्तु मात्र अपनी परिणतिसे परिणम जाता है, दूसरोंकी परिणतिको साथ लेकर नहीं परिणमता है, चाहे कितना भी यह जीव उलटा परिणमता रहे।

मोहसे बढ़कर और कोई खोटा परिणमन है क्या? राग द्वेष मोहके बराबर खोटा परिणमन अन्य नहीं है। सबसे अधिक खोटा परिणमन मोह है, भ्रम है। ऐसा भ्रमरूप परिणमन भी जीव स्वयं करता है। दूसरे पदार्थोंकी परिणतिको लेकर करता हो ऐसी बात नहीं है। हाँ उसमें निमित्त है कर्मोदय। परन्तु जीवमें ऐसी कला है कि ऐसी उपाधिको निमित्त मात्र पाकर अपने आपकी परिणतिसे यों परिणम जाता है। मोही जीवको कर्ता कहते हैं। ज्ञानी जीवको अकर्ता कहा है। इसका सीधा अर्थ यह नहीं लगाना है कि ज्ञानी कर्ता नहीं है। अज्ञानी परका कर्ता है, यदि ऐसी बात मान लें इसका अर्थ यह है कि परमात्मा तकसे भी अधिक बलिष्ट यह अज्ञानी है जो कि परका कर्ता बन जाता है। सो भैया, न तो ज्ञानी परका कर्ता है और न अज्ञानी परका कर्ता है। वस्तुकी व्यवस्था कहीं गलत नहीं हो सकती है।

अज्ञानी परका कर्ता है, इसका अर्थ यह है कि अज्ञानी अपने विकल्पसे अपनेको पर का कर्ता मानता है। सो परपदार्थोंको कर्ता मान लेना, यह भी इस अज्ञानी जीवकी परिणमात्मक क्रिया है। यह पुद्गल परिणमात्मक क्रिया नहीं है। जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपने परिणमनसे अनन्य हैं, तन्मय हैं कुछ समयके लिए। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थके पर्यायसे तन्मय नहीं होता। किसी परके गुणसे किसी परके द्रव्यका तन्मयपना नहीं हो सकता। ऐसी वस्तुस्वातन्त्र्यकी दृष्टि हममें प्रबल हो जिसके प्रतापसे सब हमारा विष खत्म हो जाय।

भैया, जो विष लग रहे हैं उनमें प्रधान एक विष है कि यह जीव चाहता है मैं लोगों

की दृष्टिमें अच्छा कहलाऊँ, यह बड़ा विष है। आजकल इसने बड़ी प्रगति कर ली है। भाई, धर्मकी चाह नहीं रही, कुटुम्बकी चाह नहीं रही, कुटुम्बसे मन नहीं भरता, धर्मकी धुनि लग गयी, शोध करने लगा, तपस्या करने लगा, बड़े बड़े त्याग भी कर लिए और प्रगति भी कर ली, पर मैं लोगोंकी दृष्टिमें अच्छा कहलाऊं, इस प्रकारका महाविष जो अपने बिकल्पोंकी दाढ़ में बसा हुआ है उसे न छोड़नेसे यह फल होता है कि निरन्तर आकुलताएँ रहती हैं। खूब बिचारसे सोचो कि मैं किन लागोंसे अच्छा कहलानेका परिणाम रखता हूं? किनसे? जो नष्ट स्वयं हो जायेंगे, जो मलिन हैं, जो जन्ममरणके चक्रमें फंसे हुए हैं, जिनसे कुछ मिल भी नहीं सकता है, उनसे यह चाहा जा रहा है कि मैं ठीक कहलाऊँ, अच्छा कहलाऊँ।

भैया! कुछ तो खुदसे बात करनेमें अपना यत्न करना चाहिए। खुदसे प्रश्न करो और खुदसे जवाब लो। मानो दुनियामें इसको कोई नहीं जानता। वस्तुत: जानता भी नहीं, अपने आपको विचारो कि मैं चैतन्यस्वरूपात्मक हूं। मैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श रहित हूं। ज्ञानानन्दघन आत्मतत्त्व हूं। मुझको कोई पहिचानता है क्या? कोई पहिचान करेगा तो वह अपने खुदका बल लगाकर खुदके परिणमनरूप पहिचान करेगा, मेरेको कभी नहीं पहिचानेगा। जब मुझे कोई जानता ही नहीं है तो मैं अन्यमें नाना गोरखधन्धे करके व्यर्थमें क्यों दु:खी हो रहा हूं? कल्याण वहीं ही सम्भव है जहां पर किसी भी प्रकारकी चाह न रहे और यह विशद दीखे कि अरे! यह तो मैं अपने लिए कल्पवृक्ष हूं। जैसा मैं परिणाम करता हूं वही तो मुझपर बीतती है। मैं शुद्ध भाव बनाऊँ तो शुद्ध फल मिलता है और अशुद्ध भाव बनाऊं तो अशुद्ध फल मिलता है। जैसे कल्पवृक्षसे जो चाहो सो मिले वैसे ही यदि शुद्ध भाव करो तो शुद्ध फल मिले और अशुद्ध भाव करो तो अशुद्ध फल मिले।

एक कथानक जैसी बात है कि एक मुसाफिर नंगे पैर, नंगे सिर चला जा रहा था। गर्मीके दिन थे। उसको गर्मी लगी, रास्तेमें सोचता है कि छायादार वृक्ष मिल जाय तो अपना यह संताप मिटा लूं रास्तेमें एक घने पत्तों वाला वृक्ष मिल गया। वह वृक्ष कल्पवृक्ष था। जब पेड़के नीचे पहुंचा तो सोचता है कि छाया तो मिल गई, पर हवा नहीं चल रही है। थोड़ी हवा चले तो आराम मिल जाय। हवा भी चलने लगी। अब सोचता है कि हवा तो चलने लगी, अगर थोड़ा जल मिल जाय तो अपनी प्यास बुझा लें। जल भी आ गया। अब सोचा कि जल तो आ गया, यदि कुछ फल मिल जाते तो अच्छा था। सजा सजाया फलोंका थाल भी सामने आ गया। सोचा कि यह सब कैसे आ जाता है। कोई भूत तो न हो, कहीं भूत न आ जाय। सोचते ही लो भूत भी सामने आ गया। सोचा कहीं यह खा न जाय। तो भूत खा भी गया याने कल्पवृक्षके नीचे जो सोचा सो मिलता है। यह मैं आत्मा

स्वयं ही कल्पवृक्ष हूं। मैं परसे क्या चाहता हूं? सब कुछ यहीं तो मिलता है।

भैया, जो कुछ भी मुझे मिल रहा है वह सब यहींसे मिल रहा है। सुख मिल रहा है, संसारको तो यहींसे, दुःख मिल रहा है तो यहींसे, संक्लेश मिल रहा है तो यहींसे, विशुद्धता मिलती है तो यहींसे और निर्मल शुद्ध आनन्द मिलेगा तो यहींसे। मेरेको जो कुछ मिलता है सब यहींसे मिलता है। बाहरसे तो कुछ मिलता ही नहीं है। अरे साक्षात् भगवान भी उपदेश देने वाले मुझे क्यों न मिलें, पर मुझे कल्याण मिलेगा तो मेरे ही श्रद्धान, ज्ञान और आचरणसे मिलेगा। भगवानका दर्शन उपदेश तो एकमात्र सूर्यकी तरह है। लो मार्ग दिख गया, कानसे सुन लिया, सुनकर भी भीतरमें अपने ज्ञानका बल लगाता है तब मार्ग दीखेगा।

अभी देखो कोई छोटे बच्चे, बच्ची कोई दोहा या कविता सुना रहे हों, उसे सुनने वाले सब बैठे हैं, पर जो जितना विवेकी पुरुष होगा, ज्ञानी होगा, उसे उन वचनोंसे उतना ही बड़ा झलक आयगा, और जो साधारण जन हैं, जिज्ञासु भी नहीं हैं, दोहा सुन लिया, यदि कुछ अच्छे रागसे सुना तो कानोंको कुछ मजा आ गया और फिर काम खत्म हो गया। आपकी आत्माको दोहेको सुनकर ऊँचा ज्ञान बनानेका मौका मिलेगा, तो आप बतलावो कि उस बच्चे या बच्चीके वचनोंने ज्ञानी बना दिया क्या? यह तो परिणमने वाली वस्तुकी परिणतिकी कलाका खेल है। बच्चा तो बोल ही रहा है, पर जो जैसी अपने परिणमनकी योग्यता रखता है वह अपनी कलासे ज्ञाता बन जाता है।

एक दोहा बच्चोंने पढ़ा—

'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन।'

इस दोहेको सुनकर जो जैसा ज्ञानी होगा अपने भावोंमें घुलता जायगा। दोहा तो एक नादान बच्चेने कहा, जिसको उसका अर्थ भी नहीं मालूम है, उसका मर्म तो वह भी नहीं जानता है, शब्दार्थ भी वह नहीं समझता है, लेकिन उन वचनोंको निमित्त मात्र कर ज्ञानी पुरुष अपनी योग्यताके माफिक अपनी कला खेल जाते हैं। कौन किसको करता? परिणमने वाला पदार्थ अपनी कलाका खेल करता है। उनकी कलाका यही साधन है जो जब तक वस्तुस्वातंत्र्यकी दृष्टि नहीं आती तब तक तुम अपनेमें झुक नहीं सकते, अपने अनुकूल हो नहीं सकते।

भैया, अनेक तरहकी कल्पनाएँ मनमें उठती हैं। तुमसे रहते हुए भी होती रहती हैं और तुम न रहोगे तब भी होंगी। जो हो रहा है वह हो रहा है। परिणमने वाले पदार्थ अपनी कलाका खेल करते चले जा रहे हैं। सब अपने परिणमनमें हैं अर्थात् अपनी ही साथ

परिणतिसे वे परिणमते चले जा रहे हैं। हम जीव भी चाहे मोहरूप परिणमें, चाहे रागरूप परिणमें, सब अपनी ही परिणतिसे परिणमते है। कोई एक परिणति दो द्रव्योमें नहीं हो जाती है। और कोई भी एक द्रव्य दो द्रव्योंमें परिणमन नहीं करता है कि मैं अपना ही परिणमन कर लूं और दूसरेका भी कर लूं।

अगर चार आदमी मिलकर गाना गा रहे हैं, संगीत हो रहा है, सितार बज रहा है, कोई कुछ गा रहा है कोई कुछ। देखो, इस प्रसंगमें परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बंध विकट हो रहा है। सब एक दूसरेकी हूं में हूं ले रहे हैं, एक स्वरसे मिले हुए हो रहे हैं, सारे बाजे एक किस्मके बज रहे हैं, फिर भी ऐसा नहीं है कि तबले वालेकी आपकी परिणतिसे नाचने वालेके पैर उठ रहे हों। हो रहा है अनुकूल काम। उस ठापेके अनुसार उसके पैर उठ रहे हैं। कभी उल्टा उठ जाये, कभी सीधा उठ जाये तो ऐसा नहीं है। इतनी बात होकर भी वे सब परस्पर सबसे न्यारे हैं। वे उनके स्वर सुन रहे, हँस रहे, इतना झुकाव है, फिर भी वास्तवमें किसीका किन्हीं दूसरों पर झुकाव नहीं है। उनकी अपनी-अपनी कलाका जुदा-जुदा खेल हो रहा है। दूसरा कोई नहीं झुक रहा है। अज्ञानी उन्हें देख-देखकर कहते वाह-वाह अच्छा, वे परस्पर खीरसी पका रहे हैं। खारसी तो पक रही है मगर सब अपना-अपना काम कर रहे हैं। कोई किसी दूसरेका काम नहीं कर रहा है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यपर असर पैदा नहीं करता है, पर परिणमने वाले पदार्थ विभाव की योग्यता वाले हैं तो परका निमित्त पाकर स्वयं अपने आप अपना असर उत्पन्न कर लेते हैं। अच्छा जरा निर्णय कर लो, असर क्या चीज है. द्रव्य है कि गुण है कि पर्याय है। अगर गुण है तो त्रैकालिक रहना चाहिए। असरको एक पर्याय कह सकते हैं। असर जिसमें है उससे उस समय भिन्न है तो वह परिणमने वाले पदार्थमें है। स्वयं अपने आपमें यह असर उत्पन्न किया गया है स्वयंकी अपनी ही परिणतिसे। वह असर यदि विभावरूप है तो परका निमित्त पाकर परिणमा है। अन्य किसीकी परिणति लेकर, असर लेकर, छाया लेकर उसने अपना काम नहीं किया।

इसमें दोनों बातोंका समावेश है कि निमित्तनैमित्तिकका सहजसम्बन्धी जगत्में अटल चल रहा है फिर पर भी सब पदार्थ स्वयं अपने आपमें अपने सर्वस्वमय बने हुए हैं। ऐसी दृष्टि हो तो कौन कहेगा कि मेरा पुत्र है। एक आत्माका अन्य आत्मासे क्या सम्बन्ध है? आपके साथ वह लगा हुआ भी नहीं है। आगे लगा रहेगा सो भी नहीं है। कुछ भी नहीं है। किसीने इस जीव पर राग पैदा नहीं किया है, पर अज्ञानसे यह जीव अपने आपमें मोह को उगलता हुआ रह रहा है। परमें मोह न डालो, परसे कुछ मिलता नहीं, परसे मोह

होता नहीं। आपकी आदत ऐसी बनी है कि उस रूप विलास अपनी परिणतिसे उगलते हैं।

जो आपके घरमें जीव हैं, मान लो वे जीव न आते और जगत्में जो अनन्त जीव पड़े हैं उनमें से कोई अन्य जीव आपके घरमें आता तो क्या उससे मोह करनेमें आप शर्म खाते? कोई भी आता, आप उससे मोह कर बैठते। हाँ यदि उसकी किसी परिणतिसे आपको अपने विषयोंमें बाधा जंचेगी तो मोह छोड़ दोगे। छोड़ नहीं दोगे, उस मोहकी दिशा बदल दोगे। हम अपने सुख दुःखके ही उत्तरदायी हैं, स्वयं जिम्मेदार हैं। सो अपनेको दुःख मेटना है, आनन्दमें आना है तो उसका उपाय है सम्यग्ज्ञान।

विश्वं सुखांशमूलं न शं ज्ञानस्याभयोः फलम्।
सुखदुःखे स्वयंदायी स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-८॥

यह सारा संसार, यह जगत्का सारा वैभव मेरे सुखका रंचमात्र भी कारण नहीं है। सुख परिणमन आत्माके आनन्दगुणका परिणमन है। जैसे आत्मामें ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चारित्रगुण आदि अनेक गुण हैं, इसी तरह आत्मामें आनन्द नामका एक गुण है। सो जब शुभकर्मका उदय होता है तो आनन्दगुण सुखरूप परिणमता है और जब अशुभ कर्मोंका उदय होता है तब आनन्दगुण दुःखरूप परिणमता है। और जब कर्मोंका लेश नहीं रहता है तब आनन्दगुण शुद्ध आनन्दरूप परिणमता है। दूसरा कोई पदार्थ हमें सुखी नहीं करता। सुखकी आशा रखते हैं कि लड़केका विवाह होगा, बहू घर आयेगी, बड़ा सुख होगा। कितनी आशा रखी थी, किन्तु सबका कषाय जुदा है। बहूको जैसे सुख प्रतीत हो वैसे ही कषाय बनेगी। सास समझाती है कि यह मेरे विरुद्ध बर्ताव करती है सो वह दुःखी हो जाती है। सुखकी तो आशा की थी बेटे बहूसे और इसी आशामें खूब मन लगाकर पालन-पोषण किया था और देख-देखकर सुखी होते थे।

कोई भी परपदार्थ अपने सुखका कारण नहीं है। सुख परिणमन अपनेमें ही बसे हुए अनन्त गुणोंके परिणमनसे होता है। दूसरोंसे सुख नहीं आता है। दूसरे पदार्थोंमें दो ही तरहके पदार्थ हैं, चेतन और अचेतन। अपने आपकी आत्मासे अन्य जो जितने चेतन हैं अनन्तानन्त वे सब मेरे लिए पर हैं। और जितने अचेतन हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल वे सबके सब भी मेरे लिए पर हैं। अचेतनमें तो सुख नामक गुण ही नहीं हैं, उनसे मेरेमें सुख कहाँसे आये? और अन्य चेतन पदार्थोंमें सुख नामक गुण तो है मगर उनका गुण उन्हींके लिए है। उन्हींमें ही वह तन्मय है। इस कारण परपदार्थोंसे अपनेको सुख कैसे मिलेगा? किसी भी परद्रव्यसे अपनेको सुख नहीं मिलता, किन्तु अपनेमें ही अनेक प्रकारके विकल्प बनाकर, अनेक प्रकारका ज्ञान करके सुख अथवा दुःखका अनुभव करते हैं। यदि

देखा जाये तो परसमागम मेरे सुखमें बाधक हैं। जिनको हम समझते हैं कि ये परपदार्थ मेरे सुखमें बाधक हैं। वे बाधक नहीं हैं। जैसे कोई एक सेठ गुजर गया। घरमें नाबालिग पुत्र है तो सरकारने उस नाबालिग पुत्रकी जायदादको कोर्ट ऑफ वार्डमें ले लिया और उसका ठीक-ठीक प्रबंध कर दिया। अब उसके पालन-पोषणके लिए ५०० रु० माहवार बांध दिये। जब कि २०—३० लाखकी जायदाद कोर्टकी है। उस नाबालिगको जायदादकी क्या खबर? वह १० वर्षका होता है, १२ वर्षका होता है और सरकारके गुण गाता है कि सरकार घर बैठे हमको ५०० रुपये महीना भेजती जाती है। वह नाबालिग समझता है कि सरकार तो बड़ी दयालु है, हमें ५०० रु० महीना भेजती है। अब जब १७-१८-२० वर्षका हुआ तब पता पड़ा कि अरे हमारी तो २०-३० लाखकी जायदाद सरकारके हाथ है। उसकी एवजमें ५०० रुपये महीना भेजती है। यह मुझे नहीं चाहिये, मुझे तो अपनी जायदाद चाहिए। सो वह सरकारको नोटिस देता है कि मैं अब बालिग हो गया हूं, हमारी जायदाद हमें सौंपी जाय। जायदाद उसे प्राप्त हो जाती है।

इसी प्रकार यह आत्मा अभी नाबालिग बना हुआ है। मिथ्यादृष्टि आत्मा कहो या नाबालिग कहो। इसकी जायदाद तो अनन्तानन्तकी है, मगर नाबालिगकी जायदाद जिसे सरकारने कोर्ट कर लिया है, इसी तरह इस नाबालिग जीवके आनन्दको कर्म सरकारने छीन लिया। अब उसको एवजमें क्या मिल रहा है? कुछ पुण्यका साधन है उसके अनुकूल कुछ विषय भोगोंके साधन मिल रहे हैं। कुटुम्ब मिला, स्त्री मिली, बन्धु मिले, कुछ जायदाद मिली सो यह नाबालिग जीव बड़ा खुश है। कहता है कि अच्छा उदय चल रहा है। खूब साधन मिले हैं, पुण्यका गुण गाता है। जब इस जीवको पता लग जाये कि अरे मेरा स्वरूप स्वयं आनन्दमय है, ये जो कुछ वैभवके टुकड़े मिल रहे हैं उनको कहते हैं कि कर्मोदयसे निमित्त पाकर मिल रहे हैं। जब तक तुम इस धन-वैभवको अपना मानते रहोगे, विषयभोगों को भोगते रहोगे, इन सुखोंसे ही खुश रहोगे तब तक यह जायदाद तुमको नहीं मिल सकती।

अब यह बालिग होकर याने सम्यग्दृष्टि जीव होकर नोटिस देता है कि ऐ कर्म सरकार, तेरे उदयसे जो कुछ विषयसामग्री मिली है मुझे नहीं चाहिए। यह सुखमें बाधक है, यह मुझे नहीं चाहिए। पाई पाईको संभालो, मुझे कुछ नहीं चाहिए। एक परमाणुमात्र भी राग हो तो उसके सम्यग्दर्शन नहीं रहता। परमाणुमात्र भी राग न हो तो उसके सम्यग्दर्शन रहे अर्थात् राग हो और उसे ही आत्महित मान लें तो वह सम्यग्दृष्टि कैसे? कोई किसी घर में अकेला हो, स्त्री हो और कहे कि देखो हमने सबका राग छोड़ दिया, केवल एक स्त्री भर का राग रह गया, बाकी सब राग मैंने छोड़ दिये, केवल एक स्त्री भरका राग रह गया तो

क्या उसका ९९ प्रतिशत मिथ्यात्व नष्ट गया ? अरे ! शत प्रतिशत मिथ्यात्व है । परमाणु मात्र भी अगर राग है, जरा भी राग है । पर्यायबुद्धिकी बात कह रहा हूं कि यह राग मेरा ही है, यह राग मेरे हितरूप है, यह न समझकर रागसे अपनेको भिन्न नहीं देख सकता तो ऐसी स्थितिमें मिथ्यात्व ही है ।

अब बालिग सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य सरकारको नोटिस देता है कि सब पाई पाईको संभालो । किसी भी वैभवकी मुझे चाह नहीं है । मेरेको तो मेरा जो स्वरूप है, मेरा जो आनन्द है बस वही मेरा है । तब वह सारे बाहरी सुखोंसे अपनेको दूर करता है और अपने
आनन्द है बस वही मेरा है । तब वह सारे बाहरी सुखोंसे अपनेको दूर करता है और अपने
आपमें आनन्दका अनुभव करता है । यों कह लो कि किसीने बहका दिया था, मामूली सुखमें अब बहम मिट गया । यह सारा विश्व मेरे सुखका रंच भी कारण नहीं है । सुख होता है तो वह अपना ही परिणमन है । अपनी ही परिणतिसे होता है । दूसरे सुख नहीं पैदा कर देते । सब भवितव्यता ज्ञानकी कला पर निर्भर है । यों कह लो कि मैं कैसे जानूं तो सुख हो जायगा और मैं कैसा जानूं तो आनन्द हो जायगा ? बस उन जाननके प्रकारों पर ही सुख दुःख और आनन्दका निर्णय है । बोम्बे या कलकत्तामें कोई काम चल रहा हो और कल्पना में यह आये कि दो लाखका टोटा है, चाहे हो गया हो मुनाफा, वहाँ जरूर कष्ट बनाता है कि हाय मुनाफा हो रहा था और टोटा पड़ गया । कदाचित् टोटा पड़ा हो और यह खबर फैली हो कि मुनाफा हुआ है तो कल्पनाएँ करके वह मौज मान लेगा ।

मौज कहते हैं किसे ? मालूम है ? 'म' के मायने हैं नहीं और 'ओज' के मायने हैं प्रभाव, प्रताप, कांति । अर्थात् जहाँ प्रभाव, प्रताप, कांति आदि न रहे उसे मौज कहा जाता है । पंचेन्द्रियके विषयभोगोंके सामने देख लो, ओज नहीं रहता, बल नहीं रहता, प्रताप नहीं रहता और ज्यादा समझना हो तो कोई जैसे खा रहा हो, कैसे खाता है ? कैसे हाथ चलाता है ? कैसे मुख चलाता है ? इसका अगर फोटो हो तो फोटोमें भी खूबसूरती नहीं आयेगी । किसी चीजको रागपूर्वक कोई देखता हो तो उसकी मुद्रा विकट रहेगी, उसका फोटो लेनेमें ठीक नहीं आयेगा । सब विषयोंकी बातें भी कर लो, पर जहाँपर ओज नहीं रहता, उसे मौज कहते हैं । ये विषय सुख तुम्हारे हितकारी नहीं हैं । परपदार्थोंके सुखसे मुड़ना कैसे हो ? सो विषयकषायोंसे बढ़कर कोई अच्छी चीज मिले तो विषयोंसे मुड़ना बनेगा, अन्यथा इन विषय सुखोंसे मुड़ना कैसे होगा ?

कोई भिखारी २—७ दिनकी बासी रोटियां अपनी झोलीमें भरे है । वह इसलिए कि किसी दिन भीख न मिले तो भूखा तो न रहेगा । कई दिनकी रोटियां झोलीमें डाले रहता

है और कोई दयालु सेठ कहे कि ये तेरी रोटियाँ बफूड़ गयी हैं, खराब हो गयी हैं, इन्हें फेंक दो तो क्या वह रोटियाँ फेंक देगा ? वह भिखारी बहक जायेगा और अगर सेठ कहे कि जो ये रोटियाँ तेरे सामने रखी हैं तो वह भिखारी उन रोटियोंको फेंक देगा कि नहीं ? फेंक देगा क्योंकि उससे बढ़कर चीज मिली है । तो विषय सुखोंमें जो लगाव है यह न रहे, मिट जाय, यह तब हो सकता है कि इससे बढ़कर कोई आनन्दकी चीज मिले, तभी विषयसुखोंसे मुड़ना हो सकता है ।

आप दूसरेके यहाँ जब भोजन करते हो तो दसों तरहके चीजें परोसी जाती हैं । जो स्वादिष्ट चीज है उसको लेनेके लिए मामूली चीजको मना कर देते हो कि यह चीज मेरे पास हैं, नहीं चाहिएँ । अव्वल तो यह देखो कि केवल कल्पनाकी बात है कि स्वाद किसमें ज्यादा है ? पूड़ी मिठाइयोंमें स्वाद अधिक है या साग रोटीमें । पूरा विचार करके देखोगे तो साग रोटीमें स्वाद अधिक है । पूड़ी मिठाइयोंमें जल्द ऊब जावोगे, घबड़ा जावोगे, चित्त हट जायेगा, पर अपनी जो कल्पनाएँ बना रखी हैं कि वह कीमती चीज है, इसमें ज्यादा स्वाद है । खैर तुम्हें यदि विषय कषायोंसे भी अधिक कीमती चीज मिले तो तुम उनसे मुख मोड़कर खा सकते हो, अन्यथा नहीं ।

यह विषयकषायोंका खिलौना परका खिलौना है, आत्मीय आनन्दका खिलौना तो निजी खिलौना है । जैसे निजी खिलौना बालकको न मिले तो दूसरेके खिलौनेको देखकर रिसा जाता है । पर उस रिसा जानेसे रोना मिट जायेगा क्या ? उसका खिलौना रख दो तो रोना बन्द हो जायेगा । तुम इस परखिलौनेके पीछे पड़ रहे हो, दुःख भोग रहे हो, परपदार्थ अपने रूपसे परिणम रहे हैं, ये मोही जन सोचकर दुःखी हो रहे हैं । हाय यह यों क्यों नहीं परिणम गया ? दुःखी हो रहे हैं । परखिलौनेके पीछे भाग रहे हैं और अपने खिलौने या आनन्दस्वभावकी दृष्टिमें जो स्वयं आनंदमय हैं, उपयोग नहीं देते । हाय ! "आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।"

मैं स्वयं आनन्द स्वरूप हूं आनन्द प्रकट करनेके लिए मुझे कुछ करना ही नहीं है, बाहरसे कुछ नहीं लाना है, बाहरमें कोई योजना नहीं बनानी है, परमात्मस्वरूपका विश्वास अन्यत्र नहीं करना है । वह स्वभावसे यहीं है, पर जो उल्टे कार्य हैं उनको बन्द करना है, जो बाधाएँ आयी हैं उनको दूर करना है । इसी कारण इसको कहते हैं—"टंकोत्कीर्णवत् ज्ञायकस्वरूप ।" टंकोत्कीर्णवत् याने उकेरे हुए प्रतिबिम्बकी तरह यह आत्मस्वरूप है । इसमें दो बातें आती हैं—एक तो टंकोत्कीर्णवत् प्रतिबिम्बकी तरह निश्चल है ज्ञायकस्वभाव । जैसे टाँकीसे उकेरी गयी प्रतिमा निश्चल है, उसका हाथ नहीं मोड़ सकते, कोई अवयव चलाय-

मान नहीं कर सकते। इसी तरह आत्मस्वरूप भी अपने रूपसे चलायमान नहीं हो सकता।

टंकोत्कीर्णवत् दृष्टान्तमें मर्मकी दूसरी बात क्या है कि जैसे एक बड़ा पत्थर कारीगर के सामने रख दिया और बता दें कि देखो इस पत्थरकी बाहुबलीकी मूर्ति बनाना है। कारीगर उसे सूक्ष्मदृष्टिसे देखता है। फिर कहता है कि अच्छा बन जायेगी। बाहुबलीकी मूर्ति उस कारीगरकी निगाहमें आ गयी। अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टिसे उसने मूर्तिको देख लिया। उसे पत्थर में यह दिख गया कि मूर्ति यह है, मूर्ति बनी बनाई है। उसे मिट्टी वगैरा लाकर नहीं बनाना है, किन्तु चारों तरफसे ढकने वाले जो अवयव हैं उनको हटाना है। उन पत्थरोंको हटाते-हटाते जब सब हट जायेंगे तो मूर्ति प्रकट हो जायेगी। उस हटानेमें भी कैसी क्रिया होती है कि पहिले तो लम्बे-चौड़े हाथ मारते रहते हैं, फिर भी संभालकर कि बीचमें न टूट जाये, लम्बे चौड़े आवरक पत्थर बाहर निकाले जाते हैं। मूर्तिका साधारण आकार आ जाता है, फिर बड़ी सावधानी करते हैं। जब और पत्थर निकल जाते हैं तो और सावधानी करते हैं, फिर अत्यन्त छोटी छेनी हथौड़ी आदिसे उन पत्थरोंको अलग करते हैं। तो कितनी तरहके उसके आवरकोंको हटाना पड़ा ?

यही बात इस जीवकी है। जिसके आत्माका परमात्मविकास होना है तो उस कारीगरको इसका परमात्मतत्त्व दीख गया है। यह आत्मा देखनेकी चीज नहीं है, ज्ञान द्वारा देखनेकी वस्तु है अर्थात् जो शुद्ध सहज आनन्दका अनुभव है उसके द्वारा विपत्ति होती है कि परमात्मस्वरूप यह है। उसको प्रकट करनेके लिए कोई चीज नहीं लगानी है, किन्तु उसमें जो बाधक हैं उनको दूर करना है। फिर भी और देख लो, शरीरसे उसे न्यारा करना है तो शरीरसे न्यारा अपनेको समझो। इसमें ज्यादा सावधानी नहीं वर्तना है। विवेकसे यह बतलावो कि यह जुदा है। शरीरकी मिट्टी आत्माके निकल जाने पर पड़ी रहती है। इस शरीर से अपनेको न्यारा समझो। अपनेसे चिपटे हुए बाधक जितने भी पदार्थ हैं सबको न्यारा करो। सबको न्यारा किया, हटाया, अब और भीतर बढ़ते जा रहे हैं विभाव पर हैं, निमित्त पाकर होते हैं। भीतर चलकर वितर्क, विकल्प, विचारोंको हटावो और चलकर छुटपुट ज्ञानको हटावो। यह ज्ञान भी मेरा नहीं है। मैं तो अखण्ड हूं। यह खण्ड ज्ञान है। इस प्रकार अखण्ड ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिमें समाधि हो जाती है तो उस बलसे ये सब विकार दूर हो जाते हैं और परमात्मस्वरूप प्रकट हो जाता है। प्रकट होनेमें चीज नहीं लपेटनी पड़ती, किन्तु जो आवरक लग गये थे उन चीजोंको अलग करना पड़ा।

इस प्रकार टंकोत्कीर्णवत् यह ज्ञायकस्वभाव है। इसका अर्थ यह है कि यह अपनेसे अपनेमें प्रकट होता है। और इसी तरह की सभी बातें हैं। यह जो सांसारिक मौज है यह

भी विकल्प करके प्रकट होता है, अन्य पदार्थोंसे नहीं प्रकट होता। यह तो अपने ही ज्ञानका एक परिणमन है। किसी परपदार्थसे सुख मुझमें आता हो ऐसी बात नहीं है। इस कारण समस्त विश्व, समस्त जगत्के पदार्थ भी इस जगत्के सुखके अंशमात्र भी कारण नहीं है और जहाँ पर जो सुख है, आनन्द है वह तो ज्ञान और त्यागका फल है। ऐसा जानकर कि सुख अपनेमें अपनेसे प्रकट होता है, इस निजमें अपने लिए तुष्ट रहूं और अपनेमें अपने आप सुखी होऊँ।

अद्वैते स्वेऽस्तु दृष्टिर्मा द्वैतेऽद्वैते न संभ्रमः।
विपज्जन्म न मृत्युर्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-१॥

अपने आपके एक अद्वैत आत्मतत्त्वमें दृष्टि हो, किसी द्वैतपर दृष्टि मत हो, अपने आपके मात्र स्वरूप पर लक्ष्य हो, अपनेसे भिन्न किसी भिन्न पदार्थमें दृष्टि न हो। यह बात कही जा रही है आत्मकल्याणकी। गृहस्थ अवस्थामें अनेक द्वैतोंका सम्पर्क रहता है। धनका उपार्जन, कुटुम्बका पालन, समाज और देशकी रक्षाका भी विचार—ये सब बातें गृहस्थावस्थामें होती हैं। इन सबके होते हुए भी ज्ञानी गृहस्थको यह विश्वास बना रहता है कि किसी द्वैत पर भिन्न अर्थपर दृष्टि लगाना अपना समय खोना है, फिर भी वह पद ऐसा है कि जिस पद में द्वैतोंसे वास्ता पड़ता रहता है। स्वाद तो उस ज्ञानी गृहस्थके भीतरकी वृत्तिमें और आत्मा के विश्वासमें आता है।

एक विनोदका चुटकला है कि बादशाह और बीरबल थे। बादशाह बीरबलसे बोला कि बीरबल, आज रातको मैंने एक स्वप्न देखा। बीरबलने कहा—कहो महाराज। बादशाह ने कहा कि मैंने स्वप्नमें देखा कि हम तुम दोनों घूमने जा रहे थे। रास्तेमें दो गड्ढे मिले जो पास-पास खुदे हुए थे। एक गड्ढेमें तो भरा था गोबर और दूसरेमें भरी थी शक्कर। बीरबल मैं तो शक्करके गड्ढेमें गिर पड़ा और आप गोबर मलके गड्ढेमें गिर पड़े। बीरबल बोले—महाराज हमारा और आपका न जाने कैसा दिल है कि जो कुछ तुमने स्वप्नमें देखा वही हमनें देखा। हमने भी देखा कि हम दोनों घूमने जा रहे थे, रास्तेमें दो गड्ढे मिले, सो तुम तो गिरे शक्करके गड्ढेमें और हम गिरे गोबर मैलके गड्ढेमें। मगर इसके आगे थोड़ा और देखा कि हम तुमको चाट रहे थे और तुम हमको चाट रहे थे। तो बीरबलको स्वाद किसका आ रहा था ? शक्करका। और बादशाहको स्वाद किसका आ रहा था ? गोबर तथा मलका।

ऐसे ही भैया, बाह्यपरिस्थितिसे गृहस्थोंकी दशा गोबरमें पड़ी हुई जैसी है। चारों ओरकी आफत है, घर है, समाज है, देश है, आये गयेका सम्मान है। साधु लोग आते हैं,

चाहे नाराज होकर, गुस्सा होकर चले जायें, पर गृहस्थ ऐसी वृत्ति रखता है कि साधु नाराज न होने पायें, गुस्सा न होने पाये। ठीक-ठीक ये चले जायें। धार्मिक मामलोंमें, सामाजिक मामलोंमें तो क्षुब्ध हैं, गोबरमें पड़े हुए हैं। मगर ज्ञानी गृहस्थ जिसकी दृष्टि निर्मल है, जिसने अपने आपके स्वरूपका यथार्थ परिचय पा लिया है कि मैं सबसे न्यारा हूं, केवल अपनी सत्तामात्र चैतन्यस्वभावी एक आत्मतत्त्व हूं। ये जो अपने उपयोगमें वर्तता है ऐसे ज्ञानी गृहस्थ को स्वाद किस बातका आता है ? उसे उसकी निर्मलतासे शुद्ध आनन्दका स्वाद आता है। और एक पुरुष भावुकतामें आकर या किन्हीं झंझटोंमें आकर या कुछ विरक्त हो जाये जिसके कारण गृहस्थीको छोड़ देता है, त्याग वृत्ति आती है, उसकी परिस्थिति बाहरसे शक्करके गड्ढेमें पड़ी हुई है, क्योंकि दुकानकी चिंता नहीं, खानेकी चिंता नहीं, भूख लगी तो अनेक बुलाने वाले होते हैं। कुछ चिंता नहीं, कुछ फिक्र नहीं। शक्करके गड्ढेमें पड़े हुए बाहरके त्यागी हैं, पर भीतरमें अपने आपके स्वभावकी दृष्टि नहीं करते। कोई उसकी खबर ही न होवे और भी बाहर-बाहरकी बातोंमें ही चित्त होवे या जिन विषय कषायोंसे ऊबकर गृहस्थ हटना चाहता है और कदाचित् त्यागी जन उन विषयकषायोंकी ओर झुकना चाहता है, कुछ-कुछ ख्याल करता है कि गृहस्थीमें बड़े सुख हैं, इनको तो मोज आ रहा है, तो उसे स्वाद किसका आया ? गोबरका, आकुलतावोंका, मलिनताका। स्वाद आता है दृष्टिसे और दृष्टिके अनुसार बनती है सृष्टि। जैसी दृष्टि हो वैसी ही इस जीवकी सृष्टि बनती है। दुनिया की सृष्टि करने वाला परमात्मा है, ऐसी जो प्रसिद्धि है साधारण जन समाजमें वह बात कैसे बन गयी, फैल गयी ? इसपर जरा विचार तो करो। बात तो मूलमें यह है कि जीव जितने हैं, वे सब अपनी कल्पनाओंसे अपनी सृष्टियोंसे अपनी परिणति पाते चले जा रहे हैं और अर्थ पर्याय, व्यञ्जन पर्यायरूप होते चले जा रहे हैं अर्थात् अपनी कलासे अपनी सृष्टि नाना रूप बनाते चले जा रहे हैं। इन सब जीवोंको सहजस्वरूपमें देखो तो वे सब ईश्वरस्वरूप हैं। ईश्वर कहते उसे हैं कि जो ऐश्वर्यशाली हो, अपना काम करनेमें अपने आप समर्थ हो, दूसरेकी प्रतीक्षा, परिणति, पराधीनता लगती न हो, उसे ईश्वर कहते हैं।

एक गाँवपति जमींदारकी किसी विदेश, बाहरी गाँवसे कोई अटक नहीं रहती है। गेहूं उसके खेतकी मिट्टीसे पैदा होते हैं, मिट्टीका तेल मिट्टीमें पैदा होता है, कपड़ा यह भी मिट्टीसे पैदा होता, शक्कर आदि भी मिट्टीसे पैदा होती है। जैसे गाँवपतिको, जमींदारको किसी दूसरेसे कुछ अटक नहीं है तो उन जमींदारोंको ईश्वरका बेटा कहते हैं। जैसे कहते हैं ना कि "इक गाँवपति जो होवे सो भी दुखिया दुःख खोवे।" जमींदार लोग स्वयं अपना काम बना लेते हैं। किसी अन्यकी अटक नहीं रहती। इससे वे गाँवके ईश्वर कहलाते हैं। अटक

तो यहाँ भी चल रही है, पर इन आत्मतत्त्वोंको तो देखो, इनकी तो अत्यन्त स्वाधीनता है।

आत्मा है और परिणमता है—यह तो है कर्तापन और जिस रूप परिणमता है वह परिणाम इसने पा लिया, प्राप्य हुआ वह है कर्म और अपनी ही परिणतिक्रियाके द्वारा अपने परिणाममें पाया है, यह है उसका साधन, करण और जिस रूप भी यह परिणमा उस परिणमनका प्रयोजन फल इसको उसी समय मिल जाता, यह है उसका सम्प्रदान और यह अपने पूर्वपर्यायोंसे बिलग होकर नवीन परिणतिमें आता है, वह ध्रुव ही है, यह है उसका अपादान। सम्बन्ध तो उसका कारक ही नहीं है। संस्कृतमें से, सम्बन्ध नामकी बात तो अटपट है और यह परिणम गया, जिस रूप परिणम गया, उसको उसके आत्मप्रदेशोंमें देखो, एक अद्वैतमें देखो, यह है अधिकरण। केवल एक वस्तुके स्वरूपको देखो तो इसने अपनेमें किया, अपने द्वारा किया, अपने लिए किया, अपनेसे किया। इसका "यह सृष्टिका काम कैसा स्वतंत्र है और उस काममें यह प्रभु है, समर्थ है, इसलिए सब जीवोंका नाम ईश्वर है और ये सब इसीलिए अपनी-अपनी सृष्टिमें निरन्तर लगे हुए हैं।

जैसे प्रसिद्धि है ना कि जगत्को ईश्वरने बनाया। उसने सोचा कि "एकोऽहं बहु स्याम ॥" मैं एक हूं, मैं बहुत रूपोंमें होऊँ। उसकी मंशा हुई तो मंशा होते ही सृष्टि बन गई, उसे ज्यादा परिश्रम नहीं करना पड़ा। उसकी मंशा हुई, इच्छा आयी, भाव आये और सृष्टि बन गई। यह बात तो सब जीवोंमें होती है। इस जीवके हाथ-पैर तो हैं नहीं कि किसी चीजको ठोंके, पीटे, बनाये। जीव तो एक अमूर्तवस्तु है। यह भाव करता है और सृष्टि बन जाती है, मंशा करता है और रचना हो जाती है। निमित्तनैमित्तिक सहज सम्बन्धपूर्वक रचना हो जाती है। इस प्रकार हम और आप सब अपने आपके भाव बनाते रहनेके काममें लगे हैं। जब हम भाव बनाने मात्रके अधिकारी हैं तो हम क्यों नहीं भाव उत्तम बनाते जिससे मुफ्त ही मेरी सृष्टि बन जाये। हम भाव बनाते हैं और सृष्टि करते रहते हैं। केवल भावोंकी ही तो बात है।

जैसे बच्चे लोग बैठकर पंगतका खेल करते हैं कि इनकी ओरसे पंगत हो रही है। बड़ा पत्ता हो तो उसको पत्तल मान लिया और छोटे पत्तेको रोटी मान लिया, बड़े कंकड़को गुड़की भेली मान लिया और छोटे कंकड़ो चने मान लिया। अब देखिये भाव बनानेसे ही कंकड़, चने और गुड़की भेली हो गई। केवल भाव ही किए ना, तो हे बच्चे लोगों, इन भावों से ही रोटीकी जगह उसे पूड़ी क्यों नहीं मान लेते? चनोंको बूंदी क्यों नहीं मान लेते? अर्थात् परोसते समय यह कहा कि लो यह पूड़ी है, लो ये बूंदी हैं। एक बच्चेके भावकी बात कह रहे हैं। यह मात्र दृष्टान्त है। रोटी, गुड़ परोसनेमें ही मौज ले रहे हैं तो ऊँची चीज

कहकर खेलनेकी मौज लें। वहाँ पर भी सारी करामात भावोंकी ही है। यह भी देखो कि वहाँ तो केवल खेल है, पर यहाँ तो यह बात गुजरती है कि खोटे भाव किए कि वहीं आकुलताएँ हो गयीं। कान्ति घट गयी, कँप हो गया, दुःख हो गया। यह तो भीतरमें बात गुजरी और कालान्तरमें बाहर क्या गुजरता है कि कीड़े बन गये; पशु बन गये, नारकी बन गये, तो खोटे भावोंसे यह गुजरता है और बजाय उन खोटे परिणामोंके उत्तम परिणाम हो जायें तो आनन्द आये। यदि अच्छा परिणाम किया है तो व्यवहारमें भी परिणाम अच्छा है।

सद्व्यवहारके लिए सबसे पहली बात तो यह है कि हम दूसरोंका आदर करें। दूसरोंका हम आदर करते हैं, आदरके वचन बोलते हैं तो वहाँ कोई शंका नहीं रहती है। बड़े प्रेमसे बोल बर्तावके कर्मोंको करते हैं। जो सुनते हैं वे भी प्रसन्न रहते हैं। आगेका समय भी ठीक-ठीक गुजरता है। और किसीका अपमान करो, निरादर करो, दुर्वचन बोलो, इसका क्या फल है कि दुर्वचन बोलनेके पहिले बोलने वालेको अपनेमें संक्लेश तैयार करना पड़ता है, हिम्मत बनानी पड़ती है, भीतरमें एक दुःख अनुभव करता है। पहली तो यही खोटी बात गुजरी, और दुर्वचन निकल गया तो फिर वापस नहीं आता।

जैसे धनुष तानकर बाण छोड़ दें तो वह वापिस नहीं आ सकता। बाणके छूट जाने के बाद हाथ जोड़कर ऐसा निवेदन करें कि ऐ बाण, लौट आवो, मुझसे भूल हो गयी, मेरी गल्ती हो गयी, मुझे खबर नहीं रही, ताव आ गया था, दिमाग दुरुस्त न था, ऐ बाण लौट आवो, ऐसा निवेदन करनेसे बाण वापिस हो आयेगा क्या ? नहीं। इसी तरह जब बोलते हैं तो धनुषका सा आकार मुंहका बन जाता है। जैसा टेढ़ा धनुष होता है वैसा ही मुख हो जाता है। जब धनुष चढ़ाते हैं तो बाँस तो टेढ़ा है ही, डोरी भी टेढ़ी हो जाती है। इसी तरह जब बोलते हैं तो मुंह भी टेढ़ा हो जाता है और दुर्वचन बोलने वालेका तो बड़ा लम्बा चौड़ा धनुषाकार मुंह बनता है। शान्तिसे बात करने वालेका मुख लम्बा चौड़ा नहीं बनता है। खोटे वचन बोलें तो उसके मुखका बहुत बड़ा धनुषाकार बन जाता है। इस मुखधनुष से कुछ भी हो, मर्मभेदी वचन बाण निकल गया तो निकल जानेके बाद अब वचनोंसे प्रार्थना करो कि ऐ वचन, वापिस हो जाओ तो नहीं हो सकता है। इसीसे दुर्वचन बोलनेके बाद क्षमा मांगो तो बड़ी कठिनाईसे हो पाता है। क्षमा सद्व्यवहार यह है कि दूसरोंके सम्मानकी बात बोलें, आदरकी बात बोलें। इस तरहसे खोटा वातावरण बढ़िया हो सकता है।

यदि सद्भाव होता है तो सृष्टि उत्तम होती है। जब भावोंसे ही सारी बात हममें गुजरती है तो विवेक यह कहता है, बुद्धिमानी यह कहती है कि अपने भाव निर्मल हों, शुद्ध हों, सब जीवोंके प्रति सुखी रहनेकी भावना हो, किसी जीवको अपना विरोधी न समझें, यह

सद्भावोंकी सबसे प्रधान बात है। कोई भी हो, ऐसे भी हो कोई कि विरोधसे जो चलता रहता है, कुछ बिगाड़ करनेका यत्न करते रहते हैं तो इस पर भी सोचो तो सही कि वह मेरे विरुद्ध नही कर रहा है। उसका कषाय परिणमन इसी प्रकारका उत्पन्न हो रहा है, सो वह अपना कषाय परिणमन कर पाता है, इसके आगे कुछ नहीं कर पाता है। अव्वल तो उसके निमित्तसे मेरा कुछ बिगाड़ नहीं होता है। मैं तो अपनी कल्पना बनाता हूं तब बिगाड़ कर लेता हूं।

भैया, सोचो तो सही कि जब भी हमें कोई दुःख होता है तो उस दुःखमें हमारा अपराध है कि दूसरोंका अपराध है ? हमारे दुःखमें हमारा ही अपराध है। एक यह बात अगर घर कर जाये कि हम जब जब दुःखी होते हैं तब अपने ही कसूरसे दुःखी होते हैं, दूसरे के अपराधसे हम दुःखी नहीं होते हैं। सो हम जब दुःखी होंगे अपना अपराध निरखने लगेंगे कि मैंने अपराध किया है, मुझे दुःख क्यों हुआ ? मुझे तो दुःख हो ही नही सकता था। यह तथ्यकी बात अपनी अनेक घटनावोंमें घटावो। जब जब दुःख लगे हों उन प्रसंगोंमें देख लो कि इसमें मैंने कसूर क्या किया जो दुःख हुआ ? हमारे कसूरके बिना दुःख हो ही नहीं सकता। अब एक समस्याका उत्तर लो, जब कि हम तो सदाचारसे रहते हैं, किसीका कुछ बिगाड़ नहीं करते हैं, किसी प्रकारका कोई असद्व्यवहार भी नही है, तिस पर भी कोई बैरी हमें गालियाँ दे, अपयश करे, यहाँ वहाँ यद्वा तद्वा बके सो वहाँ यह प्रश्न होता है कि मैंने तो कुछ भी अपराध नहीं किया, फिर यह दुःख क्यों हो गया ? मेरी कोई बात खोटी हो तो यह बात ठीक है कि मेरे अपराधसे मुझे दुःख हुआ है, किन्तु मैं दूधका धोया हूं, मैं कुछ मलिनता भी नहीं करता हूं, पापवृत्तिमें नहीं करता हूं, मेरा क्या कसूर है ?

अब इसका समाधान देखो—इसमें कसूर पहिला तो यह है कि उस ओर तुम्हारी दृष्टि क्यों गयी कि उसने ऐसा क्यों किया ? यह ऐसा क्यों कर रहा है ? तुम अपनी परिणति में आत्मबुद्धि ऐसी फंसाये हो कि तुम वहाँ संकट अनुभव कर रहे हो। संकट कुछ है नहीं। ज्ञान वेदा जाता है। इतनी ही तो वेदना है, इसके आगे कुछ नहीं, पर तुम स्वभावदृष्टिसे खिगकर ओर अन्य-अन्य विकल्पोंमें आ गये, बस यही तुम्हारा कसूर है और इस कसूरके कारण तुम दुःखी हो रहे हो। और भी दूरकी बातें सोचो तो फिर यह लगेगा कि पूर्वजन्म में, पूर्व समयमें खोटी प्रवृत्ति की थी, मेरा यह आजका कसूर नही है, पहलेका है। सो अब जो दुःख हो रहा है वह अपने ही कसूरसे दुःख हो रहा है। दूसरेके अपराधसे दुःख नहीं होता है। एक यही बात जीवनमें उतारकर चलो तो बहुत सी परेशानियोंको दूर कर सकते हो।

मेरी दृष्टि अद्वैतदृष्टि हो, द्वैतमें नहीं। एकको ही लक्ष्यमें लेना है, जान लेना है, वहाँ

जो गुजरता है, उत्तम गुजरता है। अद्वैत भावमें न विपत्तियाँ हैं, न जन्म है, न मरण है, न कोई संकट है। उस अद्वैतबुद्धिसे चिगे कि विपत्तियाँ भी हैं, जन्म भी है, मरण भी है, सब कुछ है। सो मैं अद्वैत भावना करूँ, और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

यत्र कुत्राप्यवस्थायामस्मि तत्रैव यत्नतः।
कृत्वा सत्याग्रहं शान्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-१०॥

मैं किसी भी अवस्थामें होऊँ उस ही अवस्थामें यत्न करके और सत्यका आग्रह करके शांत होता हुआ अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ। जगत्में कौनसी स्थिति ऐसी है कि जिस स्थितिमें आप संतोष कर सकें कि बस अब हमें पूर्ण सुख हो गया है। क्या ५० हजारकी स्थितिमें कोई संतोष कर लेगा ? ५० हजारकी स्थिति हो जाने पर वह उससे आगे की बात देखेगा। फिर कितनेमें संतोष कर लेगा ? क्या लाखमें, क्या करोड़में ? किसी परमें संतोष किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि जब परका लक्ष्य है, तब ऐसी स्थितिमें अमौलिकता स्वयं बर्त रहे हैं, वहाँ वे संतोष कैसे कर लेंगे ?

लोग सोचते हैं कि अभी साल दो सालमें यह काम कर लेंगे या लड़का काम करने लायक बन जायेगा तो मैं सर्व चिंतावोंको छोड़कर केवल धर्मसाधनामें लगूँगा। पर वह समय ज्यों-ज्यों गुजरता जाता है शांत तो रहना दूर रहा, और भी अशान्ति बढ़ जाती है, बीमार बहुत हो गये तो बीमारीकी अवस्थामें यह सोचने लगते हैं कि अब तो और कुछ नहीं करना हैं, इस बीमारीसे निवृत्ति हो जाये तो केवल धर्मसाधनामें ही लगूँगा, देर नहीं लगाऊँगा। क्योंकि यदि बीमारीमें गुजर गये तो फिर मामला ही साफ हो गया। धर्म न कर सके, इसका बड़ा खेद है। अब इससे निवृत्ति हो जानेपर केवल धर्मसाधनामें ही लगेंगे, ऐसा सोचता है। पर बीमारीसे निवृत्ति होने पर वे विचार धीरे-धीरे उड़ते जाते हैं और उसी स्थानमे आ जाते हैं जो बीमारीके पहलेकी स्थिति थी—राग, रंग, मोह वही सब बातें आने लगती हैं।

कोई सोचे कि मैं कुछ समय बाद जब आजीविका स्वतन्त्र बना लूंगा या अन्य बात बना लूंगा तब मैं धर्मसाधनामें आगे बढ़ूंगा तो आगेका समय आने पर वह फिर असंतोषमें बढ़ जाता है। और वे अपनी इच्छायें, धार्मिक अभिलाषायें पूर्ण नहीं कर सकते। सो भैया, कुछ भी अवस्था हो इस सम्बन्धमें अभीसे ही धर्मसाधनाकी क्रिया करनी चाहिए। मनमें यह नहीं लाना चाहिए कि मैं इतना कर लूं फिर फुरसत खूब मिल जायेगी तब धर्मसाधना करूँगा। जैसी भी स्थिति हो, गरीबोंकी स्थिति हो, संकटकी स्थिति हो और जिस-जिस प्रकारकी स्थिति हो, इस स्थितिमें ही मार्ग निकालना, विभाग करना, धर्मसाधना करना उचित है।

भैया ! धर्म तो एक भावनाका नाम है । सद्भावना, शक्तिचिंतन, रागद्वेषरहित अपनी वृत्ति बनाना यह सब धर्मका पालन है और व्यवहारमें पूजा, वंदनादिक जितनी भी क्रिया की जाती है वे सब इस धर्मकी साधनाके लिए की जाती हैं । किसी भी अवस्थामें हों उस ही अवस्थामें यत्न करके और सत्य जो निज आत्मतत्त्व है, यथार्थ सहज अपने आपके ही अस्तित्वके कारण जैसा जो कुछ मैं हूं उसका आग्रह करके, विचार करके, आलम्बन करके, विश्वास करके शांत होऊं और अपने आप सुखी होऊं । यदि आगेकी स्थिति सोचते हो कि मैं ऐसा बन जाऊंगा तब यह धर्म करूंगा तो यह पता नहीं कि अभी तो सोच रहे हैं कि आगे निवृत्तिकी स्थिति आयेगी, पर यह भी तो संभव है कि इससे अधिक मोह और लगाव की स्थिति बन सकती है ।

जैसे कोई कहता था, कोई क्या यहींकी बात है । एक माँ जी कहती थीं वर्षों पहले कि मेरा बच्चा संभल जायेगा तो हमें खूब निवृत्ति हो जायेगी और कोई चिन्ता न रहेगी तब मैं धर्मसाधना करूंगी । बादमें पूछा तो बोली कि अब यह पोता हो गया तो इसको भी खिलाना पिलाना पड़ता है । अब भी सोच लो कि वह पोता समर्थ हो जायेगा तब निवृत्ति मिल जायेगी क्या ? उसके आगे एक बात और आ जायेगी । जैसे जैसे लम्बा टाइम कटता जाता है तैसे तैसे लेनेके देने पड़ जाते हैं । पर धर्मक्रियाके लिए, ज्ञानार्जनके लिए अपने आपमें एकाकी शांत वातावरण रखनेके लिए हम वर्तमानमें यत्न करेंगे नहीं और आगामी कालको सोचते हैं कि ऐसा करेंगे । तो यह पता नहीं कि आगे समय आये तो उस समय भाव किस प्रकारके बन जायें पता नहीं कि उस स्थितिसे कुछ गिरेंगे कि ऊँचा उठेंगे ।

एक जगह प्रश्न व उत्तर किया है कि 'त्वरितं किं कर्तव्यं विदुषा संसारसंततिच्छेदः' विवेकी पुरुषको, विद्वान् पुरुषको बहुत ही जल्दी कौनसा काम कर लेना चाहिए ? यह प्रश्न है । उत्तरमें कहा गया है कि संसारकी संततिका छेद कर लेना चाहिए । संसारकी संतति है मोह, तो उसका विनाश कर लेना चाहिए । सांसारिक पदार्थोंसे मोह हटा लेना चाहिए । सो सोचते यह हैं कि इतना मोह और अभी कर लें, फिर इसके बादमें मोहका नाश ही कर लेंगे । इसका मोह और कर लेनेका मतलब यह है कि मोह और आगे आयेगा । देखो भैया, ६ खण्डकी विभूतिके मालिक चक्रवर्ती, बड़े राज वैभवमें रहते हुए भी अपने ज्ञानको सावधान रख सकते हैं । निर्लेप, सबसे पृथक् अपने आपमें झुके हुए रह सकते हैं तो क्या इस अल्प समागममें रहकर सबसे अलग अपने आपके विचारोंमें किसी भी समय नहीं रह सकते ? सब अपना प्रमाद है और जिस प्रमादमें ऐसा भाव आता है, अभी देखा जायेगा अभी तो ठीक है, आगे देखा जायेगा उस प्रमादसे हम अपनी बरबादी कर रहे हैं । सो निष्प्रमाद होकर अपने

आपको साधनाके लिए इसी समयसे यत्न करना चाहिए।

एक ऐसी किम्बदन्ती है भैया ! कि एक बार नारद घूमनेके लिए नरक गये। सो वहांपर खड़े होने तककी भी जगह नहीं थी, झट वहांसे झुंझलाकर चले आये। बादमें बैकुण्ठ गये तो वहाँ बाराका सारा स्थान खाली पड़ा था, केवल विष्णु महाराज लेटे हुए थे। नारद बोले—महाराज, नरकमें तो इतनी भीड़ है कि खड़े होने तककी भी जगह नहीं है और यहाँ सब खाली पड़ा है, केवल आप अकेले पड़े आराम कर रहे हैं, यह कैसा पक्षपात है ? विष्णु भगवान्ने कहा कि अच्छा मैं तुम्हें इजाजत देता हूं कि जितने जीव तुम चाहो यहां ले आवो। नारदने मनुष्यलोकमें आकर सोचा कि अब किससे स्वर्ग चलनेके लिए कहें ? पहले बूढ़ोंसे ही कहें। एक बूढ़ा व्यक्ति मिला, नारदने कहा कि चलो हम तुम्हें स्वर्ग ले चलें। भैया ! स्वर्ग बिना मरे कोई जा नहीं सकता है यह बात तो सब जानते हैं। बाबा जी भी जानते थे। सो बाबा जी ने दो-चार गालियां सुनायीं। बोला कि हमीं तुमको मिले फाल्तू, जावो किसी दूसरे को ले जावो। इसी तरहसे नारदजी ५-७ बूढ़ोंके पास गये, पर कोई भी वहां जानेके लिए तैयार न हुआ।

अब नारदने सोचा कि कोई भी बूढ़ा जानेको तैयार नहीं होता है, तो अब जवानोंके पास जायें। सो नारद अब जवानोंके पास आए। एक दो से कहा कि चलो भाई हम तुम्हें स्वर्ग ले चलें। एक १६ वर्षका जवान बालक मिला जो कि मंदिरके चबूतरे पर बैठा माला फेर रहा था। नारद बोले—बेटा, चलो हम तुम्हें स्वर्ग ले चलें, तो वह तैयार हो गया। दस कदम तो चला और फिर बोला कि महाराज, मेरी एक बात तो सुनो, अभी-अभी सगाई हो चुकी है, दो तीन दिन शादीके हैं। घरके अन्दर सब कुछ प्रबन्ध हो चुका है। बराती भी आ रहे हैं, सो आप कृपा करके ५ वर्षके बाद आना तब हम चलेंगे। कहा—अच्छी बात। शादी हो गयी। ५ वर्षके बाद नारद उसके पास आए। बोले—बेटा चलो। लड़का बोला कि यह एक बच्चा हो गया है, इसको जब तक पैरों पर न खड़ा कर दें तब तक कैसे चल सकते हैं, तो कृपा करके आप २० सालके बाद आना, हम जरूर चलेंगे। २० वर्षके बाद नारद आए, बोले—बेटा चलो। तो वह आदमी बोला कि बेटेकी भी शादी हो गयी है। अब पोतेका तो मुख देख लें। कृपा करके आप १० वर्षके बाद आना तब हम चलेंगे। दस वर्ष बीत गए। नारद आए, बोले—बेटा अब चलो। तब वह पुरुष बोला कि महाराज, बड़ी गृहस्थी हो गयी। बड़े परिश्रमसे धन कमाया है, पुत्र कुपूत हो गया है, यह सारा धन बरबाद कर देगा, इसलिए इस भवमें अब हम न जा सकेंगे। कृपा करके आप दूसरे भवमें आना तब हम आपके साथ जरूर चलेंगे। तो वह मरकर सांप बन गया और जहां पर धन गड़ा था

उसी जगह पर रहने लगा। अब वहां भी नारद गए, बोले—अब तो चलो तो वह अपने इशारेसे फन हिलाकर कहता है कि पुत्र कुपूत हो गया। मैं धनकी रक्षाके लिए यहां सांप बन गया। मैं अब तो नहीं जा सकता।

नारद जी फिर स्वर्ग आये व बोले—महाराज, कोई भी स्वर्ग आनेके लिए तैयार नहीं होता है। आपका इसमें कोई पक्षपात नहीं। एक कथानक है उसमें आत्मतत्त्वकी बात यह है कि जगत्में जीव ऐसा ही अनजान है कि जिसमें अंतः प्रेरणाकी बात, अपने शुद्ध आत्मस्वरूपके दर्शनकी बात नहीं होती है और बाह्यदृष्टिसे बाहर बाहरका डोलना ही बना रहता है, यह महान् खेदकी बात है अन्य कोई खेदकी बात न'ीं है। दुकानमें घाटा पड़ गया तो पड़ गया, कुछ और हो गया तो हो गया, परिवारमें इष्टका वियोग हो गया तो हो गया, उनका कुछ संकट नहीं। ये जो बाहरके पदार्थ है, जैसी उनकी स्थिति है वैसा होता ही रहेगा। मुझ पर संकट तो मोहका है। इस मोहके स्वप्नमें यह असार बात भी सार नजर आती है, विनाशीक चीज अविनाशीक नजर आती है। अशरण तत्त्व शरण नजर आता है, यही बड़ा संकट है।

भैया, एक कोई गांव है, सच्ची घटना बतला रहे हैं। उस गांवमें एक किनारे एक बढ़ई रहता है। वहांसे जो कोई मुसाफिर निकलता है वह उस बढ़ईसे तो पूछता है कि फलाने गांवका रास्ता किस तरफ है ? तो वह बढ़ई हंसी मसखरी करता है। क्या ? कि गांव तो पूरबमें है और बता दिया दक्षिणको कि इस तरफसे जाना है और साथमें यह कहता जाता कि देखो इस गांवके आदमी सब मजाकिया है, झूठ बोलकर हंसी करने वाले हैं। सो गांवमें तुम किसीसे जाकर पूछोगे तो वे उल्टा ही रास्ता बतावेंगे। अब वह मुसाफिर आगे चलता है तो जैसे बच्चोंको किसी बातको मना कर दें तो उनकी इच्छा उसी कामके लिए होती हैं। इसी तरह वह मुसाफिर भी गांवमें किसीसे पूछता है वे बेचारे सही बताते हैं, पर वह मुसाफिर दिल्लगी मानता है। किसीसे फिर पूछता तो वे बेचारे भी बताते हैं, पर मुसाफिरके तो एक बात जम गयी कि उस गांवके सब लोग मजाकिया हैं। उसने समझा कि सब उल्टा रास्ता बता रहे हैं। गांव तो दक्षिणमें है और बताते पूरबमें हैं। इसी तरह दो-चार जगह पूछा, सबने सच्ची बात बता दी। समझा सब मजाकिया हैं, सो दक्षिणके रास्तेसे धीरे धीरे दूसरे गांवमें पहुंचा और वहां पूछा तो उसे लौटना पड़ा।

इसी तरह सबसे बड़ा दुःख तो भ्रमका है। राग द्वेषसे भी बढ़कर और कुछ कह सको उससे भी बढ़कर अधिक संकट जो है वे भ्रमसे हैं, मोहसे हैं। क्योंकि भ्रम एक ऐसा जाल है कि उसके कारण जीव संसारमें घिरा ही रहता है। उसको मुक्तिका मार्ग नहीं मिल

पाता अर्थात् स्वयं मुक्तिस्वरूप जो यह आत्मतत्त्व है, सबसे निराला केवल अपने चतुष्टयरूप जो यह स्वयं सहज आत्मतत्त्व है उसकी दृष्टि नहीं हो पाती है। सो सबसे बड़ा संकट है हम आप किसी पर तो यह है एक मोहका संकट और इस मोहमें ये सब बातें ऐसी दिखती हैं कि यह मेरा ही तो है, यह घर मेरा ही तो है। ये स्त्री पुत्र मेरे ही तो हैं, यह वैभव मेरा ही तो है, मैं ऐसा ही तो हूं, असत्य बात सत्य सत्य समझमें आ रही है।

जैसे स्वप्नमें जो कुछ दिखता है वह सब सत्य लगता है। इसी प्रकार मोहके आशय में यह दृश्य सत्य लगता है। क्यों भैया! स्वप्नके समय तो सब सत्य जान पड़ता है ना? अगर स्वप्नमें कोई सांप दिख जाये और वह खानेको दौड़े तो सोते हुएमें भी चिल्ला उठते हैं। स्वप्नके समयकी बात सत्य नजर आती है। इसी तरह मोहके कालमें सब कुछ सत्य नजर आता है। तत्त्वकी बात तो यह है कि कुछ भी सत्य नहीं है। मैं तो केवल मात्र अपने चेतनास्वरूपको लिए हुए एक सत् हूं। पर भ्रममें यह सब दिखता है कि यह सब कुछ सत्य है। यही एक सबसे बड़ा संकट है और मोह नष्ट हो जानेके बाद, ज्ञान जग जानेके बाद यह भी उसमें शक्ति नहीं रहती कि किसी भी परपदार्थको अपना तो मान ले। ऐसा वह ज्ञानी पुरुष हो जाता है।

एक मनुष्य था। उसे नींद आ गयी। वह स्वप्नमें देखता है कि राजाने मुझे ५० गायें इनाममें दी हैं। एक ग्राहक बोलता है कि मुझे १० गायें चाहिएं। बोला—छांट लो। छांट लिया, बोला—कितनेमें दोगे। १००-१०० रुपयेमें कहा—५०-५० में दे दो। ८०-८० में देंगे। लो अच्छा ७०-७० में दे दो। ६०-६० में दे दो। ८० से कम न देंगे। दोनों अड़ गये, झड़प हो गई, यह स्वप्नकी बात कह रहे हैं। इतनेमें उसकी नींद खुल जाती है। वह पहिले तो मौज मानता था कि ७०-७० दे रहा है, ७०० यों ही हो जावेंगे। अब जगने पर देखता है कि यहां तो कुछ भी नहीं रहा, तो आंख मींचते हुए कहता है कि अच्छा ७०-६० ही दे दो। भैया, अब उसके आंख मींचनेसे क्या होता है? वह तो स्वप्नकी बात है, सो भैया, बहुत बड़ी ऊंची समस्या है हम आप पर मोहके संकटोंकी, और कोई समस्या हम आपपर नहीं है। यही सबसे बड़ी समस्या है कि हम परपदार्थोंको अपना समझते हैं और उनसे ही अपना बड़प्पन समझते हैं। इतनी जो भीतरमें वृत्ति बनी हुई है यह सबसे बड़ा संकट है। भैया, चाहे समागम बना रहे, बातें करते जायें, उद्यम होता रहे, लेकिन भीतरमें ऐसा विश्वास तो न रखना चाहिए कि मेरा कुछ है। अरे शरीर भी तो मेरा नहीं है। जो राग किया जाता है वह भी तो मेरा नहीं है। ये विकार भी आते हैं और मिटते हैं। और

तो क्या, जो परिणमन होता है वह भी तो मेरा बनकर नहीं रहता है, विलीन हो जाता है। मैं तो सदा रहने वाला एक तत्त्व हूं। ऐसा गुप्त मैं आत्मतत्त्व हूँ कि जिसके परिणमनसे भी बाधा नहीं बँध पाता है। परिणमन चलता रहता है, पर उससे बंध नहीं हो पाता है। परिणमन होता है और विलीन हो जाता है। मैं वहीका वही हूं।

मैं अकेला हूँ, मेरा अन्यत्र कुछ भी नहीं है, ऐसी दृष्टि किसी क्षण आवे अथवा भीतर में किसी भी क्षण ऐसा ज्ञानस्पर्श हो तो मनुष्य होना सफल है। समागम अच्छा पाया, श्रेष्ठ कुल पाया, श्रेष्ठ धर्म पाया, सब कुछ पाया, पर जीवन तो सफल तब है जब मुक्तिका मार्ग मिले। हम झंझटोंसे कैसे छूट सकते हैं इसकी समझ तो आये। भैया, जिनसे छूटना है उनसे हम आप अलग ही हैं, ऐसा ज्ञान होना ही उनसे छूटनेका मार्ग है। शरीरसे छूटना है तो शरीरसे अलग अपनेको समझो। मेरा स्वरूप शरीरसे अलग है, ऐसा भान हो तो यही शरीर से छूटनेका उपाय है। राग द्वेष मोहके फंदोंसे छूटना है तो यह समझो कि मैं उनसे अलग हूँ, यह मेरा स्वरूप नहीं, ऐसी दृष्टि बने तो उनसे छूट सकते हो।

शुद्ध सहज अपने आपके अस्तित्वके कारण स्वरसतः जिस प्रकार जो हो वह दृष्टिमें आ जाय तो मुक्तिका मार्ग है और दूसरा शांतिका मार्ग नहीं है। सो अनेक उपाय करके अभीसे इसके लिए लगना चाहिए। आगेकी हमें प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए कि इतना कर चुकनेके बाद मैं इस कामको करूंगा, ऐसी मनमें प्रतीक्षा न करके जिस भी स्थितिमें हो उसके विभाग बना लो और अपना काम करो।

पुरुषार्थ चार होते हैं—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। धर्मके मायने पुण्य है, क्योंकि धर्मकी बात मोक्षमें शामिल है। अर्थके मायने धन कमाना। इसमें दुकान चलाना, और भी अर्थसाधक दूसरे कामोंको खबर रहना है, यह अर्थ पुरुषार्थ कहलाता है। काम पुरुषार्थमें विषयभोग, पालन, सेवा आदि आ जाते हैं और मोक्ष पुरुषार्थ पंचम कालमें है क्या ? नहीं। वह अभी किसीको नहीं मिलता है तो इसके बजाय एक और पुरुषार्थ है जो आपको पसंद आवेगा। आज कहो तो बता दें, आप खुश हो जावेंगे। यह पुरुषार्थ है नींद लेना अर्थात् सोना। अब ये चार पुरुषार्थ रह गये—पुण्य, अर्थ, काम व नींद। दिन-रातके २४ घंटे होते हैं, तो सबका बराबर-बराबर समय बाँट दो। ६ घंटे धर्ममें लगावो, ६ घंटे अर्थकार्यमें अर्थात् धन कमानेमें, ६ घंटे काम पुरुषार्थमें रहो, अपने बच्चोंके पालन-पोषणमें रहो और ६ घंटे नींद लेनेमें रहो। सुबहके जो घंटे हैं धर्म करनेके, उनमें ५ ही घंटे रख लो, एक घंटा कामके समयमें लगा दो। जरासी अदल-बदल हो जायगी, मगर बिल्कुल सीधा हिसाब है और ऐसी ही प्रायः चर्या हो रही है। जो अपने मार्गमें लग रहे हैं उनकी अपनी इस चर्या

से जो कुछ भी धन कमाते हैं उसमें ही संतोष रखकर उसके विश्राम करके जितना हो सके धर्ममें लगाओ, और जो कुछ बचे उससे अपना गुजारा करो। अगर यह भाव हो कि मैं धर्म आगे करूंगा तो पता नहीं कि आगे दिमाग सही रहेगा कि नहीं ? यह धर्मकी बात तो इसी समय करनेकी है और इसीमें हित है।

कश्चित् कालश्च देशः स्यात् पूर्तिर्मे तद्गुणैर्न हि।
शुद्धवृत्तिर्यतः स्वास्थ्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-११॥

कोईसा काल हो, कोईसा देश हो, किसी देश या कालके गुणोंसे मेरी कुछ पूर्ति नहीं है, पूर्ति तो शुद्ध वृत्तिसे है। शुद्ध परिणमना, स्वभावरूप वर्तना इससे ही मेरी पूर्ति होती है। अपनी प्रगति, विकास, आनन्द, शांति अपने आपमें अपने आपके द्वारा पा लिया जाय, इससे ही अपनी उन्नति है। दूसरोंकी परिणतिसे अपनी उन्नति नहीं है।

जब कहते हैं कि काल खराब है, तो उसका तात्पर्य यह है कि हीनपुण्य, हीनवृत्ति, हीन आचार, हीन विचारके लोगोंका समुदाय जब होता है तो उसीको कहते हैं कि काल खराब है। जैसे कालद्रव्यकी भी पर्याय शुद्ध है, धर्मद्रव्यकी तथा अधर्मद्रव्यकी भी पर्याय शुद्ध होती है। इसी तरह आत्मद्रव्यकी भी पर्याय शुद्ध रहती है। कालद्रव्यकी पर्याय अशुद्ध नहीं, काल खराब नहीं, पर जब प्राणी खराब होते हैं तो कहते हैं कि काल खराब है। इसी प्रकार देशकी बात है। देश क्या है ? किसी जगहके आकाश प्रदेशोंको देश कहते हैं। देश क्या खराब है ? जहाँ रहने वाले लोगोंके आचार-विचार श्रद्धान बुरे होते हैं उस ही को कहते हैं कि देश खराब है।

कोईसा भी काल हो, कोईसा भी देश हो, उनके गुणोंसे यहाँ बात नहीं बर्तती। यहाँ की परिणतिसे ही यहाँकी बात बर्तती है। जैसे सोचो तो कालने हमें खराब किया कि हमने कालको खराबकी संज्ञा दिला दी। कालने हमें खराबकी संज्ञा दिलायी कि हमने कालको खराबकी संज्ञा दिलायी, समयने हम आपको खोटेकी संज्ञा नहीं दिलायी, क्योंकि समय तो शुद्ध पर्याय है। कालद्रव्यमें अशुद्ध पर्याय नहीं होती तो काल खोटा कैसे हो जायेगा ? समय क्या खराब है ? समय तो समयरूप है। जिस समयमें प्राणी खोटे पाये गये उस समयको खोटा कहा जाता है। वस्तुतः हम और आप जब कोई शुद्ध वृत्तिसे रहते हैं वही विवेक स्वास्थ्य है और उससे ही यह आत्मा हरा-भरा पूरा है। आत्मा जब भरा पूरा होता है तब उसमें शांति है। आत्मामें जब शांति है तो वही उसका सोनापन है।

भैया ! आत्माकी पूर्ति तो आत्मवृत्तिसे होगी। जैसे बताया है एक जगह कि आशा कभी गड्ढा परिग्रहसंचयसे परिपूर्ण नहीं होता। बल्कि यह ऐसा विचित्र गड्ढा है कि जितना

परिग्रह हो, संचय हो उतना ही यह गड्ढा गहरा होता चला जाता है। जमीनके गड्ढेकी बात दूसरी तरहकी है कि उसमें कूड़ा-करकट, मिट्टी, ढेला डालते गए तो वह भर जायेगा, पूरा हो जायेगा। फिर उसमें कुछ डालनेकी गली न होगी, पर आशाका गड्ढा ऐसा है कि यहाँ कुछ भी मिल जाये, कुछ भी परिग्रह संचय हो, पर यह गड्ढा पूरा नहीं होता। इसी तरह आत्माको भी भरे पूरे होनेकी बात है। बाह्य दृष्टियोंसे बाह्यपदार्थविषयक आकुलताओं से आत्मा भरा-पूरा नहीं हो पाता। चिन्ताएँ हो जाएँ, बाह्यदृष्टियाँ हो जायें तो आत्मा भरा पूरा नहीं होता है। इसकी पूर्ति अपने आपकी दृष्टियोंसे, अपने आपको उपयोगमें लानेसे, अपने आपके ज्ञानके अभ्याससे होती है। सो अपनी शांतिके लिए बाह्यविकल्प छोड़कर अपने आपके स्वरूपको जानें और जानते रहें, यही सुखका मार्ग है।

मे चैतन्यस्य शास्त्रं क्व, चर्चा ज्ञानं क्व कल्पना।
स्वतो बहिर्न धावानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-१२॥

मैं एक चैतन्यमात्र वस्तु हूं, इन चैतन्यमात्र वस्तुके बाहर मेरा कुछ नहीं है। इसमें कहाँ तो शास्त्र, कहाँ चर्चा, कहाँ ज्ञान और कहाँ कल्पनाएँ ? बाह्यमें जानन वैभवकी तो कथा करना ही क्या है ? वह धन वैभव तो आत्मामें है ही नहीं। वह तो प्रकट भिन्न मालूम होता है, पर जो अपने आपमें हैं रागद्वेष आकुलताएँ चैतन्यमात्र निजस्वरूपको देखो वहाँ नहीं है। जैसे प्रतिक्रमणमें कहते है कि मेरा दुष्कृत मिथ्या हो, मेरे पाप मिथ्या हों, क्या कह देने से पाप मिथ्या हुए ? इसमें तत्त्व यह है कि मेरेमें वह दृष्टि प्रकट रहे, उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप की दृष्टि बनी रहे कि जिस दृष्टिमें शुभ अशुभ विभाव परिणतिकी दृष्टि ही न हो। जहाँ इनकी अवस्थिति ही नहीं है ऐसी शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि हो।

चित्स्वभाव चैतन्यशक्ति जो कि ज्ञानगम्य है, स्वसंवेद्य है, वह चित्स्वभाव जिस दृष्टिमें है ऐसी वृत्तिमें रहने वाले ज्ञानी पुरुषके वहाँ विभावमें उपयोग नहीं है, शुद्ध तत्त्वका जो अनुभव कर रहा है, ज्ञान कर रहा है, ऐसे किसी किसी पुरुषमें क्या क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं हैं ? हैं। बर्तते रहने पर भी उपयोगमें जब शुद्ध चित्स्वभाव है तो उपयोगमें कषायें नहीं हैं। वहाँ कषाय आत्मामें है, पर उपयोगमें कषाय नहीं है। उपयोगमें शुद्ध तत्त्व है, ऐसी स्थिति जब कभी होती है तो चौथे गुणस्थानमें भी और ऊपरके गुणस्थानमें भी अधिक समयके लिए होता है, चौथे आदि गुणस्थानोंमें कम होता है तो यह उपयोगमें आ जायेगा कि यह मैं सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। वहाँ अन्य कुछ उपयोग ही नहीं है।

शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टिमें ही वह प्रताप है कि जो विशेष कर्मनिर्जरा होती है, आत्मीय आनन्द विशेष प्रकट होता है, उस आत्मीय आनन्दमें वह शक्ति है कि कर्म ईंधनको

यह जला दे, इष्टोपदेशमें लिखा है कि 'आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम् । न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ।'

आनन्द बद्धकर्मइंधनको बड़े प्रबल कर्मरूप ईंधनको जला देता है । कर्म भस्म होता है आनन्दके द्वारा, कष्टोंके द्वारा नहीं । जहाँ लोग देखकर कष्ट सहते हैं ऐसे बाह्य रूपोंके बीच रहते हुए तपस्वी अन्दरमें आनन्दका स्वाद लिया करते हैं । उस आनन्द परिणतिका निमित्त पाकर कर्म खत्म होते हैं, निर्जीर्ण होते हैं, उन बाहरी कष्टोंका निमित्त पाकर कर्म खत्म नहीं होते हैं ।

प्रश्न—फिर ये बाह्य तप किये क्यों जाते हैं ? उत्तर—ये तो किए जाते है दो कारणोंसे । पहला तो यह कि विषयकषायोंका उपयोग न रहे, इसके लिए तप है और विषय कषायोंका न रहना जीवके लिए भला है । जब अनशन आदि अन्य अन्य विविध तपस्याओंमें लगते हैं तो विषय कषायोंसे पराङ्मुखता होती है और ऐसी स्थितिमें यह जीव शुद्ध तत्त्वकी ओर सुगमतया लगता है । दूसरी बात यह है कि बड़े आरामसे पाया हुआ ज्ञान यद्यपि वह शुद्ध ज्ञान है, सही ज्ञान है, यथार्थ है तो भी कदाचित् कोई कष्ट आ जाये, भूखे रह जानेकी नौबत पड़े, और और भी कष्टोंका अवसर आवे तो उस स्थितिमें भी यह अपने ज्ञानको नहीं खो सके, ऐसा इसमें बल रहे उसकी तैयारी है तपस्या । उन तपस्वियोंका जब अभ्यास होगा और उन तपोंसे सहनशील बनेंगे, कष्टसहिष्णु होंगे तो अचानक कभी कोई उपद्रव आवे, संकट आवे, दुःख भी आ पड़े तो भी उन समयोंमें यह जीव अपने ज्ञानकी रक्षा कर सकता है । इसलिए बाह्य तपका विधान है । और फिर तीसरी बात यह है कि बड़े आराम, सुकुमार और सुख पसंदगीसे रहनेकी जब वृत्ति होती है तो वहाँ प्रकृत्या भाव शुद्धताकी ओर नहीं बढ़ता है, प्रमाद होता है, मुक्तिके आधारोंमें अस्वाधीन होता है, आलस्य होता है । इसलिए तप करना, संयम करना यह सब प्रयोजनकी बात है ।

तपोंमें प्रधान लक्ष्य यह है कि अन्तरमें उपयोग आत्माके उस शुद्ध सद्भावको ग्रहण करता रहे कि यह मैं चित् स्वभावमात्र एक चैतन्यतत्त्व हूं । जिस किसी भी स्थितिमें थे वह स्थिति दूसरे क्षण न रही, अन्य स्थिति आ गई तो यह भी दूसरे क्षण न रहेगी, तो उन क्षणों को, उन स्थितियोंको हम क्यों ग्रहण करें और क्यों उनमें फंसे रहे ? क्यों उनको आत्मारूप मानते रहें ? वे उस चैतन्यका स्वरूप नहीं । यह छुटपुट ज्ञान अथवा ज्ञानका कुछ भी परिणमन स्वभाव है यह भी विलीन हो जाता है । ज्ञानका साधन जो शास्त्र है, शब्द रचना है यह भी मुझ चैतन्यका नहीं है । मैं तो ध्रुव चेतनारूप हूं । मैं अपने इस स्वरूपसे बाहर न दौड़ूं और अपनेमें अपने लिये अपने आप सुखी रहूं ।

यह विभाव परिणमन इतने वेग वाला है कि इसको बहुत ऊँचा अमृत तत्त्व इस ज्ञानमें नहीं मिले तो यह तो अपने वर्तमान पदके आधारमें भी नहीं चल सकता। जैसे तेज चलने वाले, बहने वाले पानीके रोकनेके लिये तेज रुकावट चाहिए, इसी तरह इस विभाव परिणमनसे चलते हुए जीवको बहुत तेज रुकावटकी दृष्टि चाहिए। वह रुकावट है शुद्ध चैतन्यस्वरूपका आलम्बन, विश्वास, ज्ञान। अपने उस ज्ञानका बहुत-बहुत उपयोग लेकर यह मैं अपनेमें अपने आप सुखी होऊँ। अपनेसे बाहर-बाहर अपना आनन्द ढूँढ़ते रहें तो असंतोष ही मिलेगा। संतोष मिलेगा तो अपने आपके आत्मदर्शनमें मिलेगा।

भैया! बाहरमें अपना संतोष नहीं मिल सकता, क्योंकि बाह्यपदार्थ तो अपने आपके स्वामी हैं। वे स्वयं अपने आपमें परिणमते हैं। वे स्वयं अपने आपकी क्रियावती शक्तिसे रहते हैं। आते हैं, जाते हैं, बिछुड़ते हैं। सो जब वह बिछुड़ता है तब उनके उपयोगमें यह जीव कष्ट अनुभव करता है। फिर संतोष इसे कैसे हो? संतोष होगा तो इसे अपने आपमें ही होगा। किसी जीवका कुछ सुधार हो जाये तो लोग क्या उपाय रखते हैं कि उसको कोई धक्का दें, संकट ला दें, विरोध करें दुःख पहुँचानेके लिए। किन्तु उन उपायोंसे ज्यादा दुःख नहीं पहुंचता। हाँ, उसे कोई काम लगा दिया जाये, तृष्णा लगा दी जाय तो उससे ज्यादा वह कष्टमें पड़ जायेगा। तो अब यह बतलावो कि जो परिजन इतनी तृष्णाकी लाइनमें लगा देते हैं तो स्पष्टतः उन विरोधियोंसे बढ़कर ये विरोधी नहीं है क्या?

वस्तुतः न कोई विरोधी है और न कोई मित्र है। यह जीव ही स्वयं अपने आप अज्ञानमें वर्तता हुआ अपना विरोधी हो रहा है और अपने आपके ज्ञानसे वर्तता हुआ मित्र बन जाता है। कोई किसीका न विरोध करता और न कोई किसीका बोधकपना करता है। सब अपने-अपने कषायसे अपनेमें परिणमते रहते हैं। किसीने उन परिणमने वालोंको इष्ट मान लिया, अनिष्ट मान लिया तो मान लिया, पर कोई किसी दूसरेका करता कुछ नहीं है। मैं अपनेमें ही अपना व्यूह रचता हूं और दुःखी होता हूं। व्यूहको छोड़ दूँ और अपने आपको अपने शुद्ध भावको देखूँ तो सारे संकट दूर हो जाते हैं। हमने स्वयं ही अपनी कल्पनाओंसे अपने ऊपर संकट लादा है और दूसरे हम ही अपनेमें शुद्ध ज्ञान करके संकटोंको त्याग देंगे। हम ही अपने आपके करने वाले हैं। चाहे अपनेको हम ही बुरा बना लें, चाहे अच्छा। किसी दूसरे जीव पर कोई विरोध जड़ दे, यह तो अविवेक है और दुःख बढ़ानेका साधन है।

भैया! दूसरोंके कसूरको सोचनेसे दुःख दूर नहीं होते हैं, क्योंकि उसमें बाह्यदृष्टि बढ़ जाती है। मैं अपनेसे बाहर किसी जगह दौड़ न लगाऊँ और अपनेमें अपने आप स्वयं

सुखी रहूं। एक छोटासा किस्सा है। एक किसान किसानिन थे। किसानिन तो शांत थी, पर किसान उद्दण्ड था। किसानिनके शांत होनेके कारण किसान उसे पीट नहीं सका। और उसके मनमें यह रहे कि मैं उसे पीट लूं। जब कोई कसूर नहीं तो कैसे पीटा जाय? सो एक दिन खेत जोतनेमें एक बैलका मुंह पूरबको कर दिया और एकका पश्चिमको। जुआ रखकर उसमें हल फंसा दिया। यह किस समय किया, जब कि स्त्री रोटी देने आती थी। सोचा कि ऐसा देखकर स्त्री कुछ न कुछ तो कहेगी ही—क्या बेवकूफ हो, इसी तरहसे घर को चलावोगे। बच्चोंका पेट इसी तरहसे भरेगा, कुछ न कुछ तो ऐसा कहेगी ही, बस पीट देंगे। पर वह स्त्री आयी और सब जान गयी। कहती है कि चाहे औंधा जोतो चाहे सीधा जोतो इससे हमें कुछ प्रयोजन नहीं, हमारा तो काम केवल रोटी देनेका है सो लो। इतना कहकर वापिस हो गयी।

हम ऐसी वृत्तिसे ही अपनी शक्ति माफिक अपने ज्ञानको समझा-बुझाकर रहें कि इसकी यह परिणति इससे ही इस तरहकी उठी है और यह ऐसा परिणम रहा है और यहां यह परिणम रहा है, ऐसी वस्तु है और ऐसा परिणमन है, इतना मात्र देखो। उनसे मेरेमें कुछ बिगाड़ हो रहा है यह न तको। यदि विपरीतस्वरूप नहीं तकते तो सावधानी है। बाहरमें सैकड़ों कष्ट रहें उनसे कुछ बिगाड़ नहीं होगा। अपनी कल्पनाएं बनाकर, अपना अर्थ बनाकर अपनेको दुःखी कर लेते हैं। सो हम अपनेको तकें, दुःखी न समझें, अपनेसे बाहर हम न दौड़ लगावें, किन्तु अपने आपके गुणको छूते रहें व अपनी कमीको दृष्टिमें लेते रहें, यही हमारे सन्मार्गगमनका उपाय है।

मे चैतन्यस्य क्षोभः क्व ? तृप्तिस्तृष्णा क्व बन्धनम् ।
क्वाज्ञानं क्व विपत्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-१३॥

मैं चैतन्यस्वरूप हूं। इस चैतन्यस्वरूप मुझ आत्मतत्त्वके क्षोभ कहां है? कहां तृप्ति है, कहां तृष्णा है, कहां बंधन है, कहां अज्ञान है, कहां विपत्ति है? अपने आपमें सदा अंतः प्रकाशमान अनादि अनन्त अहेतुक, असाधारण, गुणमय, चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिमें क्षोभ नहीं है। क्षोभ एक विकृत पर्याय है। उस शुद्धदृष्टिमें अशुद्ध व तृप्ति, क्षणिक तृप्ति, इतनी मौज मानकर होने वाली कल्पना, संतोष उस स्वभावमें नहीं है और तृष्णा तो है ही नहीं। तृष्णा तो प्रकट विकृतपर्याय है और बंधन भी नहीं है। बंधन भी विकृतपर्याय है और अज्ञान और विपत्ति भी नहीं है। ऐसे अपने स्वरूपके भावमें संकट नहीं होता है। जब इस स्वरूपकी ओर प्रवृत्ति नहीं रहती, झुकाव नहीं रहता तब बाह्यदृष्टि होती है और बाह्यदृष्टिकी प्रकृति ही आकुलता है सो उस ओर दृष्टिकी भावना, जिस तत्त्वज्ञानीके अधिक रहे वह तत्त्वज्ञानी

पुण्य पुरुष है। ऐसे उस चैतन्यस्वरूप मात्र आत्मतत्त्वमें बसकर अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊं।

बोधि, समाधि, परिणाम शुद्धि, स्वात्मोपलब्धि और शिवसौख्य सिद्धि—ये पाँच पद हितकर हैं। ज्ञान हो, तत्त्व श्रद्धान हो, तत्त्व रमण हो, सो बोधि है, रत्नत्रयकी प्राप्तिका नाम बोधि है और यही बोधि जब बढ़कर निर्विकल्पकी स्थितिमें होती है तब वही बन जाता है समाधि; और समाधिके प्रतापसे उसका परिणाम भी शुद्ध हो जाता है। परिणमन शुद्ध होता है। जहाँ ऐसी शुद्धि हो वहीं शुद्ध यथार्थ आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है। और जहाँ ऐसी आत्मोपलब्धि होती है वहीं पर ही मोक्ष सुखकी सिद्धि होती है। शिवसौख्यसिद्धिका मूल बोधि है और उस बोधिका मूल सम्यग्दर्शन है। और सम्यग्दर्शनका लक्ष्य यह शुद्ध सहज तत्त्व है। इस चैतन्यमात्र आत्माकी दृष्टिमें फिर कोई संकट नहीं। तृप्ति, तृष्णा, बंधन, अज्ञान विपदाएं ये कुछ नहीं होतीं। करनेका काम अपनेको यही है कि जिस तरह बने, जितना बने, जब बने, हेर-फेर कर, रह-रहकर इस अपने निजस्वरूपका पता रहे। इसका ध्यान रहे यह मैं हूँ और ऐसा मैं होऊँ तो शान्ति है। इतना अपनेको अपने आपमें पता हो कि शिवसौख्य सिद्धिकी स्थिति इसकी बुनियाद पर प्रकट हो जाती है। सो निजको चैतन्य-मात्र निरखकर मैं अपनेमें अपने आप सुखी होऊँ।

दुःखे ज्ञानच्युतिर्न स्यात् कायक्लेशेऽपि स्वस्थितिः।
उद्देश्यं ज्ञानिनः तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-१४॥

ज्ञानमें स्थित रहना सो ही धर्मका पालन है, वही मुक्तिका मार्ग है। ज्ञानकी स्थिति का अर्थ है कि ज्ञानका जो स्वरूप है, उसमें ज्ञानकी वृत्ति होना। ज्ञान क्या होता है? वह तो जानन और प्रतिभासस्वरूप है। वह उपयोगमें रहे—'यह मैं हूं' यही धर्मका पालन है। जब यह आत्मस्वरूप उपयोगमें नहीं रहता तब इस आत्मस्वरूपका उपयोग मैं रख सकूं, ऐसी पात्रता बनाए रखनेके लिए ये सब व्यवहारधर्म है। इस व्यवहारधर्मके बिना भी काम नहीं चलता। यह अपनी पात्रताको बना देता है कि जिससे हम अपने ज्ञानस्वरूपमें स्थित हो सकें।

ज्ञानस्थितिके लिए यह तप है। अनशन ऊनोदरादिक तप इसलिए किया जाता है कि कभी दुःख आ भी पड़े तो उस दुःखके समयमें भी हम ज्ञानसे च्युत न हो जायें। हममें वह सहनशीलता रहे कि जिससे हम अपने ज्ञानस्वरूपको बनाये रहें। फिर दूसरे इसके संबंध में भी ऐसी प्रेरणा होती है कि यह मैं आत्मामें ही स्थित हूं। ज्ञानी पुरुषके इन व्यावहारिक धर्मोंका उपदेश, इन तपस्याओंका लक्ष्य निज सहजस्वरूपकी प्राप्ति है। किसलिए ये अनशन

कर रहे हैं, किसलिए यह व्यवहारधर्म कर रहे हैं ? उनका उत्तर ज्ञानीका एक ही है। हमारा उपयोग, हमारा ज्ञान, जैसा मेरा सहजस्वरूप है उसमें रह सके, बस इस स्थितिके लिए ही ये सब धर्म पालन किये जा रहे हैं। यह व्यवहारधर्म ऐसी प्रेरणामें लगा देता है, ऐसे सन्मार्ग में लगा देता है कि जिनसे चलकर हम अपने आपके शुद्ध मार्गमें आ सकते हैं। सो यह मैं भी अपने आपका मूल लक्ष्य यही बनाऊँ।

जैसे कोई पुरुष अपना भवन बनवाता है तो उसका मूल लक्ष्य तो भवन बनवाना है, पर भवन बनवानेके प्रयोजक जो अन्य अन्य बातें हैं। जैसे कि लोहे व सीमेंटका परमिट बनवाना, कारीगरोंको बुलवाना, ये सब उसके उपलक्ष्य हैं। उन कामोंके करते हुए भी सीमेंट की परमिट बनवाने आदिका लक्ष्य है कि आज परमिट बनवानी है। मगर संस्कारमें मकान बनवानेकी बात बन रही है। इसी तरह हम अपने जितने भी कार्य करते हैं—देवपूजा, भगवानकी भक्ति, भगवानके गुणगान करना, गुरुवोंकी उपासना करना, गुरुवोंका सत्संग करना, स्वाध्याय आदि उत्तम क्रियावोंका धारण करना, विषयोंका रोकना, षट्कायके जीवोंकी रक्षा करना, अपनी इच्छावोंका निषेध करना और जो पुण्योदयसे प्राप्त है इस ही समागममें संतोष रखना, व्यवस्था बनाना और धर्मपालन करना और दान करना, जो कुछ अपनेको प्राप्त है उसका परोपकार करनेके लिए वितरण करना—ये सब कर्तव्य श्रावकोंके हैं। इन कर्तव्योंको करते हुए भी ज्ञानी श्रावक अपने आपके स्वरूपका लक्ष्य और उद्देश्य बनाए रहता है।

यद्यपि उपयोगमें जब जो व्यवहार-क्रिया है तब वह ही है, अन्य कोई उपयोगमें नहीं है, मगर संस्कारमें वही शुद्ध मार्ग है जिसके लिए यह सब किया जा रहा है। जैसे किसीके बच्चेका विवाह हो तो उसका बाप कितने और और काम करता है, निमंत्रण देना, पंचोंको बुलाना, भोजन-सामग्री तैयार करना, भोजन कराना, आदर रखना, गल्ती हो तो विनय होना, कितनी बातें बराबर कर रहा है और जो कर रहा है वे सब उसके उपयोगमें हैं फिर भी संस्कारमें वही एक बात है कि बच्चेका विवाह करना है। इसी तरह अनेक बातें होती हैं, पर मुख्य लक्ष्य एक होता है। सो सब क्रियावोंकी उन्मुखता कर लेना ये सब उपलक्ष्य रहते हैं। इस ज्ञानीका लक्ष्य अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि रहना है। इस शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिमें ही आत्मीय आनन्द है। उस आनन्दकी अनुभूति स्वसंवेदनमें होती है सो ऐसे उस शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें स्थिर होकर मैं अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

न स्वज्ञप्ति विना ध्यानं यतः स्वोपासनामयम्।
शुद्धात्मोपासनं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-१५॥

अपने आपकी प्राप्तिके बिना, जानकारीके बिना उत्तम ध्यान नहीं बनता। उत्त

ध्यान वह है जहाँ निजकी उपासना हो। शुद्ध आत्माकी उपासना ही स्वकी उपासना है। यह जीव जब अपनेको अशुद्ध अर्थात् जैसा है उस रूप स्वीकार नहीं करता है तो अशुद्ध पर्याय बनती है और सबसे न्यारा केवल सहज चैतन्यस्वरूपमात्र अपने आपकी प्रतीति करता है तो सबसे न्यारा बन जाता है, शुद्ध बन जाता है, सर्वका ज्ञाता बन जाता है। अपनेको जिस प्रकार माने उस ही प्रकारका इसे फल प्राप्त होता है। समयसारमें लिखा है कि—"सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो। जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि।।"

जो जीव नित्य ही अनवच्छिन्न धारासे शुद्ध आत्मतत्त्वको जानता है वह शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है और जो अशुद्ध आत्मरूपसे जानता है वह अशुद्ध आत्माको प्राप्त करता है। सब ध्यानका प्रताप है। किसी पुरुषके उल्टा ध्यान हो जाये कि मैं एक भैंसा हूं, जिसके बड़े लम्बे सींग है, बड़ा विकराल मोटा ताजा, काला, विशालकाय है ऐसा मैं एक भैंसा हूं सो अपने बारेमें उसे ऐसा ध्यान जमा कि अपनेको भैंसे रूपमें अनुभव करने लगा। संस्कारवश थोड़ा ज्ञान यह भी बना रहा कि यहाँका दरवाजा तो इतना ही छोटा है तो दरवाजेके छोटेपनका तो ज्ञान किया और साथ यह ज्ञान बनाए हुए है कि मैं भैंसा हूं, कितनी बड़ी सींगों वाला हूं तब यह चिन्ता करके घबड़ा जाता है कि हाय, इस कमरेसे निकलूंगा कैसे? कभी कभी सोतेमें अपने आपको ऐसी विपदाओंमें अनुभव करता है तो चिल्ला उठता है ना, और डरकर जग जाता है।

जो स्थिति अपनेको अनिष्ट है उस स्थितियुक्त अपनेको कोई मानता है तो वह घबड़ाने लगता है। ये जो कुछ भी स्थितियाँ हैं वे सब विपदाओंकी स्थितियाँ हैं। जो बने जिस रूप ढले, यह अशुभ स्थिति अच्छा परिणाम देने वाली नहीं है। विषयकषायोंके विकल्प बने हुए हैं तो आत्माको शांति नहीं है, क्योंकि मूलमें ही अपने आपको जैसा नहीं है उस रूपमें मान लिया है। स्वयं जैसा है उस रूपमें स्वको मानें तो उसको संकट नहीं, कोई विपत्तियां नहीं। एक अपने आपके शुद्ध स्वरूपके उपयोगमें क्लेश नहीं है और जब यहाँसे निकले तो सर्वत्र क्लेश है।

भैया! यह संसारी है, दुःखी है तो कोई इसे दुःखी नहीं बनाता है, अपनी ही करतूतके कारण यह दुःखी है। गुरुजी सुनाते थे कि एक कोई पुरुष था, जिसका नाम था मूरखचन्द। लोगोंने उसका नाम मूरखचन्द रखा सो वह कुछ दिन बाद नामसे परेशान होकर गाँवसे भागा। गाँवके लोग कोई भी अच्छी तरह नहीं पेश आते है, ऐसा सोचकर ही गाँवको छोड़कर चल दियो। चलतेमें रास्तेमें एक जगह ठहर गया। वहाँ पर एक कुवाँ था। उस कुवें पर बैठ गया और अपने पैर कुवेंमें लटका लिए। वहाँसे एक मुसाफिर निकला और

उसे इस तरह देखकर बोला—अरे मूरखचन्द ! कैसे बैठे हो ? तो वह एकदम उठा और उस मुसाफिरके गले लग गया और कहा कि भैया ! तुमने हमें कैसे पहिचान लिया कि मैं मूरखचंद ही हूं । पथिक बोला—भैया ! हमको तो नहीं पता था कि तुम्हारा नाम मूरखचन्द है, पर तुम्हारी करतूत देखकर हमने मूरखचंद कहा ।

भैया, कोई नई व्यवस्था नहीं बनाई गयी कि संसारी जीव दुःखी हैं और मुक्त जीव सुखी हैं । जो जैसा उपादान है सो बताया गया है । यह कितना दुःखी है सो सभीके अनुभव में और अंदाजमें है कि कितना क्लेश हैं उन सब दुःखोंकी निवृत्तिके लिये आत्मस्वभावको देखते रहना । आत्माके स्वभावके श्रद्धानमें ज्ञानी आनंदको बनाए रहते हैं । इस उपायके अतिरिक्त जो अन्य उपाय हैं उन उपायोंसे इसके दुःखकी शांति नहीं है । केवल एक ही उपायसे दुःख शांत होता है ।

जैसे मुनीम दुकान पर बैठता है, सब तरहके काम करके भी उसकी श्रद्धामें यह बना है कि मेरा कुछ नहीं है । जो लोग खाते वाले आते हैं उनको वह मुनीम यह भी कहता है कि हमारा आया और इतना गया । मेरा आपसे इतना लेना रहा, ऐसे वचन भी कहता है तिसपर भी उसके विश्वासमें यह बराबर है कि मेरा कुछ नहीं है । मेरा कहकर भी मेरा कुछ नहीं है । इसी प्रकार ज्ञानी जीवके भी अन्य पदार्थोंको मेरा कहकर भी यह विश्वास बना हुआ है कि मेरा कुछ नहीं है । यद्यपि जो विश्वासमें बना है उस ही तरहका प्रयोग व्यवहारमें नहीं है । व्यवहारमें मेरा है कहता है, पर विश्वासमें यह बात है कि मेरा कुछ नहीं है तो भी अन्तर्विश्वाससे ज्ञानी अन्तरमें अनाकुल रहता है ।

एक छोटा बालक था । उसके घरके लोग गुजर गये । जब बाप गुजरनेको था तो चार-पांच आदमियोंको नाबालिगकी जायदादका ट्रस्टी बना दिया । वह बालक खेल रहा था तो वहांसे एक ठग उसे उठा ले गया । ठगने उस बालकको ठगनीको सौंप दिया । ठगनीने उसे पाला पोषा । अब वह बालक १७-१८ वर्षका हो गया । वह ठगनीको मां कहता और ठगको पिता कहता, वहांकी खेती-बाड़ीको अपनी सम्पत्ति कहता । एक दिन जब वह बाजार में गया तो वे ट्रस्टी बोले कि अब अपनी जायदाद संभालो, हम कब तक संभालेंगे । वह बालक सुनता गया । दूसरेने यही बात कही, तीसरेने कही, इसी प्रकार चौथे और पांचवेंने भी कही । वह बालक यह कुछ नहीं जानता था । वह तो ठगनीको मां और ठगको पिता समझता था । समझदार तो था ही, वह बोला कि कुछ दिन बाद आवेंगे । सो वह घर गया और ठगनी मां के पैर पकड़कर पूछा कि बतलावो मैं किसका लड़का हूं ? तो उसकी करुण भाषा सुनकर ठगनी बोली कि तुम अमुक सेठके लड़के हो । उस बालकने समझ लिया कि

वे लोग ठीक ही कहते थे कि अपनी जायदाद संभालो। उस बालकके यथार्थज्ञान आ गया। यथार्थज्ञानमें आकर भी ठगनीको ठगनी नहीं कहता, माँ ही कहता। यदि ठगनीके खेतमें कोई पशु उजाड़ करने घुस आये तो वह उसे हटाता, सब कुछ वही व्यवहार करता। इतना करते हुए भी उसका ज्ञान कुछ और प्रकारका है।

इसी तरह संसारकी विपत्तियोंमें पलापोसा अज्ञानी मानता है कि यही माँ है, यही बाप है, यही मेरा सब कुछ है, यही मेरा धन है। तो उस मानवको कुन्दकुन्दाचार्यने समझाया, पूज्यपादने समझाया, समन्तभद्रने समझाया। फिर वह सोचता है कि सत्य बात क्या है? असत्य बात क्या है? ये लोग सुखकी ही तो बात कह रहे हैं। फिर अपनी अनुभूतिसे पूछा कि माँ बतलावो मैं क्या हू, कैसा हूं? तो उस अनुभूतिने एकदम बताया कि तुम चैतन्यस्वरूप हो। तेरेमें अनन्त सुख भरा हुआ है। जब यह सब समझ लिया, जान लिया तब उसका चित्त स्वनिधिकी ही ओर है, तब बाहरमे क्या बापको बाप नहीं कहता, क्या माँ को माँ नहीं कहता, क्या तिजोरीमें ताला नहीं लगाता? सब कुछ करता है परंतु यथार्थज्ञान हो गया कि मेरा कुछ नहीं है। मैं तो केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूं, जब इतनी प्रतीति रहे, ऐसी दृष्टि रहे तो इस जीवको शांति प्राप्त हो सकती है।

ज्ञप्तिस्त्वस्त्विह सर्वत्र स्वबुद्धेः स्वस्य दर्शनम्।
स्वाचरणं ततोऽस्त्वस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-१६॥

जानकारी सर्वत्र होओ, पर निज आत्मामें आत्मबुद्धि करनेसे निजका दर्शन बना रहे अर्थात् अपने सहज आत्मतत्त्वका भान बना रहे। जानकारी यहाँ भी कितनी ही हो, जानकारी दोष करने वाली नहीं है। दोष करने वाली मिथ्यात्व बुद्धि है।

भैया, एक कथानक है कि एक माँ के दो लडके थे। एक लडका कम देखता था और एक लड़केको दिखना तो अधिक था, पर उल्टा दिखता था, पीला दिखता था। दोनों लडकोंको वह बूढ़ी माँ वैद्यके पास ले गयी। वैद्यने दोनों बच्चोंको एकसी ही दवा दी। दवा सफेद थी। चांदीके गिलासमें गायके दूधके साथ देना बताई। वह बूढ़ी माँ गिलासमें गायका दूध ले आयीं और दवा मिलाकर पहिले उस बच्चेको पिलाया जो कम देखता था। सो और दवा मिलाकर पहिले उस बच्चेको पिलाया जो कम देखता था। सो कम देखने वाले लड़केने दवाको पी लिया। और जो लडका ज्यादा देखता था, पर पीला-पीला देखता था वह दवाको देखकर बोलता है कि माँ मैं ही तुझे एक दुश्मन मिला जो मुझे दवाके बदलेमें पीतलके गिलासमें गोमूत्र दे रही हो और इसमें हडताल मिला रखी है। वह दवाको फेंक देता है और उसने दवा नहीं पी। तो जिसे कम दिखता था उसे लाभ मिला और तो ज्यादा देखता था, पर

उल्टा देखता था वह ज्योंका त्यों रहा। सो जानकारी कम है या ज्यादा है इससे हितका मार्ग नहीं मिलता, किन्तु यथार्थ श्रद्धा हो तो उससे हितमार्ग मिलता है।

सो जानकारी चाहे सर्वत्र हो, चाहे न हो, पर इतना पता बना रहे, इतना भान बना रहे कि यह मैं आत्मा सहज चैतन्यस्वरूप हूं। इतना भान बना रहे तो इस भानके बलसे अपने आपके आत्मामें परम विश्रामरूप सबका आचरण होगा। जीव दुःखी हैं। क्यों दुःखी हैं कि परकी ओर लग रहे हैं। पर पर ही हैं, भिन्न-भिन्न चतुष्टय वाले हैं। मेरे लगावसे उस परमें से कुछ नहीं आता। एक विकल्प बना है उस दृष्टिमें सो विकल्प ही हाथ है, और कुछ हाथ होता नहीं, मात्र विभावपरिणतिका स्वाद लिया जाता है; इस प्रकारका परिणमन है, विकल्प होता है और विकल्पोंसे लदे हुए समय गंवाये जाते हैं। इस वृत्तिमें हित कुछ नहीं प्राप्त होता।

इन जगत्के पदार्थोंको वर्तमानमें देखो जो आपकी आत्माने कमाये नहीं, आत्मा तो केवल भाव ही करता है, ये पदार्थ आ गये तो पुण्योदयसे निमित्तनैमित्तिक की बात हो गई, सो मुफ्त ही तो मिले कहलाये। यहाँ जो कुछ मिलता है वह मुफ्त ही तो मिलता है। आत्माकी उसमें परिणति लगती हो तो बतलावो। इस दृष्टिसे जो कुछ यहाँ मिलता है वह मुफ्त ही मिलता है। यदि इतना धन न मिलता हो तो ठीक, और मिलता हो तो ठीक। उसमें तुम्हारा कुछ नहीं लग रहा है। और जब जायेगा तब वियोग होगा तो मुफ्त ही जायेगा। धन तो मुफ्त ही मिलता है और मुफ्त ही छूटेगा। उसमें आत्माका कोई स्वरूप नहीं चिपका, कोई गुण पर्याय नहीं लगा और फल क्या मिलेगा? फल मिलेगा केवल पाप-बुद्धि, पापपरिणाम।

भैया! एक चोर था। वह कहींसे एक घोड़ा चुरा ले गया और बाजारमें खड़ा कर दिया। सो ग्राहक आया पूछता है कि घोड़ा बेचोगे? तो बोलता—हां बेचेंगे। कितनेमें बेचोगे? ६००) रु० में उसने चौगुने दाम सुनाए। मानो घोड़ा १५०) का था और सुनाया ६०० रुपये। घोड़ेके तेज दाम बतलावे और तेज स्वरमें। इतने महंगे घोड़ेको कोई न लेवे। दस ग्राहक इसी तरह निकल गए। ग्यारहवीं बार एक बूढ़ा चोर आया, वह बोला घोड़ा कितनेमें दोगे? तो बेचने वाला बोला—३००) रु० में, उसने समझ लिया कि यह घोड़ा चोरीका है। इसमें ६०० रुपयेकी क्या बात है? इसकी चाल बढ़िया है। लावो जरा घोड़े की चाल तो देखें। उसने घोड़ेको पकड़ा दिया। उस ग्राहकने एक नारियलका हुक्का उसको पकड़ाकर घोड़ा लेकर भाग गया। अब वे ही ग्राहक जो मेलेमें उस बाजारमें पूछ गये थे वहीं से निकले। एकने पूछा—तुम्हारा घोड़ा बिक गया तो बोला कि हां बिक गया। तो कितनेमें

बिक गया ? जितनेमें आया था उतनेमें बिक गया। तो लाभ तुमको क्या मिला ? लाभमें ४ आनेका नारियलका एक टुक्का मिला।

इसी तरह यहां सब पदार्थ जो मिलते हैं, आत्माको कुछ लेना-देना नहीं है। आप कहेंगे पुण्यका उदय है उसको निमित्त पाकर मिल गये और पुण्य बनता है भावोंको पाकर, ठीक है भैया, किन्तु वर्तमानमें बतलाओ कि तुम्हारा कौनसा परिणाम, भाव, गुण, परिणति ऐसा है जो जिसे धनमे मकान ईंटों आदिमें लगा रहे हो। इस दृष्टिसे सबकी चीज है सो मुफ्तमें मिली है और मुफ्तमें ही चली जायेगी। और परिणाम क्या मिलेगा ? पापका टुक्का। जिन चीजोंमें राग करते हो वे सब न रहेंगी। जो है वह रह गया है क्या ? एक पापपरिणाम, अशुभ परिणाम, कायरता तथा हीनता ही रह गई है।

सारी गलती तो अपनी ही है कि मोह प्रसंगमें, रागद्वेषके प्रसंगमें अथवा मोही जीवों के प्रसंगमें कितना समय अपना गुजरता है और शुद्ध ज्ञानकी भावना बनानेके कामके कितना समय गुजरता है ? जिनमें अधिक समय गुजरता है, वही तो बोझ वाला होगा और जिसमें समय कम गुजरता है तो कम बात होगी, मगर फिर भी ज्ञानकी भावनामें कम भी समय गुजरे और अटपट बातोंमें अधिक समय गुजरे तो भी विजय ज्ञानकी है, मुनाफा ज्ञानसे है, लाभ ज्ञानसे है। २४ घंटोमें से दो-तीन घंटे ज्ञानभावनामें गुजरें और २३ घंटे चाहे अन्य उपयोगमें गुजरें, फिर भी काम ज्ञानका होता है, ज्ञानसे विशेष विजय होती है और यदि कुछ अधिक समय गुजरे ज्ञानकी चर्यामें और भावनामें तब तो कहना ही क्या है ?

भैया, अपने आपमें गुप-चुप छिपे छिपे, झुके-झुके दिखानेका काम नही है। कल्याण की बात करनेको भीतरमे भावना बनानेका काम है, सो कर लो। कोई समझे अथवा न समझे, कोई धर्मात्मा जाने या न जाने, अपने आपमें भीतर ही छिपे हुए भावना ही तो बनाना है। यदि आत्माकी भावना बनाना, आत्मपोषण किया तो आत्महित किया और यदि काम नहीं किया और बाहरी सारी व्यवस्था कर दी तो हितके लिए कुछ नहीं किया। गुरुजी एक दृष्टांत सुनाया करते थे कि एक हाटमें एक वृद्ध पुरुष साग-भाजी लेने जाता था। पड़ोसकी दस-बीस स्त्रियां उस बूढ़े महाराजसे साग खरीदवाती थीं। सभीका साग खरीद दिया व खराब सड़ा साग अपने लिये खरीदकर घर गये याने सबको साग निकाल-निकालकर देते गये और बादमें सड़ोसी साग जो रह गयी वह लाकर अपनी बहूको दिया। बहु उस सड़ी सागको देखकर नाराज हो गयी। बोली—तुमने क्या किया ? बूढ़ेने अपनी परोपकारकी सब बातें सुनायीं। बहू बोली कि आपने अच्छा किया। लेकिन पहिले अपनेको साग रख लेते और बादमें सबको दे देते।

भैया, अपनी दृष्टि पहिले शुद्ध, निर्मल बना लो, ऐसा होनेके बाद फिर दूसरोंका हित हो, कल्याण हो, वह होता रहे, कोई हर्जकी बात नहीं। अपनी व्यवस्था बना लो तो उससे लाभ है जो कि भावात्मक व्यवस्था है। कुछ करने धरनेकी बात नहीं है, हाथ चलानेकी बात नही है, केवल एक भावना बनानेकी बात है। यह है अपनी व्यवस्था। यह अपनी व्यवस्था कर दी जाय और फिर दुनियाकी व्यवस्था हो जाय तो अच्छा है। जो अपनेको ही भूल जाय और दूसरोंकी खबर रखे तो जगतमें उसका ठिकाना कहाँ होगा ? कौन-कौन जन्ममरण होते रहेंगे, कैसे कैसे होता रहेगा, ये सब अटपट बातें होंगी।

एक बाबू साहब व्यवस्था बनानेमें बड़े चतुर थे। वे अपने दफ्तरमें व्यवस्था बना रहे थे। जिस जगह जो चीज रख दी वहाँ उस चीजका नाम लिख दिया। व्यवस्थाके मायने है कि उस चीजको बर्तनेके बादमे फिर उसी जगह उस चीजको रख देना। यह नहीं कि जैसे चूल्हेके पास जहाँ चाहे धनिया जीरा सब रख दिया। जब जरूरत धनियेकी हुई, डिब्बा खोला जा रहा है जीरेका। फिर कोई दूसरा डिब्बा उठाया, अरे यह भी कोई व्यवस्था है ? इतनेमे चाहे बघार ही जल जाय। जो चीज जहाँ रखना है उसको उसी जगह रखनेका नाम ही व्यवस्था है। सो बाबूजी ने घडीकी जगह पर घड़ी रख दी और 'घड़ी' उस जगह पर लिख दिया। घड़ीकी जगहपर घड़ी और कोट, कमीज आदिकी जगह पर कोट, कमीज आदि रखकर लिख दिया और सब व्यवस्था बना दी। व्यवस्था करते-करते नींद आने लगी और पलंग पर जब लेट जाते हैं तो उस खाटकी पाटी पर लिख देते हैं—मैं सो गया। जब सुबह जगे तो देखते है कि हमारी सब व्यवस्था बढ़िया है कि नही ? घडी आदि सब कुछ ठीक देखा। फिर पलंगकी पाटी पर देखा 'मैं' लिखा हुआ देखने लगे कि मैं कहाँ है ? पलंगकी पाटी पर, सिरहाने पर सभी जगह देखने लगे कि मेरा मैं कहाँ है ? एकदम घबड़ा गये और झट अपने नौकरको बुलाया। बोले—भाई मेरा 'मैं' खो गया। नौकर हंसने लगा, बाबूजी ने कहा कि देखो तुम मजाक करते हो। यदि जानते हो तो बतलावो। नौकर हाथ जोड़कर बोला—बाबूजी आप थक गये हैं कृपा करके आराम कर लें, आपका 'मैं' मिल जायेगा। पुराने नौकरका विश्वास आ गया कि ठीक बोलता है। बाबूजी थक बहुत गए थे इस 'मैं' की धुनमें। कहा—बाबूजी, आप आराम कर लीजिये देखिए आपका 'मैं' मिलेगा कि नहीं। वे पलंगपर लेट गए। अब नौकर बोला कि अब आपका 'मैं' मिल गया तो सोचा और एका-एक बोले—हाँ मेरा 'मैं' मिल गया। इसी प्रकार ज्ञानमय यह आत्मा स्वयंको बाहर खोज रहा है। अरे तू ही तो आत्मा है।

आत्मा ज्ञानपिण्ड है आत्मामे रूप है कि रस है ? पकड़ सकते हो कि छू सकते हो। कुछ भी तो नहीं कर सकते हो। ज्ञानभाव और आनन्दभाव, बस इन्हीं भावोंका नाम आत्मा है। जो ज्ञानघन और आनन्दघन है इसीके भावमें आत्मा है। जो ज्ञानघन और आनन्दघन है इसीके मायने आत्मा है। घनका अर्थ क्या है ? घनका अर्थ वजनदार नहीं, खूब मोटा नहीं, घनका अर्थ है—जहाँ दूसरा तत्त्व न हो उसे घन कहते हैं। जिस तत्वमें दूसरा तत्त्व न हो उसका नाम घन है। जैसे कि गगरीमें पानी भरा है, तो पानी जितना भरा है उसके बीचमें दूसरा तत्त्व नहीं है। जैसे कहते हैं कि जहाँ दूसरी चीज कुछ न लगी हो। घन उसको कहते हैं जहाँ दूसरा भाव न हो, केवल वस्तुका स्वरूप है।

यह आत्मा ज्ञानघन है अर्थात् ज्ञान ही ज्ञान सर्वत्र है। इस ज्ञानमें अन्य कोई भाव नहीं जुटा हुआ है। ऐसा ज्ञानानन्दघन यह मैं आत्मतत्त्व हूं। सो भी यह जीव ज्ञानको बाहर में ढूंढ़ता है। तो उसका अर्थ है कि बाहरमें 'मैं' को ढूंढ़ता है। यह बाहरमें आनन्दको ढूंढ़ना है इसका अर्थ है कि बाहरमें 'मैं' को ढूंढ़ना है। ज्ञान व आनन्दमें और 'मैं' मे फर्क नहीं। यदि बाहरमें ज्ञान आनन्दको ढूंढ़ते हैं तो इसका मतलब है कि बाहरमें 'मैं' को ढूंढ़ते हैं। बाहरमें 'मैं' को खोजो, कहीं भी नहीं मिलेगा। आनन्द और ज्ञानकी बात अपनेमे ही है, आनन्द कोई बाहरकी चीज नहीं। इसकी खबर हो, इसकी व्यवस्था बने, फिर पीछे सब व्यवस्थाएँ बनती रहें।

मान लो मकानकी अच्छी व्यवस्था कर ली तो क्या हुआ ? मकानको छोड़कर जाना ही तो पड़ेगा। मकानकी व्यवस्थामे इसे मिलेगा क्या ? और और व्यवस्थाएँ कर लो, धन-वैभवकी व्यवस्थाएँ कर लो, पर उनको छोड़कर जाना ही होगा। तो उनसे मिलेगा क्या ? इसकी गाँठमे रहेगा क्या ? और अपनी व्यवस्था कर ली जाये, ज्ञानानन्दमात्र मैं हूं, इस तरहकी भावना बना ली जाये तो यही अपनी व्यवस्था है और अपने आपका पालन-पोषण है। शरीरके विकारसे, शरीरकी किसी बातसे आत्माको दुःख नहीं होता है वहां तो शरीरमें कुछ बात गुजर गयी, किन्तु उस पर राग लगा है, मोह लगा है, सो जो वेदना हुई वह राग और मोहकृत वेदना है, शरीरकृत वेदना नहीं है, पर वह मोह राग इस ढंगसे सब है। सब लोग सब कुछ वेदना शरीरसे ही समझते हैं। जहाँ अज्ञानरूप बुद्धि हुई उससे यह वेदना होती है। अपनी ओर झुकाव नहीं हुआ और बाहरमें ही रहे तो दुःख प्राप्त होंगे ही, सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

एक घटनाकी बात है। दम्पति थे एक पुरुष व स्त्री। स्त्री हठीली थी। उसने एक बार यह सोचा कि सासू जी को छकाना चाहिए। सो पेट दर्दका, सिर दर्दका बहाना लेकर

पड़ गयी । पति जी को बहुत आकुलता हो गई । पतिने स्त्रीसे पूछा कि कहाँ दर्द होता है ? किस डाक्टरसे दवा करायें ? कई डाक्टर बुलाये, ठीक ही न हो । तब स्त्री बोली कि डाक्टर की दवासे यह नहीं ठीक होगा । रात्रिमें देवता लोग बता गए हैं कि डाक्टरकी दवासे यह नहीं ठीक होगा । रात्रिमें देवता लोग बता गए हैं कि जो तुमसे अधिक प्यार करता हो उसकी माँ यदि सवेरा होते ही सिरके बाल घुटाकर और मुंह काला करके तुम्हारे पास आ जाय तो तुम बचोगी, नही तो मर जावोगी । पुरुषने सब रहस्य समझ लिया । उसने झट अपनी ससुरालको पत्र लिख दिया कि लड़कीकी तबियत बहुत खराब है । किसी डाक्टरकी दवासे नहीं ठीक होगी । देवताओंने बताया यदि लड़कीकी माँ सवेरा होते ही सिर घुटाकर और मुंह काला करके आ जाये तो लड़की ठीक हो जायेगी, नहीं तो सुबह बाद मर जायेगी । माँ बाप के तो ममता होती ही है । माँ अपने सिरके बाल बनवाकर मुंह काला करके सवेरा होते ही आ गई । जब स्त्री काले मुंहको देखती है तो कहती है कि 'देखो बीरबानी की चालें, सिर मुंडे और मुंह काले ।' जब उस स्त्रीने गौरसे देखा तो बहुत लज्जित हुई ।

पर, पर सब एक समान हैं । पर जितने हैं वे पर ही तो हैं । इसके लिए तो एक यह सब ही हितकर है । बाह्यसे कहीं उसका हित नहीं है । इसलिए अपने आपके दर्शन हों अपने आपका आचरण हो, जितना बन जाये भीतरमें उतना ही आनन्दका उपाय है । परकी हठसे कुछ लाभ नहीं है । हमे चाहिए क्या ? एक तो देवभक्तिकी आदत रहे, णमोकार मंत्र जपें, परमेष्ठीका स्मरण भी रहे—एक तो यह चीज और दूसरी चीज यह कि अपने आपको यह पता बना रहे कि यह मै सबसे निराला शुद्ध निर्मल तत्त्वस्वरूप हूं । बस ये दो ही बातें तुम्हारे धर्मके लिए बहुत कुछ है । सो प्रभुभक्ति व आत्मध्यान ये दो ही सहारे हैं, व्यवहारमें तो प्रभूभक्ति और निश्चयमें आत्मध्यान । प्रभुभक्तिको व्यवहार क्यों कहा ? यों कहा कि कोई पुरुष प्रभुकी भक्ति नहीं कर सकता है किन्तु प्रभुके गुणको ज्ञेय बनाकर अपने आपके इस विशुद्ध भावसे परिणमनरूप भक्ति करता है । बाहरमें परद्रव्यको न कोई जानता, न कोई राग करता, न द्वेष करता, कुछ भी जीव नहीं करता है बाहर । जीव तो है और परिणमता है । सो अपने आपकी यह विशुद्ध परिणति है बस इस वृत्तिके होनेका नाम भक्ति है । सो व्यवहारमें प्रभुभक्ति और निश्चयसे आत्मध्यान ही अपना शरण है ।

सुप्तमत्तदशालोके भ्रमो हि स्वच्युतौ दशा ।
सर्वाभ्रमास्ततः स्वस्थः स्यांस्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-१७॥

इस संसारमें लोग सोई हुई अवस्थाको और पागल हो जाने वाली अवस्थाको भ्रम कहते हैं, लेकिन परमार्थसे वह सब भ्रम है । जिस जिस दशामें आत्मा अपने स्वरूपसे च्युत

हो जाता है वह बहिर्मुख परिणमन वाली अवस्था भ्रम है। इसलिए उन सब भ्रमोंसे हटकर अपने आपमें आत्मबुद्धि करो और स्वयं सुखी होओ।

जैसे पागल जन जिस किसी भी पदार्थको अपना समझकर संतोष करते हैं कुछ समय को और जब उस चीजका वियोग होता है तब असंतोष करता है। गाँवोंके मार्गमें किसी जगह कुवें पर पागल बैठा था, कुवेंका पानी पीनेके लिए। अपनी मोटर बग्घी खड़ी करके वहाँ लोग आते हैं तो वह पागल मान लेता है कि यह मेरी मोटर आयी, यह मेरा ताँगा आया। अब वे तो पानी पीकर अपनी मोटरमें बैठकर चले जायेंगे, सो यह जाती हुई मोटर देखकर उसी क्षण यह सोचकर दुःखी होता कि मेरी मोटर चली गई। जैसे बच्चे लोग कागज की नाव बनाते हैं और उसे पानीमें तैराते हैं, खेल करते हैं। अभी कोई लहर तेज उठे और वह नाव डूब जाये तो बालक दुःख करते हैं, गम करते है। इसी तरह अज्ञानी जन किसी भी चीजको अपनी जान लेते है और जब वह चीज विलीन हो जाती है, नष्ट हो जाती है तब दुःख मानते हैं।

वास्तवमें इस अपने आपसे बाहर अपना कुछ स्वरूप नही है। किसी परपदार्थको 'यह मेरा है' ऐसा मान लेना बड़ा अंधेरा है। वस्तुके स्वरूपकी सीमा जिसके चित्तमें नही आई वह पुरुष व्याकुलताओंसे घिरा रहता है। यदि अपने आपके आत्मस्वरूपको मान लें कि यह मेरा है तो उसे उस ज्ञानकी स्थितिमें क्लेश नहीं हो सकते हैं। क्लेश होते हैं अज्ञानसे और इसी कारण ज्ञानी होनेके लिए, शांत रहनेके लिए, जो अमोघ उपाय है वह यथार्थज्ञान ही तो है। अज्ञानका जब तक विनाश नही होगा तब तक आकुलताएं खत्म नही हो सकतीं।

भैया! अनहोनीको होनी बनाएँ तो वह होती नही और जब होती नहीं तब इसे क्लेश होते हैं। यदि परपदार्थ अपने पास सदा रहते और जैसा चाहते वैसे ही रहते तो पर का मोह रखना, राग करना वह सब इसके लिए जायज होता, पर ऐसा तो स्वरूप ही नही है। ज्ञान ही एक ऐसा तत्त्व है जो अपने ही स्वाधीन है, अपने ही पास है, अपनेमें ही मौजूद है और अविनाशी है। उसका प्रताप कितना है? सर्वस्व प्रलय हो का है। इससे ही संतोष होता है, आकुलताएँ नहीं होतीं, हैरानी नहीं होती। इतने बड़े फलका कारण एक सम्यग्ज्ञान है। अज्ञानमें ही तो तृष्णा होती है, अज्ञानमें ही तो विषय और कषायोंका आदर होता है। जहाँ अज्ञान दूर हुआ कि उसको अपनी शांतिका मार्ग मिल गया। शांतिका मार्ग कितना है? निजको निज परको पर जान। यह तो सभी लोग जानते हैं कि जितने भी लोग हैं, बड़े हों, छोटे हों सब कहते हैं कि यह मेरा घर है, यह दूसरेका घर है ऐसा जाननेपर 'निजको निज परको पर जान' नहीं है, किन्तु स्वयं यह जानन देखनहार आत्मा जितना है, जो है उसे ही

सब समझो और उससे बाहर जितने भी पदार्थ हैं उनको पर समझो । अपने ही घरमें रहने वाली विभूति जिसको पर जँच जाये तो उसके ज्ञानकी महिमाको कौन कहे ? अपने आपके संयोगमें जड़ा हुआ यह देहादिक अपनेको पर जँच जाये उस ज्ञानकी महिमाको कौन कह सकता है ? लोकमें जो पूज्य होते हैं वे ज्ञानी ही पूज्य होते हैं । अरहंत सिद्ध क्या है ? शुद्ध ज्ञानका पिंड । ज्ञानघन अर्थात् जहाँ ज्ञान ही है अन्य कुछ नहीं है । जिसमें अन्य परतत्त्व कुछ नहीं, उसे कहते हैं ज्ञानघन । जहाँ दूसरी चीज न हो उसे घन कहते हैं । केवल ज्ञान-मात्र अपना आत्मतत्त्व जिसकी नजरमें है वही वास्तवमें जान सकता है कि परपदार्थ ये कह-लाते हैं । इस आत्मतत्त्वका अनुभव किस यत्नसे होता है ? बाहरी जितने यत्न हैं—'प्राणायाम करना, आसन आदि होना, ये मनको एक जगह लगानेके साधन हैं । पर ये स्वयं ज्ञानरूप नही है और न इनसे ज्ञान प्रकट होता है । मनको एक ओर लगा लेना ऐसी स्थितिमें ज्ञान के द्वारा वह एकाग्रतासे लग सकता है, पर बाह्यप्रयोग ज्ञान नहीं है, अनुभूति नहीं है । आत्माकी अनुभूतिका उपाय अनुभूति ही है, ज्ञान ही है । यह आत्मा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप है । आत्मामें जो गुण पर्याय है, जो भी कुछ है उसका पिण्डरूप तो यह आत्मद्रव्य है । और यह जीव जितने प्रदेशोंमें फैला है उतने प्रदेशोंको कहते हैं क्षेत्र और यह आत्मा जिसरूप परिणम रहा है, बदलता है, दशा बनती है वह है आत्माका काल और इस आत्माका जो गुण है, अनादि अनंत है वह कहलाता है भाव । जब आत्माको पिंडरूपसे देखते हैं तो यह द्रव्यगुण पर्यायोंका पिंड है । यह अनन्त पर्यायोंका पिंड है इत्यादि रूपसे जब आत्माको इस द्रव्यदृष्टिसे देखते हैं वहाँ आत्मानुभूति उस समय नहीं है । वह ज्ञान उस ओर विकल्पोंमें लगा रहता है । जब आत्माको क्षेत्रदृष्टिसे देखते हैं कि यह इतने लम्बे-चौड़े आकारमें है, इतने प्रदेशोंमें है, जब यह क्षेत्रदृष्टिसे बताया जाता है उस समयमें भी आत्मानुभूति नहीं है । लंबा, चौड़ा कितना यह आत्मा है ऐसी जानकारीके समय आत्मानुभूति नहीं है और यह रागरूप परिणमा हुआ है । यह द्वेष और विरोधरूप परिणमा हुआ है, ऐसी दृष्टिसे परिणतिको देखते हैं, कालदृष्टिसे आत्माको देखते हैं तो उस समय भी आत्मानुभूति नहीं है । अब उस चतुष्टयमें से बचा एक भाव उसका । यह भाव दो भेदरूप है, एक भेदरूप भाव और एक अभेदरूप भाव । भेदरूप भावमें तो जैसे आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, अस्तित्व है, वस्तुत्व है, यह भाव है, गुण है, सो ऐसे भेदरूप भावोंकी दृष्टि रखनेमें इस जीवका आत्मानु-भव नहीं होता है किन्तु जब अभेदभाव एतावन्मात्र मैं हूं, इससे बड़ा, इससे छोटा यह मैं आत्मा नहीं हूं और तो क्या इसके बराबर 'मैं' नहीं, किन्तु ज्ञानरूप यह मैं आत्मा हूं । जब अभेदभावकी दृष्टि करके यह आत्माको जानता है तब उसका आत्मानुभव होता है । यहाँ यह

प्रश्न है कि आत्मानुभव किस ज्ञानके द्वारा होता है। ज्ञान ५ हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान। इसमें से श्रुतज्ञान तो सविकल्प है और बाकी ज्ञान निर्विकल्प है। हम और आपके दो ज्ञान हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान तो निर्विकल्प स्थितिमें प्रयुक्त नहीं है। मतिज्ञान निर्विकल्प स्थितिमें है सो मतिज्ञान होता है—तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।'

इन्द्रिय और मनके कारण उत्पन्न हुआ सो उस आत्मानुभूतिमें जो ज्ञान लगा वह ज्ञान पैदा होनेके समयमें तो मनके निमित्तसे होता है, पर जब आत्मानुभवमे लग्न रहते हैं उस समय भी मनकी बात नहीं चलती। वह ज्ञान-उत्पत्तिमें मनोनिमित्तिक है, पर उसका रहनेमें मन नहीं लगा रहता। इसलिए आत्मानुभव एक विलक्षण ज्ञान है जिसके सीधे रूपमें किसी ज्ञानको नहीं कहा जा सकता है। वह तो ज्ञान है, ऐसा विलक्षण आत्मानुभव अभेदस्वभावकी दृष्टिमें हो सकता है। अभेदस्वभावका, ज्ञानका भी जब तक विकल्प है तब तक उसका अनुभव नहीं। वह आत्मस्वभाव क्या है कि जिसकी अनुभूतिको आत्मानुभव कहते हैं, वह आत्मस्वभाव समस्त परद्रव्योंसे जुदा है। अपने आपमें उत्पन्न होने वाले विभावोंसे भी जुदा है तो क्या वह आत्मस्वभाव जिसका हम आप ज्ञान कर रहे हैं ऐसा छुटपुट ज्ञानरूप है? न वह स्वभाव परिपूर्ण है, न यह ज्ञान अधूरा है और न कोई पर्याय अधूरी होती। अब इसके विकासकी सीमा कितनी है उसको देखकर छोटे विकासमें लगी हुई बातको अधूरी कहते हैं। पर्याय जितनी है वह सब पूरी है, कोई परिणति ऐसी नहो है कि अरे जरा ठहर जावो, हम आधे ही बन पाये है, आधा और बन लेने दो। पर्याय जितना है वह अपने समय में पूर्ण है। चाहे कोईसी भी पर्याय हो, पर शुद्धविकासके मुकाबलेमें यह पर्याय कितना विकासमें है? इसकी जब अपेक्षा करते हैं तो उस पर्यायको हम अधूरी कहते हैं। तो यह छुटपुट ज्ञान हमारा स्वभाव नहीं है। हमारा स्वभाव तो परिपूर्ण है। केवलज्ञान क्या हमारा स्वभाव है? वह स्वभावके अनुरूप तो है, पर वह स्वयं स्वभाव नहीं, किन्तु ज्ञानकी वृत्ति है। केवलज्ञान स्वभाव हो तो इस जीवमें सहज होना चाहिये। सहजका अर्थ है—'सह जायते इति सहजम्।' जबसे जीव है तबसे ही जो निरन्तर हो वह सहज कहलाता है। यह तो इस जीवमें अनादिसे नहीं है। तब इस जीवका स्वभाव क्या है? जो आदि अंतसे रहित है, अनादि अनन्त है।

तब फिर प्रश्न होता है कि अनादि अनंत आत्माके ये सब गुण हैं, दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, आनन्द है, वीर्य है तो क्या ऐसे सब भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं? भाई द्रव्य एक है तो उस द्रव्यका स्वभाव एक है और उस द्रव्यकी पर्याय भी जब देखो तब एक है। ऐसे उस

एक पदार्थको समझनेके लिये परिणमन पद्धतिसे बताकर आचार्योंने यह सब व्यवहार किया है। इस व्यवहारका आश्रय लिये बिना हम उस अखण्ड तत्त्व तक नहीं पहुंच सकते थे। पर अखण्ड अस्तित्वमें लगना यहाँ यह व्यवहारका काम नही है। किन्तु उसने अखन्डके निकट पहुंचा दिया, यहाँ अब निश्चय द्वारा यहाँ लगनेका काम है।

जैसे राजासे किसीको मिलना है तो द्वारपालको लेकर वह मिलने चलता है। द्वारपाल कहाँ तक सहायक है, जहाँ तक कि राजाके स्थानका पता न पाये, राजा दिख न जाये। द्वारपालका तो केवल इतना ही काम रहेगा। उस स्थान पर पहुंचा देने पर आगे तो मिलने वालेका केवल काम है। यह व्यवहार भी तुम्हारा उपयोग है और निश्चय भी तुम्हारा उपयोग है। कब कौन उपयोगी है, यह बात अपने समझानेकी है तो वह आत्मस्वभाव विविध नहीं है, किन्तु एक है। हाँ हाँ, समझमें आया। यह आत्मस्वभाव देखो ना यह एक है। अरे इस प्रकारके एकपनेका भी जहाँ विकल्प है तहाँ भी आत्मस्वरूपकी अनुभूति नही। लोग कहते है ना कि यह ब्रह्म एक है। नाना तो लोगोंको मायासे दिखते हैं। जैन सिद्धान्तमें भी इसको यों कहते हैं।

देखो भैया! प्रथम तो यह बात है—नाना ब्रह्म बैठे हैं, नाना आत्मा हैं और फिर बढ़कर बोलते हैं तो उससे भी अधिक बढ़कर बोलते हैं कि वह ब्रह्म एक है, आत्मस्वभाव एक है। यह भी तथ्य है, किन्तु इस निगाहमें भी इस आत्मासे मिल नहीं पाये। वह आत्मस्वभाव एक है, न अनेक है। वैसे ही अन्तरंग दृष्टिसे सोचो कि आत्मस्वभाव क्या है? चित् प्रकाश चित् स्वभाव प्रतिभासमात्र, जाननशक्ति उस प्रतिभासका जिस समय बोध हो रहा है उस समय क्या वह यह कह सकता है कि यह एक है। उसे तो प्रतिभासके आनन्दका अनुभव है, और कुछ नहीं कह सकते हैं। इसलिए उस एकके विकल्प जालसे मुक्त यह आत्मस्वभाव है। इस आत्मस्वभावके आलम्बनसे अन्तरमें जो अनुभूति होती है उसको आत्मानुभव कहते हैं। यह आत्मानुभव जिसके प्रकट नही है अर्थात् जो सबके पटसे रहित है, उसकी सारी दशाएं भ्रम सहित है। लोग तो सोये रहने व पागल रहनेकी दशाको भ्रम कहते हैं। परन्तु परमार्थसे तो अपने आपके स्वभावसे चिगी हुई जितनी भी दशायें हैं उन सबको भ्रम कहते हैं। वे सब बेहोशियां हैं। तब अपना कर्तव्य है कि उन पदार्थोंसे हटकर अपने आपके दर्शन में आयें। अपने आपका स्पर्श करना यही एक शांतिका उपाय है। अनुभूति जितनी होती है और श्रद्धान जितना होता है वह सब कोई न कोई आचरणको लिए हुए रहता है। जिसे कहते है स्वरूपाचरण। यह भी एक विलक्षण चारित्र है। ५ प्रकारके चारित्र हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय व यथाख्यात। इन ५ प्रकारके चारित्रोंमें

से स्वरूपाचरण चारित्र कोनसा है ? जो ५ चारित्र हैं इनमें स्वरूपाचरणको कहाँसे लायेंगे ? यह स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थानसे प्रकट होता है और अंत तक बना रहता है। उसमें चाहिए क्या ? स्वरूपका आचरण। आत्माका स्पर्श हो वही हुआ स्वरूपाचरण। कहीं कम विकसित है कहीं अधिक तो स्वस्थ होनेमें ही आनन्द है। परस्थ होनेमें आनन्द नहीं है। परन्तु परस्थ होनेके दो कारण हैं—एक तो है अयोग्यता और दूसरा है मोहियोंका संग। किसी प्रकार अज्ञानतासे हटकर ज्ञान-अमृतका पान करो, ऐसा अमृततत्त्व जो अपने आपमें है कहीं बाहर से नहीं लाना है। स्वयं ही स्वाधीन है। ऐसी दृष्टि करके अमृतका पान कर लो, केवल अपनी ओर मुड़नेकी दशा होती कि अमृतका पान कर लो। इतनी सस्ती बात, सरल बात, स्वाधीन बात हम सब आत्मावोंमें क्यों नहीं हो रही है ? यही एक खेदकी बात है। बाहरमें कुछ भी हो जाये उससे कोई संकट नही है। विभूति यहांसे वहां चली जाये, यह कोई संकट नहीं है पर अपने आपके स्वरूपसे जो चिगे हुए हैं और इसमें जो बाह्यवृत्ति बन रही है इससे बढ़कर दरिद्रता कुछ नहीं है, संकट और कुछ नही है। यह महान् संकट एक ज्ञानके द्वारा ही टल सकता है। सो ज्ञानके द्वारा अपने आपमें आकर आप ही सुखी होनेका यत्न करना चाहिए।

यततामव्रतीवृत्ते न तृप्येत्तु व्रती व्रते।
ज्ञानस्थितिर्व्रतार्थोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-१८॥

अव्रती पुरुष व्रतमें यत्न करें और व्रती पुरुष व्रतमे ही संतुष्ट न हो जायें, क्योंकि व्रतोंके पालनका प्रयोजन है अपने ज्ञानमें स्थिति पाना। जैसे कहते है ना कि अशुभ उपयोग से अच्छा शुभ उपयोग है। अशुभ उपयोगसे हटकर शुभ उपयोगमें आना चाहिए, पर शुभ उपयोग करने वाला पुरुष शुभ उपयोगमें ही संतुष्ट न हो जाये, क्योंकि शुभ उपयोगका प्रयोजन शुद्धोपयोगमें ठहर सकनेकी पात्रता रखना है। इसी प्रकार अव्रती पुरुष जिनके कुछ नियम नहीं, संयम नहीं, वे व्रतमें, तप करनेमें संयममें लगें। झूठ, चोरी, कुशील आदिके पाप, परिग्रह संचयके पाप वे इस जीवको आकुलित बनाये रहते है। इससे हटकर शुभ उपयोगमे आये तो कषाय मंद हों और कषाय मंद होनेसे इनकी आकुलताएँ कम हों। इसलिए अव्रती रहना अच्छा नहीं। अपनी-अपनी शक्ति माफिक व्रतधारणमें यत्न करना चाहिए। कितनी ही ऐसी कथाएँ हैं।

दो पुरुष जा रहे थे। एकके अनजान फलके खानेके त्यागका नियम था कि हम अनजान फल नहीं खायेंगे और दूसरेके अनजान फलके खानेका त्याग न था। दोनों चले जा रहे थे तो रास्तेमें एक वृक्ष मिला। वह वृक्ष था विषवृक्ष। उसमें बहुत सुन्दर फल थे। फल नीचे

भी पड़े हुए थे। जिसके नियम नहीं था उसने नीचेके फलको खाया और मृत्युको प्राप्त हो गया और जिसका नियम था उसने फलको नहीं खाया, जिन्दा बना रहा। अभक्ष्यके त्यागमें बड़ा लाभ है। धर्मलाभ तो है हिंसासे बचें, आसक्तिसे बचें। इससे लौकिक लाभ भी है। यदि जिन्दगी स्वतंत्र ढंगसे रखना चाहें तो उसमें भी लाभ है। जैसे कोई घटना ऐसी गुजरे कि बारातके सत्कारमें रात्रिमें कोई खीर बनाए और कोई विषैला जीव जैसे छिपकली आदि पड़ जावे और बारातमें जो कोई भी उस खीरको खा लेवे तो वह मृत्युको प्राप्त हो जाये। ऐसी कई जगह घटनाएँ भी हुई हैं। अभक्ष्य भक्षणमें धार्मिक व लौकिक सब तरहकी हानियां हैं। और यह है क्या? यह है प्रमाद और अज्ञानता, जिसके कारण लोग अभक्ष्य खाते हैं, रात्रिमें खाते हैं। खाने वालेको राग है, पर देखो यह रात्रिका समय है, यह कुछ खाने लायक समय नही है, प्रकाश है, मच्छर हैं, अनेक कीड़े हैं, जन्तु हैं तो रात्रिभोजन अभक्ष्यभक्षण–ये सब आसक्ति बिना नहीं होते। आसक्ति होती है तब इस बातमें प्रवृत्ति होती है। जो अव्रत में हैं उनको अपनी शक्तिके अनुसार व्रतमें लगना चाहिए। भैया! यदि कोई कहें कि हमें तो विशेष ज्ञान नही है और ज्ञान बिना व्रतमें कैसे आवें तो ज्ञान बिना अव्रतमें रहे, उससे भी क्या ज्यादा नुक्सान है कि ज्ञान बिना व्रतमें चलें। भैया! उसमें तो यह फायदा है कि मंद कषाय है, पुण्य संचय है। हाँ यह बात और है कि सम्यग्ज्ञान हुए बिना मोक्षमार्ग नही मिलता है, धर्म नही मिलता है। इन लौकिक बातोंमें तो यह बात ठीक ही है कि अव्रतीके परिणामसे व्रतके परिणाम करना चाहते हैं। जो अव्रती पुरुष हैं वे व्रतपालनका परिणमन करें, पर जो व्रती पुरुष हैं वे व्रतमें ही संतुष्ट न हो जायें, हमने सब कुछ कर लिया, कर रहे हैं ना? कर रहे है, तप कर रहे हैं, हम अब धर्ममें लगे हैं। हमने जो कुछ करना था सो कर लिया, यह समझकर संतुष्ट होकर बैठ गये तो उसके आगेका सन्मार्ग रुक गया। प्रयोजन तो ज्ञानमें स्थित होनेका है ना? ज्ञान ज्ञानमे ठहर जाये, इसके ही उद्यममें एक यह उद्यम है व्रतका पालन। अव्रत अवस्थामें यथा तथा स्वच्छन्द प्रवृत्तिसे उस ज्ञानकी दृष्टि कर लें, ऐसी पात्रता नहीं रहती। ऐसी पात्रता रखने वाला व्रती है, पर व्रतका प्रयोजन है ज्ञानस्थिति होना अर्थात् स्वस्थित अपने आपमें स्थित हो जाना। यही व्रत है, तप है, यही सबका प्रयोजन है। यह आत्मा, यह ज्ञान तो अपने स्वरूपमें न ठहरकर बाहर-बाहर डोल रहा है, इसी से ही तो बेचैनी है। अज्ञानी जीव चाहता कुछ है, होता कुछ है। चाह तो यह है कि यह चीज मुझे यों मिले, इतना मुनाफा है, इसका संयोग हो, पर ऐसा होना अपने हाथकी बात तो नहीं है। वे तो परपदार्थ हैं, उनका परिणमन उनमें है। उनकी परिणतिके अधिकारी हम तो नहीं हैं। तब जब चाहके खिलाफ बात होती है तब दुःख होता ही है। सुखी होनेका

मार्ग तो किसी भी प्रकारकी चाह न करना है, परवस्तुकी चाह न करना है।

पंडित टोडरमल जी साहबने कहीं ऐसा दृष्टान्त दिया है। दो मनुष्योंके यह भाव हुये कि हम इस पहाड़ पर खूब निःशंक, भ्रमण करें, दौड़ें, चलें। उनमें एकने यह सोचा कि पहाड़ पर काँटे अधिक हैं, कंकड़ अधिक हैं, इसलिए सारे पहाडमें चमड़ा फैला दें तब फिर निःशंक होकर भ्रमण करें, दौड़ लगायें। और एक पुरुषने यह सोचा कि अपने पैरोंमें चमड़े के जूते पहिन लें और फिर अच्छी तरह सेपहाड़ पर दौड़ लगायें, चलें। इन दोनोंमें अपनी इच्छाकी पूर्ति करनेमें कौन सफल होगा? जो अपने पैरोंमें जूते पहिनकर चलेगा। और सारे पहाड पर चमड़ा फैलानेकी सोचने वाला क्या सफल हो जायेगा? नही। क्योंकि इतना चमड़ा कहाँ है और हो भी तो बिछाए कौन? वे बड़े ऊँचे ऊँचे पहाड़ हैं, बड़े-बड़े वृक्ष हैं, उनमें बड़ी-बड़ी झाड़ियाँ हैं, जहांपर हाथ भी नही जा सकता है। वहांपर कोई कैसे चमड़ा बिछावेगा? यदि कोई कहे कि १०-२०-५० हाथमें चमड़ा बिछा लें उससे भी तो कुछ नहीं हो सकता है। उतना भी तो बिछना कठिन है तो फिर वह कैसे सफल हो सकता है? स्वाधीन काम करने वाला, जूते पहिनकर चलने वाला अपना काम करेगा तो उसकी सफलता हो जायेगी। इसी प्रकार कामी लोग क्या चाहते है कि यहाँ यह जोड़ लें, यहाँ यह जोड़ लें, यह रोजगार करें, परिग्रह करें, संचय करें, परिवार मेरा ऐसा हो, मित्र जन ऐसे हों, ऐसी बुद्धि करते है और चाहते है कि हम सुखी हो, और एक पुरुष ऐसा है कि परको पर जानकर, परसे अपना अहित जानकर परसे कुछ भी सम्बंध नहीं है, ऐसा जानकर परकी चाह ही नहीं रखता है। अब हमें बतलावो इन दो प्रकारके पुरुषोंमें से सुखी शांत कौन हो सकता है?

वह सुखी, शान्त नही हो सकता है जिसने अपना स्वाधीन काम किया, जो ज्ञानमें स्थित हुआ, यह बहुत स्वाधीन काम है। व्रतोंका पालन करना, इस काममें भी बहुत नियम साधना चाहिए। पानी पीना है तो कड़ेदार बाल्टी नही है तो बैठे रहो, मोटा छन्ना नहीं है तो बैठे रहो। उस व्रतकी भी उपेक्षा है और उससे भी सुगम हो सके तो बड़ी कठिन बात है। ज्ञानी ज्ञानस्वरूपमें स्थित हो जाये, उससे भी अधिक स्वाधीन बात है कि उस दशासे हटकर एकत्वकी दशामें आ जाय; ज्ञान ज्ञानमें ठहर जाये। सो कहते हैं भैया, अज्ञानमें ऐसा नहीं होता है। अशुभोपयोगके बाद एकदम शुद्धोपयोगमें कोई पहुंचे, ऐसा नहीं हो सकता है। अव्रत अवस्थाके बाद एकदम मोक्षमें पहुंच जाये, ऐसा नहीं हो सकता है। सो अव्रती पुरुष व्रतको ग्रहण करे और व्रती पुरुष व्रतमें ही सन्तुष्ट हो जाये। जैसे कोई पुरुष नीचे खड़ा है और उसे इस अटारी पर आना है तो उस पुरुषको चाहिए कि सीढ़ियोंसे ही सन्तुष्ट न हो

जाये, नहीं तो अटारी पर आना नहीं हो सकता है। जैसे कोई पुरुष जबलपुरसे बम्बई जाना चाहता है रेलगाड़ी द्वारा, और रास्तेमें कोई स्टेशन सजी सजाई मिलती है, सुहावनी है, उस पुरुषको स्टेशन बढ़िया दीखे, मनमोहक दीखे और नीचे उतरकर उसमें खूब राग करे व इतने में ही गाड़ी छूट जाये तो फल क्या होगा कि अपना उद्देश्य नहीं पूरा कर सकेगा। यदि अच्छी स्टेशन है तो उसका ज्ञाता द्रष्टा रहे, जान ले कि बहुत बढ़िया स्टेशन है, पर नीचे उतरकर राग करे तो वह मूरखचन्द्र बन जायेगा। उसके लिए मुनाफेकी बात नहीं है। इसी तरह इसकी प्रगतिके मार्गमें हमें कितनी ही मंदकषायके प्रवर्तन होंगे, उनमें कुछ अच्छे लगेंगे, मंदकषाय होगी, कुछ विश्राम भी मिलेगा, पर उसमें ही सन्तुष्ट हो जाये तो आगेका मार्ग खत्म हो जायेगा। अपने उद्देश्यको न पूरा कर सकेगा। ज्ञानी जीवकी अंतरसे लालसा, इच्छा यह है कि सहज ज्ञानमें ही उपयोग रहे, ज्ञानके स्वरूपको जानता रहे। अज्ञानी होगा तो वह ज्ञानकी प्रवृत्ति न करेगा। संचय करेगा, पापोंको बढ़ाता रहेगा, उल्टी प्रवृत्ति करेगा ज्ञानी व्रत भी करता है फिर भी वह ज्ञानी मंदकषायके वशमें भी संतुष्ट नहीं हो सकता है, ज्ञानगुणों से हटकर नहीं रह सकता है ज्ञानी जीवको ही ज्ञान मिलता है और ज्ञानकी स्थिति रहती है उसे चाहिए और क्या ? ऐसी ज्ञानकी स्थिति मेरेमें हो और मैं उस ज्ञानकी स्थितिमें ही अपने में, अपने लिए, अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

पुण्यपापे व्रतावृत्तैर्मोक्षस्तद्द्वयशून्यता।
ज्ञानमात्र स्ववृत्तिः सा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-११॥

व्रतके परिणामोंमें तो पुण्य होता है और अव्रतके परिणामोंसे पाप होते हैं और मोक्ष व्रत और अव्रतसे रहित होना है। पुण्य और पापसे रहित ही शुद्ध चैतन्यका विकास है। ज्ञानमात्र निजतत्त्वमें केवल ज्ञानवृत्ति हो, ऐसी ज्ञानवृत्तिके बलसे ज्ञाताद्रष्टा रहनेसे यह आत्मा अपनेमें अपने आप सुखी हो सकता है। पूजामें जो रोज पढ़ा जाता है। पूजा प्रस्तावनामें—

अर्हन् पुराणपुरुषोत्तमपावनानि वस्तूनि नूनमखिलान्ययमेक एव।
अस्मिन् ज्वलद्विमल केवलबोधवह्नौ पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि ॥

पढ़ना तो सीधा जानते हैं, मगर हम कितनी जिम्मेदारीकी बात बोल रहे हैं, उसका कुछ भान ही नहीं है। पूजक बोलता है कि हे अरहन्त, हे पुराण, हे पुरुषोत्तम ! ये पवित्र चीजें नाना तरहकी सामने रखी हुई हैं—शुद्ध धोती, दुपट्टा, शुद्ध थाल सजा सजाया, शुद्ध चावल चिट्टे, मंदिर भी शुद्ध, टेबुल भी शुद्ध, भगवानकी मूर्ति भी शुद्ध बहुत सी पावन चीजें, अष्ट द्रव्य हैं, पर निश्चयसे मनमें तो ये सब वस्तु एक ही चीज दिखती है, एक ही नजर आती हैं. पर पूजककी दृष्टि बहुत गहरी है बड़ा त्याग करके भगवानकी भक्ति करने आया

है, सब एक ध्येयभूततत्त्व दिखता है। जैसे कहीं विवाह आदिका अवसर हो वहाँ सब नटखट हैं, पर उसे एक ही दीखता है। जिसको लगन हो उसे एक ही दीखता है। किसीका इष्ट गुजर गया, फूफा, मामा, मौसा आदि सभी समझाने आते हैं, पर उसे तो केवल एक ही नजर आ रहा है जिस पुरुष पर दृष्टि लगी है। इस पूजकमें इतनी बड़ी भक्ति है कि वह थाल सजाये हुए खड़ा है, पर उसे एक ही दिख रहा है। वह क्या दिख रहा है? जिसकी वह भक्ति कर रहा है। सो पूजाके प्रसङ्गमें कहते हैं कि मैं इस जाज्वल्यमान निर्मल केवल ज्ञानरूप अग्निमें इन समस्त पुण्य वस्तुवोंको स्वाहा करता हूं, त्यागता हूं, अर्पित करता हूं। क्या पवित्र चीज हैं वे, साढ़े ग्यारह आनेके अष्ट द्रव्य ना? कोई कहे वाह रे वाह, बात बहुत कर रहे हैं और त्याग कर रहे हैं केवल साढ़े ग्यारह आनेकी चीजोंका। कहता है मैं इतनी ही चीजोंका स्वाहा करनेके लिए नहीं आया, किन्तु मेरे पास जो भी चीजें हैं धन वैभव आदि ये सब कुछ इस जाज्वल्यमान ज्ञानाग्निमें स्वाहा करता हूं अर्थात् यह स्वरूप इतना निर्मल पवित्र है कि इसकी प्राप्ति ही सब कुछ है। बाकी तीन लोकका सारा वैभव कुछ नहीं है। सोचो तो सही कि सारा वैभव भी सामने हो, पर उन सब वस्तुओंसे मुझको क्या मिलेगा? कुछ भी नहीं मिलेगा। दुःख भी नहीं मिलेगा, सुख भी नहीं मिलेगा। हाँ, परवस्तुवोंके आलम्बनसे विकल्प करते हैं और उन विकल्पोंसे दुःख ही मिलेगा। समस्त वैभव ज्ञानमें स्वाहा करते हैं। फिर कोई कहने लगे कि वाह वाह इन परपदार्थोंको जानते हो कि मेरे साथ नहीं जावेंगे, जब मर जावेंगे तो यों ही छूट जावेंगे। सो भैया, यही सोच डालो कि चलो भगवान्के ही भले बन जायें। कहते हैं महाराज इतनी ही बात नहीं, ये धन वैभव जिस पुण्यके उदयसे हुए उनको भी स्वाहा करता हूं। सारा द्रव्यकर्म मिट जाये, मैं सबको स्वाहा करता हूं। कहते हैं वाह इसमें भी चतुराईकी बात की गई। केवल कह लो, भले बनने की बात कर रहे हैं। कहते हैं कि कहते ही नहीं हैं, वे द्रव्यकर्म जिन भावोंको निमित्त पाकर बँधते हैं ऐसे शुभोपयोगरूप पुण्य भावोंको भी मैं स्वाहा करता हूं। इतने बड़े त्यागमें आया हुआ पुजारी फिर इतनी बात कहेगा—प्रथम देव अरहंत सिद्धम् अर्थात् पूजा करेगा। ज्ञानी पुरुष सुख दुःखको समान मानता है। सुख दुःखके कारण पुण्य पापोंको समान मानता है। किस मुकाबलेमें ये सब समान कहे? किसपर निगाह है? जिसपर वह समान बन जाता है। उस ज्ञानी पुरुषकी निगाहमें वे सब समान हो जाते हैं। सोई कह रहे हैं कि व्रतोंसे तो पुण्य होता है और अव्रतोंसे पाप होते हैं और नरक, मोक्ष, पुण्य पाप, व्रत अव्रत, सुख दुःख इन सब जोड़ियोंसे रहित हैं। वह तो ज्ञानमात्र निजकी वृत्ति है सो उस ज्ञानमात्र वृत्तिमें रहकर मैं अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

शांति होनेका मार्ग अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। खुद ही में दृष्टि दो, खुदके ही स्वरूप में निगाह हो तो वह संतोष पा सकता है। बाहरी परपदार्थोंमें दृष्टि फंसाकर कोई संतुष्ट नहीं हो सकता है। जिन्दगी बरबाद किए जा रहे हैं, मिलता कुछ नहीं है, बरबाद होते चले जा रहे हैं, सो एक ज्ञानमात्रकी ही अपनेमें वृत्ति हो।

शृण्वतो वदतोऽप्यात्मचर्चा न ज्ञानभावनाम्।
विना मुक्तिस्ततोऽत्रैव स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-२०॥

आत्मविषयक चर्चाको खूब सुनते भी हैं और इस आत्मासम्बंधी चर्चाको खूब पढ़ते भी हैं, फिर भी ज्ञानकी भावनाके बिना मुक्तिमार्ग नहीं मिलता है। ज्ञानमात्र मैं हूं, इस प्रकारकी भावना किए बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती, क्योंकि ज्ञानमात्र रहनेका नाम ही मुक्ति है और ज्ञानमात्र बननेका उपाय 'ज्ञानमात्र मैं हूं' ऐसी भावना बनाना है। यह बात असत्य नहीं है कि मैं ज्ञानमात्र हूं और यह भी असत्य नहीं है कि वर्तमानमें रागमय हूं, द्वेषमय हूं, मोहमय हूं यह भी असत्य नहीं है। परदृष्टिका मार्ग भिन्न-भिन्न है। हम केवल अपने सहज स्वरूपको ही स्वीकार करनेमें जुटने वाले हैं, तब यही दिखता है कि मैं ज्ञानमात्र हूं। मैं वह हूं जो स्वयं हू, अनादिसे हूं, अनन्तकाल तक हूं। बिना मरणके हूं, सदा हूं, एकस्वरूप हूं, क्या मैं ऐसा कुछ हूं जो नष्ट हो जाने वाला हूं ? नहीं। ऐसा मैं नहीं हूं। अभी गरीब पुरुष को कहा जाये, जो १०-२० रुपयोंका खोम्चा फेरकर अपने परिवारके लोगोंका पेट भरता हो कि भाई हम तुम्हें लखपति दो दिनके लिए बनाए देते हैं और इसके बाद यह सब जो तुम्हारे पास है वह सब धन दानमें दे दिया जायेगा, तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा तो वह लखपति होना मंजूर नहीं करेगा और अपने १०-२० रुपयेका ही गुजारा करना मंजूर करेगा। वह अपनेको यों सोचता है कि मैं जिस तरहसे सदा रह सकता हूं वही ठीक है और दो दिनको धनिक बनकर रहें, फिर मिट गये तो यह बात ठीक नहीं है। वह चाहता है कि मैं वैसा रहूं कि जैसा सदा रह सकता हूं।

कोई अपनेको यह मंजूर नहीं करता कि जो मैं हूं वह मिट जाऊंगा। मैं मिट जाऊंगा, ऐसी बात सुनना उसे ठीक नहीं लगता है। ये सब छुटपुट बातें भी इस बातको बल देती हैं कि मैं वह हूं जो कभी नष्ट नहीं होता। शुद्ध हूं, स्वतंत्र हूं, अपने आप हूं आदि आत्माकी चर्चा खूब सुनकर भी, आत्माकी चर्चा खूब बोलकर भी यदि ज्ञानभावना नहीं जगती तो उसे मुक्ति नहीं मिलती। बातें करनेसे जैसे पेट नहीं भरता, भोजन पकायें, खायें तो पेट भरे कहते हैं ना कि भाई बातोंसे तो पेट नहीं भरता है। इसी प्रकार किसी भी प्रकारकी चर्चा बोलने सुननेसे मुक्ति नहीं मिलती, शांति नहीं मिलती। ज्ञान भावनासे ही

शांति मिलती है। मैं ज्ञानमात्र हूं, केवल जाननस्वरूप हूं। इसमें फिर बखेड़ा है कैसे ? इस मुझमें रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं, पकड़ा नहीं जा सकता, छेदा नहीं जा सकता, भेदा नहीं जा सकता, किसीका कुछ यह लगता नहीं। सब जाननमात्र आत्मा हैं। जानन मात्र तत्त्व किसी दूसरेका कुछ लग सतता हो सो कैसे लगेगा ? जाननमात्र यह मैं आत्मा हूं, इसका काम जानना है, और काम निमित्त पाकर होता है तो क्या करेगा वह ? जैसे कि सिनेमाके पर्दे पर जो कि सफेद है, साफ है, फोटो यंत्र सामने आ गया तो रंगीन बन गया। अब क्या करें, उपाधिकी सन्निधि सामने है और उस प्रकारका प्रतिबिम्ब झलक गया, तो इसकी योग्यता है, हो गया। केवल पर्देकी ओरसे ही पर्देने रंगीन तो नहीं बनाया ? बिना उपाधिके पर्दा तो एकरूप है, किन्तु उपाधि सन्निधिमें है, सो चित्रित हो गया। आत्मा है, ज्ञानस्वरूप है, स्वच्छताका स्वभाव है। फिर भी इसपर राग द्वेष आ गए। हमने अपनी ओर से क्या किया, स्वरसतः स्वभावसे इसने क्या गल्ती खायी ? क्या करें विपत्तियोंका पहाड़ टूट गया। उपाधि सन्निधिमें है और इसमें विभावोंरूप परिणमनकी योग्यता है। परिणम गया, विभावोंरूप हो गया। उन विभावोंरूप मैं नहीं हो गया और मैं ही परिणम गया, तिस पर भी उस विभावपरिणमनरूप मैं नहीं हूं। मैं केवल चित्स्वभाव मात्र हूं, ज्ञानस्वभावरूप हूं, ऐसी भावनाके बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होगी, संकट दूर नहीं होंगे। जैसी बात अपने आपमें बार-बार पाई जाती है उस अनुकूल अपनेको वर्त लेते हैं, बना लेते हैं। जब विपरीत विपरीत अपनेको सोचते हैं तो अपनेको विडम्बित कर लेते हैं।

तीन चार ठग थे। उन्होंने देखा कि एक भाई कोई भी हो, ब्राह्मण सही, कोई भी हो, कोई अहीर वगैरा हो, सो एक बकरी लिए चला जा रहा था। उन्होंने सोचा कि बकरी बड़ी हृष्ट-पुष्ट है, इसको तो ठग लेना चाहिए। सोचा कैसे करें ? उन्होंने सलाह की कि एक एक मीलकी दूरी पर चारों जल्दी खड़े हो जायें और ऐसा ही तुम कहो, ऐसा ही तुम कहो और ऐसा ही तुम और बात बता दो। वह बकरी लिए चला जा रहा था। पहिले मिले ठग ने कहा, अरे साहब यह कुत्ता कहाँ लिए चले जा रहे हो ? उसने इस बातको अनसुनीसी कर दिया, सोचा कि बकरी ही तो है। आगे चला तो दूसरा कहता है—अरे भाई यह कुत्ता कहाँ लिए जा रहे हो ? अब कुछ मनमें आया कि क्या बात है यह कुत्ता ही है क्या ? उसने झट कहा कि बकरी ही तो है। तीसरा भी वही कहता है कि यह कुत्ता क्यों लिए जा रहे हो ? कुछ बात समझमें आयी कि यह मुझे धोखा ही है। फिर आगे चौथेने कहा कि तुम इतने चावसे कुत्तेको कहाँ लिए जा रहे हो ? अब तो उसने बकरीको छोड़ दिया, सोचा कि आखिर कुत्ता है इसे क्या करें ? जैसी अपने मनमें भावना बनावो याने झूठेकी भावना बनाओ तो

उस रूप बन जाते हैं और यदि सचकी भावना बनावो तो उस रूप बलेनेमें संदेह भी नहीं रहता। उस झूठी बातमें तो सन्देह भी होता है। एक ऐसा ही मामला सुना गया कहीं कि किसी सेठका मुकदमा था तो उसके विरोधीने ४-६ जगह जैसे रिक्शा वालोंको, बोझा ढोने वालोंको, टिकट मास्टरको कुछ देकर समझा दिया कि फलां सेठ आ रहे हैं तो उनसे यों कहना। सेठजी पेशीके लिये अपने कस्बेसे बाहर जाने लगे तो पहिले तांगे वाले मिले। तांगे वालेने पूछा कि सेठजी कहाँ जा रहे हो? बोले—फलां शहर। अरे बैठो बैठो। क्या लोगे? अरे सेठ जी बैठो तो जो देना हो सो दे देना। सेठ बैठ गया। उसे माल तो पहिले ही मिल गया था। सेठ बैठ गया तो तांगे वालेने कहा कि सेठजी आप कबसे बीमार हो? आज तो तुम्हारा चेहरा बिल्कुल उतर गया है। तुम आज बड़े दुबले दिखते हो। सेठने कहा ठीक हो जायगा, कोई चिन्ता नही है। जब स्टेशनके पास पहुंचे तो कुलीने कहा कि लावो सेठ जी सामान ले चलें। कुली भी बोला—सेठजी आपकी आज तबियत खराब लग रही है, कहाँ जा रहे हो? कहा—ठीक है, कुछ चिंता नहीं। जब टिकटघर पर पहुंचे टिकट लेने तो टिकट मास्टर बोला कि अरे सेठ जी कहाँ जा रहे हो? आज तो आपका चेहरा बिल्कुल फीका नजर आ रहा है, कुछ बात है क्या? कहीं हार्ट न फेल हो जाये उसने जाना ही छोड़ दिया। उसका फल यह हुआ कि दूसरेके फेवरमें मुकदमा हो गया। अपनेको जैसी भावनामें रखे वैसा परिणाम निकलता है। गृहस्थीमें दसों बातें औंधी सीधी सुनी जाती हैं। कितनी ही आपदाओंकी बातें, सुख दुःखकी बातें, अपमानकी बातें सुनी जाती हैं। इज्जत करने वाले तो दुनियामें थोड़े हैं पर भीतरसे बेइज्जतीमें खुश होने वाले बहुत हैं। अनेक बातें ऐसी हो रही हैं। उनमेंसे किसी भी बातको अपने दिलमें अगर धर लें, सोच लें महसूस कर लें तो उसको क्या चीज हल नहीं हो जाती है? यदि वे ऐसा सोचने तथा करनेमें असमर्थ हैं तो उसका परिणाम वे भोगते हैं।

एक भावना बना डाली। औंधी भावनाका फल औंधा मिलता है और सीधी भावना का फल सीधा मिलेगा। भैया, यह विश्वासमें होना चाहिए कि मैं ज्ञानमात्र हूं, अन्य जितने भी आत्माके गुण हैं वे ज्ञानके अस्तित्वमें समा जाते हैं। अच्छा एक विचार-विमर्श करो—आत्मामें तो अनन्तगुण हैं ना? हैं, और कहें भाई उन अनंत गुणोंमें से कोई एक गुण निकाल दो, उससे क्या टोटा आयेगा? कुछ भी तो फर्क न आयेगा। जब अनन्तगुण हैं और उनमें से एक गुण निकाल लिया। केवल एक भरकी बात कह रहे हैं। एक ज्ञानगुण निकाल लो तो अब बतलावो कि अस्तित्व किसपर विराजे? आत्मपदार्थोंको ज्ञान ही निकाल लो अब क्या रहा, और सब बातें तो ज्ञानकी बान रखनेके लिए थीं। वह ज्ञानमात्र आत्मा कैसा

है ? यह बतानेमें सब गुण आ जाते हैं । यह ज्ञानमात्र आत्मा स्वयं अपनेमें रहता है । यह ज्ञानमात्र आत्माका वर्तन इस प्रकारका है । यों अर्थविकल्प होते हुए ज्ञान आ गया । यह ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानमात्र है, इस भावनामें आकुलताओंका काम नहीं है । इस आत्मामें अनाकुलता है । इस ज्ञानमात्र आत्मामें सब बातें आ जाती हैं इसलिए आचार्योंने इस बातपर बल दिया है कि तुम अपनेको ज्ञानरूप भावें । आचार्यदेव ज्ञानभावनाके लिए कहते हैं । आनन्दगुणकी भावनाओं तकके लिए भी नहीं कहते हैं । देख लो उपदेशमें कहते भी हैं कहीं-कहीं आनन्दभावना, तो उसके कहनेका भी वह मुख्य लक्ष्य नहीं है । ज्ञानभावनासे जो शुद्धि होती है, उसमें शुद्ध आनन्दका अनुभव होता ही है अन्य रूप भावनाओंसे निर्विकल्पकताकी सिद्धि नहीं होती है । मैं आनन्दमात्र हूं । अब क्या चीज पकड़नेमें आ गयी ? कहां टिकना हुआ ?

अपने-अपने अंतरके अनुभवोंसे विचारिये 'ज्ञानमात्र मैं हूं' इस भावनामे ज्ञानमात्र आत्मा ग्रहणमें आता रहा है । समझमें आ रहा है जाननमात्र, प्रतिभासमात्र । कुछ और विश्राम लेकर सोचनेपर समझमें आता है कि यह मैं ज्ञानमात्र हूं । इस कारण इस ज्ञानमात्र आत्मभावोंमें ही ठहरकर अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ ।

मनोवाक्कायवृत्तीनां, ग्रहणे संसार एव हि ।
रमै ततः पृथग्ज्ञाने, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-२१॥

जीवको झुकावमें डालनेके लिए और असत्पथमें चलानेके लिए निकटकी चीजें तीन हैं—मन, वचन और काय । धन तो बहुत दूर है । आप यहां बैठे हैं तो मन, वचन, काय भी आपके पास है और धन रखा है वहां कई हाथ दूर पर । वह चिपकाये हुए नहीं आये हैं । लेकिन अभी मन, वचन और काय मौजूद हैं और यह जीव मन, वचन, कायकी ऐसी आसक्तिसे ग्रहण करता है कि इतना मात्र ही मैं हूं, ऐसे उसके संस्कार बन रहे हैं । इस संसारको देखकर तो बड़े-बड़े विवाद चलते हैं । इसने मुझे गालियां दी । मुझेके मायने है जिसकी कैमरेसे फोटो उतर आती है । यही तो मैं हूं । अपमान महसूस करता है, अपने इस शरीरका ख्याल करके और जितने विवाद झगड़े बढ़ रहे हैं, वे शरीरके ख्याल करनेसे ही हैं । ऐसा न करे तो लोग मुझे क्या कहेंगे ?

इस चिन्तनमें क्या इसका अर्थ तुमने यह लगा रखा है कि इस चैतन्यमात्र मुझ आत्मतत्त्वको लोग क्या कहेंगे ? नहीं, उसको तो कोई कुछ कहेगा ही नहीं । कह ही नहीं सकता है । घबड़ानेकी बात क्या है ? पर कायकी जो दृष्टि है, कायका जो ग्रहण है, ग्रहणके मायने विकल्प द्वारा कायकी पकड़न, उससे संसारकी ही वृद्धि है । यह मैं हूं, ऐसे ग्रहणमें संसार ही है । संसार ही बढ़ता है । वचनकी बात देखो तो वचनकी भी कितनी पकड़ है ।

मेरी बात इसने क्यों उलट दी ? किसी भी मामलेमें मेरी यह बात क्यों न रह सकी ? भैया ! यह बात क्या है ? अभी कुछ गाँठमें बात है क्या ? बात बोलते ही भाषाका परिणमन उलट गया, चला गया, अन्य अन्य रूप हो गया । वह कुछ कहीं तो नहीं रहा और बात भी क्या है ? कुछ तुम्हारी चीज है, क्या है ? पर बातकी पकड़ है कि नहीं ? मेरी बात नहीं हुई । चाहे कितना ही वैभव बिगड़ जाय, पर बात रह जाय तो मूँछोंपर ताव देकर कहते हैं कि कहो, आखिर विजय हमारी हो तो है भई । चाहे कलके खाने तकको भी नहीं । अभी कुछ परवाह नहीं । मगर बात तो रह गयी । यहाँ जब भाई-भाईमें न्यारापन होता है तो न्यारेपन में बड़ी बातपर झगड़ा बखेड़ा नहीं होता है । क्या कोई भाई ऐसा कह सकता है कि मैं तो इतने मकान लूँगा और इसको इतने ही मान देंगे । ऐसी बात जँचती ही नहीं । बड़ी बातका न्याय सुगमतासे होता है ।

झगड़ा होता तो एक हाँक जगहपर ही अड़ जायेंगे । यह खूँट हमारी है, यह तुम्हारा है । इसीपर झगड़ा हो जाता है । सारा बँटवारा तो खुशी खुशी हो गया, पर एक हाँक जगह पर झगड़ा हो गया । कचहरी चलने लगी । कचहरीके मायने कच हरी अर्थात् जिसके बाल साफ कर दिये । हो क्या गया कि न उसके पास कुछ रहा, न उसके पास कुछ रहा, सब खर्च हो गया, अन्तमें क्या मिलेगा कि एक इजाजत मिलेगी कि यह खूँट तुम्हारी है । वह भी एक कागजका टुकड़ा क्या मिल गया ? न्याय पत्र मिल गया । अब वह खूँट भी खत्म हो गई । एक पर्चा ही केवल हाथ रहा । यह क्या है ? बातके ग्रहणका फल है । अपने काय की पकड़ है और बातकी पकड़ है और मनकी पकड़ है ।

देखो एक मात्र सब जीवोंके सुखी रहनेकी भावना बने तो इस भावनासे ही बड़ा फल मिलता है । लगता तो कुछ नहीं है, खर्च भी कुछ नहीं होता है, मगर जिसका मन इस योग्य नहीं है उसके कारण इस सन्मतिकी ओर चल सकता है क्या ? अमुकका नाश हो जाय, अमुक यों हो जाय, इस भावनामें मनकी पकड़ ही तो साफ है । होना कुछ नहीं । कहो, कितने ही लोग तो अब नये टाइपमें नहीं होते, फिर भी कोई भगवान्के दर्शन करने जा रहे हैं, देहरीके पैर छूते है और कहते हैं कि भगवान् उनका नाश कर दे । ऐसी बात कह देते हैं कि उनको कहनेमें संकोच नहीं होता कि कोई खड़ा सुन तो नहीं रहा होगा । दूसरेसे नाशके खेलनेकी भावना, यह क्या है ?

यह मनकी पकड़ है । जैसा मन है वैसी ही पकड़ करता रहेगा । उसे साफ नहीं कर सकते, धो नहीं सकते । अपने मनकी, वचनकी और कायकी पकड़में केवल संसारका ही हाथ रहता है । इन विकल्पोंमें रमनेसे कोई शान्ति नहीं हो सकती है । इस कारण उन मन,

वचन, कायकी प्रवृत्तियोंसे पृथक् जो ज्ञानस्वरूप मैं हूं, सो उस ज्ञानमात्र निजतत्त्वमें ही रहूँ और इन सब बाह्य अर्थोंके परभावोके विकल्पोंको छोड़ूं। यहां गुजरती हैं बाहरी बातें, सो बातोंके गुजरनेकी बात और है और उनकी पकड़ कर लेना यह बात और है। उनकी पकड़ करना मिथ्यात्व है और मन, वचन, कायकी वृत्तियां होना पूर्वपदमें सबके हैं। निम्न गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टिके भी मन, वचन, कायकी वृत्तिकी पकड़ होती, मिथ्यात्वदृष्टिके भी मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति है, किन्तु सम्यग्दृष्टिके उसकी पकड़ नहीं, पर उनकी पकड़ मिथ्यात्व है। उनकी प्रवृत्ति विभाव है। जितने भी विभाव हैं वे सब मिथ्यात्व नहीं होते, पर मिथ्यात्व सब विभाव होते हैं। जैसे कहते हैं कि राग होता है, पर रागका राग हो जाय तो वह मिथ्यात्व हुआ। मैं रागवान् हूं, यही तो मैं हूं, इसके बाहर मैं नहीं हूं, इसीमें ही हित है। ऐसा ही हो जाय, ऐसा हो जाय तो ठीक है, नहीं तो अवसर खत्म है। राग तो रागसंसारमें रुलाने वाला है। इसी तरह मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिका ग्रहण करना, आत्मसात् करना, आत्मरूपसे ग्रहण करना। यह संसार है और संसारका फल केवल क्लेश ही है। सो संसार भावोंसे हटकर उससे पृथक् ज्ञानमात्र अपनेमें रहूँ और अपनेमे अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

वदानीच्छानि पृच्छान्यात्मानं ज्ञानमयं शिवम्।
अत्रैव विहरान्येष स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-२२॥

मैं बोलूं तो क्या बोलूं? एक आत्माकी ही बात बोलूं। चाहूँ तो क्या चाहूं? एक आत्माकी ही बात चाहूँ और पूछूं किसीसे तो क्या पूछूं? एक आत्माकी ही बात पूछूं। यह आत्मतत्त्व ज्ञानमय है, कल्याणमय है। यह स्वयं आनन्दसे भरपूर है। ज्ञान और आनन्द ही आत्माका स्वरूप है। ज्ञान कहीं बाहरसे नहीं आता है और आनन्द भी कहीं बाहरसे नही आता है। यह मैं आत्मतत्त्व ज्ञानमय हूं और कल्याणस्वरूप हूं। मैं इस ही निज आत्मस्वरूप में विहार करूं तो शांतिका मार्ग उपलब्ध होगा। अपने स्वरूपसे हटकर बाह्यमें दृष्टि लगाऊं तो यह क्लेशोंका मार्ग है। जो चीज बड़े लाभकी है वही चीज बार-बार बोली जाती है। कही जाती है, पूछी जाती है। ज्ञानी पुरुषको सबसे अधिक प्रिय, इष्ट, निज ज्ञानभाव है, निज आत्मतत्त्व है। इसलिए वह इस ही ज्ञानस्वभावकी बात बोलता है, इसकी ही चाह करता है और इसकी ही बात दूसरोंसे पूछा करता है।

सबसे अधिक प्रिय चीज क्या है? बालक जब छः माहका होता है तो उस बालक की मुद्राको देखकर जान जायेंगे आप कि उसे सबसे प्यारा क्या है? मां की गोदमें बैठा हुआ धोतीके आंचलमें आधा छिपा हुआ, आधा उघड़ा हुआ बालक, जिसकी मुद्राको देखकर समझ

लिया जाता है कि इसे तो अपनी माँ की गोद ही प्रिय है। आँचलमें छिपकर रहना ही उसे प्रिय है, वह आँचल ही उसका इष्ट है। उसे धन, वैभव, मकान, दुकान इत्यादिका तो ख्याल ही नहीं है। ये उसको प्रिय नहीं होते। बड़ा और हुआ, खेलने लगा, घोड़ा, हाथी आदि खिलौने खेलने लगा। उन खिलौनोंमें ही वह रमने लगा। खिलौना खेलते हुए जब माँ कहती है कि यहाँ चल तो वह माँ पर हाथ पसार देता है। अरे क्या हुआ? अरे अभी तो तुझे माँ की गोद, माँ का आँचल ही प्रिय था, आज तुझे ये मिट्टीके खिलौने ऐसे प्रिय हो गये कि अब उस बालकको माँ की गोद भी प्यारी नहीं रही, अब तो उसके लिए खिलौने प्यारे हो गये।

कुछ जरा और बढ़ता है तो वह विद्या पढ़ने लगता है। उसकी आशा विद्याके बारे में बढ़ती है। मैं तीसरी क्लासमें पास होऊँ, मैं चौथीमें पास होऊँ। कोई कोई तो पूछता है कि महाराज हम पास होंगे कि नहीं। अब उसे खिलौने भी प्रिय नहीं रहे, माँ की गोद भी प्रिय नही रही, अब उसे उत्तीर्णता प्रिय हो गयी। अब और बालक बढ़ता गया। अब वह बी. ए., एम. ए. पास हो गया। यह सोचा करता है उसको अब विद्या भी नहीं प्रिय रही, किन्तु डिग्री प्रिय हो गयी। पहिले तो विद्या पढ़कर खुश होते थे, अब वह विद्या भी प्रिय नहीं रही। अब विद्याके विषयोंकी खुशी नहीं है, अब केवल डिग्री ही प्रिय है। डिग्री भी मिल गयी। अब और बड़ा हुआ, उसके चित्तमें शादीकी सूझ आ गई। उसे स्त्री भी प्राप्त हो गई, लो अब डिग्रीकी खुशी भी गई, स्त्री प्रिय हो गई। फिर उसको स्त्री भी प्रिय नहीं रही। अब उसे प्रिय क्या है? अब उसे जो प्रिय है, वह है पुत्र। कुछ समय बाद प्रिय हो जाता धन। धन न जाने कहाँसे टूट गिरे ऐसी आकांक्षाएं रखने लगा। जब कुछ समय और बीता तो पुत्रकी धुन छूटी और देखो उसे प्रिय हो गया धन। जब और बड़ा हुआ तो काम-काज शुरू किया, व्यापार करने लगा, धंधा करने लगा। इस तरह चलता रहा, अब खूब बड़ा हो गया, ४-५ बच्चे भी हो गये। अचानक फोन आया कि सुनते ही घबड़ा गया। घरकी तरफ दौड़ा। रास्तेमें कोई बड़ा पुरुष मिला। उससे भी नहीं बोलता। पहिले जो ऊंचे-ऊंचे आफिसर मिलते थे, रोज दो मिनटके लिए उनसे मिलते थे, अब वे आफिसर भी उसे प्रिय नहीं हैं। घबड़ाता हुआ घर पहुंचा, फोनमें जो समाचार सुना था वही देखनेको मिला, वहाँ देखा कि घरमें आग लग गई है। आग अंधाधुंध जल रही है और धनको लोग निकाल रहे हैं। बोलता कि जितना धन निकाल सको, निकाल लो। अचानक खबर मिली कि और धन तो निकल आया, पर एक दूधमुंहा बच्चा दो वर्षका भीतर ही पड़ा रह गया। आग बड़ी तेज थी। अन्दर जानेकी किसीकी हिम्मत नहीं थी, पर वह लोग पुलिस वालोंसे कहता कि भैया, उसे निकाल दो, हम तुम्हें ५ हजार रुपये देंगे। फिर कहता कि हम १० हजार तक देंगे।

अरे भैया, तू ही क्यों नहीं चला जाता ? तू ही जाकर निकाल ले । देखो उसे बच्चेसे भी ज्यादा उसका प्राण हो गया, उसकी जान हो गयी । फिर वही पुरुष कारण पाकर विरक्त हो जाये और सच्चा साधु बन जाये तो समाधि अवस्थामें कदाचित् कोई सिंह, स्याल, शत्रु उसको चाटने लगे, खाने लगे, प्रहार करने लगे तो उसमें भी दम है कि आसनसे उठ जाये और उनके हाथ मार दे तो सब सिंह, स्याल आदि भाग सकते हैं । मगर स्वयं स्थिर बैठा है, हिलता नहीं है, किसीसे बात नहीं करता है, मनसे बाहरी बातें नहीं सोचता, विकल्प नहीं करता । इन विकल्पोंसे ही अहित है । निर्विकल्प स्थिति रहने दो अर्थात् शुद्ध ज्ञानकी परिस्थिति रहने दो । अब उसे जान भी प्रिय नहीं है, जान रहती है तो रहो, नही तो जाने दो । अब उसे जान भी प्रिय नहीं रही । तो अब ज्यादा प्रिय क्या है ? ज्ञानभाव इस ज्ञानभावमें दोष न आ सके । यह जन्ममरण तो कुछ चीज ही नही है । जो होता सो हो, पर मेरा सम्बंध तो अस्तित्वसे है ना ? सत्त्वसे है, परिणमनसे है । यह भव छूटा तो और भवमें पहुंचे और आत्मदृष्टि बराबर बनी रही तो विकल्प क्यों हो ? अब उसे अंतमें प्रिय क्या हुआ ? ज्ञानभाव । तो सबसे प्यारा क्या है ? प्रियतम कौन हो सकता है ? वह ज्ञान ही प्रियतम हो सकता है, निजस्वभाव चैतन्यतत्त्व ही प्रिय हो सकता है । देखो व्यवहारमें लोग एक शब्द बोला करते हैं—प्रीतम याने प्रियतम । प्रियतम पतिको बोलते है । प्रियतमका मतलब क्या है ? प्रियतम संस्कृतका शब्द है, प्रिय, प्रियतर, प्रियतम तीन रूप होते हैं । जैसे अंग्रेजीमें गुड, बैटर, बैस्ट । उसी तरह प्रिय, प्रियतर, प्रियतम याने प्रिय हो, उससे अधिक प्रिय हो, सबसे अधिक प्रिय हो ।

जिसका कोई मुकाबला नहीं, उत्कृष्ट हो, उसे कहते हैं प्रियतम । बतलाओ सबसे प्रिय चीज तुम्हें क्या है ? ज्ञानभाव, आत्मतत्त्व, ऐसा यह आत्मतत्त्व इसका हो दर्शन, इसका ही आलम्बन हो । जो समस्त आकुलताओंको दूर करता है । मैं इस ही आत्माकी बात बोलूँ, इसको ही चाहूं और इसकी ही बात पूछूं और यहाँ ही विहार करूं, यहाँ ही ठहरूं । यहाँ ही ठहरूं तो इस उपायसे अपना भला हो सकता है । इस ही जीवनमें बचपनसे लेकर अब तक किन-किन सम्बंधोंमें, किन-किन उपयोगोंमें यह जीव लगा । याद तो करो । जिस जिसमें उपयोग लगा, उस उसका आज क्या सम्बंध है ? अथवा उसके विषयमें आज क्या स्थिति है ? कितना फर्क है ? कुछ इसका नही है । न कोई हितकारी है, न कोई साथी है, यह एक एकाकी नाटक कर रहा है अपनी ओरसे । घड़ी कोई बड़ी सुन्दर हो, हाथमें पहिन ले, बार-बार देखता है और अपनी शान अनुभव करता है । घड़ी बेचारी कुछ जवाब नहीं दे रही है । यह महाशय अपने आपमें खुश हो रहे हैं । कभी आईना उठाकर अपना मुख तो देखा ही

होगा। आईना उठाया तो मुख देखा, चाहे दुबले पतले हों, चाहे नाक चपटी हो, चेहरा देखते हुए थोड़ा अभिमान तो आ ही जाता होगा। मूंछोंपर हाथ फिर ही जाता है, पर आईना कुछ उत्तर नहीं दे रहा है, उसकी कोई मदद नहीं कर रहा है, पर यह अपना एकाकी नाटक खेल रहा है।

इन सब बातोंमें एक बात ध्यान देनेकी है कि आत्माके रागद्वेषोंके, कषायभावोंके उत्पन्न होनेमें कर्मका उदय तो निमित्त होता है और बाहरी जितने पदार्थ हैं, वे विषयभूत हैं, वे सब आश्रयभूत कहलाते हैं। इन आश्रयभूत पदार्थोंको इनके रागादिक भावोंके साथ व्याप्ति नहीं है। इसलिए यह निमित्त नहीं कहलाते। यह आश्रयभूत हैं, पर कर्मका उदय इसके विभावोंमें निमित्त है। फिर भी उस पदार्थको ही देखो तो सर्वत्र यह लगता है कि ये पर-पदार्थ एकाकी नाटक करते चले जा रहे हैं। वह किसीसे कुछ बोलता ही नहीं है। बोलता हुआ भी नहीं बोलता है। कहते हैं ना कि सम्यग्दृष्टि पुरुष बोलते हुए भी नहीं बोलते और सम्यग्दृष्टिकी ही बात नहीं, बड़े मिथ्यादृष्टि पुरुष भी बोलते हुए भी दूसरेसे नहीं बोलते हैं। वहाँ दूसरा अर्थ लगा ना। यहाँ दूसरा अर्थ लगा। सम्यग्दृष्टि पुरुष दूसरोंसे बोलते हुए भी नहीं बोलते।

इसका मतलब यह है कि उसका अपनी ओर झुकाव है, अपनी उसको खबर है। जानता है कि इन सब व्यवहारोंमें उसका कुछ पूरा नहीं पड़ रहा है। मैं अपने आप ही कुछ कर रहा हूं और बिगाड़ता हूं, सुधारता हूं। मेरी जिम्मेदारी मुझ ही पर है। कल्याणमें लगना चाहिए, ऐसी उसको बड़ी उत्सुकता है। जिसके कारण बस बोल-चाल करने पर भी वह किसीसे बोलता नहीं है और मिथ्यादृष्टि भी बोलता हुआ भी नहीं बोलता याने किसीको कुछ करना नहीं, बोलता नहीं। वह अपने आपमें ही एकाकी नाटक कर रहा है। अपने कषायों की पुष्टि कर रहा है, अपने कषायोंके विकल्प बना रहा है। मैं किससे बोलूं? किसीसे बोलनेसे मेरा क्या हित है?

देखिए अपने जीवनमें भी, व्यवहारदृष्टिसे भी कम बोलना अच्छा है, ज्यादा बोलनेकी आदत वाले अपने आपमें वजनरहित होते हैं। अपनेको वे खाली महसूस करते हैं, भरेपनसे नहीं रहते हैं। जम करके आनन्द नहीं मिलता है। विह्वलतासी बनी रहती है ज्यादा बोलने से। ज्यादा बोलनेकी आदत तो लौकिक जीवनके लिए भी हितकर नहीं है और फिर दूसरी बात बोलूं तो क्या बोलूं? किसी अन्यकी चर्चा रखूं तो क्या लाभ है? बोलूं तो आत्माकी ही बात बोलूं।

जिसकी लगन लगी है, वह बराबर बोली जाती है, वही बराबर चाही जाती है,

वही बराबर पूछी जाती है। व्यवहारमें कुछ भी करना पड़ता हो। जैसे किसी युवककी ससुरालसे ४-५ आदमी आये और उसके घरके सामनेसे निकलें, वहाँ ठहरें तो वह उनको बुलाता है, पानी भी पिलाता है। जान रहा है कि ससुरालके गांवके ही तो हैं। इसलिए वह उनका सत्कार करता है। बीच-बीचमें चर्चा छेड़ते हैं कि ससुरालके घर वाले मजेमें है। कोई कोई तो सांकेतिक भाषामें अपनी गृहणीकी भी बातें पूछ लेता है। तो वह किसका आदर है? क्या सब उनका आदर किया जा रहा है? वह सब आदर तो उस गृहणीका है, जो उन चार आदमियोंमें टपक पड़ा है।

जिसके जिसकी बुद्धि है, वही बोला जाता है, वही चाहा जाता है, वही पूछा जाता है। ज्ञानी पुरुषकी यही भावना होती है कि मैं केवल ज्ञानमय, कल्याणकर और आत्मतत्त्वकी ही बात बोलूं, आत्मतत्त्वकी ही बात पूछूं और उसकी ही चर्चा करूं। अच्छा और किस किसकी चाह करते? हवेलियां बन जायें। हवेलियां भी भाई बन गयीं। अब संतोष हो गया क्या? इच्छाओंकी पूर्ति हो गयी क्या? अरे, अब और आकुलताएं बड़ी हो गयीं। तो क्या काम कर लें कि शांति मिले? कौनसा काम बाहरमें ऐसा है कि जिसके कर लेनेसे शान्ति प्राप्त होती है। अब कुछ भी नहीं है, क्योंकि बाहरके काम करना मेढकोंके तौलनेके बराबर है। जरा सेर भर मेढक तौलिए कि कितने चढते हैं? आप तौल नहीं सकते हैं। एक आपने रखा तो दूसरा कूद गया। तुम चढ़ाते जाओ, वे कूदते जायें। आप तौल नहीं सकते हैं। बाहरमें काम आप क्या करेंगे? यह किया, वह किया, यह ठीक हुआ, वह मिटा, यह संभाला, वह खत्म हो गया। कभी बच्चेकी बीमारीका इलाज करवाया तो कभी किसी को सोचने लगा। कभी कोई घरमे गुजर गया। कभी कोई रिश्तेदारीमें घटना हो गयी। भागो, दौड़ो, संभालो, इसको पकड़ो, इसको छोड़ो, इसको संभालो। बाहरी बातोंको करना मेढकोंके तौलनेके बराबर है। वहाँ जमकर व्यवस्था नहीं बन सकती है, कायदा कानूनकी व्यवस्था नहीं चलती, क्योंकि परकी परिणति मेरे आधीन नहीं और एक अपने आपके ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करनेका काम जम जाय तो यह बनना है। अगर कोई अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करे तो यह बनना है और अगर न करे तो यह बात ही अलग है। पर यह अपने आपके स्वभावपर दृष्टि लानेका काम स्वाधीन है, सुगम है, जमने वाली बात है। इसमें किसी दूसरे से बाधा आनेकी शंका नहीं। खुद ही अयोग्य है तो खुद ही अपने ज्ञानस्वभावसे विचलित हो जायेगा। अच्छा बताओ पैसेका उपार्जन करना सरल है या आत्मदर्शन करना सरल है? उत्तर क्या दिया जाये? पैसेका उपार्जन करना आपके हाथकी बात नहीं है। उदय अनुकूल है तो होता है आपके सोचनेसे नहीं कि मैं सोचूं तो वैसा काम हो ही जाये। सोचते सब

हैं। यों तो कोई बालक गेंद खेल रहा है और गेंद लुढ़कते लुढ़कते किसी नालीके पास पहुंच रही है तो वह दूरसे ही अपने हाथोंकी मुट्ठियां बांधकर सकोड़कर यों यत्न कर रहा है कि गेंद नालीमें न गिरे। गेंद तो दसों हाथ दूर है, भागी चली जा रही है, पर यत्न यह करते हैं कि नालीमें न गिरे। इस यत्नसे कुछ गेंदमें परिणति हो जायेगी क्या? इसी प्रकार ये समस्त परपदार्थ हमसे कितने दूर हैं, अत्यन्त दूर हैं, हममें उनका अत्यन्ताभाव है। अब हम उनकी परिणतिका ध्यान रखते हैं कि यह यों बन जाये तो उसके सोचनेसे उस परमें कुछ नहीं बनता है। वो पैसेका उपार्जन कठिन है और आत्मदर्शन सरल है। दर्शक भी आत्मा है, दृश्य भी आत्मा है, दर्शनका साधन भी आत्मा है, पर एक बात है कि आत्मदर्शन मोहमें असंभव है या तो असंभव है या झट होनेकी चीज है। आत्मदर्शन, आत्मकल्याण, आत्महित सुगम है। मगर अब तक कैसा परिणमन हो रहा है कि सुगम चीज तो कठिन मालूम होती है और कठिन चीज सुगम जंच रही है। जैसे सफरमें जाते हैं और साथमें कलेवा है, टिफिन-बक्स है तो जब भूख लगी तब झट अपना टिफिन निकाला और खा लिया। कितनी स्वाधीन बात है, न स्टेशन ताकना है, न किसीसे कुछ पूछना है। इसी तरह इस लोकमें सफर करते हुए ज्ञानीके पास ज्ञानदृष्टिका कलेवा है। कैसा भी संकट आवे, कैसी भी परिस्थिति हो जावे, पर किसीके मुंह ताकनेकी प्रतीक्षा नहीं है। ज्ञानदृष्टि की कि सब आकुलताएँ दूर हो गयीं।

आपके पास एक निजी कलेवा है, जब चाहें तब खायें पियें। अपने ही ज्ञानसे अपने को सुखी कर सकते हो। ज्ञानी जनकी भावनाएँ हैं कि इस ज्ञानमय शिव आत्मतत्त्वका ही बल चाहूं, इसीमें विहार करूं और अपनेमें अपने आप स्वयं शांत रहूं, सुखी होऊं।

भिन्ने स्वस्य धिया स्वस्माच्च्युतो बध्नाम्यतः परा।
च्युता शाम्यानि बुद्धया स्वे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–२३॥

जो चीज अपनेसे न्यारी है उसको यदि ऐसा मान लें कि यह मैं हूं, यह मेरा है तो इसका अर्थ यह है कि अपने आपसे च्युत हो गये, अपने आपको कुछ नहीं समझ सके और जो अपने आपको गिराकर च्युत हो गये तो वह कर्मोंसे कल्पनाओंमें बंध जाता है। एक ही तो बात है 'परमें लगे सो संसार है और परसे हटे और अपने आपमें लगे सो मोक्षका मार्ग है।' अब परसे हटें और अपने आपमें लगें इसका उपाय क्या है? तो इसका उपाय परको पर जान लो और स्वको स्व जान लो तो यही उपाय है। यह बात कहनेको तो सभी लोग कहते हैं, पर इसको विस्तृत रूपसे जैनसिद्धान्तमें कहा गया है। जो सिद्धांत ऐसा मानता हो कि एक प्रभु ईश्वर है वही हम सबको बनाता है, उसीकी प्रार्थना करूं, और उसको करुणा आ जाये, हमारी भक्तिसे प्रसन्न हो जाये तो वह मुझे तार देगा, ऐसी बुद्धि होनेसे क्या यह

आशा की जा सकती है कि वह हितमें लगेगा। उसकी दृष्टि बाहरकी ओर है, अपने आपमें उसे संतोष नहीं है, अपने आपको तो कुछ सत्त्व ही नहीं माना है, पराश्रित बुद्धि है, अन्य कोई पुरुष दया करे तो सुधार हो, ऐसी कल्पना है। इसमें शांति समाधि तब हो सकती है जब कि परसे हटे।

भैया ! अपने आपमें लगे, इसके उपायकी बात चल रही है। यदि जगत्‌में ब्रह्म एक है और सबमें ही ब्रह्मका अवतार है तो वहाँ सब ही एक है। कुछ पर रहता ही नहीं। सब भी कुछ नहीं रहे, मैं भी कुछ नहीं रहा, पर भी कुछ नहीं रहे। वह ब्रह्म तो कोई एक सर्व व्यापक है। वहाँ भी परसे क्या हटना और स्वमें क्या लगना ? जिसे परवस्तु कहा गया है वह परवस्तु अपना-अपना अस्तित्व लिए हुए है, स्वतंत्र है। स्व और परका भेद है। स्व में स्वयं एक वस्तु जो है सो आयी। आखिर है तो कुछ निज वस्तु जिसमें आकुलताएं उठती हैं, वितर्क विचार होते हैं, सुख दुःखका अनुभव होता है। उनका चाहे कैसा ही बिगड़ा रूप हो, आखिर है तो एक वस्तु तो वह तो हुआ स्व। इस स्वके अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं, चाहे चेतन हों या समस्त अचेतन हों वे सब हैं पर। उन परसे हटना और स्वमें लगना सम्यक् ज्ञानके बलसे हो सकता है। परमें लगना अयोग्य है कि वह कोई सुव्यवस्थितताका मार्ग नहीं है। पर पर है। उसका संयोग हो, उसका मेरी चाहके माफिक परिणमन हो, यह कुछ बात हो नहीं सकती। और जब नहीं हो सकती तो व्याकुलता है। इस कारण परमें लगना पाप है और स्वमें लगना पुण्य है। यहाँ पुण्यका अर्थ एक पवित्र कर्तव्य है। सो इस परसे हटो और स्वमें लगो।

जैनसिद्धान्तमें जिस पद्धतिसे वस्तुस्वरूप कहा गया है उसका ज्ञान होना तो बन सकता है। कोई भी पदार्थ ले लो, जहाँ क्षण-क्षणमें नये-नये पदार्थ होते हैं वहाँ परसे हटना और स्वमें आना, ऐसा हो ही नहीं सकना है। आत्मलाभ हुआ कि लो, मिट गया। क्षण भर बादमें कुछ करनेका मौका ही नहीं मिला। जहाँ एक समयकी स्थिति है पदार्थकी, दूसरे क्षण नहीं है। वहाँ उपदेश ही क्या ? परसे छूटना, निजमें लगना इसकी कल्पना ही क्या है ? हटना और लगना यह तो वृत्ति है, परिणति है। मगर हटना और लगना, यह बात हममें हुई तो परिणामी हो गयी। अपरिणामी कैसे रही ? तो अपरिणामवादमें भी परसे हटना निजमें लगना, यह नहीं हो सकता है और क्षणवादमें भी नहीं बन सकता। सब कुछ एक ही है, हम तुम ये सब। जब सब एक ही है तो हम कुछ न रहे, आप कुछ न रहे तो कहाँ हो सकता है परसे हटना और निजमें लगना।

भक्ति तो करो व बाह्यमें उपयोगोंको लगाये रहो। प्रभो बचाओ, रक्षा करो, उद्धार

करो, ऐसी वृत्तिमें भी संतोषकी पद्धति तो नहीं हुई। जैसे यहाँ लौकिक क्रियाके लिए दूसरे पुरुषोंसे दीनता की जाती है, उसी तरह अपनी कल्पनाओंसे मानी हुई उद्धारक्रियाओंके लिए भी एकसे दीनता की जा रही है। इस पद्धतिमें भी संतोष नहीं है, तृप्ति नहीं है। हाँ, परमात्माका स्वरूप पवित्र है तो भक्ति करो। धन्य है यह सम्यग्ज्ञान, धन्य है यह वस्तुस्वरूप के बताने वाला पूज्य तत्त्व, जिसके आश्रयसे मोहादिक सब संकट टल जाते हैं। सब पदार्थ अपना-अपना अस्तित्व रखते हैं। प्रत्येक समय परिणम रहे हैं, अपने आपमें परिणमते रहते हैं। एक यह ही चैतन्यपदार्थ है ऐसा जो कि विकृत दशामें अपने उपयोग गुणके कारण अपने को अपना कुछ न मानकर बाहरमें नाना रूपता माना करता है। सो इसका ही एक ऐसा गुनाह है कि जिसके कारण परेशानी छायी है। जब यह सम्यग्ज्ञान उदित होता है तो निज स्वरूपधारी सर्व जीव लोकदृष्टिमें रहता है। कर्तृकर्मत्वके भाव समाप्त होते हैं, वहाँ परसे हटना और स्वमें लगना बन जाता है।

कितना जीवन व्यतीत हुआ अनादिसे आज तक, केवल यही भ्रमकी एक धुन रही, किसी भी भावमें रहा हो, अपनेको भूले हुए कितना लगातार समय गुजर गया इतने पर भी अब भी नहीं चेत सकता। कितनी विपत्तियाँ सहीं, कितनी विपत्तियाँ पायीं, फिर भी यह ऊब नहीं सका और उन्हीं भुक्त भोगोंको पाता है और चैन मानता है और नई बात, नये सुख, नया ढंग समझता है। ये सब आपत्तियाँ एक निजका मर्म न जाननेमें हुईं।

भैया! जिस जीवकी बाहरमें दृष्टि रहती है, स्वरूपसीमामें उपयोग रहता है, स्वमें वृत्ति जगती है, वह पुरुष अमीर है। बाहरमें धन वैभवके समागमकी कमी होनेसे करोड़ों पुरुषोंसे वह दीन है, गरीब है, कुछ नहीं है। मगर जिसको अपने प्रभुस्वरूपकी लगन लगी है वह शहनशाह, राजा, महाराजा, देव और इन्द्रोंका भी वह राजा है, पूज्य है। जिसको अपने प्रभुस्वरूपकी लगन लगी है, उसकी प्राप्तिके कारण संसारके सारे संकट टल जाते हैं समयसारमें लिखा है—

अयिकथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्ननुभवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
अथ पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

हे प्रियतम! किसी प्रकार भी, मरण करके भी अथवा बड़े कठिन यत्न करके भी तन, मन, धन, वचन समर्पित करके भी, तत्त्वका कौतूहली होते हुए भी एक क्षण मुहूर्त मात्र तो भवमूर्तिका पड़ोसी बनकर अपने आपको अनुभव तो कर।

तत्त्वके कौतूहलीका अर्थ है कि सारे पदार्थोंके वस्तुस्वातन्त्र्यको देखकर उस ही वस्तु में कौतूहलकी पद्धतिसे यह निरखते रहें कि यह वस्तु है और यह इसमें यों परिणम गयी,

लो विलीन हो गयी तो हो गयी। जैसे बालक जन बरसातमें उवंतियोंके सामने पानीका बबूला देखते हैं, बबूला पैदा होता है, उन्हें कौतूहल होता है, बड़ी क्रीड़ासे देखते हैं। इसी तरह यहाँसे कौतूहली बनते हैं, तत्त्रमें कोई बने पदार्थ अपने आपके स्वरूपमें हैं। मगर ज्ञानबलसे स्वातन्त्र्य देख लो। लो यह यों परिणम गया, यों परिणम रहा है। विज्ञानपद्धतिमें उतारें तो वहाँ भी यह दिखता है कि उसका निमित्त पाकर देखो इसने अपने आपकी अब क्या शक्ल बना डाली? अपने आपकी क्या परिणति कर डाली? इस तरह यथार्थ हितकर ढंग अपना बन जाता है। बस देख लिया, जान लिया, देख रहा, जान रहा। ऐसा कौतूहली बनकर उस भवमूर्तिके पड़ोसी बनो। संसारकी मूर्ति है यह शरीर। इससे ही तो सब समझ में आ रहा है, यह संसार है, यह संसारी है। इस भवमूर्तिके पड़ोसी बनकर अपने आपका अनुभव करो।

भैया! यह आत्मराम, यह चित्स्वभाव यह भीतरमें बड़े ही आरामसे विराजमान यह नबाबशाह यह सबसे पृथक् विलस रहा है, शोभायमान हो रहा है। ऐसा इस देहसे पृथक् चैतन्यस्वभाव मात्र एक अपने आपको तो देखो। कहाँ हैं संकट, वहाँ तो संकट ही नहीं हैं। कैसी है पराधीनता? कहीं पर भी पराधीनता नहीं। इस अपने प्रभुत्वका दर्शन तो कैसे हो? सबसे विरक्त अपने आपके सर्वस्व एक इस अपने आपके पदार्थको देखो। इसको दूसरेसे अटक ही क्या है? यह स्वयं सत् है, इसे कुछ नहीं बनाना है। वह तो आनन्दसे पूरा बना बनाया ही है। यह है और अपनी अर्थक्रिया कर रहा है। इसको रक्षा क्या चाहिए? इससे भिन्न जो परपदार्थ हैं उसकी रक्षाका विकल्प किए हुए है यह जीव। इसलिए यह सुरक्षित है, यह स्वयं बना बनाया परिपूर्ण है। इसको रक्षाकी जरूरत क्या है? यह तो रक्षित ही है। इसलिए अपने आपमें विराजमान इस निजको देखो, जिससे इस देहके साथ एकत्वका मोह छूटे। जीवन तभीसे है, जबसे इसने अपने आपमें सहज स्वरूपकी पहिचान की।

एक साधु महाराज थे। एक दिन एक श्रावकके यहाँ भोजन किया। भोजन करके आँगनमें बैठ गये। सो सेठकी बहूने पूछा कि महाराज! आप इतने सवेरे क्यों आ गये? भैया! आये थे १० बजे आहारको। अच्छी कड़ी धूप भी थी। महाराज बोले कि बेटी! समयकी खबर नहीं रही। इतनी बात सुनकर लोग दंग रह गये कि समयकी खबर नहीं थी। अब साधुने पूछा कि बेटी! तेरी क्या उम्र है? इससे भैया क्या मतलब? सब बातें लोग सुन रहे और अटपट अनुभव कर रहे हैं। इतनेमें बहू उत्तर देती है कि महाराज मेरी उम्र ४ वर्षकी है। २० वर्षकी तो उम्र है और बतलाई ४ वर्षकी। साधुने पूछा कि तुम्हारे पतिकी उम्र कितनी है? वह बोली—महाराज मेरे पतिकी उम्र ४ महीनेकी है। और ससुर

की उम्र कितनी है ? ससुर अभी पैदा ही नहीं हुआ है। अच्छा तुम ताजा खाना खाती हो कि बासी ? महाराज, हम बासी खाना खाते हैं। इतनी बातके बाद महाराज चल दिये। अब तो सेठ बहूसे लड़ने लगे कि तूने हमारे कुलको खो दिया। लोग क्या कहते होंगे, तूने कितना ऊटपटांग उत्तर दिया। बहूने कहा कि मैंने ठीक उत्तर दिया है। चलो महाराजके पास, वे बतलावेंगे। सबको समाधान मिल जायेगा। वे साधु महाराज छोटी उम्रके थे। बहूने पूछा कि इस छोटी उम्रमें आप कैसे आ गये ? तो साधुने कहा कि बेटी समयकी खबर मुझे न थी। आज हैं कल पता नहीं क्या हो जाये, कितने दिन जीना है, इसलिए सवेरे आ गये अर्थात् शीघ्र साधुपनेमें आ गये। यह प्रथम प्रश्नका उत्तर हुआ। अब ४ वर्षकी उम्रका क्या मतलब ? तो उसने स्वयं कहा कि ४ वर्ष हुए तबसे मैं धर्मसाधनामें आयी। जबसे मुझे धर्मकी परख हुई तभीसे मैंने अपना जीवन समझा। पहिलेके जीवनको यदि जीवन माना जाये तो हमें अनन्तकालके बूढ़े कहना चाहिए। पतिके चार महीनेका अर्थ क्या है कि चार महीनेसे उनके श्रद्धा हुई। ससुरने कहा कि हम तो बूढ़े खड़े हैं और मुझे यह बतलाती है कि ससुर पैदा ही नहीं हुआ। अब भी ससुर साहब लड़ रहे हैं। उन्हें और कोई भी कह देवे कि धर्मदृष्टिसे उन्हें पैदा हुआ कैसे कहा जावे, क्योंकि इनके अभी भी श्रद्धा नहीं हुई ? बासी खानेका मतलब क्या था कि पूर्वजन्ममें जो पुण्य किया था उसकी वजहसे आज भोग रहे हैं, पर ताजा कोई पुण्य नहीं कर रहे हैं। पूर्वजन्मका जो बनाया सामान है उसको खा रहे हैं।

इसमें प्रयोजनकी बात इतनी जाननेकी है कि जबसे निज आत्मतत्त्वकी परख हुई है तबसे समझो कि अपना जीवन है। इससे पहिलेका जीवन क्या जीवन है ? खाया, पिया, विषय कषाय किया, अंधेर ही अंधेर रहा। यह कोई जीवन है क्या ? सर्व प्रयत्न करके आचार्य महाराज बतलाते हैं कि मर करके भी जिसे कहते हैं कि इस कामको करना ही है, जैसा चाहें मरें पचें, तन भी न्योछावर करें, मन भी न्योछावर करें, धन इत्यादि सब कुछ त्यागें, और सब कुछ न्योछावर करनेके फलमें यदि मिल गया आत्मतत्त्व तो यह नरजन्म सफल है। उसकी प्राप्ति एक ज्ञानसे ही होती है और उस ज्ञानमें जब तक पात्रता न हो तब तक तन, मन, धन, वचनका उत्साह नहीं हो सकता।

बाह्य सामग्रीसे ही जो अपना रूप समझे, उससे ही अपना बड़प्पन समझे, उसमें ही जो रत रहे ऐसे पुरुषमें ज्ञानवृत्तिमें रहनेकी पात्रता नहीं होती। सो इस कारण परको पर जानकर परसे दृष्टि हटावें और निजको सर्वस्व जानकर, अपना हित जानकर निजमें दृष्टि लगावें। लोकव्यवहारमें भी कहते हैं कि जो पर है, पराया है सो पराया ही है और जो निज है सो निज है। किसीने अपने घर दामादको रख लिया, किसीको गोद ले लिया और भाई

प्रतिकूल चले तो चले, इच्छा है। भाई परसे सुखकी आशा कहाँ है ? ऐसा व्यवहारमें लौकिकजन भी बोलते हैं, और ये सब कुछ भी पर हैं। यहाँ तक कि अपने ही स्वरूपमें उठी हुई तरंगें, परिणति, विचार, विकल्प, रागद्वेष परिणति भी पर हैं। इससे सुखकी आशा कहाँ है ? जो निज है उसकी दृष्टि हो, वहीसे सुखकी आशा की जा सकती है। उल्टे न चलो, काम बन गया, काम तो बना हुआ ही है। उल्टे चलकर विकल्प विकारोंमें थोड़ा उल्टा चल गये तो सब अपने आप हो गया। सो स्वको स्व जानो, परको पर जानो। परसे च्युत होकर अपनेमें लगो तो वहाँ बंधन नही है। इस अपने ज्ञानसे भीतरमें इस प्रकारकी वृत्ति हो जाती है सो इस ही अपने पुरुषार्थमें रहकर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

स्वस्थं स्वं पश्यतो मे न रागद्वेषौ कुतोऽसुखम्।
शंका शल्य कुतस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-२४॥

जो अपनेको अपनेमें ठहरा हुआ देखता है उसके रागद्वेष नहीं होता। जब रागद्वेष नहीं है तो उसको दुःख कैसे हो सकता है ? दृष्टि जब बाहरमें होती है कि यह मेरा है, यह उसका है, यह हित है, यह बुरा है आदि बाहरमें दृष्टि होती है तो उससे ही रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। जीवका दूसरा कोई साथी नही है। सब जीव न्यारे-न्यारे हैं, अपने आपमें हैं, किसी का कोई साथी नही है। यह जीव खुद ही है, खुद ही कल्पनाएँ करता है, खुद ही विकल्प करता है, खुद ही दुःखी होता है और खुद ही सुखी होता है। जीवका असली स्वरूप क्या है ? चेतना है, चेतन है। ये जितनी धार्मिक विद्यायें हैं, बच्चे लोग पढ़ते हैं इसलिए पढ़ायी जाती हैं कि वे अपनी आत्माकी बातोंको जान जायें। बच्चे लोग उन धार्मिक विद्याओंको पढ़कर यह समझ जायें कि मेरी आत्मा सबसे निराली है इसका यहाँ कुछ नही है। मोह करना व्यर्थ है। इतनी बात समझनेके लिए ये धार्मिक विद्यायें हैं। ये सब अपने आप बाहर की दृष्टि भुलाकर ही अपने आपको सुखी बनाते हैं। और समझमें आ जाय कि यह तो यही है, पूरा है, इतना ही है, इससे आगे मेरा कुछ नहीं है। यह बात दृष्टिमें आ जाये तो न शंका रहे, न शल्य रहे, न आपत्तियाँ रहें, न किसी प्रकारकी विपत्ति रहे।

भैया ! यह जीव अपने आपमें ठहरता क्यों नहीं ? तो इसने उल्टा ज्ञान लगा लिया है कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, भीतरमें ऐसा मान लिया इसलिए उसको क्लेश है और स्वस्थ दृष्टि रहे कि सभी जीव स्वतंत्र स्वतंत्र हैं, किसी जीवका कोई जीव अधिकारी नहीं है, ऐसी दृष्टि रहे तो इस जीवको न शंका है, न शल्य है। अभी जितने घरके लोग हैं वे क्या मरेंगे नहीं ? मरेंगे सभी। कोई पहले मरेगा और कोई बादमें। अच्छा कोई मरता है तो उसके मरनेके बादमें लोग रंज करते हैं तो यह उनका रंज करना व्यर्थ होता है।

क्योंकि कोई सदा नहीं रहेगा। कोई छोटी अवस्थामें मर गया तो कोई बड़ी अवस्थामें मर गया। वास्तवमें उसके मरनेका दुःख नहीं है। दुःख तो जो उससे मोह लगा है, उसका है। दुःखोंकी खान तो एक मोह है, मोह होनेसे क्लेश होते हैं। तो असली स्वस्थ कौन है? कहते हैं कि असली स्वस्थ वह है जिसकी अपने आपकी आत्माकी ओर दृष्टि है। कोई दुबला पतला हो, मगर उसकी दृष्टि निर्मल हो तो वह अपने आपमें रह सकता है, वही स्वस्थ है और कोई हट्टा-कट्टा हो, मोटा हो और परमें दृष्टि हो तो वह स्वस्थ नहीं है। जो अपने आपके स्वरूपको देखता है वह रागद्वेष नहीं करता है।

भैया! जीवको एक ही तो दुःख है, दूसरा दुःख नहीं है। वह दुःख है मोहका। कोई किसी प्रकारका दुःख लगाये है, कोई किसी प्रकारका दुःख लगाये है। यह जीव किसी मुद्राको देखता जाये, परमें आत्मबुद्धि लगाये, यही काम कर रहा है। इससे ही दुःख है। अब सबकी अलग-अलग बातें हैं। किसीका चित्त किसीमें है, किसीका चित्त किसीमें है, पर ये काम एक ही हैं। मोहमें, अज्ञानमें काम एक ही तरहका है मगर विषय नाना हैं। किसीको लड़कीकी शादी करनी है, किसीको दुकान करना, किसीको संस्था चलाना, इससे ही दुःख है। यह सभीके स्वयंका मोह है। अभी देखो जितने भी लोग यहाँ बैठे हैं सभी दुःखी नजर आ रहे हैं। दूसरोंकी गल्तीको जल्दी जान जाते हैं कि यह व्यर्थकी गल्ती कर रहा है। इस विषयकी बात एक तरहकी है, मगर देखो किसीका किसमें चित्त है, किसीकी किसमें प्रीति है। सबकी अगर भीतरकी फोटो ली जा सकती तो यह मालूम हो जाता कि किसका चित्त कहाँ कैसा लगा है? पर किसीका कहीं चित्त लगा है, किसीका कहीं। कोई एक बातका भी गम नहीं खाता। अगर कोई एक बात ही गम खा जाता हो सो भी नहीं है। कोई कहीं लगा है, कोई कहीं लगा है, कोई किसी चेतनमें लगा, कोई किसी चेतनमें लगा, कोई इन नाक, कान, थूक वालोंमें लगा है। बतलाओ इनमें क्या कुछ सार भी है? कुछ भी तो इनमें सार नहीं है।

भैया! किसीका शरीर सुन्दर, सुडोल, चिकना, चपटा और गोरा है और किसीका काला है तो केवल रङ्गका ही भेद है। केवल दूरसे देखता रहे, ऐसा शरीर है। पर उसके अन्दर सब असार ही असार है। वहाँ कोई भी चीज सारकी नहीं है।

भैया! जो कृष्णवर्णके होते हैं, साँवले होते हैं, उनका शरीर कुछ इस प्रकारके गठनका होता है कि उससे बदबू कम आती है और जो सफेद हैं, गोरे हैं, बाहरसे देखनेमें अच्छे लगते हैं, उन काले वालोंके मुकाबलेमें उनसे दुर्गन्ध ज्यादा आ सकती है। उस गोरे या काले कैसे ही शरीरमें घृणा ही घृणा भरी है। इसके अतिरिक्त और भेद हो तो बतलाओ। एक

यदि हिम्मत करता है और जब यह मालूम पड जाय कि यह असारका पिंड है, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं तो लडका लडकी इत्यादिका मोह उसके अन्दर समाप्त हो जाता है। इस मोहके समाप्त होनेमें फिर दुःख नहीं है।

भगवानकी भक्ति करते हैं, अच्छे धर्म और कुलमें पैदा हुए हैं तो भगवान्की बात माननी चाहिए। भगवानकी पूजा भी कर रहे हैं और मोह भी कर रहे हैं। ऊपरसे तो भग-वान्की भक्ति करके खुश रहे और अन्दरसे मोह रहे, ममत्व रहे तो बतलाओ वह भगवान्की भक्ति क्या हुई ? भगवानका प्रिय तो वह है जो यत्न करे कि मैं तो अपने एकाकी स्वरूपको देखता हूं, केवल एक निज आत्मतत्त्वको देखता हूं। ऐसी जो मनमें बात रखे, श्रद्धा रखे सो ही भगवानका भक्त है, प्रिय है। संसारमें देखते आये हो, कितने ही मित्र मिले, कितने ही परिवार मिले, पर जो अंत तक साथ रहे, सो बतलाओ, कोई भी तो अंत तक साथ नहीं रहेगा। जो भी देखनेमें आ रहा है कि परिवारके लोगोंमें चिपटे हो तो बतलाओ। परिवार के लोग कौन अन्त तक तुम्हारा साथ देंगे ? फिर बतलाओ भैया ! ममत्व करना व्यर्थकी चीज है कि नहीं ? हम आप धर्म भी करते हैं। थोड़ा धर्म किया, फिर मोह किया, फिर धर्म किया, फिर मोह किया। अरे ! मोह करना है तो मोह ही कर लो और धर्म करना है तो धर्म ही कर लो। मोह करनेसे जब ऊब जावोगे, तब तो फिर अच्छी तरहसे धर्म करोगे ही। भीतरसे इस ममत्वको छोड़ दे। तभी इस जीवका कल्याण है। नहीं तो यह जीव ममत्व करता जाता है और भीतरसे दुःखी होता जाता है।

भैया ! ममत्वका दुःख बहुत बड़ा दुःख है। भीतरसे दुःख है, भीतरमें चोट लगी है, इस मोह ममतासे ही तो। इस मोहको छोड़ दो। इस ममताको जिसने जीत लिया है, उसको ही तो जिनेन्द्र कहते हैं। जो अपने आपको देखते हैं, वे अपने आपमें ही हैं। अपनेसे बाहर नहीं है। मैं हूं, अपने आपमें हूं, यही विचार करो, यही कल्पनाएं करो, यही उद्यम करो।

भैया ! करनेसे यह जीव कुछ नहीं कर सकता है, ऐसी भावना रखो, सो ही जीव आनन्दको पा सकता है और मुक्तिके मार्गको पा सकता है। मोहको छोड़ो। जगत्में अपना कुछ न मानो। बस एक इस ही उपायसे चलो कि कहीं मेरा कुछ नहीं है, मेरी तो एक आत्मा है, एक अकेला मैं ही हूं। इस संसारमें मेरा कहीं कुछ नहीं है। कोई मेरा हो ही नहीं सकता है। हम अपनी सत्तामें हैं, किसीका कोई कुछ नहीं है, फिर भी कोई किसीको प्रशंसित करे तो ऊंट गधे जैसी बात है।

जैसे कि मानो ऊंटका विवाह हो रहा था। उसकी शादीमें गाने बजानेके लिए गधों को बुलाया गया। गधे बहुत गीत गाते हैं। उनकी दोहरी आवाज होती है। वे सांस भीतर

करें तो बोलते, बाहर करें तो बोलते। सो गाना गानेको गधा व गधीको बुलाया। सो वे गधा गधी ऊंटको गीतमें क्या कहते कि हे ऊंट! तेरा रूप धन्य है, तू बहुत सुन्दर है। ऊंट की तो गर्दन टेढ़ी, टांगें टेढ़ी, मुंह टेढ़ा, कुछ भी सीधा नहीं। पर गाना गाने वाले कहते हैं कि तेरा कितना अच्छा रूप है। सो ऊंट कहता है कि धन्य है तेरा स्वर, धन्य है तेरा राग। गधा और गधी ऊंटकी प्रशंसा करते और ऊंट गधा और गधीकी प्रशंसा करता है। इसी तरहसे ये जगत्‌के जीव एक दूसरेकी प्रशंसा कर दिया करते हैं। उसमें सारकी चीज कुछ नहीं है। जब अपने आपसे अपने आपके स्वरूपको जान जंचे, संतोष पावे, ज्ञान पावे तो वह सारकी बात है। सो जब तक हम आप अपने स्वास्थ्यको न देख सकेंगे तब तक द्वेषोंको न मिटा सकेंगे, दुःख न मिटेंगे, शंका, शल्य आदि भी न मिटेंगे। इसलिए अपने आपमें रहकर बाहरमें यह देखो कि मेरा कहीं कुछ नहीं है। ऐसा निश्चय करो तो अपने आपमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी हो सकते हो।

भ्रान्त्या क्षुब्धं मनस्तस्माद् व्यग्रता नान्यथा भवेत्।
स्वं पश्यतो न मे हानिः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-२५॥

गड़बड़ कितनी है कि मन क्षुब्ध है, मन क्षोभमें है। स्थिर नहीं है और जब मन क्षुब्ध है तो इसमें व्यग्रता है। हम आपका मन कैसी-कैसी बातें सोचता है? सदा व्यर्थकी बातें सोचता है। मनमें क्षोभ रहता है, दुःख सभीके मनमें है। ऊपरसे देखनेमें सभी अच्छे लग रहे हैं, चेहरा कुछ ठीक है, पर सभीके क्षोभ है। सभीके अन्दरसे चक्कीसी चल रही है, सभी दुःखी हैं। जिस लड़केसे मोह है उसके यदि नाक भी बह गई हो, कीचड़ भी लगा है, गंदा है, यदि कहें उससे कि मोह त्याग दो, हम तुम्हें दूसरा अच्छा लड़का देंगे तो भी मोह न छोड़ेंगे। ज्ञानके बिना ही सारा संसार दुःखी है। ज्ञानका उपयोग हो तो सुख मिल सकता है। अभी यहां बहुत धर्मका प्रचार है। सैंकड़ों आदमी पूजा करते हैं, किन्तु अन्दरसे शुद्धि नहीं है तो पूजा ही करनेसे क्या है? लगन हो तो खूंटा तोड़कर भागें। तो अब बतलावो कि जो पूजा करते हैं सो घरके बाल-बच्चे खुश रहें इसलिए करते हैं कि अपने भलेके लिए करते हैं? कहां धर्म है? धर्म तो बैठे-बैठे भी मिलता जाता है। चलने-फिरनेसे कसरत करने से धर्म नहीं मिलता है।

सबका मन क्षोभमें है। जब सुख मानते हैं तब भी क्षोभमें है और जब दुःख है तब भी क्षोभमें है। मार्ग सब अंधेरेमें हो गया। अपने आपका पता नहीं, दुनियाका पता नहीं। सुखमें तो और ज्यादा क्षोभ बढ़ता है, दुःखमें क्षोभ मिलता है। दुःखमें प्रभुको याद तो रहती है। सुखमें तो हम आप बिल्कुल विवश हो जाते हैं।

एक नाई बादशाहकी हजामत बनाता था। सो नाईसे बादशाह पूछता है कि बतलावो तुम्हारे ग्राममें कौन सुखी है और कौन दुःखी है ? तो नाई बोला—महाराज हमारे ग्राममें सब सुखी है, घी दूधकी नदियाँ बहती हैं। बादशाहने पूछा—तू सुखी है ? वह बोला हाँ। तेरे कितनी भैंस हैं ? १० भैंस हैं। बादशाहने सोचा—यह नाई सुखी है, मौजमें है, इसलिए सबको सुखी देखता है। राजाने अलगमें कोतवालसे कहा—इस नाईके ऊपर कोई कसूर लगाकर सब भैंस खुलवा लो। सिपाहियोंको कसूर लगानेमें क्या देर ? झट कसूर लगाकर उसकी भैंस खुलवा लो। दूसरी बार फिर नाई आया तो बादशाहने पूछा—खवास, बतलावो प्रजामें सुख है कि दुःख ? नाई बोला—महाराज, प्रजामें बड़े संकट छाये हुए हैं, घी दूधके तो दर्शन ही नहीं होते। सो अपना चित्त मौजमें है तो दूसरे भी मौजमें दिखते हैं और यदि अपना चित्त दुःखी है तो दूसरे जगत्के जीव भी दुःखी दिखते हैं। सो चाहे मौज हो तो क्षोभ है, घर बड़ा है, खूब बच्चे हैं, बड़ी मौज है, धन भी खूब आ रहा है, दुकान भी अच्छी चलती है, उसमें भी बतलावो सुखी कौन है ? यहाँसे वहाँ, वहाँसे यहाँ भागते फिरते हैं। अपनेको तो केवल आध सेर आटेको जरूरत है, मगर हाय हायमें कितना पड़ा हुआ है ? यही क्षोभ है, यही जीव पर सबसे बड़ा भारी संकट है। सो यह क्षोभ क्यों हो गया ? भ्रमसे।

अहो, देखो भैया ! भ्रम ही भ्रमसे यह जीव दुःखी है। दुःख तो है ही नहीं। किसी क्षण ऐसा समझमें आ जावे कि कहीं मेरा कुछ नहीं है, तो देखो दुःख मिटता है कि नहीं, पर ऐसी समझ जीव अपनेमें नहीं लाता है। इसीसे यह जीव दुःखी है और दुःखके ही काम कर रहा है। जैसे किसीको मिर्च खानेकी आदत है, सी-सी करता जाता है, आँसू टपकते जाते हैं, मगर कहता है कि और लावो। इसी तरह इस जीवको दुःखी रहनेकी आदत है। दुःख उठाता जाता है और दुःखके ही कार्य करता जाता है। यदि दुःख मिटाना है तो मोह ममता न करो। यदि कष्टोंमें ही रहना है तो मोह करते जावो, दुःखोंके उपाय और रखते जावो। यह जीव भ्रांतिसे ही दुःखी होता है। अगर भ्रान्ति मिटे तो समझिये कि दुःख खत्म हो गये हैं। अच्छा बतलावो कि परिवारके लोगोंको यदि तुम छोड़ दो तो उनका काम चलेगा कि नहीं ? चलेगा। मान लो कि तुम्हारी मृत्यु ही हो जाये, तो घरके बच्चोंका काम चलेगा कि नहीं ? चलेगा। तो यह जो हम आप दुःखी हैं सो भ्रमसे ही दुःखी है।

भैया ! ये जो चिन्ताएं उठती हैं उनके मिटानेका उपाय क्या है कि उन चिंतावोंके साधनोंको छोड़ दो, उन मोहियोंको छोड़ दो। उन मोहियोंमें ही फँसे रहनेमें बिगाड़ है,

स्वस्थ नहीं रहता है । यदि अपना दिमाग बिगड़ा तो व्यग्रता बढ़ी । दिमाग ठिकाने कैसे हो सकता है ? उन घरके लोगोंसे दिमाग ठिकाने होगा कि देव, शास्त्र और गुरुसे दिमाग ठिकाने होगा ? उन मोहियोंमें रहनेसे तो दिमाग ठिकाने नहीं हो सकता है । कोई चिन्ता हो, कोई विपत्ति सामने हो तो उससे दिमाग सही नहीं हो सकता है । यदि बुद्धि बाहर ही बाहर रही तो बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी । बादमें फिर देव, शास्त्र और गुरुकी खबर होती है । जब ठुक-पिटकर सर्वत्र हैरान हो जाते हैं तब उनको छोड़कर भगवान्‌की शरण आते हैं । तो अब उस अवस्थामें भगवान्‌की शरण गये हैं जब कि बुद्धि काम नहीं करती है । सो न यहांके रहे, न वहांके रहे । परिवारके तो यों भी नहीं रह सकते । जो परिवारमें रहते भी हैं उनके व्यवहार में कुछ न कुछ बड़ा विरोध हो जाता है । परिवारमें पड़े रहनेसे भला कुछ नहीं है । उससे इस जीवका पूरा नहीं पड़ेगा । कोई मर गया तो उसमें चिन्ता बनी हैं, यह मोह है, अज्ञान है । भवितव्य खराब है, होनहार ठीक नहीं है तो इसी वजहसे चित्त मोहमें फंसा हुआ है । भगवान्‌में कितना चित्त है और परिवारमें कितना चित्त है ? जरा सोचो तो सही ।

भगवान्‌में रमनेके इच्छुको ! अपनेको जरा तोलो तो सही । जिसमें भगवान्‌की भक्ति है, भगवान्‌का ध्यान करता है वह दिखाया नहीं करता है । यदि भ्रांति छूटे तो जीवको मार्ग मिलेगा । कहीं दादा गुजर गया सो आंसू पोंछो, कहीं माँ गुजर गयी सो आंसू पोंछो । कोई सदा जिन्दा रहेगा क्या ? कोई भी तो हमेशा जिन्दा नहीं रहेगा । नियम है कि सभी मरेंगे । एक दो सालके बच्चोंको देख लो, मां को देख लो, बापको देख लो, जिन्दगी सबकी गुजरी जा रही हैं, अच्छा समय यों ही गुजरा जा रहा है पता ही नहीं पड़ता है । सभी लोग घरके खुश हैं, स्वस्थ हैं, व्यग्रता नहीं है, खाने-पीनेका अच्छा संयोग है, इस तरहके दिन तो यों ही बीते जा रहे हैं, देर नहीं लगती है, पर दुःखके दिन बड़ी मुश्किलसे निकलते हैं । संकट ही संकटमें अपना उपयोग बना रहता है । सो इस जीवनमें दुःख है पहाड़के बराबर और सुख है राईके बराबर । सो वह राई बराबर भी सुख नहीं है, केवल दुःखमें तनिक सी कमी पड़ गयी है । उसीको ही सुख मान लिया ।

भैया ! खूब देख लो । कोई वास्तवमें सुखी है ? कोई सुखी नहीं है । प्यासे हिरण की तरह सबकी दशा है । दूरसे ही रेतको पानी समझकर पास पहुंचता है, वहां पहुंचकर देखता है कि यह तो रेत है । इसी तरह धन-वैभव भी अच्छे लगते हैं । देखो २-४ कार है, कई लोग नौकर हैं, सब बढ़िया ही बढ़िया लगते हैं और जिनको वे बंगला मिलते हैं जिनके कारें चलती हैं, उनके दिलके भीतर कितना दुःख है, कितनी व्यग्रता है, कितनी बेचैनी है ? जितना ही धन-वैभव बढ़ता जाये उतना ही दुःख हो जाये । अपनी थोड़ी कमाई को और

इतनेमें ही गुजारा करें, चैनकी बंशी बजायें, खुश रहे। मगर दुनियामें जो अपनी महत्ता दिखानेकी मंशा बनी हुई है तो परेशान उसीने किया। सबमें महान् कैसे बन जायें यह मंशा इस जीवके समायी हुई है। यही सबसे बड़ा कष्ट इस जीवको बन गया है। यह आकांक्षा बनी रहनेसे ही निरन्तर क्लेश हैं। परपदार्थोंको निजी माननेसे मन क्षुब्ध हो गया तब क्या करना चाहिए कि जिसमें हानि नहीं हो? भाई जो अपना सहज चैतन्यस्वरूप है उसकी दृष्टि हो सो ऐसा ही हम करें। हम अपने आपमें सबको देखें, जो बाहरकी ओर झुकनेकी दृष्टि थी यही तो परेशान करती है। तो उस दृष्टिको त्यागकर रहो तो अपने आप दुःख हट जायें।

सुखी होनेका तो उपाय अपने पास ही है। दूसरेके पास अपने सुखी होनेका उपाय बाहरी पदार्थोंमें नहीं मिलेगा। अपने आपको अपने आपमें ही देखो तो वह स्वरूप सुखकी मूर्ति है। अपने आपको ही देखो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

तत्किं तन्मयि मुञ्चानि यत्न तत्किं नयानि वै।
जानन्नेव हि तिष्ठानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-२६॥

जो मुझमें है वह मैं छोड़ कैसे सकता, जो मुझमें नहीं है उसे मैं ला कहाँसे सकता? मैं अपने गुणसे तन्मय हूं और जगत्के सभी पदार्थ अपने अपने गुणोंसे तन्मय हैं। यदि ऐसा न हो तो आज दुनियामें कुछ नहीं रहता, शून्य रहता। हम आपमें तन्मय हो जाते और आप किसीमें तन्मय हो जाते। हम आपमें तन्मय हों तो हम न रहें और आप किसीमें तन्मय हों तो आप न रहें। कोई किसीमें तन्मय हो जायेगा तो कुछ न रहेगा। ये जगत्के पदार्थ अब तक हैं इससे स्वयं यह जानकारी हो कि कोई किसीमें तन्मय नहीं है। अब जो मुझमें है उसे मैं छोड़ कैसे सकता? आनन्द, शक्ति इत्यादि गुण हैं, वे गुण किसी भी प्रकार हमसे अलग नहीं हो सकते हैं। कितना भी विकार आ जाये, निगोद जैसी अवस्था हो जाये तो भी मेरा स्वरूप मेरेसे बाहर कहीं जा नहीं सकता। और जो मुझमें नहीं है वह मुझमें आ नहीं सकता। कल्पनायें कैसी हो कर ली जायें। शरीर है, पर शरीर आ गया क्या कल्पनाएँ करनेसे? मेरी आत्माके स्वरूपमें क्या शरीर समा गया? अगर समा जाये तो आत्मा न रहे, वह शरीर बन जाये। मुझमें कर्म नहीं, मुझमें शरीर नहीं, मुझमें कोई परद्रव्य नहीं, और रागद्वेष भी मुझमें नहीं, मुझके मायने ध्रुव ज्ञायक स्वभाव जो अध्रुव है वह मैं नहीं।

भैया! यद्यपि रागादि भाव मेरे परिणमन हैं तो भी अध्रुव है वह मैं नहीं। मैं वह नहीं हूं जो मिट जाता है। मैं वह हूं, जो कभी मिटता नहीं। तो मुझमें क्या है? सहज ज्ञान, सहजचारित्र, सहजआनन्द, सहजशक्ति ये मुझमें हैं। तो ये मेरेसे अलग नहीं हो सकते और जो मुझमें नहीं हैं वे मेरेमें नहीं आ सकते। परिवार मुझमें नहीं, घर मुझमें नहीं,

दुकान मुझमें नहीं, बाहरकी कोई चीजें मुझमें नहीं। तो वे मुझमें आ नहीं सकतीं। रही कल्पनाओंकी बात। कल्पनाओंसे यह जीव मानता है कि दुकान मेरी है, घर मेरा है, परिवार मित्रजन मेरे हैं, ऐसा मानता है तो माननेसे इसके हो नहीं जायेंगे। विपरीत माननेसे केवल बरबादी ही है, मिलता कुछ नहीं है। मानते जावो, घर मेरा है, कुटुम्ब मेरा है, पर मेरे माननेसे ये घर और कुटुम्ब मेरी कुछ मदद कर देंगे क्या? मरना खुद ही मुझको पड़ेगा कि ये मेरे साथ मरकर जावेंगे क्या? नहीं।

भैया! दो स्वाध्यायप्रेमी थे। वे स्वाध्याय करते थे। दोनोंने आपसमें एक सलाह की कि जो कोई पहिले मर जावे यदि वह मरकर देव हो जावे तो वह दूसरेको फिर ज्ञान देनेके लिए आवे। यह उनमें तय हो गया। उनमें से एक पुरुष मर गया और मरकर देव हो गया। अब वह देव उस दूसरेके यहां पहुंचा, वह स्वाध्याय कर रहा था। वह देव बोला कि इस धन परिवारसे मोह छोड़ दो, इसमें कुछ सार नहीं है। हम मर करके देव बन गये हैं, तुमको समझानेके लिए आये हैं। वह बोला कि कैसे ये सार नहीं हैं? मेरी स्त्री बहुत हुक्म मानती है, मेरे पुत्र बहुत आज्ञाकारी हैं। उनमें सब सार ही सार तो नजर आता है। देव बोला कि तुमको कल हम १२ बजे दिनमें समझाने आवेंगे। १० बजेसे तुम बीमार होकर पड़ जाना। पेट दर्दका बड़ा भारी बहाना कर लेना। अब दूसरे दिन वह बीमार बन गया। पेट दर्दका बड़े जोरका बहाना किया। साढ़े ग्यारह बजेके लगभग देव वैद्य बनकर उसके मकानके सामने फिरने लगा। पुकारता जाता है कि दवा खरीदो, बड़ी ही पेटेन्ट दवा है, व्यर्थ नहीं जायेगी। हर एक प्रकारके दर्दमें काम आयेगी।

भैया! यह बात सुनकर घर वालोंने वैद्यको बुलाया। कहा—वैद्यराज, हमारे लड़केको अच्छा कर दीजिए। वैद्य बोला—अच्छा, एक गिलास पानी मगा दीजिये, पानी भी आ गया। उस गिलासके पानीमें थोड़ीसी राख मिला दी और झूठमूठका मंत्र पढ़कर उसकी माँको दिया, कहा—माँ इसे पी लो। माँ ने कहा कि मैं क्यों पीऊं? बीमार तो वह है। वैद्य बोला कि यह दवा और किस्मकी है, मंत्रसिद्ध दवा है, जो पियेगा वह तो मर जायेगा और रोगी ठीक हो जायेगा। मां सोचती है कि मेरे ५ बच्चे हैं। एक मर जायेगा तो चारका सुख भोगूंगी और मैं मर गयी तो बच्चोंका सुख कहांसे भोगूंगी? माँ बोली—मैं तो नहीं पीऊंगी। पिताने भी यही कहा। स्त्रीसे दवा पीनेको कहा तो उसने भी सोचा कि मेरे तीन पुत्र हैं, यदि मैं मर गयी तो इन पुत्रोंका सुख न देख पाऊंगी। यदि पति मर गया तो बच्चोंका सुख तो देखूंगी। कोई भी दवा पीनेको न तैयार हुआ। वैद्य बोला—क्या मैं पी लूं? तो घर वाले बोले—हाँ महाराज आप दयालु हैं, आप ही पी लें। वैद्यने कहा—अच्छा आप लोग

जाइए, हम दवा पी लेंगे। वे लोग हट गए, अब वैद्यने उसके कानमें कह दिया कि तुम बहुत कहते थे कि घरके लोग मुझसे बड़ा प्यार करते हैं, वे मेरे कहनेके अनुसार चलते हैं, अब देख लिया ना ? इतना कहते ही वह चंगा हो गया, बस चल दिया।

भैया ! वे द्रव्य ही जब न्यारे-न्यारे है तो कसूर स्त्रीका या पुत्रका या किसी खुदगर्ज का क्या है ? द्रव्यका स्वरूप ही है कि वह अपनेमें परिणमता है, दूसरमें नही परिणमता। कोई भी मनुष्य कैसे भी परिणमें वह घृणाके काबिल नही है। वह एक द्रव्य है और इस प्रकारकी योग्यता वाला है सो वह अपनी योग्यतासे अपने आपमें परिणम रहा है। उसका कसूर क्या है ? चीजें हैं तो परिणमती हैं। कौन मनुष्य घृणाके काबिल है ? घृणाके काबिल है तो उसका पाप है। उनका परिणमन घृणाके काबिल पदार्थ नहीं। वे तो जीव हैं, इस तरहसे परिणमते हैं, कर्मोंका उदय है। हो रहा है, उसकी परिणति घृणाके योग्य है, पदार्थ घृणाके काबिल नहीं है। कोई खुदगर्ज है, हर बातमे अपना गर्ज पूरी करता है। खानेका समय हो तो भृङ्गारका समय हो तो अपना काम पहिले देखता है, दूसरेका काम नही देखता है। तो ऐसा खुदगर्ज भी एक जीव है, उसके इस प्रकारके कषाय हैं, इस कषायरूप परिणमते हैं, जाननहार हैं। जो उस जातिका विभाव है वह घृणाके योग्य है। यहाँ तो पदार्थ है और इस तरह परिणमता है। चाहे कोई बहुत ही खुदगर्ज हो और भारी अपनी कषायकी पुष्टि करता हो, तिसपर भी वहाँ लाभ क्या मिला ? ईर्ष्या क्यों करते हैं ? लोग दूसरोंसे इस कारण ईर्ष्या करते हैं कि देखो यह धनी बना जा रहा है, बढा जा रहा है, धनी हुआ जा रहा है। अरे होने दो। उससे मुझे कुछ लाभ अलाभ है क्या ? फिर ईर्ष्या क्यों ? ईर्ष्या होती है तब, जब किसीकी उन्नति देखते हैं। अब बतलावो धन अगर बढ़ गया तो उसमें उन्नति क्या है ? और फंस गये, कषाय हो गयी तो उसमें सन्तोष क्या है ? ज्यादा कषाय हो गयी तो असंतोष हो गया, चैन नहीं पड़ती है।

अब तो यह कल्पना बने कि इस समागमका कुछ परित्याग करके धर्मसाधनामें ही लगा करें और जरा अवसर चूके, समागम बढे, धन बढ़े, परिवार बढ़े तो वे सब बातें खत्म हो जाती हैं, हितकी स्थिति ही खत्म तो जाती है। तो बाहरी चीजोंसे किसीकी उन्नति नहीं है, किसीको सुख नहीं है। वह कहीं वृद्धि पर नहीं है तब ईर्ष्या क्यों की जाती है ? पदार्थ का स्वरूप अपने आपमें पूर्ण गुप्त है, सुरक्षित है, वहाँ किसी पदार्थको किसी पदार्थसे कुछ मिलता-जुलता नहीं है। जो पदार्थ मुझमें है वह मैं छोड़ कैसे सकता हूं, जो मुझमें नहीं है वह मैं ला कैसे सकता हूं ? अब इस शरीरसे जुदा अन्दरमें अंतःप्रकाशमान केवल ज्योतिर्मय आत्मस्वरूपको देखकर सोचो जो इसमें नहीं है, इसका सहजस्वरूप नहीं है वह लाया कहाँसे

जा सकता है ? तब फिर मैं क्या करूँ ? मैं केवल ज्ञाता रहूं कि यह हो रहा है, पर उसमें स्नेह न करूँ, क्योंकि उसमें मेरा कुछ भला ही नही है। परवस्तुके किसी भी प्रकारके परिणमनसे मेरा हित होता ही नहीं है, बल्कि परके परिणमनको देखकर विकल्प बना बैठते हैं जिससे नुक्सान है, फायदा तो कुछ नहीं है। सब नुक्सान ही नुक्सान है। तो जब मेरी ऐसी स्थिति है कि जो मुझमें है, वह कभी छूट नही सकता। तब फिर डर क्यों किसी बातका हो कि मैं मर जाऊँगा ? क्या हाल होगा ? मैं कैसे बच सकूंगा ?

अरे ! जो चीज मुझमे है, वह मुझसे अलग हो ही नहीं सकती। यह जो देह है वह इस जगहसे और जगह हो जायगी, उसमें मेरा जायगा क्या ? मैं तो पूराका पूरा था, पूराका पूरा हूं और पूराका पूरा रहूंगा। मुझमेंसे अंशमात्र भी कुछ नहीं निकल सका और जो कुछ मुझमें नही है वह मैं लाऊं कहांसे ? कैसे लाऊं ? हैरान हो जाते हैं। यह धन कैसा है कि कजूस लोग जब मरते हैं तो सोचते हैं कि हाय ! मुश्किलसे मैंने धन कमाया, खर्च नहीं किया, लाखोंकी माया जोड़ी, क्या इसमेंसे एक नया पैसा भी मेरे साथ नही जायगा ? इतना सोच-सोचकर उसके घबड़ाहट हो जाती है कि हाय ! मैंने कितना परिश्रम किया ? किन्तु साथ कुछ नही जाता है। अरे ! जो मेरी चीज नहीं, उसको मैं कैसे ले जाऊं ? यह बुद्धि अगर जीवनमे ही बना ली जाये तो उस बुद्धिसे कुछ न कुछ फायदा तो मिलेगा ही।

भैया ! यदि किसी चीजका वियोग हो जाता है, कोई मर जाता है तो उसके मर जानेपर यह संतोष रखते हैं कि नही ? वह तो अलग चीज थी, वह अलग जीव था, मर गया, उसमें मेरा क्या था ? अरे ! ऐसा संतोष उसके जीवित रहते हुए कर लेवे कि जो समागम मिला है, वह भी न्यारा है, ऐसी श्रद्धा यदि अपने जीवनमें बनी हो तो दुःख न हो। जो बात ठोकर लगनेके बाद दिमागमें आती है, यदि वह पहिले ही दिमागमें आ जाय तो ठोकर ही क्यों लगे ?

भैया ! विवश होकर लोग गम खाते हैं। यदि सब साधन होते हुए भी यह जीव गम खा जाये तो इससे भला है। अरे ! मरते समय तो सब छूट जायगा, पर जिन्दा रहते हुए ही कुछ समयके लिए छोड़ दें, तो आत्माका कल्याण हो हो जाय। ऐसी भीतरमें दृढ़ श्रद्धा बनाओ कि मेरा तो मैं ही हूं, मेरा कोई दूसरा नहीं है। ऐसी दृढ़ श्रद्धा बनाओ और भीतर में भी यह दृष्टि बने कि मेरा कुछ नहीं है, मेरा तो मात्र मैं ही हूं, ऐसा परिणाम बनाए तो भीतरमें एक प्रकारका आनन्द प्राप्त होगा।

भैया ! परद्रव्यके झुकावसे लाख कोशिश कर लो, मगर शान्ति नहीं आ सकती। अच्छा बतलाओ, कितना धन जुड़ जाय तो शान्ति मिल जायगी ? कोई पंचायतमें निर्णय ही

करके बतलाओ ? कितना धन हो तो शान्ति आयगी ? कोई माप है क्या ? १० लाखमें शान्ति है क्या ? १० करोड़में शान्ति है क्या ? अरे, सारे जगत्का भी वैभव आ जाय तो उससे शान्ति नहीं है। प्रोफेसर साहबकी बात कीमती है कि एक ग्रन्थमें लिखा है कि चाहे सूईके छेदसे ऊँट निकल जाय तो निकल जाय, मगर परिग्रहसे शान्ति नहीं मिल सकती है याने एक असम्भव चीज भी सम्भव हो जाय तो भी परपदार्थसे शान्ति नहीं मिलती। जितना असम्भव सूईके छेदसे ऊँटका निकलना है उतना ही असंभव परिग्रहसे शान्ति प्राप्त करना है। तब जब मैं अपनी चीजको छोड़ नहीं सकता, परकी चीजको ग्रहण नहीं कर सकता तो क्यों विकल्प करूँ ? मैं जानता हुआ ठहरा रहूं और अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

जीवाजीवपृथग्ज्ञानान्निवृत्तिर्जायते परात्।
ततः स्वास्थ्यं ततः शान्तिः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-२७॥

जीव और अजीवका पृथक् ज्ञान होनेसे लाभ क्या होता है कि परसे निवृत्ति हो जाती है। कुछ तो हितका ध्यान होता है और कुछ व्यावहारिक बातोंका भी ध्यान रहता है। उसकी ऐसी स्थिति है कि जैसे कोई बहुत बड़ी भीड़में रेलके डिब्बेमें घुस जाय और घुस जाने में भी आधा सामान बाहर पडा है। अरे! अभी यह पुटरिया रखना है, अभी वह सामान धरना है, यात्रियोंसे लड़ रहे पर इतना संतोष है कि घुस आये। यही बात ज्ञानमार्गमें हम आप अधूरोंकी है कि कुछ आत्महितका कभी-कभी ख्याल होता है, दृष्टि जगती है, उत्साह जगता है। पर सबसे बड़ा ऊंचा काम यह है कि बाहरी चीजें कहीं भी जायें, मुझे तो एक आत्मकल्याण करना है। ऐसी दृष्टि जगती है तो संतोष होता है। तो इस बातमें तो संतोष है पर जो घरमें है सो घरकी बात सामने है, जो संस्थामें है तो संस्थाकी बात सामने है।

इस जीवपर कितना भारी संकट है ? इसके लिए रेलका सफर करने वाले यात्रीका दृष्टान्त बहुत जमता है कि मान लो यहांसे शिखरजी जाना है, यदि रेलमें बहुत भीड़ आयी है तो मुश्किलसे जगह मिलती है। चाहे लड़ें, मरें, कुछ भी करें, पर डिब्बेमें घुसनेसे संतोष हो जाता है। हाँ, कुछ ही ऊपरसे व्यग्रता है कि अभी सीट नहीं मिली है। अभी सामान धरनेको जगह नहीं मिली है। इसी तरह इसके वास्तविक ज्ञान हो गया और जब ज्ञानदृष्टि जगती है तब संतोष होता है। बड़ी उलझनें हैं, कोई कुछ कहता है, कोई कुछ कहता है और कुछ भी उलझनें बनी हैं, वे तो अलगकी चीजें हैं। जब इस शरीरको छोड़कर यहांसे चले जायेंगे तो साराका सारा यहीं छूट जायगा। उसे अभी समझ लो तो छूट जाय, यह कुछ उलझन नहीं है, पर उसका ज्ञानतत्त्व उसके ज्ञानमें आये इसका बड़ा संतोष है। सब कुछ

बिगड़ जाये, छिद जाये, नष्ट हो जाये, परपदार्थ किसी भी स्थितिको प्राप्त हो जायें, परन्तु ये मेरे परिग्रह नहीं हैं, ये मेरी चीजें नहीं हैं, इन्हें छोड़कर जाना ही पड़ेगा।

भैया! अपने जीवनके कुछ क्षण ऐसे बीतें कि हम उनको स्वेच्छासे छोड़कर कुछ निवृत्तिका स्वाद लें तो उसमें हित है। और यों ही जबरदस्ती छोड़कर गये तो उसमें पछतावा है कि कुछ कर न पाये। जीव और अजीवका भिन्न-भिन्न ज्ञान होनेसे परपदार्थोंसे निवृत्ति होती है। यह भीतरकी चीज, भीतरका ही यह उपयोग भीतरमें ही समाता जाये कि हमें अपना ज्ञान करना है, हित करना है सो अपनी ही आत्मामें यह उपयोग रहे इसमें ही भलाई है। इस तरहकी जीवोंमें जब आत्माकी स्थिति होती है तो वहीं वास्तविक स्वास्थ्य उत्पन्न होता है। स्वास्थ्य हो तब शांति हो सकती है। हित इसीमें है कि हम अपने उपयोग को अपनेमें ही झुकाये रहें, अपने ज्ञानस्वरूपको यह उपयोग स्पर्श करता रहे, ध्यान करता रहे कि मैं ज्ञानमात्र हूं, सबसे न्यारा हूं।

भैया! सबको कोई खुश नहीं कर सकता है। और सब खुश हो जायें तो उनको खुश करनेसे अपनेको मिलना क्या है? मान लो बच्चे खुश हो गये, मित्र लोग खुश हो गये तो उनके खुश हो जानेसे यहां मिलेगा क्या? सो बतलावो। अव्वल तो कोई खुश नहीं होता है क्योंकि सबके कषाय लगी है। सबको कषायकी पूर्ति करनेकी आपमें सामर्थ्य है क्या? किसीके कषायकी कोई पूर्ति नहीं करता है। कोई कहे कि जेबमें हाथी धर दो। इसकी पूर्ति कोई कर सकता है क्या? सो कोई अपने कषायोंकी पूर्ति नहीं कर पाता है तो दूसरोंके कषायोंको कौन पूरा कर सकता है?

एक घोड़े वाला दृष्टांत है कि बाप बेटा कहीं चले जा रहे थे। बाप घोड़ेपर बैठा था और बेटा पैदल चल रहा था। एक गांवसे निकले तो गांवके लोग बोले कि बाप तो अच्छा चालाक है, अपन तो बैठा है घोड़ेपर और लड़केको पैदल चला रहा है। अब बाप घोड़ेसे उतर गया और लड़का घोड़ेपर बैठ गया। अब दूसरे गांवसे वे निकले तो गांवके लोग बोले कि यह लड़का बदमाश है, अपन तो हट्टा-कट्टा बैठा है घोड़ेपर और बापको पैदल चला रहा है। अब वह भी उतर पड़ा। अब दोनोंने सोचा कि अच्छा तो यह है कि दोनों ही घोड़े पर बैठ जायें। दोनों घोड़ेपर बैठ गये। अब जब तीसरे गांवसे निकले तो गांवके लोग बोले कि दोनों ही दो-दो डेढ़-डेढ़ मनके घोड़ेपर बैठे हैं। मालूम होता है कि यह घोड़ा इनका नहीं है। अब वे दोनों ही उतर पड़े। जब आगे गये तो दोनों ही पैदल चलने लगे। घोड़ेकी लगामको दोनोंने पकड़ लिया। एक गांवसे निकले तो गांवके लोग बोले कि घोड़ेको हाथमें लिए हैं और खुद पैदल चल रहे हैं। अरे पैदल ही चलना था तो साथमें घोड़ा लेनेकी क्या

जरूरत थी ? लो देख लो लोगोंको किसी तरह भी खुश न किया जा सका ।

जीवपर यह भी बड़ा संकट है कि वह भलाई भी करता है तो भी उसका अपमान होता है । जिसे कहते हैं कि व्यर्थका विषपान । जिसमें कुछ सार नहीं है और विषपानमें लगे फिर रहे हैं । सो सब चीजें तो छोड़नी ही पड़ेंगी । यदि अपनी जीवित अवस्थामें अपनी इच्छासे उनको छोड़ें तो इससे ही हमारा भगवान् प्रसन्न हो जायेगा और नहीं तो जैसे संसार में सबकी स्थिति चल रही है वैसा ही अपना हाल होगा । सो भाई पदार्थोंके जाननेका तो यह फल है कि सबको पृथक् समझो और यह अपने मनमें धारणा लावो कि इन परपदार्थोंसे मेरा हित नहीं है । इस भावनाके कारण परपदार्थोंसे निवृत्ति होगी और अपने आपमें अपने को शांति मिलेगी और इस स्वरूपसाधनासे अपने आपमे खुद सुख उत्पन्न होगा । हम सुखी होना चाहें तो हमारे हाथकी बात है, हम सुखी हो जायेंगे ।

एक राजा पशुवोंकी बोली जानता था । एक बार वह अपनी पशुशालामें घूम रहा था । वहां घोड़ेने बैलोंसे कहा कि बैलों, तुम बड़े बेवकूफ हो, तुम व्यर्थमे गाड़ीमें जुतते हो । जब जोतने वाला आया करे तो तुम अपने पैर पसारकर लेट जाया करो, मरेसे बन जाया करो तो यह संकट टल जायेगा । बोले—ऐसा ही करेंगे । राजाने सुन लिया व जान लिया कि घोड़े बड़े बदमाश है, वे बैलोंको बहकाते हैं । जब बैल जोतने वालोने देखा कि बैल तो मरेसे पड़े हैं तो पूछा कि अब क्या करें ? राजाने कहा कि आज घोड़ोंको जोत ले जावो । देखो जिसने अक्ल बतायी वही जुता । दूसरे दिन घोड़ोंने बैलोंसे कहा कि यदि अब ऐसा करोगे तो चमड़ी उधेड़ दी जायगी । राजाने यह भी बात सुन ली । इतनी बात सुनकर राजा रानीके महलमें गया । सो राजा जब रानीके पास बैठा था तो वही घोड़े व बैलों वाली बात को सोचकर हँस पड़ा । अब रानीने राजासे कहा कि क्या बात है जो आप हँसे ? राजाने कहा कि मत पूछो । रानीकी जिद्द पर राजा बोला—घोड़ेने बैलसे यों कहा । रानीने कहा कि आपको किसने जानवरोंकी बोली समझना सिखाया ? हमें भी सिखावो, रानीके बहुत कहने पर राजाने कहा कि अच्छी बात, बतायेंगे । अब राजाने सोच लिया कि अब तो मर जायेंगे, क्योंकि जिसने सिखाया था उसने कहा था कि यदि स्त्री जातिको यह मन्त्र सिखावोगे तो मर जावोगे । अब इतनी बात सुनकर कि राजा मर जायेगा, सभी जानवर दुःखी हो गये । पर मुर्गा मुर्गी अब भी खेल रहे थे । कुत्तेने कहा कि ऐ मुर्गियों, तुम बड़ी बदमाश हो, राजा मरने जा रहा है, हम तो इस बात पर हँस रहे हैं कि राजा अपनी बेवकूफीसे मरने जा रहा है । कुत्तेने मुर्गा मुर्गीसे पूछा कि राजाके बचनेका कोई उपाय भी है क्या ? कहा—हाँ, उपाय है । रानीके राजा दो तमाचे लगाये, इस बात पर कि हम जानवरोंको बोली समझना नहीं सिखा-

येंगे, बस राजा बच जायेगा। राजा रानीके पास गये और तमाचे मारे, कहा—देख, तेरे पीछे कौन दिमाग खराब करे, मैं नही सिखाऊँगा। तुप अपने ऊपर ज्यादा भार न लादो, ज्यादा चितायें न करो तो सारा भार मिट जायेगा। भार तो हम खुद बनाये हुए हैं। जीव और अजीवको पृथक् करनेसे फायदा है। तो सब प्रकारसे निवृत्त हो। परसे निवृत्ति होनेसे मेरा स्वास्थ्य मुझे मिलेगा और स्वास्थ्यके मिलनेसे ही मुझे शांति मिलेगी। स्वास्थ्यके बिना शान्ति नहीं मिल सकती है, सो अपने स्वरूप पर विचार करो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

स्वस्थस्य सहजानंदोऽक्षोभतायाः परच्युतः।
एकत्वनियतिः स्वास्थ्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-२८॥

जो जीव अपने ज्ञानस्वरूपमें स्थित है उसको क्षोभ नही होता। क्षोभ तो उसको हो जो किसी परसे लगाव रखता है। क्षोभ कब होता है कि जैसा हम परके बारेमें चाहें वैसा नही होता है तो क्षोभ होता है। क्षोभ दो पद्धतियोंमें नहीं होगा—एक तो यह कि जो हम चाहते हैं परपदार्थोंके बारेमें वैसा ही बन जायें तो क्षोभ नहीं होगा या हम कुछ न चाहें पर-पदार्थोंके बारेमें तो हमको क्षोभ नहीं होगा। हम परके बारेमें कुछ न चाहें, यह बात तभी बन सकती है जब कि हम अपने उपयोगको, अपने ध्रुव ज्ञायक स्वभावमें ठहरा दें। जब हम अपने आपमें ठहर जाते हैं तब क्षोभ नहीं होता है। अपने आपमें ठहर जानेका अर्थ क्या है कि जब मेरा ज्ञान, केवलज्ञानके ही स्वरूपको देखे, ज्ञानमें ज्ञान ही बना रहे, ज्ञान ज्ञानको ही जाने तो अपनेमें ठहरना कहलाता है। कोई आकाश जैसी जगह नही है और ठहरने वाला कोई पिंडरूप चीज नहीं है कि यह मैं किस जगह ठहरूँ ?

भैया ! स्वास्थ्य वह कहलाता है कि यह ज्ञान, ज्ञानको जाने। हम यह जानने लगें कि ज्ञान क्या चीज है ? ज्ञान कैसा होता है ? यह ज्ञान एक भाव है, प्रतिभासमात्र, जानन मात्र है। इतनी ही यह आत्मा तो देखो, कितनी सूक्ष्म अमूर्त है, जिसमें कुछ पिंडपनेका भाव ही नहीं आता है। केवल जाननस्वरूप यह आत्मा है। सो यह ज्ञान, इस ज्ञानके स्वरूपको जानने लगे, अपने ही स्वरूपको जानने लगे तो यही स्वास्थ्यपना कहलाता है। ऐसा स्वास्थ्य जिस ज्ञानीके होता है, उसके क्षोभ नहीं होता है। यह बिल्कुल निश्चयकी बात है। स्वस्थ कोई होकर देख ले। जब यह अनुभवशक्ति आ गई तो वहां क्षोभ नहीं है, परम शांति है। जिन बातोंमें राग करते हैं और राग करके हम अपनेको बड़ा समझते हैं, वे सब व्यर्थ हैं। अपनेको महान् कष्ट देनेके निमित्तभूत उनसे अच्छे तो वे हैं जिनको हम जानते ही नहीं, बहुत दूर हैं, विदेशमें हैं, कहीं हैं, कमसे कम उनके निमित्तसे क्लेश तो नहीं होते।

भैया ! हम दूसरोंकी चाकरी करते, दूसरोंकी सेवा करते हैं और अपने आपकी क्या करते हैं ? दूसरोंके मोहमें अपने आपका भुर्ता बनाते हैं, बरबादी करते हैं। दूसरे जीवोंके रागमें, मोहमें क्या मिलेगा ? कोई चीज आत्माके पास रह सके, ऐसा तो कुछ नहीं मिलेगा। गलत उपयोग हो गया, अज्ञान दशा छा गयी, पाप कर्म बंध गया, यही बातें मिलेंगी। इसके अतिरिक्त और कुछ लाभ नहीं मिलेगा। सो एक सिद्धान्त बना लो कि हमें परसे हटना है। यही हमारे कल्याणका मार्ग है। परमें लगना यही तो अकल्याणका मार्ग है।

भैया ! एक पौराणिक वृत्तान्त है कि पुष्पडाल अपने बाल्यकालके मित्र वारिषेण मुनिको आहार देकर जब जङ्गल तक पहुंच गये तो पहिले बड़ी कोशिश की कि ये कह दें कि यहाँसे लौट जावो। महाराजको याद दिलाया कि देखो महाराज यह वही तालाब है जहाँ नहाने आते थे अर्थात् बहुत दूर आ गये हैं। और क्या याद दिलाया कि महाराज यह वही जंगल है, जहाँ क्रीड़ा करने आते थे। वे कुछ नहीं बोले। धन्य है वह करुणाकी मूर्ति, जो मित्रको संसारके दुःखोंसे छुटानेका यत्न कर रहा है। नहीं बोले, घर जाओ, ऐसा नहीं कहा। पुष्पडाल चलते ही गये। उनके स्थान तक पहुंचते पहुंचते वैराग्य हो गया। पुष्पडाल सोचते जाते हैं कि अब ऐसा सत्संग कहाँ मिलेगा कि जिनके पास रहकर शान्ति मिलती है। अब इनको छोड़कर कहाँ जाना है ? परिणाम यह हुआ कि पुष्पडाल मुनि हो गये। कुछ माह व्यतीत हो गये। मुनि तो हो गये, पर कुछ समय बाद उनको अपनी स्त्रीकी याद आने लगी कि देखो विनयशील स्त्रीसे मैं कुछ कहकर नहीं आया, समझा-बुझाकर नहीं आया। उनको इतना ख्याल बढ़ा कि चित्तमें शल्य हो गया। ध्यान सब एक जगह रख दिया। वारिषेण मुनिने जब यह बात समझी तो देखो गुरुजी ने परमदयासे अपना नुक्सान सहकर भी मित्रको बड़े लाभमें पहुंचा दिया।

वारिषेण मुनिने माँ को पत्र भेजा कि हम एक बजे दोपहरको महलमें आयेंगे तो सब रानियोंको शृङ्गार करके, सजा करके अच्छी तरहसे रखना। माँ सोचती है कि मैंने स्वप्नमें भी कोई खोटे भाव नहीं किये। मेरे बच्चेको घर आनेकी क्यों सूझ हुई ? खैर कुछ सोचा होगा। कोई राजा महाराजाकी बातको हम छोटी बुद्धि वाली क्या समझ सकती है ? खैर, जो हुक्म आया है करना चाहिए। बहुवोंको खूब आभूषणोंसे सजाया। जब आनेका टाइम हुआ, सभी लोग खूब प्रतीक्षा करने लगे, मनमें खूब आनन्द हुआ। जब आये तो उनके साथमें पुष्पडाल भी थे। दोनों मुनिराज चले आये। उनको देखकर माँ ने दो सिंहासन डाले एक सोनेका और एक काठका। परीक्षा भी हो जायगी। यदि वे विरक्त हैं और किसी उत्तम ध्येयसे आये हैं तो वे काठके आसनमें बैठ जायेंगे और यदि बुद्धि बिगड़ गयी तो अब आसन

का भी क्या विवेक करेंगे ? वे इस सोनेके सिंहासन पर बैठ जायेंगे । खैर क्या हुआ कि वा-रिषेण मुनि काठ वाले सिंहासनमें बैठ गये । अब जब पुष्पडालने देखा कि देवांगनाओंकी तरह से मूर्तिवत् रानियाँ हैं । इनको त्याग करके ये साधु हुए हैं । अहा, मैं तो एक कानी स्त्रीके ही पीछे अपनेको बरबाद कर रहा हूं । अब तो पुष्पडालको ज्ञान जग गया । जगत्के सभी जीव अपने-अपने कर्म लिए हुए हैं, कोई किसीको पालता नहीं, कोई किसीको मारता नहीं । सब अपने-अपने कर्मोदयके अनुसार अपनी जिन्दगी बिताते हैं । वारिषेण मुनिकी इस परम दयासे अनुगृहीत हुए वे पुष्पडाल मुनि निःशल्य हो गये ।

भैया ! जब तक परपदार्थोंसे लगाव न हटा लिया जाये, इन्द्रिय विषयोंकी साधनासे जब तक विरक्ति न मिल जाये तब तक जीवका हित नहीं हो सकता । जहाँ जो परमें लगा है उसको क्लेश ही क्लेश है । आनन्दका तो नाम ही नहीं है, क्योंकि आनन्दका निधानस्व-रूप जो यह परमात्मतत्त्व है । यदि इसपर दृष्टि नहीं है, झुकाव नहीं है तो जो स्वस्थ पुरुष है उसे स्वाभाविक आनन्द नहीं है । वास्तवमें स्वास्थ्य क्या है ? अपने आपके एकत्वस्वरूप को नियत हुआ जाने, सोई वास्तविक स्वास्थ्य है । उस स्वास्थ्यकी दशामें शरीरके सारे झंझट खत्म होंगे । शरीर है, ऐसा भी ध्यान नहीं है । केवल एक शुद्ध ज्ञानविकासका परिणमन है । ऐसा स्वास्थ्य जिस जीवके प्रकट होता है उस जीवको आनन्द ही आनंदका अनुभव होता है । अपनेको न जाना तो दुनियामें रहकर इसने क्या किया ? एकत्वनियतं हि स्वास्थ्यम् । अपने आपके आत्माके आनन्दस्वरूपमें नियत हो जाना अर्थात् यह ज्ञान निज ज्ञानस्वरूपको ही जाने, ऐसा ज्ञानस्वरूप ज्ञेय बने, ज्ञानस्वरूप ज्ञाता बने तो जहाँ ज्ञान ज्ञाता ज्ञेयका कोई भेद नहीं रह पाता है वहाँ होता है उत्कृष्ट, समाधि, स्वास्थ्य । इस स्वास्थ्यमें ही सामर्थ्य है कि अन-न्तकालसे परम्परामें बँधे चले आये हुए उन पुद्गल कर्मोंको नष्ट किया जा सकता है और कोईसा भी उपाय संसारमें ऐसा नहीं है जो जीवको सदाके लिए दुःखसे छुड़ाये । एक ज्ञान ही परम औषधि है, जिसको पीकर हम आप समस्त संकटोंसे सदाके लिए दूर हो सकते हैं । सो भाई इस ही ज्ञानके उपायको करके अपनेमें अपने आप सुखी होनेका यत्न करो ।

संवित्यभ्यास निक्षात: स्वान्यभिन्मोक्ष सौख्यवित् ।

स्वस्थितिर्मोक्षसौख्यं हि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-२१॥

ज्ञानके अभ्याससे, स्वसंवेदनभावसे जो अपनेमें और अन्य पदार्थोंमें जो भेदविज्ञान करता है वह ही मोक्षके सुखको जान सकता है । मोक्षके मायने अकेला रह गया, उसीके मायने मोक्ष है । जीव अकेला रह जाये उसको कहते हैं मोक्ष । मोक्षमें क्या बात आयी कि न शरीरका सम्बन्ध रहा, न द्रव्यकर्मका सम्बंध रहा, न भावकर्मका सम्बंध रहा और द्रव्य-

कर्मके उदयके निमित्तसे जो इसमें बात उत्पन्न होती है न उसका सम्बंध रहा । केवल आत्मा रह जानेके मायने मोक्ष है । अब खालिस आत्मा रह जाये इसका उपाय करते चलो और खालिस आत्माके स्वरूपकी जानकारी भी न करें तो मोक्ष कैसे है ? मोक्ष नाम तो कैवल्यका है माने केवल रह जानेका नाम मोक्ष है । कैवल्यको क्या बोलोगे ? मियर (मात्र) केवल, कैवल्य रह जाना मात्र उसको ही मोक्ष कहते हैं । जब केवल रह जानेका नाम मोक्ष है तो केवल है कैसा यह ? इस स्वरूपकी जानकारी शुद्धदृष्टिके बिना नहीं हो सकता है । शुद्धदृष्टि के मायने खालिस । स्वरसत: कोई द्रव्य जैसा हो सकता है वैसी दृष्टि करनेका नाम शुद्धदृष्टि है । शुद्धदृष्टिके मायने यह नहीं हैं कि अनंतज्ञान वाला, अनंतदर्शन वाला, अनंतशक्ति वाला । शुद्धदृष्टिके मायने हैं यह आत्मा स्वयमेव अपने सत्त्वके कारण सहज ही कैसा है इस स्वरूप को देखनेका नाम शुद्धदृष्टि है, परम शुद्धदृष्टि है । तो परम शुद्धनयके प्रतापसे आत्माके उस स्वरूपकी जानकारी होती है जिसके कारण मोक्ष प्राप्त होता है ।

पंडित-टोडरमल जी ने कितना बढ़िया मंगलाचरण किया कि—

मंगलमय मंगलकरण वीतराग विज्ञान ।
नमो ताहि जाते भये, अरहंतादि महान् ॥

जो मंगलमय है, पापोंका नाश करने वाला है, मंगलकरण है, सुखका देने वाला है ऐसा वीतराग विज्ञान याने रागद्वेषरहित ज्ञानस्वरूप जो है उसको मैं नमस्कार करता हूं कि जिसके प्रतापसे अरहंतादिक बड़े पद हो जाते हैं । अब देखो—इस दोहेके दो अर्थ लग सकते हैं । एक अर्थ तो यह है कि मंगलमय मंगलाचरण, मायने रागद्वेषरहित केवलज्ञान है, जो सारे विश्वको जानता है, ज्ञानका पूर्ण विकास है उसको मैं नमस्कार करता हूं कि जिसकी वजहसे अरहंत आदिक बड़े बन जाते हैं । केवलज्ञान न हो तो अरहंतको बड़ा कौन कहे ? एक तो यह अर्थ है और दूसरा अर्थ यह है कि जो मंगलमय मंगलकरण रागद्वेषरहित ज्ञायक स्वभाव है, ज्ञानस्वरूप है, सो उसको मैं नमस्कार करता हूं । जिसके प्रसादसे बड़े बड़े अरहंत बन जाते हैं । अब इनमें आपको कौनसा अर्थ रुचता है, पहला कि दूसरा ? पहला अर्थ तो है भक्तिप्रधान और दूसरा अर्थ है विज्ञानसे भरा हुआ, वैज्ञानिक तत्त्व वाला ।

भैया ! जगत्के जीवोंकी दृष्टि अपनेको नाना रूप माननेकी तो रहे, पर मैं शुद्ध ज्ञान स्वरूप हूं, यह दृष्टि न आ सकी तो व्यर्थ है । अभी देख लो दिनभर कितना भटके हुए, भूले हुए रहते हैं, बड़े रोजगारमें, बड़े व्यापारमें रहते हैं, कितना भी दूसरोंको अटपट बोलते आये हों, किसी समय जब यह दृष्टि आ गयी कि यह तो मैं ज्ञानमात्र हूं, केवल प्रतिभासमात्र हूं, मैं तो इतना ही मात्र हूं तो वे सारेके सारे जो झंझट बनें या कुछ न बनें, अगर अंदरसे ऐसी

भावना आवे तो उनमें फर्क हो जायेगा। किसी समय ऐसी दृष्टि आ जाये तो जो अटपट किया है उसमें अंतर आ जायेगा। अपने आत्माके सहज स्वरूपको आत्मा मानो, यही आत्मा पर दया है। अपनी दया करो, परकी दृष्टि करके निरंतर विह्वलता मचेगी। दुःख हुआ, बरबाद हुए, ठौरमें न रहे, यहाँसे वहाँ भटके, अब तो अपनी दया करो। वह अपनी दया क्या है? अपने उस शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि तो करो। इस दृष्टिके प्रतापसे वहाँ कर्म नहीं रह सकता याने कर्म हटनेका निमित्त क्या है, इसपर दृष्टि दो वास्तवमें।

अभी यह प्रश्न हुआ कि ज्ञायकभावकी दृष्टि कैसे आ सकती है? उत्तर यह है कि उस ज्ञायकभावका जो स्वरूप है उसे बार-बार सुना जाये, उसका बार-बार मनन हो, एकांत में बैठकर उसका मनन करो, परन्तु ऐसा करनेके लिए बड़ा त्याग करना पड़ेगा। वह त्याग क्या कि दुनियाभरकी चीजोंको जो हम रोक कर रहे हैं, दौड़ रहे हैं, उस दौड़का त्याग करना पड़ेगा। त्यागकी चीज नहीं कह रहे हैं, वे तो छूटेंगी ही। जहाँ भेदविज्ञान हो तो वहाँ जैसे कषाय उन्मूलन होती चली जायगी वैसे आप स्वयं बाह्यपदार्थोंको छोड़ते चले जायेंगे। तो यह त्याग करना पड़ेगा कि बड़ी उत्सुकताके साथ, लालसाके साथ। केवल आत्माकी चर्चा की, आत्माके जाननेकी धुन लगानी पड़ेगी तो वह ज्ञानस्वरूप इसके उपयोगमें आ सकता है। बिना धुन लगाये वह चीज नहीं आ सकती है।

भैया! जो बाहरी चीजें हैं, जिनमें दृष्टि लगाना जरूरी नहीं है और वे मिल जाती हैं तो उनमें कौन तेज धुन लगाता है? आत्माके स्वरूपकी बात तेज धुन लगाये बिना रह ही नहीं सकती है। उसमें हम धुन न लगाकर मनबहलाव ही करके प्राप्त करना चाहें तो नहीं हो सकता है। अगर आत्मस्वरूपके पानेकी धुन नहीं है तो धर्मके जितने काम किये जा रहे हैं, वे मन बहलावेकी बातें हैं। विधान करना, पूजा करना, हवन करना, न्यौता देना, पंगत कर लेना, ये सब मनबहलावा रह जायेंगी, धर्मकी बातें नहीं रह सकती हैं। आत्मस्वरूपकी लगन लगे, धुन लगे, उसके पीछे पागलसे बन जायें तो क्या वह चीज नहीं मिल सकती है? वह तो बड़ी स्वाधीन चीज है, लानी कहींसे नहीं है। जैसा यह स्वरूप है, अपने आप है, वैसा इसको देखना है, पाना नहीं है, बस मुड़कर देखना है। यह चीज स्वके सम्वेदनसे मिलती है, अभ्याससे मिलती है। इसके लिए 'सोऽहं' जाप है। 'सोऽहं' भी जाप जो है, वह भी ऊँचा मनन नहीं है। सो मानो कि जो भगवान है, वह मैं हूं। या भगवानका स्वरूप है वह मैं हूं। ऊंचा ध्यान तो यह है कि जैसा उसका चैतन्यस्वरूप है स्वरसतः अपने आप वैसा ही दृष्टिमें आ जाय तो वह मनन इससे भी ऊंचा है। जो भगवान है, सो मैं हूं, ऐसा ध्यान किसलिए करते हो? उस ध्यान करने वालेसे पूछो कि किसलिए ध्यान करते

हो ? भगवान्की भक्तिके लिए क्या प्रयोजन है ? 'सोऽहं' का जाप करनेका। सोऽहंके जाप करनेका प्रयोजन है अहंके अनुभवको कर लेनेका। सोऽहंमें झुककर अहंके कोई निकट आये तो यह काम तो सोऽहसे बड़ा है कि नहीं ? दुनियामें कहीं ख्याल नहीं, कहीं विघ्न नहीं, कहीं चित्त नहीं, अन्दरसे केवल ज्ञानस्वरूपकी अनुभूति हो रही है। जिस स्थितिमें शरीरका भी भान नहीं है वहाँ औरोंका ख्याल भी नहीं है।

अगर तुम कहो कि कुटुम्ब नहीं है, तो कुटुम्बका ज्ञान तो आ गया, ख्याल तो आ गया। यदि हम मना करनेको कहें और तुम लगावकी बात कहो तो यह ठीक थोड़े ही होगा। यदि हम कुटुम्बके बिलगावकी भी बात कहें तो ठीक न होगा। इसके मायने हैं कि बात करके ख्याल करवा दिया तो कुटुम्बका ज्ञेयाकार नहीं बनना चाहिये। अच्छा अब यह रहेगा कि अन्य अन्य पदार्थोंका ज्ञेयाकार होता है, वहाँ पर भी ज्ञेयाकारका आलम्बन नहो करना चाहिए। यह होता है, पर अपने ज्ञानस्वरूपका आलम्बन करना चाहिए। जहाँ तक अपना पुरुषार्थ बन सकता है, उसको लगाकर पूरे बलके साथ अपने ज्ञायकस्वभावका अपनेमें उप-योग ले आना चाहिए। फिर जैसा जो कुछ होता है होवो, पर लक्ष्य यह होना चाहिए कि मुझे यह काम करना था। यहाँ यह प्रश्न हो रहा है कि ज्ञायक और ज्ञेयाकार, इसके बीच जो ममत्व हो रहा, ज्ञेयका ममत्व, ज्ञानका ममत्व मिटानेके लिए जो मेरी चीज है, उस पर दृष्टि डालनी चाहिए, तो ज्ञेयका ममत्व मिटेगा।

ममत्व मिटानेके लिए जो वास्तवमें, जो मैं हूं, वह ज्ञानमें आ जाना चाहिए। परका ममत्व मिट जाना चाहिए। अपना स्वरूप, अपना स्वभाव भी अपनी चीज है, ऐसा भीतरमें सम्वेदन होना चाहिए तो बाह्य पदार्थोंका ममत्व खत्म हो जायेगा। ऐसा यहाँ यह कहते हैं कि स्वसम्वेदनसे, ज्ञानके अभ्याससे, ज्ञानकी शिक्षासे जो अपनेको भेदविज्ञान करता है, वह अपने मोक्षको जानता है। मोक्ष क्या है ? अपने आपके स्वरूपमें अपने आपका रह जाना। मैं अपनेमें यह अभ्यास बनाऊं कि मैं अपनेमें अपने आप ठहरूं और मनको सम्बोधित करूं।

स्वालक्ष्योऽन्योपकारी चेत्क्लिष्टः परकृतावपि।
स्वलक्ष्योऽस्मान्न मुच्येत स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-३०॥

दूसरे मनुष्योंका उपकार करने वाले जन अपनेसे गिर गये तो परका उपकार करने पर भी वे दुःखी हैं, संक्लिष्ट हैं। महिमा तो अपने निर्मल परिणामोंकी है। अपनेमें विशुद्ध हो, मोक्षका मार्ग बराबर चलता रहे और परका उपकार हो जाय तो यह बात प्रशंसनीय है और जिसका अपना कोई लक्ष्य नहीं है, परके ही उपकार मात्रमें रहता है, वह कोई न कोई अभिमानसे, अहंकारसे, प्रशंसासे या दूसरोंके उपकार करनेमें लोगोंसे प्रशंसा पाता है तो सुख

भावसे वह विकार कर रहा है और जिनको अपने आपकी आत्माका लक्ष्य हो गया है वे उपकार इसलिए करते हैं कि दु:खियोंका, गरीबोंका उपकार करें, तो विषय कषायोंसे खोटे परिणामोंसे बच जायेंगे। ज्ञानीका परोपकार होता है, अशुभोपयोगसे बचनेके लिए और अज्ञानीका परोपकार होता है, अपनी महिमा बतानेके लिए। ज्ञान और अज्ञानके परोपकारमें इतना अन्तर है।

भैया! जो परोपकार करने वाले हैं, वे यदि अपना लक्ष्य छोड़ दें तो वे संक्लिष्ट होते हैं। लेकिन जिनकी हम सेवा करते हैं, उपकार करते हैं वे मेरी कब तक मदद कर सकते हैं? अपने लक्ष्यसे छूट गये तो अपनी दुर्गति निश्चित है, दूसरे लोग क्या उसमें साथ दे सकते हैं। इसलिए अपना लक्ष्य तो कभी न कभी बन जाना चाहिए। भले ही कुछ मोहीजन, झूठे जन कह दें कि यह बड़ा खुदगर्जी है। अपने ध्यानमें, अपने ज्ञानमें, अपनी साधनामें लगे रहते हैं। दूसरोंकी कुछ नहीं सुनते।

भैया! इसमें देखो कि एक तो कोई अपने आपमें लगा रहे। सत्य साधना बन जाय तो उस व्यक्तिके दर्शन मात्रसे सैंकड़ों जीवोंका उपकार हो जाय और दूसरे पुरुषका, जिसको अपना लक्ष्य नहीं है और अनेक कामोंमें लगा रहता है; उसके दर्शनसे, सत्सङ्गसे किसीका भी ठोस उपकार नहीं हो पाता। यह खुदगर्जी तो है सभीमें। जितने जीव हैं, सभीमें खुदगर्जी है। अगर साधु जन भी दूसरोंका उपकार करते हैं, उपदेश देते हैं, समझाते हैं तो उसमें भी एक खुदगर्जी उठी थी कि वे लोकोपकारकी, कषायकी पुष्टि कर रहे हैं। दूसरोंका क्या कर रहे हैं? यह जीव तो खुदगर्ज है ही।

भगवान् भी जो वीतराग हैं, दिव्यध्वनि निखरती है उनमें, जिनकी बुद्धि उठ जाती है, उनका भी भगवान् क्या करते हैं? भगवान् सकलका ज्ञायक है, अपनेमें लीन है, अपना ही प्रयोजन साध सकता है, दूसरेका नहीं। अब अपना भला करना है तो अपने आपको यह देखो कि किसी विषयसाधनके लिए और खुदगर्जीके लिए या अपने स्वभावसाधनके लिए अपनी खुदगर्जी चल रही है। इस बातका निर्णय कर लो। अगर विषयसाधनके लिए खुदगर्जी चल रही है तो वह अधम है, वह मुक्तिका मार्ग नहीं है। स्वभावसाधनके लिए अगर चल रहा है तो वह ठीक है। परपदार्थ अपना ही तो प्रयोजन साधते हैं। कोई दूसरेका प्रयोजन नहीं साधता है। सो कहते हैं कि दूसरोंका उपकार करो, पर उसको उस एवजमें उन दूसरोंसे कुछ न चाहो।

यह मेरे आगे किसी काम आयगा, ऐसा मत चाहो। यह मुझे अच्छा कहेगा, ऐसा मत चाहो। दूसरोंके उपकारके एवजमें कुछ मत चाहो। अपनी सरल प्रकृतिसे ऐसी प्रवृत्ति

करो कि जिससे दूसरोंका उपकार हो, मगर उनसे कुछ चाहो मत, उपकार कर दो। दुःखी हो, दीन हो, गरीब हो, उसका उपकार कर दो।

यह तन विनाशीक है, इसे परोपकारमें लगाओ। यह धन है, यह भी विनाशीक है, यह भी मिट जायगा, दूसरोंके उपकारमें लगाओ तो अच्छा है। यह वचन है, सो यह भी विनाशीक है, दूसरोंके उपकारमें लगे तो अच्छा है। सो ऐसा सोचकर दूसरोंका भला कर दो और ऐसा विचार बना लो कि मुझे इसके एवजमें कुछ न चाहिए। दूसरोंका भला करनेका प्रयोजन इतना ही है कि हम अटपट विचारोंसे बचें और दूसरोंके उपकारमें लगें। इसीसे अपने ज्ञानकी सुरक्षा बनी रहेगी। हम अज्ञानी मोही नहीं बनेंगे। सो अपने ही ज्ञानभावकी रक्षाके लिए दूसरोंका उपकार किया जाता है। यह ज्ञानी पुरुषकी वृत्ति है और अज्ञानी मोहियोंका रास्ता ही जुदा है। वह जो कुछ करता है, पर्यायबुद्धिसे करता है। उसको अपने अन्तरमें प्रकाशमान निजप्रभुकी खबर नहीं है। सो बाहर ही दूसरोंसे आशा रखता है। सो एक तरहकी वह दुकान ही है, व्यापार ही है। अपने देशका उपकार करना, अपने समाजका उपकार करना तो उसकी एवजमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेकी चाह और यश प्राप्त करनेकी चाह है। पर्यायबुद्धिसे इस आशयसे जिसका उपकार करना रहता है, उसके आगे दीन बनना पड़ रहा है।

बाहरकी वेशभूषा, रहन-सहन एक संत जैसा है, भिखारी जैसा है, भीतरमें दीनता भरी है। वह उपकार करना चाहता है लोगोंसे कुछ प्रशंसा चाहनेके लिए, मान और बड़प्पन चाहनेके लिए। वह उपकार वास्तविक उपकार नहीं है। दूसरोंका उपकार करने वाला यदि अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट है तो वह दुःखी है। यह जगत् चार दिनकी चाँदनी है, फिर अंधेरी रात है। ये चार दिन जीवित रहने वाले लोग अपना बड़प्पन चाहकर कुछ भी ऐसी क्रिया कर दे कि जिससे लोगोंका उपकार हो। मगर उसने तो अपनेको धोखेमें डाला, खतरेमें डाला। भीतरमें अवनति है, उन्नति नहीं है। इस कारण दूसरोंका उपकार कर देनेपर उसकी एवज में कुछ न चाहिए। प्रत्युपकारकी वाञ्छा रंच भी न करे तो उस उपकारकी महिमा है और यदि भीतरमें कुछ वाँछा रखी प्रत्युपकारकी तो उस उपकारकी महिमा नहीं है।

दूसरोंसे वाञ्छा न रखें, यह तभी बनेगा जब कि अपने प्रभुका दर्शन और स्पर्श हो जायेगा। क्योंकि निजप्रभुके मिलनमें संतुष्टि होती है, आनन्द होता है। उससे तृप्ति होकर फिर उसे ये तुच्छ चीजें नहीं भाती हैं। सो अपना लक्ष्य कभी न छोड़ो। अपनेको देखकर अपने आपमें ही रत रहकर संतुष्ट रहने, सुखी रहनेका यत्न करो। सब ओरसे अपना मुख मोड़ लो। किसी भी परकी अपनेमें कल्पना न रखो। केवल शुद्ध सत्ता मात्र चैतन्यात्मक

सबके दर्शन करो और उसीमें संतुष्ट रहो। इससे बढ़कर दुनियामें और कोई सारकी बात नहीं है। बाकी बातोंमें तो यहीं भटकना ही रहता है। इस भटकनेसे आत्माको कुछ लाभ नहीं मिलता है। सो करनेका काम यही है कि जो अपना उपयोग तितर-बितर है, उन सब जगहोंसे छुटकारा लेकर सीधे केन्द्रमें अपना उपयोग लगाना है, सब उपयोगोंको संकुचित करके, समेट करके एक जगह लगा देना है। यदि ऐसा उत्कृष्ट ध्यान बनता है तो उस अग्नि के द्वारा भव-भवके संचित कर्म भी जल जाते हैं।

जैसे सूर्यकी किरणोंके सामने काँच इस तरह लगाया जाये कि किरणें एकत्रित हो जायें, संकुचित हो जायें, फिर शीशेका अक्स जिस रुई पर, जिस कागज पर पड़ता है, जलने लगता है। सूर्य सामने है उसके आगे कागज या रुई रख दिया जाये तो जलता नहीं है, चाहे जेठ बैसाखके गर्मीके दिन हों, पर यदि काँचके अक्समें जाड़ेके दिनोंमें इस तरहसे रखो कि सूर्यकी किरणें उसमें संकुचित हो जायें तो वह रुई, कागज आदिको जला देता है। यह उसमें संकुचित करनेकी शक्ति है। अभी किसी चीजपर ज्यादा तेज प्रहार करना हो तो वह एक बार पीछे हट जाता है तब खूब प्रहार होता है। जैसे जम्प करनेमें जो डोरी लगाकर जम्प की जाती है तो पहिले पैरोंपर वजन दिया जाता है तो इससे कूद ऊँची हो जाती है। गेंद ऊपर यदि उचकाना है तो जमीन पर तेजीसे लगाव दिया जाता है। केन्द्रके अन्तरमें जितना ज्यादा झुकाव हो उसका चमत्कार ही विशेष होगा। हमारा आपका यह काम होना चाहिए कि जो उपयोग तितर-बितर है उसको संकुचित करना है, एक स्थानपर लाना है।

भैया! हम जो हैं सो हैं, हम अपनेमें परिणमन करते हैं। जो जैसा है वैसा ही अपने में परिणमन करता है। अपनी कल्पनाएँ करना, खोटा ख्याल बनाना और उसमें ही घिरे रहना इसका फल यह होता है कि नाना योनियोंमें, दुर्गतियोंमें घूमना पड़ता है और उस उपयोगको केन्द्रित कर दें, अपने उपयोगमें ला दें तो इसमें इतनी शक्ति उत्पन्न होगी कि उसके प्रतापसे भव-भवके संचित कर्म भी स्वाहा हो जायेंगे। अपनेमें ही अपना सहारा तको, अपनी दृष्टि अपनी ओर अधिक लगावो। मेरा दुनियामें क्या काम है, मुझे कौनसा द्रव्य सन्मार्गमें लगा देगा; आनन्द प्रदान कर देगा। पर वस्तुमें यह शक्ति नहीं है कि वह मुझको गुण दे दे, पर्याय दे दे, कुछ मदद दे दे, ऐसी शक्ति किसी परवस्तुमें नहीं है। मैं ही अपनी योग्यतासे विकाररूप परका निमित्त पाकर विकाररूप परिणम जाता हूं और अपनी ही योग्यतासे, शुद्ध परिणतिसे परिणम जाता हूं। मैं ही अपने ज्ञानसे स्वभावरूप परिणमता हूं, कोई मेरा सहायक नहीं है। इसलिए परकी आशा छोड़ो और दूसरोंका उपकार भी करो तो उसके बदलेमें कुछ न चाह करो। यही सुखी होनेका उपाय है।

निर्द्वन्द्वेऽजेऽमरे शान्तेऽद्वैते ज्ञानिनि निर्मले।
स्वस्मिन् स्थित्वा स्थिरीभूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-३१॥

मैं अपनेमें ठहरकर स्थिर होकर, अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ। मैं कैसा हूं? निर्द्वन्द्व हूं। निर्द्वन्द्वका अर्थ है द्वन्द्वरहित, द्वन्द्वका अर्थ है दो याने मैं दो से रहित हूं। मैं तो एक हूं। किसी दूसरे पदार्थसे मैं मिला हुआ नहीं हूं। जितनी आपदायें आती हैं सब द्वन्द्वसे आती हैं, दो से आती हैं। एकसे आपदायें नहीं आती हैं। लोकमें कहते हैं कि हम तो बड़े द्वन्द्वमें पड़ गये। मतलब यह है कि हम बडी परेशानीमें पड़ गये मायने दो में पड़ गये। द्वंद्व के मायने हैं हिन्दीमें दो। हम दूसरेमें पड़ गये, हम द्वन्द्वमें पड़ गये तभी दुःख होता है। अपने में पड़े रहे तो दुःख नहीं रहता है। मैं द्वन्द्वरहित हूं, दो से रहित हूं, केवल एक हूं और अज हूं मायने मैं जन्मा हुआ नहीं हूं। मैं सत्भूत हूं, अनादिसे हूं, मुझे किसीने उत्पन्न नहीं किया और अमर हूं मेरा कभी मरण नही होता। मेरा क्या, किसी भी पदार्थका मरण नहीं होता। कौनसी चीज मिट जाती है सो बतलावो? यह शरीर क्या मिट जायेगा? यह शरीरका ढांचा मिट जायेगा, मगर शरीरके पुद्गल परमाणु वे कैसे मिट जायेंगे? शरीर जल जायेगा तो धुआं बनकर उड़ जायेगा, उड़कर भी परमाणु रहेगा। कभी समूल नाश नहीं होगा।

कोई भी चीज मरने वाली नहीं होती। मरने पर भी कुछ न कुछ बना रहता है। सभी अविनाशी हैं। जीव हो, पुद्गल हो और कुछ हो, सभी मरने वाले नहीं हैं, ऐसा अपना अविनाशी अस्तित्व देखो तो उसे ज्ञान कहते हैं। जो अपने स्वरूपमें बसे उसे क्या होता है शांति; अशांति नही होती। अशांति तो कारण पाकर बन जाती है। शांतिके लिए कारण न चाहिए, पर अशांतिके लिए कारण चाहिए। तो शान्ति चाहो यह अच्छा है कि अशांतिके कारण दूर हो जाये यह अच्छा है। शांतिके लिए कारण नहीं होता, शांति तो स्वभाव है, आत्मामें अपने आप होती है।

और कैसा मैं हूं? मैं अद्वैत हूं। मैं केवल अपने आपके स्वरूपका अस्तित्व रखता हूं। मैं दूसरोंसे मिला-जुला नहीं हूं। जो पदार्थोंके स्वरूपकी सीमाको देखते हैं वे ही यह निश्चय कर सकते हैं कि परपदार्थ अपनेमें अद्वैत हैं। अद्वैत दो तरहके माने गये हैं—एक तो सर्वाद्वैत और विशिष्टाद्वैत। सर्वाद्वैतने यह कहा कि सब कुछ एक चीज है और विशिष्टाद्वैतने यह कहा कि प्रत्येक चीज अपनेमें अकेली है। सो प्रत्येक चीज अपनेमें अकेली है यह तो वस्तु स्वरूपकी विशिष्टाद्वैत है। अपनेमें आप ही हूं, मुझमें कोई दूसरा नहीं है। यहां सबसे बड़ी विपत्ति जीवकी है तो मोहकी है और कोई विपत्ति नहीं है। मोहसे अपनी बेवकूफी नजर आती है। पर जो समझदार हैं वे सब देखते हैं कि ये व्यर्थका मोह कर रहे हैं। मान लिया

एक जीवकी कि यह मेरा लड़का है। बस उसी एक लड़केके पीछे मरे जा रहे हैं और है कुछ नहीं। जो दूसरे हैं उनसे प्रीति करनेमें फाँसी सी लगी है, पर जो एक अपना समझ रखा है उससे मोह कर रहे हैं। बाकीको गैर मानते हैं। यह घरके हैं ऐसा समझकर मोह कर रहे हैं। उनके कारण यह मोहका विकल्प लगा है और मिलता उनसे कुछ नहीं है। केवल अशांति ही मिलती है। मैं कैसा हूं? अद्वैत हूं। अपनेमें तो मैं ही केवल एक हूं।

और कैसा हूं? ज्ञानी हूं। ज्ञान मेरा ही है। आत्माका स्वरूप जानन ही तो है। जाननको छोड़कर आत्मामें और क्या हो सकता है? जो जानन भाव है सो ही आत्मा है। वह जाननभाव निराधार नहीं है, सो मेरा जो आधार है उसको कहते हैं आत्मद्रव्य। मैं ज्ञानी हूं, निर्मम हूं, ममतारहित हूं याने ये बाहरी चीजें तो मेरी हैं ही नहीं, पर बाहरी चीजों में ऐसी कल्पना की जाती है कि ये मेरी हैं। तो यह कल्पना भी मेरी नहीं है। चीजकी तो बात दूर रहे, चीजके बारेमें जो कल्पना होती है कि यह मेरी है तो वह कल्पना भी मेरी नही है' ममता भी मेरी नहीं है। सो मैं निर्मम हूं। ऐसा यह मैं आत्मा अपने आपको ही जानूं, अपने आपमें स्थित हो जाऊं, अपने आपमें स्थिर हो जाऊं तो फिर मुझे क्लेश ही नहीं हो सकते हैं।

भैया! देखो खरगोशके पीछे शिकारी लोग कुत्ते दौड़ाते हैं, उसे पकड़नेके लिए। तो खरगोश बड़ी तेज दौड़ता है। इतनी तेजीसे छलांग मारकर दौड़ता है कि कोई उसे पकड़ नहीं सकता है। जरासी छलांग मारी कि बहुत दूर पहुंच गया। वहीं झाड़ीके किनारे छिप गया। मगर उसके भीतरमें घबड़ाहट है। वह कुत्तोंको देखनेके लिए झाड़ीके बाहर निकलता है। कुत्ते जब देख लेते हैं तो फिर पीछा करते हैं। फिर वह खरगोश भागता है। खरगोश अगर ऐसा उपाय करे कि जब वह छिप जाय तो अपने कानोंसे आंखें बंद कर ले, पर वह ऐसा नहीं करता। देखो कर्मोंकी रचना, जीवोंको उनकी रक्षाके साधन, उनके अङ्ग कैसे अनुरूप हैं?

अभी ये गाय, बैल, भैंस आदि जानवर हैं, उनके हाथ पैर हो गये। मक्खियोंको उड़ानेके लिए वे पूंछसे काम लेते हैं। जो पक्षी हैं, उनके दो ही पैर हैं, वे अपने पंखोंसे काम चलाते हैं। इसी तरह खरगोशके बड़े-बड़े कान होते हैं। जब वह झाड़ीमें छिप जाय तो अपने कानोंसे अपनी आंख बन्द कर ले तो उसे यही रहे कि अब उसे कोई नहीं देखता है। इससे उस खरगोशकी रक्षा हो जायगी क्या? वह तो अपने आपसे ही निकलता और फिर झांकता और कुत्ते उसके पीछे दौड़ते, उसका पीछा करते। ऐसे ही हम लोग अगर अपने आपकी आंखें मींचकर याने विकल्प छोड़कर किसीके बारेमें कुछ न सोचें, किसी परको न

देखें, ऐसा विचार यदि मनमें बैठ जाय तो अपनेमें आपत्तियाँ नहीं आ सकेंगी। पर ऐसा हम आप नहीं कर पाते हैं।

यदि अन्तरङ्गमें कोई विकल्प उठाये और परकी तरफ लग जाये तो आपत्तियाँ सताती हैं। जरा भी आपत्तियाँ आयीं तो समझो कि श्रद्धानके द्वारा दृष्टि बाहरमें लग गयी। यही कारण है कि बाहरमें दृष्टि लगनेसे आपत्तियाँ मिटती नहीं हैं। जब आपत्तियोंको मिटना होगा तो मिनटोंमें मिट जावेंगी। केवल अपने ज्ञानस्वरूपको ही तो देखना है। अपने स्वरूप को ज्ञानके द्वारा यह विचारना है कि मैं द्वन्द्वरहित हूं, मेरा जन्म नहीं होता, मैं स्वतःसिद्ध हूं और स्वभावसे ही शान्त हूं।

एक कोई आध्यात्मिक नाटक है। नट और नटी आपसमें बात करते हैं कि आज लोगोंको ऐसा शान्तिका नाटक दिखा दो कि जिसे देखकर लोगोंमें शान्ति उत्पन्न हो। दूसरा कहता है कि शान्तिका क्या नाटक दिखावें ? शान्ति तो स्वभाव ही है। सभी लोगोंमें शान्ति स्वभावसे मौजूद है। बस जो अशान्तिके कारण लगे हैं, उनको दूर करें तो शान्ति अपने आपमें पैदा होती है। सो मेरा स्वभाव शान्ति है, क्योंकि मेरा स्वरूप ज्ञानमात्र है और केवल जाननमें अशान्ति नहीं है। जो दूसरोंको अपनाते हैं, अपना इष्ट मानते हैं, उनमें ही अशान्ति होती है।

भैया ! यह संसार एक अजायबघर है। इस अजायबघरमें चीजोंको देखते जाओ, ज्ञाताद्रष्टा बने रहो, पर इसमें किसी भी चीजमें हाथ न लगाओ। अगर किसी चीजमें हाथ लगाया तो गिरफ्तार कर लिये जावोगे और दंड मिलेगा। यह सारा संसार अजायबघर है। यहाँ मेरा कोई सम्बंध नहीं है। किसीसे अपना स्नेह न लगाओ। ऐसा अपना ज्ञान जगाओ। केवल उनके ज्ञाताद्रष्टा रहो तो तुम्हारी कुशलता है और जहाँ स्नेह जगाया तो बस पराधीन हो गये, परेशान हो गये। ज्ञाता द्रष्टा रहो, उनमें चित्त न लगाओ। कभी-कभी कहने लगते हैं कि तेल देखो और तेलकी धार देखो, ऐसी कहावत है। यह कहावत किस बात पर है, सो तो पता नहीं है। इसका मतलब यह है कि देखते जाओ, पर कुछ मत बोलो। उसमें बाधा कुछ न डालो। अपनी ओरसे कुछ न कहो। दुनियाको देखते जाओ, पर केवल ज्ञाता द्रष्टा रहो। कोई ज्ञाता द्रष्टा रहे, न बोले तो कितनी बड़ी उसकी शोभा रहती है। यह होती है कि यह बड़ा गंभीर है, बड़ा नम्र है, बोलता कम है, सोचता विशेष है। जो बोलते हैं उनके झंझट भी ज्यादा होते हैं। बल भी मन, वचन, कायमें नहीं रहता है। मैं ज्ञानी हूं, निर्भय हूं, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मेरेमें नहीं है ऐसा शुद्ध, स्वच्छ जो ज्ञायकस्वभाव है, उस ज्ञायकस्वभावमें ही अपना उपयोग लगाऊँ और वैसा ही ज्ञान रखकर अपनेमें अपने

लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

ज्ञस्वभावे मयि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं स्वभावतः।
तत्रस्थितो सुखं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-३२॥

मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ। आत्मामें और ज्ञानमें कुछ अन्तर नहीं है। लक्ष्य लक्षण में भेद है। ज्ञान लक्षण है आत्मा लक्ष्य है, पर ज्ञानस्वरूप ही आत्मा है। जो ज्ञानभाव है हम उसको ही आत्मा कहते हैं। जो ज्ञानस्वभाव है बस उसको ही आत्मा कहते हैं। तो ज्ञानस्वभाव जो मैं आत्मा हूं उस ज्ञानभावके जान लेनेपर स्वभावसे ही सब कुछ ज्ञात हो जाता है। जिसमें प्रतिबिम्ब पड़नेका स्वभाव है ऐसे दर्पणको देख लेने पर दर्पणके सामनेकी चीजें सब देख ली जाती हैं। देख रहे हैं हम दर्पणको, पर सामनेकी सब चीजें देखनेमें आ जाती हैं। इसी तरह ज्ञानस्वभावी एक आत्माको जान लेने पर सब पदार्थ स्वभावसे जाननेमें आ जाते हैं। क्योंकि यह आत्मा पदार्थोंको नहीं जानता है। क्योंकि जितना ज्ञान है गुणकी परिणति है और ज्ञान गुण आत्माके प्रदेशमें है। आत्माके प्रदेशोंमें रहने वाले गुणकी परिणति आत्मप्रदेशमें ही है और उस ज्ञानपरिणमनका प्रयोग भी आत्मा पर ही होता है, अन्यत्र नहीं। पर आत्माका ज्ञान ही इस किस्मका चलता है कि जैसे सब कुछ पदार्थ हैं उनका ग्रहण रूप जानन आत्मामें होता है। यदि आत्माको जान लिया तो सभीको जान लिया और एक आत्माको नहीं जाना तो सब जाननेमें आ ही नहीं सकता।

भैया! आज इस चीजको जानने चले, कल और चीज जानने चले, परसों अन्य चीज जानने चले। बाह्यमें दृष्टि देकर पदार्थोंको जान-जानकर कोई सर्वज्ञ बनना चाहे तो नहीं बन सकता है। संचय करके तो जान ही नहीं सकते हैं। आज इतना जाने तो कल दसोंको जानने चले। ऐसा संचय करके नहीं जान सकते हैं। सबके ज्ञाता बन सकते हैं तो केवल आत्माके जाननेमें बन सकते हैं। क्योंकि केवल आत्माके जाननेके प्रयोगमें वह शक्ति विकसित होती है कि इसका पर्दा या इसका आवरण सब समाप्त हो जाता है। पर्दा और आवरण तो उनमें रागद्वेष है और व्यवहारमें कर्म है। ज्ञानका पर्दा साक्षात् तो रागद्वेष है और व्यवहारमें कर्म का उदय है। कर्मके उदयका निमित्त पाकर रागद्वेष उत्पन्न होते हैं और रागद्वेषके विषयोंमें उपयोग उलझा तो यह आत्माको नहीं जान सकता। तो एक आत्मा जान लेनेपर सब सारा विश्व ज्ञात हो जाता है।

कल्याण वह ही कर सकता है कि जो दुनियाके लिये अपनेको मरा समझे। दुनिया के लिए हम मरे हैं, इतना कोई समझ ले तो आत्मकल्याण कर सकता है। दुनियाके बीच हम जीवित हैं, जिन्दा रहना चाहते हैं अर्थात् दुनिया इसे समझे, जाने, बस जिसके यह भीतर

में आशय हुआ कि वह आत्मकल्याणसे गया । आत्मकल्याण वही कर सकता है जो अपना सर्वस्व त्याग सकता है । जीवका वर्तमान सर्वस्व क्या है ? अपना अहंकार, अपनी पर्यायबुद्धि, अपना यश, अपनी कीर्ति, अपना मान । मैं मनुष्य नहीं होता, कीड़ा मकोड़ा होता अथवा कहीं बहुत दूर देशमें होता तो मेरा फिर यहाँ क्या था ? तो यह समझना जरूरी है कि मेरा कुछ नहीं है । क्या ऐसा हो नहीं सकता कि मैं और पर्यायमें होता । हम अन्य पर्यायमें थे तब तो वह जबलपुर तथा लाटगंज न था । ऐसा ही सोच लो तो वाञ्छा नहीं रहती, चाह नही रहती, अपने आपकी पोजीशन रखनेका, पोजीशन बढ़ानेका भाव नहीं रहता ।

भैया ! शांति और आनन्द तो वहाँ ही है जहाँ किसी प्रकारकी तरंग न उत्पन्न हो । जैसे कि कोई मनुष्य विरोधियोंके बीच पड़ा हो और वह पुरुष यह चिल्ला उठे कि इन लोगों ने हमको मार डाला, किसी आक्रमणमें यह कहा जाये । बीचमें पड़ा हुआ पुरुष जो चिल्ला उठता है सो इसी तरहसे हमें चिल्ला उठना चाहिए कि इन इष्ट पदार्थोंने हमें मार डाला । ऐसे इष्ट पदार्थ जिन्हें हम प्रिय समझते हैं, उन इष्ट पदार्थोंने हमें बरबाद कर दिया है । क्योंकि उन इष्ट पदार्थोंसे अंतमें हमें मिलता कुछ नहीं । राग करने, स्नेह करनेसे मिलता कुछ नही है बल्कि जितना राग और स्नेह घरमें किया जाता है, बच्चोंसे किया जाता है, अज्ञानी जनोंसे किया जाता है, उससे भी कुछ कम राग घर गृहस्थी त्यागकर अपने ज्ञान और चारित्र की साधनामें यदि उत्पन्न होता तो कुछ हाथ भी लग सकता था, कुछ अपनेमें लाभ भी देकर जा सकता था, पर उन मित्रोंमें, कुटुम्ब परिवारमें रात-दिन लगे रहते हैं, पर उसकी एवजमें उन्हें क्या मिल जाता है ? यदि हिसाब देखा जाये तो शून्य मिलता है । कुछ नहीं मिलता, उल्टी कषाय ही मिलती है, क्षोभ ही मिलता है, फँसाव ही मिलता है । उल्टी हानि ही मिलती है ।

परकी दृष्टि हटाकर केवल ज्ञानस्वभावी निज आत्माको जाना जाये तो वहाँ ऐसी ऋद्धि प्रकट होगी कि सारा विश्व, तीन लोक, तीन कालके समस्त पदार्थ एक साथ अवभासन में हो जायेंगे । जब हम सारे विश्वको जान जायेंगे तो हमें अणुमात्रका भी प्रयोजन न रहेगा और जब तक हमें प्रयोजन है तब तक ज्ञान विकसित नहीं होगा । सो न यहाँ मुझे लाभ है, न भगवान्‌को लाभ है । भगवान्‌को लाभ इसलिए नहीं है कि मुग्धोंकी दृष्टिमें जानना, न जानना सब बराबर है, जब कुछ वहाँ मतलब नही निकलता । जैसे कोई रोजगार या सट्टा की बावत हो तो नफा मिले तो उसके जाननेसे फायदा है । यदि भगवान् बातें जानता रहे, पर कोई प्रयोजन नहीं साधता है तो जानना लाभरहित हुआ । संसारी लोगोंकी दृष्टिसे यहाँ

यों हम लोगोंको जानें, यह यों लाभ हो, इस विकल्पमें तो हम कोरे बनते हैं, रोते बनते हैं, फसाव आता है।

भैया ! यह मूढ़ोंके लिये बड़ी समस्या है कि सिद्ध हो गये तो मतलब नहीं रखते हैं और यहाँ लोग मतलब रखते हैं तो उनको जानकारी होती नहीं है। जो जानता है उसको जानकारीसे मतलब नहीं और जो मतलब रखता है उसको जानकारी होती नहीं। सो जानने तककी उत्सुकता छोड़कर अपनेमें कृतकृत्यताका यत्न करो। ज्ञानवृद्धिका भाव न करके कृतकृत्यताका यत्न करो। जाननेमें दुनिया आवे तो क्या, न आवे तो क्या ? मगर कृतकृत्यतामें क्षोभ नहीं हो सकता है। कृतकृत्यताके मायने सब कुछ कर लेना, अब कुछ नहीं बाकी रहा। करने योग्य जो था सो कर लिया, अब मेरे करनेको दुनियामें कोई काम नहीं रहा। ऐसा भाव होनेका नाम ही कृतकृत्यता है। मेरेको कोई काम नहीं पड़ा है। जो है सो होता है, ठीक है। कृतकृत्यताका भाव यदि आता है तो शांति है। मेरा करनेको कोई काम नहीं है क्योंकि मैं किसीको करता तो नहीं हूं। मैं किसी भी पदार्थकी परिणति तो नहीं करता, तो करनेकी उत्सुकता ही क्यों रखें, वह तो व्यर्थकी चीज है। तो ऐसे विश्रामसे यदि अपने आपमें आ जाये तो ज्ञानस्वभावी इस आत्माके सब कुछ जाननेमें आ जायेगा। स्वके जानने पर सारा विश्व जाननेमें आ जाता है।

प्रत्येक पदार्थके जाननेका यत्न अगर छोड़ दिया जाये या परपदार्थको विशेष रूपसे न जानकर सामान्य रूपसे ही देखा जाये तो उसमें आत्माका ही ज्ञान होता है, आत्माका ही दर्शन होता है। ज्ञान और दर्शन हो तो उसमें दर्शनका स्वरूप यह कहा गया है कि—

जं सामण्णग्गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये॥

पदार्थका विशेष आकार ग्रहण न करके जो सामान्य दर्शन होता है वही सामान्य दर्शन कहलाता है याने पदार्थको विशेष न जानकर सामान्यका स्पर्श करे सो दर्शन है। एक जगह यह लिखा है कि आत्माके स्पर्शका नाम दर्शन है और परपदार्थोंके प्रतिभासनेका नाम ज्ञान है यों दो लक्षण हो गये। आत्माके जाननेका नाम और पदार्थोंके जाननेका नाम है।

भैया ! दर्शनके लक्षण ये दोनों जुदे हैं क्या ? नहीं, जुदे नहीं हैं। कहे कि इन परपदार्थोंको हमने विशेष नहीं जाना, चौकी, पुस्तक, कमंडल इत्यादिको हमने विशेष नहीं जाना, पदार्थोंको सामान्य ही हमने जाना। तो पदार्थोंका सामान्य क्या ? इन पदार्थोंका सामान्य, ऐसा यदि कहें कि इस सामान्यका अर्थ तो वह विशेष हो गया। जिस दृष्टिमें कोई पदार्थ नजर आ जाये तो वह विशेष हो गया। पदार्थोंका सामान्य, ऐसा यदि कहें कि इस सामान्य

का अर्थ तो वह विशेष हो गया। जिस दृष्टिमें कोई पदार्थ नजर आ जाये तो वह विशेष हो गया। पदार्थोंका सामान्य तो वह कहलाता है कि जहाँ जाननेके समय पदार्थोंकी खबर भी न रहे। अगर किसी पदार्थकी खबर है तो वह पदार्थोंमें सामान्य हुआ कि विशेष? किसी एक पदार्थका अगर हमें पता लगता है तो वह विशेषका ज्ञान हुआ कि सामान्यका ज्ञान हुआ? वह विशेषका ज्ञान हुआ। जिस ज्ञानसे कोई पदार्थ नजर आवे तो वह विशेष ज्ञान है। सा· मान्य ज्ञान वह है कि जिसमें कोई विशेष पदार्थ ध्यानमें न रहे तो यही अस्तित्व सामान्यका ज्ञान हो रहा है, सर्व पदार्थोंमें जो सत्ता सामान्य है उसका ज्ञान हो रहा है। सत्ता सामान्य के ज्ञानमें क्या यह कह सकते हैं कि इस पदार्थका सत्त्व सामान्य जान रहे हैं। इन पदार्थोंका, फिर सत्त्व सामान्य, यह विरुद्ध बात हो गयी। तब यह है पदार्थ, यह जाननेमें आ गया तो विशेष सत्ता हो गयी। तो सत्त्वसामान्यके जाननेके समय सर्वपदार्थ उसके उपयोगसे निकल गये। अगर कोई पदार्थ उसके उपयोगमें रहे तो वह सत्त्वसामान्यका उपयोग नहीं है। इस सत्त्वसामान्यके उपयोगमें बाहरी पदार्थ तो रहते नहीं, और यह ज्ञाता स्वयं है। सो यह कहाँ निकल नहीं जा सकता है। तब वहाँ ज्ञाता सामान्यका ही प्रतिभास होता है तो चाहे यह कहो कि पदार्थके सामान्य प्रतिभासको दर्शन कहते हैं, चाहे यह कहो कि आत्मप्रतिभासको दर्शन कहते हैं। दोनोका एक अर्थ है।

ज्ञानस्वभावी निज आत्माको जान लिया तो सारा विश्व ज्ञात हो जाता है। क्योंकि इस आत्माके अन्दर जाननेका ही स्वभाव है कि विश्वमें जो है उसकी जानकारी हो जाये। हमें जो थोड़ी-थोड़ी जानकारी रहती है तो मेरे स्वभावके कारण नहीं है, किन्तु जाननेके विकासमें रोड़ा अटकाने वाले मौजूद हैं। इसलिए हमारा ज्ञान थोड़ा रह गया। स्वभावकी ओरसे कमी नहीं है, किन्तु उसमें आवरण है, रुकावट है, जिसके कारण हमारेमें ज्ञानकी अल्पता है। मैं तो स्वभावसे ब्रह्म हूं। ब्रह्म कहते उसे हैं जो अपने ज्ञानसे रहता हो। अणुमें यह स्वभाव नहीं पाया जाता कि वह अपने रूप, रस, गंध, स्पर्शके विकासमें बढ़ा हुआ रहे। जघन्यगुण वाला भी अणु हो वह मध्यम गुण वाला भी हो सकता है, उत्कृष्ट गुण वाला भी हो सकता है और उत्कृष्ट गुण वाला उतरकर जघन्यमें आ सकता है। बढ़नेका स्वभाव पर- माणुमें नहीं है, मगर आत्मामें है। परमाणुमें तारीफ उसकी मानी जाती है जिसमें जघन्य गुण रहे। आत्माकी तारीफ उसकी मानी जाती है जिसमें उत्कृष्ट विकास हो। परमाणुमें शुद्धताके लिए तारीफ उसकी मानी जाती है कि जघन्यगुण आ जाये, एक डिग्रीका स्पर्श आ जाये तो पूर्ण शुद्ध हो गया और जीवमें पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण शक्ति हो जाये तो शुद्ध मानते हैं।

ज्ञानस्वभावी इस मुक्त आत्माको जान लेनेसे सारे विश्वका स्वभाव ज्ञात हो जाता है और फिर इस पुरुषार्थसे सारे विश्वका ज्ञान हो जाता है। सो कहते हैं, ऐसा मैं ज्ञानस्वभावी निज आत्मतत्त्वमें ठहरूँ तो मैं अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी हो सकता हूं। मेरा सुखी करने वाला कोई दूसरा नहीं है, अपनी शुद्ध दृष्टिसे ही खुद मैं सुखी हो सकता हूं। किसीका भरोसा न रखो कि ये मुझे आराम देंगे, मेरे संकट मिटा देंगे, ऐसा दुनियामें कोई नहीं है। वैसे भी देखो—जो मेरे ४ साथी होते हैं वे भी मेरे अच्छे चारित्र, अच्छे आचार व्यवहारके कारण होते हैं। तो असली साथी कौन है? क्या वे चार साथी? नहीं, मेरा चारित्र और व्यवहार ही मेरे साथी हैं जिसके कारण चार लोग मेरा साथ निभाते हैं।

साधुवोंकी बहुत भक्ति करते हैं और उन्हें बहुतसे लोग पूछते हैं। कौनसी ऐसी बात है जिसके कारण बहुतसे लोग उन्हें पूछने लगते हैं। एक चारित्र और सद्व्यवहार ही उनका ऐसा है कि बहुतसे लोग उनके पूछने वाले हो जाते हैं। वो बताओ किस कारणसे बहुतसे लोग पूछते हैं? चारित्र और संयमसे। क्या फलाने सागर कहलानेसे, क्या फलाने कीर्ति कहलानेसे? नहीं, भक्तिसे, संयमसे और ज्ञानकी शुद्ध दृष्टिसे। और आगे बढ़कर देखो उस साधु की शुद्ध भक्ति चारित्र आदि ही उनको सुहा गया जिसके कारण लोग उसका आदर करते हैं याने वे लोग अपने ही चारित्रका आदर करते हैं, साधुके चारित्रका आदर नहीं करते है। सो मैं ही अपने शुद्ध ज्ञायकस्वभावको जानूं और उसमें ही रहूँ तो सुखी हो सकता हूं। मेरा सुखी होनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है।

कल्पनालोलकल्लोलैस्त्यक्तः शान्तः स्वयं सुखी।
तत्राश्रयः परो नास्ति स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-३३॥

कल्पनारूप चंचल तरंगोंसे जो छूटा हुआ पुरुष है अर्थात् जिस पुरुषमें कल्पनाओंकी तरंगें नहीं उत्पन्न होती हैं वही पुरुष शांत है और वह ही सुखी है। जैसे कहते हैं ना कि बैठे-बैठे आफत मोल ले लेते हैं। तो इसी प्रकार जितने भी संकट हैं सो बैठे-बैठे ख्याल बनाकर आफत मोल ले लेते हैं। आफत कुछ नहीं है। देखो ये सब कितने अच्छे बैठे हैं, कितने शांत बैठे हैं, हमें तो यह लग रहा है कि इनमें आफत ही नहीं है। देखो सभीकी कैसी शांत मुद्रा है और जैसा हम समझते हैं वैसा सब समझते होंगे कि हम बैठे-बैठे आफत ले रहे हैं। ऐसा विरला ही होगा कि जो सोचता हो कि जो होता है सो होता है। इस जीवको सोचो तो कुछ तकलीफ नहीं है। तकलीफ इसको अपने आप कल्पनाएँ करके मिल जाती हैं। इसमें सम्बन्ध है निमित्तनैमित्तिक भावोंका, कर्मोदयका, मगर यह देखो कि दूसरी चीज चाहे परिवार हो, चाहे धन हो, चाहे लोक हो, कोई चीज इस आत्माके भीतर घुसकर इसमें आफत

नहीं करती ।

भैया ! जितने लोग हैं वे अपनी जगह बैठे-बैठे अपने हाथ-पैर फैला रहे हैं, अपने गाल मुंह फैला रहे हैं, इसके अलावा और कुछ नहीं कर रहे हैं, मगर यह जीव अपना ख्याल बनाकर दुःखी हो रहा है । सो जो क्लेशकी चंचल तरंगोंसे छूटा हुआ है वह ही शांत है, स्वयं सुखी है, क्योंकि सबकी स्थितिमें पर-आश्रय तो रहता ही नहीं । कल्पनाएँ छूटें तो उसमें कोई परपदार्थ आश्रय नहीं है । और जब पर-आश्रय नही है तो वहाँ परेशानी नहीं है । एक शब्द है ना—परेशान । यह आदमी बहुत परेशान है । परेशानी उर्दूका शब्द है । इसको हमने संस्कृतमें लिया है । संस्कृतमें इसका क्या अर्थ है—पर ईशान । परके मायने दूसरा पदार्थ, ईशानके मायने मालिक । परको अपना मालिक बनाना और परको स्वयं ईशान बनाना । याने पर है ईशान जिसका, पर है मालिक जिसका और परके मायने हैं अन्य पदार्थ । अन्य पदार्थोंको अपना मालिक बना लिया । ऐसा काम करने वालेको कहते हैं परेशान और परको मालिक बनाना इसके ही मायने हैं परेशान । सो देख लो कि जितनी भी परेशानियाँ हैं उनमें ही यह बात आती है कि किसी दूसरे पदार्थका स्वामित्व माना तो परेशान है, नहीं तो कुछ परेशानी नहीं है ।

एक साधुके पास कुछ शिष्य थे । साधुके पास एक पाँच सेरकी सोनेकी ईंट थी । सोनेकी ईंटको एक शिष्य उठाये हुए साधुके पीछे-पीछे जा रहा था । साधु किसी जंगलके बीच में शिष्यसे बोला कि बेटा ! यहाँ संभलकर चलो, पैरोंकी आवाज न हो, क्योंकि यहाँ डर है । शिष्य बेचारा बहुत परेशान हो गया । स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दतासे चल नहीं सकता था । दोनोंको इस ही प्रकार चलते-चलते दसों दिन हो गये । सोचा कि अब मैं क्या करूँ ? चलते-चलते रास्तेमें एक कुवेंमें शिष्यने ईंट पटक दी । गुरुको मालूम न हुआ । दोनों आगे चलते गये । दोनों फिर किसी जंगलसे गुजरे । गुरु बोला—बेटा ! यहाँ चुपचाप चले चलो, क्योंकि यहाँ पर डर है । शिष्य बोला—गुरु जी, अब आप निःशङ्क होकर चलिए, मैंने डर को तो एक कुवेंमें पटक दिया ।

भैया ! यहाँ पर परको अपना स्वामी भी बनाते और परके स्वयं स्वामी बनते, इसी कारणसे तो लोगों पर परेशानी है । कोई भी यदि परेशानीमें नजर आ रहा है तो समझो यही अपराध कर रहा है ।

भैया ! देखो स्त्रीने ऐसा कह दिया कि माँ यों बिगड़ गयी, लड़केने मेरी बात नहीं मानी, पिताजी ने हमारी उपेक्षा कर दी, बस इसीसे मानसिक दुःख हो गया लोगोंको । वह दुःख किस बातका है ? परको अपना मालिक बनानेका या परका खुद मालिक बननेका । यही

दुःखका कारण है । आदमियों पर दूसरा कोई दुःख नहीं है । सो यह कितना व्यर्थका ऊधम है ? परको अपना मालिक बनाना या परका मालिक बनना कितना ऊधम है ? सो यह एक तरहका कषाय आदिका ऊधम है ।

थोड़े पुण्यके दिन हैं तो मौजमें रहता है । पर यह मौज जल्दी ही खत्म हो जायगी । जहाँ पुण्य खत्म हुआ तहाँ यह ऊधम मिट जायगा । एक समुद्रमें एक बूँदकी गिनती है । क्योंकि एक-एक बूंद मिल करके समुद्र बन गया । पर इन अनन्त कालोंके आगे १०० वर्ष की क्या १००० सागरकी भी कुछ गिनती नहीं हो सकती है । समुद्रकी बूँद तो गिनतीके काबिल हैं । यद्यपि अनगिनत बूँदें हैं, पर बूंद बूँद करके देख लो संख्यातमें आयेगी । असंख्यातमें प्रकट हो गयी तो असंख्यातमें उत्कृष्ट हुई । वह बूँद संख्यात है, किन्तु अनन्त कालोंके सामने ये हजार सागर, एक लाख सागर, एक लाख क्या दस पचास लाख सागर भी कुछ गिनती नहीं रखते । वर्षोंकी बात जाने दो । तो फिर यह कितने दिनोंका ऊधम है ? तो इन कल्पनाओंकी चंचल तरंगोंसे निवृत्ति हो तो उसका उपाय यह है कि स्वभावदृष्टि हो । उन कल्पनाओंकी निवृत्ति हो तो शान्ति प्राप्त हो सकती है ।

भैया ! जब किसी इष्टका वियोग हो जाता है तो बड़ा क्लेश होता है और उस समय बड़े हितू लोग समझाते हैं कि अरे वह तुम्हारा नहीं था । कोई भी किसीका नहीं होता । कोई किसीके साथ नहीं आया और न साथ जायेगा । वह कहता है कि यह तो ठीक है । मैं भी समझता हूं, पर ये कल्पनाएँ छूटती तो नहीं हैं । देखो इन बातोंको जानते तो हम भी हैं, पर ये कल्पनाएँ यों नहीं छूटती हैं । तो एक कल्पना ही क्यों करो, अभी देखो कोई बिटिया की सगाई हो । सगाई न हुई हो, केवल बात चलती हो तो बिटिया दबकर चलेगी । अभी कुछ नहीं हुआ, जरासी बात केवल हुई । सगाई पक्की नहीं हुई, मगर कल्पनाएँ देख लो कितनी आ गयी कि ससुराल बनने वाली है, ऐसी कल्पनाओंसे ही वह लड़की प्रसन्न हो गयी । अभी किसीके बच्चा न हो, किसी लड़केको गोद लेनेकी बात ही चल रही हो तो बस ममता इसी समयसे हो गयी । अभी किसीका मकान गिरवी रख लिया और जान रहे कि वह तो गरीब हो गया । अब वह इस कल्पनामें आ गया कि मैं ही इस मकानका मालिक हूं । बस मालिकका जैसा बर्ताव उस गरीबके साथ होने लगा । तो जितनी भी अटपटी क्रियाएँ हैं वे सब परेशानीकी क्रियायें हैं । वे सब परेशानियाँ कल्पनाके कारण हैं ।

एक कविने लिखा है कि दुनियामें सबसे बड़ा दानी कौन है ? उसने बताया है कि दुनियामें सबसे बड़ा दानी महाकंजूस है । सबसे बड़ा दानी इसलिए है कि एक पैसा भी वह खर्च न करेगा और मरते समय सारा का सारा दूसरोंको छोड़कर चला जायेगा । वह महा-

कंजूस कितना बड़ा दानी है। जो धन खर्च करते रहते हैं, अभी फलाँको देना है, अभी फलाँ को देना है, इस तरहसे सब खर्च कर डालते हैं, पर जो कंजूस दूसरोंको धन देना जानता ही नहीं है और अंतमें इकट्ठा सब दे जाता है तो वह कितना बड़ा दानी है। अरे मरने पर साथ में कौन ले जा सकता है? अगर सब ले जाया जा सकता होता तो वह कंजूस उसे भी न छोड़ता। अरे भाई कितना बड़ा अन्याय हो रहा है। धन तो परभवमें संग जा ही नहीं सकता है। इसीसे तो वह कंजूस अंतमें गम खाता है। अगर धन भी साथमें जाता होता तो वह कंजूस गम नहीं खाता। अरे साथ जानेकी बात तो छोड़ो अपना ही कुशल नही है कि हम मरकर क्या बन जावें? अपनी तो कुशलता नही है। आज मनुष्य हैं तो कल पता नहीं क्या हो जावेंगे?

कल्पनाका जो जाल है उसे कम करना चाहिए और ज्ञानतत्त्वमें अपना उपयोग देना चाहिए तब जीव सुखी हो सकता है। जिस स्थितिमें परपदार्थोंका आश्रय नहीं लिया जाता वह स्थिति सुखद होती है और जिसमें परपदार्थोंका सहारा लिया जाता है, परपदार्थोंका आश्रय लिया जाता है वह स्थिति सुखद नहीं होती है। ये कल्पनाएँ चंचल हैं किन्तु चंचल होने पर भी यह किसीकी चीज नहीं है। निमित्त तो है अन्यका और ठहरनेकी जगह मिली आत्मामें; अगर एक ही के कारण उसमें ठहरें तो वे चंचल न रहें। ठहरने वाला भी वही हो और जगह भी उसकी हो तो कुछ समय ठहर सके। ठहराने वाले है कर्म और जगह मिलती है आत्मामें किनको? कल्पनाओंको। इसलिए वे सब कल्पनाएँ ही हैं और नष्ट हो जाती हैं। न आत्माकी बनकर रहती हैं और न कर्मोंकी ही बनकर रहती हैं।

जैसे यह छाया है चौकी पर तो इस छायाकी क्या कीमत है? हाथके निमित्तसे यह छाया हुई और चौकी पर हुई, मगर वह छाया हाथ पर होती तब गनीमत थी। जैसे हाथमें रूप है, रस है, पर यहाँ छायाका निमित्त तो है हाथ और हुई है चौकीपर तो कुछ कुशलता नहीं है। मिटनेके लिए जा रही है। इसी तरह रागद्वेषकी कुशलता खुद नही है। क्रोध कषायप्रकृतिके निमित्तसे क्रोध हुआ और हुआ है आत्मामे, तो उसकी कुशलता नहीं है। जो स्वयं मर मिटने वाला है, अशरण है, अध्रुव है उससे प्रेम करते हैं, उसका गर्व करते हैं, अहंकार रखते हैं कि यह मैं हूं, बस यही अज्ञान है।

भाई! एक कहावत है कि 'गले पड़े बजाय सरे' बोलते हैं ना? जैसे ५-१० मित्र फिर रहे हों, आपसमें मजाक कर रहे हों। एकने दूसरेके गलेमें ढोल डाल दिया, मानो मजाक किया कि वह झेंप जाये। जिसके गलेमें ढोलक डाली वह भी चतुर था, उसने दो डंडे उठाये और ढोलका बजाना शुरू किया। इसका अर्थ यह निकला कि जो गलेमें ढोलक डाले

है वह नेता है। उसका वह नेता बन गया। अंगाना जो कूद रहा। जिसके गलेमें ढोल डाल दिया वह खुद झेंपकर रह गया। जिसके गलेमें ढोलक डाली उसने समझा कि बजा दें, नहीं तो धों-धों हो जायगी। इसी तरह ये सब समागम जबरदस्ती हो रहे हैं। ठंड नहीं सह सकते, भूख नहीं सह सकते, प्यास नहीं सह सकते, पंचेन्द्रियके विषयभोग बिना नहीं रह सकते, ऐसा आज समागम मिल गया है इससे बरबादी है। मगर ज्ञानी पुरुष वह है जो गृहस्थीमें रहकर भी अपना कल्याण करे। अरे यह गृहस्थी गले मढ़ दी गयी है तो गले पड़े बजाय सरे।

अब गृहस्थी मिल गयी है तो पालन किए ही पिंड छूटेगा। वो ठीक है, मगर भीतर में अपनी करुणाके लिए, अपनी अनाकुलताके लिए यह समझना चाहिए कि ये सब मेरा कुछ नहीं है। सब कुछ भी अगर स्वाहा हो जाये तो हो जाये, मगर शोककी कोई बात नहीं है। मगर शुद्ध ज्ञान यह अवश्य हो जाय कि मेरा कुछ नहीं है, मैं क्यों शोक करूँ, मुझे शोक नहीं होना चाहिए। इतनी हिम्मत ज्ञानी गृहस्थके होती है। इसी कारण वह कल्पनाएँ नहीं बढ़ाता और जो होता है उसका ज्ञाता द्रष्टा रहता है। वह कल्पनाओंकी चंचल तरंगोंसे अगर छूटे तो शांति मिल सकती है। उसमें ही यह जीव आनन्द पायेगा जिस निर्विकल्प स्थितिमें किसी परको यह उपयोगरूपी आसनमें किसी पर मैलको स्थान नहीं देगा। किसी परतत्त्वको हम अपने उपयोगमें नहीं रखें तब वहाँ यह निज प्रभु प्रसन्न रहेगा। मित्रके दुश्मनसे बोल दो तो मित्रका प्यार नहीं रहेगा। मित्रके दुश्मनसे अगर राग बढ़ाते हो तो मित्रका हृदय तुममें न रहेगा। इसी तरह चैतन्य प्रभुके बैरी कषायोंको अपने आपमें बुलाते हो तो वह चैतन्य प्रभु तुम पर कृपा नहीं कर सकता है। तो इन चंचल कल्पनाओंको छोड़कर अपने स्वभावके दर्शन करो और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

इदं सुखमिदं दुःखमज्ञस्यैव हि कल्पना।
स्वच्युतो सर्वकः क्लेशः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३-२४॥

कहते हैं कि यह सुखी है और यह दुःखी है, ऐसी कल्पनाएँ अज्ञानी जीवके ही होती हैं। ज्ञानी जीव तो उन सब बातोंमें क्लेश समझते हैं। जो जो बातें अपने स्वभावसे च्युत होनेके समय होती हैं। चाहे वह सुख हो, मौज हो, विषयोंका आनन्द हो यह सब उसके लिए कष्ट मालूम होता है क्योंकि यह मौज कब तकका मौज है? कहते हैं ना कि चार दिन की चाँदनी फिर अँधेरी रात। कितने दिनके आनन्द है, किसमें मोह हो रहा है? स्त्री है, पुत्र है, परिवार है, यह सब क्या है? जैसे स्वप्नमें देखे हुए दृश्य सही मालूम होते हैं वैसे ही रागद्वेषकी बातें सही मालूम हो रही हैं। यह दुःख तो रागसे ही होता है। परमार्थसे यहाँ

कुछ भी चीज सारकी नहीं । यहाँ तो सब अंधेरेमें रखने वाली चीजें हैं । प्रगतिके मार्गमें ये सब इस जीवके लिए घाटियाँ हैं ।

जो लौकिक विवेकी पुरुष होता है वह बहुत भविष्यकी सोचता है । यहीं देख लो, घर गृहस्थोंमें जो एक जिम्मेदार गृहस्थ होता है वह आगे तककी सब बातें सोचता है और यहाँ तक कि गांठमें दो हजार भी हों तो उनको भी खर्च न करेंगे । ५ साल, १० सालका जो ब्याज होगा उसीसे अपना गुजारा करेंगे । हिसाब अगर लगावो तो ज्यादासे ज्यादा १० वर्ष और जीवेंगे । बूढ़े हो ही गये हैं । हजार भी अगर एक सालमें खर्च करें तो १० सालमें १० हजार ही हुए । पर बहुत दिनोंकी सोचते हैं कि यह रकम बनी रहे तो अंतमें सब दान कर देंगे । पर परमार्थसे विवेकी लोग बहुत ऊँचा सोचते हैं कि ऐसा उपाय बना रहे कि जिससे अनन्तकाल तक आनन्द चले, क्लेश न सहना पड़े । जब ऐसा चित्तमें बन सके तो विषय प्रसंगोंके जो मौज हैं वे भी उसे फीके लगने लगते है । वह समझता है कि ये पराधीन हैं, कषाय देनेके लिए हैं । ये तब तक रहते हैं जब तक कि दूसरोंका मन साधे रहें । दूसरोंकी जरूरत पूरी करते रहें याने दूसरोंके नोकर बने रहें तब तक यह मौज है । इन मोजोंसे वर्तमानमें उन्नतिमें बाधा है और आगे तो कुछ मिलता हो नहीं है । ऐसे ही विषयभोग हैं जिनके कारण सब फीके लगते हैं । चाहे सुख हो या दुःख हो सभीमें क्लेश हैं, क्योंकि स्वभावसे च्युत होनेकी अवस्था है ना ? उसीमें सुख और दुःख प्रतिभास होता है । तो यह सुख है यह दुःख है, यह अज्ञानीकी ही कल्पना है । ज्ञानी तो उन सुखोंसे और दुःखोंसे अलग रहकर अपने स्वभावके दर्शनमें ही मस्त रहना चाहता है ।

भैया ! जैसे जिसको कोई बड़ा लाभ होनेको दीख रहा हो और कोई लोग उसे थोड़ी बातोंमें बहलावें तो वह नहीं बहकता है । जैसे कोई बड़ा हीरा है, रत्न है, वह जान गया है कि यह ५० हजारकी कीमतका है तो अब उसे बनिया या और कोई कहे, भाई दो चार बोरे गेहूं दो चार साल खानेके लिए ले लो और इसे फेंक दो तो वह नहीं बहक सकता । चाहे कितने ही हीरे गँवा चुका हो, लेकिन अब उसे यह मालूम है कि यह ५० हजारकी कीमतका है । इसलिए वह बहक नहीं सकता है । इसी तरह जिस ज्ञानीको यह पता हो गया है अपने आपकी आत्मामें कि यह तो क्लेश है और यह सामर्थ्य है, वह आनन्द है कि जिसकी उपमा लोकमें किसी वस्तुसे नहीं दी जा सकती है । अब उसे स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, परिवार, इज्जत ये बहकाना चाहें तो बहका नहीं सकते हैं अर्थात् वह उनमें अपने आप नहीं लग सकता । यह सुख है, यह दुःख है, ये अज्ञानीकी ही कल्पनायें हैं । अपना स्वभाव तो जाननेका है ।

भैया ! सुखमें भी क्लेश समझे कोई तो वह बड़ा ज्ञानी पुरुष हो सकता है । अच्छी

भाय है, दुकान है, ऑफिस है, लोगोंका सम्पर्क है, लोग बड़ा मानते हैं, अच्छे साधन हैं, रईसी ढंगसे रहते हैं, ऐसे भी साधन उस ज्ञानीको विष लगते हैं, बेकार लगते हैं, उसे कुछ जंचते नहीं हैं, क्योंकि उसने तो सत्य स्वरूपके आनन्दको समझ लिया है कि उसका वास्तविक स्वरूप सिद्ध समान है। वह ज्ञानी पुरुष इन विषयोंके बहकानेमें लग नहीं सकता। यह सुख तो एक कर्मके आधीन है। उदय हो तो मिले। उदय उसका अनुकूल नहीं है तो कैसे सुख मिल सकता है? पुण्यका उदय बड़ी चीज है या ज्ञानका रसास्वादन बड़ी चीज है। पहिले भी देखो अनन्त साधु हो गये जिनको उनकी जिन्दगीमें जानने वाला भी कोई नहीं था। जो मोक्ष गये हैं उनमें से कितने साधु ऐसे हैं कि उनको जीवनमें यश नहीं मिला, इज्जत नहीं मिली, पूछने वाला भी नहीं मिला, दुःखोंमें ही उनकी जिन्दगी बीती, उपसर्गमें ही जिन्दगी बीती, ऐसे भी बहुतसे साधु हुए हैं। सबसे महान जो वैभव है, मूल्यवान चीज है वह ज्ञानका आनन्द है वह उन साधुओंमें था।

जैसे व्यवहारमें भी लोग कहते हैं ना कि हम तो अपने घरके बादशाह हैं, दूसरोंसे क्यों दबें? वे अपने घरके बड़े होंगे, हम अपने घरके बड़े हैं, हम क्यों दबें? सब अपने-अपने घरके राजा हैं। ऐसी बात सोचकर कोई दूसरेके आधीन नहीं होना चाहता है। सभी अपने-अपने स्वरूपमें परमात्मा हैं, प्रभु हैं, सब कुछ हैं, किन्तु दूसरोंकी आशा लग जाये, दूसरोंका मुंह ताका जाये, दूसरोंके आधीन रहा जाये यह तो ठीक नहीं। अरे दूसरोंको परेशान करनेके लिए क्यों नाना यत्न किए जायें? अच्छा होना भी उल्टा असर है। अगर किसीके मनानेका यत्न करो, राजी रखनेका उपयोग करो तो वह समझता है कि वे मुझे बहुत मनाते हैं, तो राजी मुश्किलसे होता है और कोई उसके मनानेकी बात न करे, उसको राजी रखनेकी बात न करे तो वह खुद चाहेगा कि भाई किसी दिन कुछ बोल दें, किसी दिन कह दें तो हमारा भाग्य है। किसीको खुश रखनेका यत्न करो तो वह कठिनाईसे होगा और समझाते अमर रहें, किसीको खुश करनेका यत्न न करें तो दूसरे लोग उसके दर्शनसे खुश हो सकते हैं। अपने यथार्थ काममें लगना ही बुद्धिमानी है और अन्य काम तो स्वयं अपने आप होते हैं।

दो आदमी थे। उनमें विवाद हो गया कि भाग्य बड़ा है या पुरुषार्थ बड़ा है। तकदीर बड़ी है कि तदबीर बड़ी है। तकदीर भाग्यको कहते हैं और तदबीर पुरुषार्थको कहते हैं। तो दोनोंमें विवाद हुआ सो राजा तकके पास मामला पहुंचा। राजाके दरबारमें तो यह होता है कि पेशी लग जाती है। जब राजाके यहाँ यह मामला आया तो मालूम हुआ कि कलकी पेशी है। राजाने नौकरोंको आज्ञा दी कि इन दोनोंको ऐसी कोठरीमें बंद कर दो कि

जहाँ कोई न आवे। और वहाँ किसी गुप्त जगहमें दो लड्डू छुपाकर रख दो किसी आलेमें ऊपर और दोनोंको कोठरीमें बंद कर दो। अब दोनों भूखों मरें। पेशी दो दिन बादमें रखी। तकदीर वाला सोचता है कि अगर तकदीर होगी तो कुछ मिल जायेगा। तदबीर वाला क्या करता कि इधर-उधर खोजता कि चाहे घास ही मिल जाये खा लेवें। तदबीर वाला जब खोजते-खोजते और ऊपर चढ़ता है तो दो लड्डू मिल गये। तकदीर वाला बैठा रहा। तदबीर वाला बोला—देखो मैंने पुरुषार्थ किया, तदबीर किया तो दो लड्डू मिल गये। फिर उसके दया आई, कहा—अच्छा भाई जो विवाद है उसे मैंने माफ किया, तू भी खा ले जिससे पेट भर जाये। दोनोंने खूब खाया। अब दोनों ही पेशीमें हाजिर हुए। राजा बोला—तुम दोनोंपर दो दिनमें क्या गुजरा? तदबीर वाला बोला—महाराज यह तकदीरमें ही बैठे रहे और भूखों मरे। हमने तदबीरका तो खुद खाया और इनको भी खिला दिया। तो तकदीर वाला कहता है कि अगर मेरी तकदीर न होती तो लड्डू कहाँसे मिल जाते? तुमने खोजा, हमारी नोकरी की, हमारे नोकर बने तो तुमने नौकरी खोजी और हमें बैठे ही बैठे मिल गये।

भैया! ये जो संसारके काम हैं, जिनकी हम आप चिन्ता रखते हैं। यह नहीं ध्यान में लाना है कि हम बच्चोंका पालन करते हैं। यह तो भाग्य है। देख लो, घर गृहस्थीमें बापसे बढ़कर पुत्रोंका भाग्य निकलता है। बापकी परिस्थिति ऐसी है कि वह अनपढ़ है, गरीब स्थितिमें है, समाजमें उसकी कुछ नहीं चलती। किन्हीं-किन्हींको देख लो कि बापके जिन्दा रहते हुए ही लड़के बापसे अच्छे रहते हैं। बच्चा हो, बच्ची हो, माँ हो, स्त्री हो, सभी की तकदीर है तो सभीका भरण होगा, पोषण होगा। वैसी ही बात बनती, फिक्र किसका करना है? अच्छे साधन मिले हैं, अच्छी बुद्धि मिली है। यह क्षण बड़ा कीमती है। यहाँ अपने परिवारकी फिक्र करनी है या अपने आत्महितकी फिक्र करनी है। परिवारकी फिक्र यों नहीं करनी है कि भाग्य तो परिवारके लोगोंके साथ भी है, मगर आत्महितकी बात तो खुदको ही करनी पड़ेगी। उसमें परिवारका भाग्य मदद न करेगा। वह तो अपनी ज्ञानकी स्थिति पर निर्भर है। सो आत्महितकी फिक्र करो। इसमें एक उत्कृष्ट तत्त्वका अनुभव होता है, ज्ञानरसका स्वाद मिलता है। विषय कषायोंके रस इस स्वादके आगे फीके मालूम पड़ते हैं।

दूसरी बात यह है कि लोकमें रहने वाले ये अज्ञानी जीव बड़ी विपत्ति पा रहे हैं। शरीरका बन्धन है, कर्मोंका बन्धन है, अशुद्ध पर्यायमें है, अशुद्ध स्थितिमें हैं, बड़ी विकट आपत्ति है। जो उत्कृष्ट ज्ञान और आनन्द है, उससे हम दूर हो रहे हैं। उसको हम पा नहीं रहे हैं। ऐसा अपनेमें बड़ा संकट दिख रहा है। तो देखा होगा कि जिस मनुष्य पर कोई बड़ा

संकट आ जाता है तो उसके आगे मिठाई भी खानेको रखी जाय, बड़े अच्छे रिस्तेदार लोग मना-मनाकर खिलाना भी चाहते हैं तो भी उसे कुछ खाना-पीना नहीं सुहाता है। कल्पना करो कि कोई बड़ा इष्ट था, स्त्री या पुत्र एकदम गुजर गया, सो उसे इतनी बड़ी परेशानी रहती है कि कोई मनाकर भी बढ़िया मिठाई, पकवान खिलावे तो भी वे सब कुछ उसे नीरस लगते हैं कि नहीं ?

इसी प्रकार ज्ञानी अपनेको बड़े संकटमें देख रहा है। कर्मका बन्ध है, शरीरका बंधन है तथा और भी मानसिक व शारीरिक व्याधियाँ लगी हैं। आज मनुष्य है न चेते तो कल इससे भी अधिक हीन दशा मिल सकती है। और कदाचित् असंज्ञी हो गये याने चींटा चींटी हो गये तो फिर सब उत्कर्ष धरा रह गया। यहाँ तो सब प्रकारके प्रकाशकी स्थिति है, सत्संग है, मंदिर है, धर्मध्यान है, शास्त्र है। किसी भी प्रकार ज्ञानके विनोदमें अपने समयका अच्छा गुजारा किया जा सकता है। क्या संकट है ? संकट तो यह लदा है कि उपाधिका बंधन है। ये निमित्तनैमित्तिक भावकी रगड़ें भी कैसी हैं ? संकट तो यही हैं। इतने बड़े संकटका समझने वाला ज्ञानी इन विषयोंके सुखको सुख नहीं मानता है, दुःख ही मानता है। किसीको अपने इष्टका वियोग हो गया तो खोवाकी जबलपुरकी बनी जलेबी भी अच्छी नहीं लगती है। चित्त तो इष्टकी ओर लगा है। यही दशा ज्ञानी पुरुषकी होती है। उसे विषयोंके सुख नीरस क्यों लगते हैं ? एक तो वह अपनेका संकटोंमें पा रहा है, दूसरे वह सुखसे भी कई गुणित ऊँचे आनन्दका अनुभव कर चुका है, ऐसे तुच्छ विषय रसोंके स्वादके लिए इसको चाह नहीं है। इस कारण जिनको अज्ञानी जीव सुख और दुःख मानता है उनको ज्ञानी जीव क्लेश ही क्लेश मानता है। तो उन सब क्लेशोंसे रहित होकर अपने ही आनन्दसे अपनेमें अनाकुल होऊँ।

नृत्वं कुलं मतिः सत्त्वं सत्संगो देशना व्रतम्।
स्वस्थित्यर्थाय सन्त्यस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-३५॥

कहते हैं मनुष्यभव मिला, उत्तम कुल मिला, उत्तम बुद्धि मिली, श्रेष्ठ बल मिला, सत्संग भी मिला, उपदेश भी मिलता है और व्रत भी करते हैं तो ये सब किस प्रयोजनके लिए हैं ? सबका प्रयोजन एक यह है कि आत्माकी स्थिरता हो जाये। ये सब बातें कितनी दुर्लभ हैं ? संसारमें लाखों योनियाँ, लाखों, करोड़ों कुल हैं जिनमें ये जीव मरते हैं, भटकते हैं उनमें एक मनुष्य ऐसा भव है कि जो सब भवोंसे उत्कृष्ट है। अभी ये पशु-पक्षी हैं, ये अपने मनकी बात बता नहीं सकते, कोई बात बोल नहीं सकते, कोई विशेष चर्चा नहीं कर सकते या कुछ भी चर्चा नहीं कर सकते और मनुष्योंको देखो तो कैसी उनकी वाणी है, कैसा

वे बोलते हैं ? दूसरोंको समझाते हैं, दूसरेकी सुनते हैं, धर्म भी सुनते हैं और तत्त्वचिन्तन भी करते हैं। तो सब भवोंसे मनुष्यभव श्रेष्ठ है।

मनुष्य भी हो और उसमें हीन कुल वाला हो, जहाँ जिस धर्ममें मांस मदिराका रिवाज हो, जीवहत्याको कोई घृणित काम न मानता हो, ऐसे नीच कुलमें उत्पन्न हो गये तो वहाँ धर्मसाधना क्या कर सकते है ? सो देखो अपनेको कुल भी उत्तम मिला। कुल भी उत्तम हुआ और बुद्धि न हुई तो बतलावो क्या वह अपना हित कर सकता है ? सद्बुद्धि भी होनी चाहिए। सो देख लो अपने बुद्धिमय स्वरूपको; विवेक करो, विचार करो। बुद्धि भी मिल गयी, किन्तु बल न हो तो दुर्बलताके कारण बुद्धि भी काम नहीं देती। सो देखो अपनेको बल भी मिला हुआ है। बल भी मिल गया, पर एक सत्संग न हो तो अटपट उपयोग बनेंगे। हम सबका दुरुपयोग करेंगे। सत्संग भी प्राय: मिला हुआ है। सत्संगकी बहुत बड़ी महिमा अन्य लोगोंमें भी गायी जाती है। सत्संगमें कथा होती, शास्त्र होता, पूजन होता। सत्संगकी बड़ी महिमा गायी है। सत्संगमें बसने वालेका उपयोग मलिन नहीं होता है। एक धर्मके लिए प्रेरणा मिलती है। सो अपनेको सत्संग भी मिल गया।

सब कुछ मिल गया, पर अगर उपदेश न मिले तो इससे कुछ भी सिद्ध न होगा। उपदेशमें ऋषियोंके वचनोंमें वह शीतलता है कि आन्तरिक संतापको दूर कर देते हैं। और किसी चीजमें संतापको दूर करनेकी सामर्थ्य नहीं है। न चंदनका लेप इतनी शीतलता ला सकता है, न बड़ा शीतलाहार, न ठंडी हवा ही इतनी शीतलता ला सकती है जितनी शीतलता ऋषियोंके वचन पैदा करते हैं। देशनामें बहुत बड़ी शक्ति है। देशनाके बिना तो सम्यक्त्व नहीं होता, चाहे किसीको अभी देशना मिली हो। पूर्वभवमें उपदेश मिलते हैं उसके अगले भवमें भी बिना उपदेश दिये सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है। तो उपदेशका भी बहुत बड़ा महत्त्व है। और व्रत, चारित्र; व्रतसे तो साक्षात् अपने आत्मामें स्थिर होनेकी प्रेरणा मिलती है। ये सब आत्मामें स्थिरता लानेके लिए हैं।

भैया ! व्रतकी तो खास बात ऐसी समझो कि व्रत वही कहलाता है जो अपने आत्मा में अपनेको रमण करनेका मोका दे सकता है। नहीं तो ऐसा व्रत जो एक खाने-पीने और शुद्ध रहने तक सीमित हो उस व्रतसे क्या प्रयोजन निकला ? ऐसे व्रतसे शांति मिलती तो दूर रही, और क्षण-क्षणमें अशान्ति हो जाती है। किसीने छू लिया तो क्रोध हो गया। किसी ने कुछ चौकेमें अशुद्धता लादी, कोई चौकेमें घुस गया, लो सब छोड़ दिया। तो ये सब चीजें करना तो चाहिए, शुद्धता तो होती है, पवित्रता तो होती है, मगर यह ध्यानमें रखकर कि इतना जो हम ध्यान करते हैं, पवित्रतासे भोजन बनाते हैं तो उसका प्रयोजन यह है कि

बहुतसे पापोंसे हम बच जायें और अपनी आत्मामें हम लग जायें। यह है व्रतोंका प्रयोजन न कि उसकी क्रिया ही कर-करके इस समयको बिता देवें और अपना जो आत्मध्यान है आत्मज्ञान है उसको मौका ही न दें। तो ये सब जो प्राप्त होते हैं ये सब अपने आपमें अपने आपकी स्थिरताके लिए होते हैं। सो मैं अपने आपमें अपनेको स्थिर करके अपनेमें स्वयं सुखी होऊँ।

रागिणो जन्मने मृत्युर्वीतरागस्य मुक्तये।
स्वस्थितेर्वीतरागत्वं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-३६॥

मृत्यु तो सबपर आती है। आयुका क्षय होता है। आयुके दोषका नाम ही मृत्यु है। सो आयु एक पुद्गल कर्मकी प्रकृति और उपाधि है। सो यह उपाधि तो मिटेगी ही। आयुका तो क्षय होगा, मृत्यु भी होगी। मगर रागी पुरुषकी जो मृत्यु होती है, वह जन्मके लिए होती है। मरे तो फिर जन्म लिया, किन्तु वीतराग पुरुषकी, ज्ञानी परमसंन्यासी आत्माकी एवं ऋषियोंकी जो मृत्यु होती है अर्थात् आयुका क्षय होता है, वह मुक्तिके वास्ते होती है। अरहंत भगवान्की आयुका क्षय है कि नहीं? मनुष्य ही तो अरहंत है। परमौदारिक शरीर हो गया, चार घातिया दूर हो गये, उसका नाम है अरहंत। अरहंतके मनुष्यायुका उदय चल रहा है और उसके मनुष्यायुका उदय खत्म होता है तो उसके बाद फिर नया जन्म नहीं होता है। उसके बाद तो मुक्ति ही होती है। रागी पुरुषकी मृत्यु तो जन्मके लिए है और वीतरागी पुरुषकी मृत्यु मुक्तिके लिये है। तो वीतरागता कैसे प्रकट हो कि जिसके बाद फिर कभी भी जन्म मरण न हो, वह स्वास्थ्यसे होता है।

भैया! अपनेको अपनेमें अपने आप समा लेनेसे वीतरागता प्रकट होती है। सो इस जीवनमें यह ध्येय होना चाहिए कि मेरा जो शुद्ध स्वरूप है, मेरा जो कुछ भी स्वभाव है, वह मेरे उपयोगमें रहे और इसका ही विकास बने। जगत्में मुझे अन्य कुछ भी चीज नहीं चाहिए। धनसे सुख नहीं होता। धनसे सुख होता तो जितने भी धनिक लोग हैं, फिर उनको कोई आकुलता नहीं होनी चाहिए। अरे! धन तो परपदार्थ है। धनसे सुख तो होगा क्या, किन्तु धनका उपयोग आ गया तो उससे दुःख स्वयं हो गया। सुख तो धनसे होता ही नहीं है। धन अगर बन गया तो दुःखका कारण ही बन गया। धन सुखका कारण नहीं बनता है और नामवरी, ख्याति ये चीजें भी सुखके लिए नहीं हैं। जिसकी जितनी नामवरी है, ख्याति है, उसको उतने ही अधिक क्लेश हो गये हैं। क्योंकि कोई अचानक बात बिगड़ जानेपर वह नामवरी वाला पुरुष अपने आपकी हत्या भी कर सकता है। अब इस दुनियामें क्या मुंह दिखायेगा? जिसने अपनी ख्याति सारी दुनियामें कर ली हो, वह यही सब कुछ

सोच करके अपनी हत्या तक भी कर डालता है।

भैया! एक बात ऐसी बनारसकी सुनी भी गयी। एक बहुत बड़े पंडित थे, वृद्ध हो गये, बड़ा अनुभव था, फिर भी वे रातों रात दीया जलाकर याद करते रहते थे। पुस्तकें ही पढ़ा करते थे। तो कुछ लोगोंने आकर पूछा कि पंडित जी, आप तो इतने बड़े विद्वान् हैं कि आपकी विद्वत्ताका यश आस-पास सभी जगह फैला है, तुम्हें और क्या चाहिए, जो तुम अभी तक रात-दिन पढ़ा करते हो। तो पंडितजी बोले कि देखो यदि विद्याको हम ताजी न बनाये रखें और किसीसे हमारा शास्त्रार्थ हो जाये और हम हार जायें तो कुवेंमें गिरनेके सिवाय और कोई चारा नहीं होगा। अपनी विद्वत्ताकी छाप इस नगरमें लिए हूं, अगर किसी समय शास्त्रार्थमें हार जायें तो जिन्दा कैसे रह सकते हैं? कुछ दिन बाद हुआ भी ऐसा ही। एक नवयुवक विद्वान्ने, छोटी ही उम्र वालेने शास्त्रार्थ किया। किसी एक बातका उत्तर देनेमें पंडित जी चूक गये याने पंडित जी हार गये तो दूसरे दिन फिर उनका शरीर नहीं मिला। उन्होंने कुवेंमें गिरकर अपनी हत्या कर ली।

कीर्ति व धनसे क्या सुख है? सुख किसी भी परवस्त्वमें नहीं है। सुख तो मोह दूर करनेसे है। मोह दूर करो और खूब सुखी हो लो। सुखी होनेका उपाय मोहका नाश कर लेना है। पर वह मोह मिटे कैसे? तो मोह मिटानेका उपाय वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान कर लेना है। कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तुमें कुछ नहीं लाती है। प्रत्येक वस्तु अपने-अपने सत्में है, वह अपने आपमें ही अपना अस्तित्व बनाये है। किसीके सत्त्वके कारण किसी दूसरे पदार्थ में सत्त्व नहीं है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका रक्षक नहीं है। सब हैं और परिणमते हैं। इसके आगे किसी पदार्थका किसी अन्यसे कोई ताल्लुक नहीं है, ऐसा वस्तुस्वरूप यदि हम देखें और उन पदार्थोंका निर्णय करें तो बहुतसी आपत्तियां अपने आप शांत हो जावेंगी। आपत्तियां तो मोहसे प्रकट होती हैं। मोह नष्ट हो तो आपत्तियां भी नष्ट होंगी। इस कारण तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर करके भी यदि हमने आत्मस्वरूपका यथार्थज्ञान पा लिया है तो वह तन, मन, धन, वचन क्या चीजें हैं? अगर दूसरोंके उपकारमें लग गये तो भला है। सो सब कुछ न्योछावर करके भी अपना आत्मज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। इस आत्मज्ञानसे ही आनन्दकी प्राप्ति होगी। जितने भी धर्मकार्य किए जाते हैं या व्रत, संयम किये जाते हैं वे सब अपने आपकी आत्मामें रमण करनेके लिए किये जाते हैं। ऐसा जो नहीं करते वे इस संसारमें रुलते फिरते हैं।

वर्णीवं नूतनं लोके तत्त्वतस्तत्त्वबोधनम्।
स्ववृत्तिर्यत्र तत्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-३७॥

इस लोकमें नया दिन किसे बतलाते हैं ? जो सालका पहला दिन हो । जैसे—१ जनवरी, उसे नया दिन बोलते हैं या हिन्दीके महीनोंमें कार्तिक सुदी एकमको व चैत्र सुदी एकमको नया दिन कहते हैं । तो लोक व्यवहारमें सालके प्रथम दिनको नया दिन कहते हैं । मगर हमारा और तुम्हारा नया दिन कौनसा है ? जिस क्षण तत्त्वज्ञान होता है वही अपना नया दिन है और वह तत्त्वज्ञान क्या चीज है कि अपने आपको अपने आपमें समझ हो जाना यही तत्त्वज्ञान है । नया दिनके मायने हैं कि कुछ अपूर्व बात मिले और अपूर्व बात तो यही है कि ऐसा ज्ञान जगे कि जिसमें मोहका ध्वंस हो जाये ।

इस जीवको विपत्ति केवल मोह है और कुछ विपत्ति नहीं है । सब अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए हैं, सभी पदार्थ अपने आपमें परिणमते हैं । किसी पदार्थसे किसी दूसरे पदार्थ में कोई गुण पर्याय प्रभाव, असर कुछ नहीं आता है । पदार्थ ही स्वयं परका निमित्त पाकर अपना विभावरूप असर अपने प्रति बना डालता है । सब मामला ठीक है, सब बात व्यवस्थित है, सब है, हम हैं, सब न्यारी-न्यारी बातें हैं, लेकिन ऐसा भाव हो जाना कि यह मेरा है, ऐसा परिणाम जागना, ज्ञान करना, यह बहुत मलिनताका परिणाम है । पर पर ही है, उसको मानना कि यह मेरा है, यह मलिनताका परिणाम है, अज्ञानमय भाव है । यह परिणाम मिट जाये और ज्ञानका उजेला जग जाय, वही अपना नया दिन है और बाकी तो सब वही कीचड़ है, वही प्रसंग है, वैसा ही रुलना है, उसमें कोई सारकी बात नहीं है । सो अपने आपका ज्ञान हो और ज्ञानमय स्वरूपको देखनेका उपयोग हो तो वह अपने कल्याणकी बात है । सो इसका यत्न क्या है ? पदार्थोंके स्वरूप सीमाको देखना । यह है तत्त्वज्ञानका यत्न ।

पदार्थ कितना होता है, यह ध्यानमें हो तो वस्तुस्वरूप उपयोगमें आता है । एक वस्तुसे दूसरी वस्तु पृथक् है, भिन्न है, यह बात तब समझमें आयेगी जब वस्तुकी स्वरूपसीमा नजर आवे कि पुद्गल परमाणु इतना होता है वह गुणमें ही रहता है । इस ही प्रकार स्वरूपसीमा ज्ञानमें रहे तो वहां मोहका विकल्प नहीं होता है । क्या मेरा है ? वे भिन्न हैं । मृत्यु हो गयी तब तो कुछ पता नहीं कि मरकर कहां पहुंचें, किस जगह जायें तो इतनी जिन्दगीमें, इतनेसे जीवनमें परपदार्थोंके साथ सम्पर्क बनाकर, सम्बंध बढ़ाकर अपने आपको सदा के लिए दुःखके गर्तमें डाले रहना चाहते हो । वस्तुकी स्वरूपसीमाको देखो । यह स्वरूपसीमा उपयोगमें अच्छी तरह आ सकती है । यह भी तो एक ज्ञेयतत्त्व है । जैसे इन पदार्थोंके जानने की कोशिश करते हैं तो ये पदार्थ जाननेमें आते हैं । इन पदार्थोंकी स्वरूपसीमाको जाननेका यत्न किया जाय तो क्या यह जाननेमें नहीं आ सकेगा ? यह रुचिकी बात है ।

भैया ! जीवमें तो बड़ी सामर्थ्य है, कुछ भी कर डाले, भला कर डाले, बुरा कर

डाले, सिद्ध बन जाये, निगोद बन जाये, पशु-पक्षी बन जाये। सामर्थ्य तो इसमें विचित्र है। बस एक रुचि चाहिए। सब रुचिके परिणाम हैं। तत्त्वमें रुचि हो, ज्ञानमें रुचि हो तो वह संकटकालमें सिद्ध बन जायेगा। और पर्यायकी रुचि हो, बाह्य वस्तुओंको विषयभूत बनाकर अपने आपके विभावमें रुचि हो तो संसारमें भ्रमण करता रहेगा। सब रुचिका परिणाम है। जैसी रुचि हो तैसा अपनेको बना लो। इस जीवमें सामर्थ्य बहुत है। एक मनुष्य है और वह निगाद मानो बन गया, प्रदेश आकार भी बदल गया, भाव भी बदल गया, गति भी बदल गयी, इस प्रकारकी रचना हो जाना यह क्या सामर्थ्यंकी बात नहीं है? अपनी शक्तिको पतनकी ओर लगा दो, पर सामर्थ्य बिना तो निगोद नहीं हो सकता है। खोटी योग्यता बनाई या अच्छी योग्यता बनाई। जो मनुष्य संयम करके सिद्ध हो जाते हैं वह भी एक सामर्थ्यका फल है। जिसने अपना विकास किया तो उसने सामर्थ्यंसे ही अपना विकास किया। तो सामर्थ्य तो जीवमें पूर्ण है। बस रुचिकी बात है। जैसी रुचि करो तैसी अपनी दृष्टि बना लो। तो अपना चिंतन कैसे हो जिससे कि हम बाहरी पदार्थोंके चिंतनसे छूटें। इन बातोंको कहते हैं कि—

स्वयं यत्कर्तुमायाति तत्कृतो न विपत्क्वचित्।
अन्यथा क्लेशता तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-३८॥

जिस समय स्वयं जो कुछ करनेको आता है वह आवे, उसके करनेमें कहीं विपत्ति नहीं अर्थात् विपत्तियाँ सम्यक् श्रद्धाके विपरीत कार्य करनेमें होती हैं। विपत्तियाँ अपने आप ही होती हैं। एक काम करनेके बाबतमें इच्छा उत्पन्न की और उस इच्छाके साथ ही उस कार्यमें जुट गये तो इससे तो विपत्तियाँ हैं, क्योंकि इच्छा ही विपत्ति है। इच्छा की और संकटोंमें पड़ गये। तो जो स्वयं अपने आप करनेमें आता है आवे। उसके करनेमें कोई विपत्ति नहीं है। परन्तु जो इच्छा करके, हठ करके बाह्य पदार्थोंमें झुककर जो बात आ जाती है उसमें विपत्ति है। जो ये संन्यासी अपनी समाधिमें धर्मसाधनामें लग रहे हैं, इस स्थितिमें भी कितने ही रागद्वेष उस आत्माके अन्दर चलते रहते हैं, मगर वह अबुद्धि पूर्वक है। जो बुद्धि पूर्वक परिणमन चलाता हो, उसके कारण इसमें विपत्तियाँ होती हैं।

भैया! जो स्वयं करनेमें आवे तो आओ, उससे विपत्तियाँ नहीं हैं। किन्तु जो होता है, निमित्तनैमित्तिक भाव है, उस जातिका कर्म विपाक है और आत्मबुद्धिमें उस प्रकारका विभाव परिणाम हो, किन्तु उपयोग तो शुद्ध तत्त्वके ध्यानमें है, ज्ञानस्वभावके ज्ञानमें है। तो वह परिणमन इसको दुःखी नहीं करता। इसको तो जानकारीमें ही वह कषाय नहीं आया या उसके ज्ञानमें रागद्वेष नहीं आये तो इसका बिगाड़ करेगा ही क्या? स्वभावके मेरेमें

देखो, विपत्तियाँ नहीं हैं। विपत्तियाँ तो हम अपने स्वयं अपने अज्ञानसे अपने आपपर मोल ले ली हैं। विपत्तियाँ कुछ नहीं हैं। परपदार्थोंसे जो बोलेगा वह फंस जायगा। किसीने स्नेह को थोड़ी भी प्रवृत्ति की तो बंध गया। हम जब अपने ज्ञानस्वभावसे हटकर इन बाहरी बातों में लगते हैं तो हम सबको क्लेश ही क्लेश होते हैं। दूसरा हमें कौन दुःखी करता है?

यह ज्ञान अमृत है ऐसा मनमें निर्णय करो कि मुझे जब भी दुःख होते हैं तो मेरे ही अपराधसे होते हैं। दूसरेके कहनेसे, दूसरेके कसूरसे, दूसरेकी मूर्खतासे या दूसरेकी किसी प्रकारकी परिणतिसे हमें दुःख नहीं होते। जब भी मुझे दुःख होते हैं, अपने ही कसूरसे होते हैं। सबसे पहिले देखो तो दुःख बात सुननेसे है।

इन्होंने ऐसा क्यों कह दिया? अब देखो व्यर्थकी चीज है, वह मलीन है। जो कहता है, बोलता है, वह कम्पन भी इसमें नहीं है। मगर पर्यायबुद्धि तो है। दस जनोंमें अपने इस पर्यायका महत्त्व तो रखना चाहता है। अपनी आत्माका महत्त्व नहीं रखना चाहता, किन्तु इस पर्यायसे लोगोंके बीच महत्त्व रखना चाहता है। सो जो महत्त्वाकांक्षा है, वह नाना विपत्तियोंको बना देती है। बड़ेसे बड़े उपसर्ग हों, शत्रु शस्त्रसे छेद दे, सिंह शरीरको छेद दे, अचानक ही कठिनसे कठिन विपत्तियाँ आ जाती हैं। क्या उन सब विपत्तियोंसे भी बहुत अधिक बड़ा उपसर्ग है, जिसमें हम इतना अधिक घबड़ाते हैं? नहीं।

हम अपने आपमें बसें और बाहरी जितनी बातें होती हैं, उनकी हम उपेक्षा करें तो ऐसा अपने आप होने वाली बातोंमें कोई विपत्ति नहीं। जैसे बरसातके दिनोंमें जब कि एड़ी तक कीचड़ रहती है, वहाँ जब चलते हैं तो चलनेमें सदा अपने आपको सावधान बनाए रखते हैं। यदि जरा भी असावधानी की ओर पैर जरा भी सरका तो वह सरकता चला जायेगा और इस कीचड़में गिर पड़ेंगे। इसी तरह जब हमें ज्ञानसे हटना है, अज्ञान और कषायोंमें लगना है तो जरा भी हटे और जरा भी विकल्पोंमें लगे तो वह लगना बढ़ता जाता है। उससे हम मुक्ति नहीं पा सकते हैं। इस कारण ऐसा ही ध्यान बने कि स्वयं अपने आप जो होता है, सो हो। बुद्धिपूर्वक हमें कुछ नहीं करना है। क्योंकि कुछ भी करनेसे हमको लाभ नहीं। सो कुछ करनेका विकल्प हटायें और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवें।

संयमेन नरा धीरो गंभीरः शल्यनिर्गतः।
संयमः स्वस्थितिस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१-३६॥

संयमसे मनुष्य धीर होता है। संयमसे मनुष्य गम्भीर होता है, निःशल्य होता है और सुखी होता है। आत्मामें भली प्रकारसे स्थित हो जानेको संयम कहते हैं। इसका नाम संयम है और इस संयमके लायक हम बने रहें। ऐसी प्रवृत्ति करनेका नाम भी संयम है।

शुद्ध खाना, विषयोंका त्याग करना, परिग्रहका त्याग करना, अनशन करना, तपस्या करना, ये सब संयम होते हैं। इन सभी प्रवृत्तियोंमें रहने वाले लोग अपने अन्तरंग संयमका पालन कर सकनेकी योग्यता रख सकते हैं। जो विषयासक्त हैं, कषायमें लीन हैं, मांसभक्षी हैं, मद्य-पायी हैं, अन्टसन्ट इधर उधर बोला करते हैं, ऐसे जन क्या आत्मामें स्थिर होनेका यत्न कर सकते हैं? नहीं कर सकते। इस कारण वे सब संयम कहलाते हैं, जिनमें सभी परपरिणतियों से हटकर हम अपने शुद्ध चारित्रके पात्र रह सकें। सो ऐसा संयम जब होता है तब मनुष्य धीर होता है। अधीर तब होता है जब कोई क्षोभ हो। क्षोभ कब होता है? क्षोभ जब होता है, जब अपना कोई कषाय बढ़ाया जाय। विषय कषाय कब बढ़ते हैं? जब सत्यस्वरूपके उपयोगमें न रहे और उससे हट गये तो विषयकषाय बढ़ते हैं। तो धीर बननेका श्रेय संयम से है।

संयमी पुरुष धीरवान् होता है और अधीरतासे कोई संयमी बातें करे तो वैसे भी व्यवहारमें शोभा नहीं देता है। धीर कहते हैं कि 'धीं बुद्धि राति ददाति इति धीरः।' जो बुद्धि दे, उसे धीर कहते हैं। समता हो, संयम हो तो इस प्रवृत्तिसे वृद्धि बढ़ती है, क्षोभ नहीं होता। संयमसे मनुष्य धीर बनता है और गम्भीर बनता है। गम्भीर कहते हैं गहरे और अथाहको। दूसरेने कोई प्रतिकूल बात कही तो भी उसे क्षमा कर दिया, हृदय ऐसा ही गहरा होता है।

ये जगत्के जीव हैं, परिणमते है, ये ज्ञानरूप भी परिणमते हैं, विरोध भी किया करते हैं या हो जाता है। इसमें मेरी कोई हानि नहीं है। उसके भी ज्ञाताद्रष्टा रह सकें, ऐसी गम्भीरता संयमसे पैदा होती है और यदि विवेक साथ नहीं दे रहा है तो बाह्यसंयमसे तो क्रोध दूना बढ़ जाता है। कषाय दूनी बढ़ सकती है।

भैया! यदि विवेक मदद नहीं देता तो द्वीपायन मुनिकी तरह हाल हो जाता है। उनको तैजस ऋद्धि नहीं प्राप्त हो सकती है। चाहे अशुभ ही क्यों न हो? शुभ तैजस और अशुभ तैजस ऋद्धिके ये दो भेद हैं। कोई कषाय बढ़ जाय, विवेक न रहे तो उस ऋद्धिका फूटना अशुभमें होता है। सिद्धि तैजसकी है, चाहे अशुभरूपसे फैलाये चाहे शुभरूपसे। जिसमें विवेक है, संयम है, सत्यसमता है ऐसा मनुष्य गम्भीर ही रहता है। संयम जिसके है उसके शल्य नहीं है। संयम उसके ही होता है जिसके बराबर अपने ज्ञानस्वरूपका स्मरण होता है। जिसके कारण वह अपने ज्ञानस्वरूपमें स्थित रह सकता है। ऐसा ही मनुष्य तो शल्यरहित होता है। शल्य क्या है? तीन प्रकारके हैं—(१) माया, (२) मिथ्या और (३) निदान। मायामें है छल, कपट। मायाचार क्या है? कहना कुछ और सोचना कुछ।

मायाचार व्यर्थ है । सोच तो रहे हैं कि दूसरेका बुरा हो, वह मिट जाये, पर दूसरे के लिए भला होता है । मायावी लोग ऊपरसे तो भली-भली बातें करते हैं, पर सोचते हैं कि वह मिट जायें । व्यवहारमें भी घरमें, समाजमें व्यर्थकी बातें बोलते हैं और सोचते कुछ तृष्णा की बातें हैं । ज्ञानी पुरुष ऐसे मायाचारसे दूर रहता है । उसको तो यह खबर है कि मुझे दुनियामें अन्य बात कुछ करने लायक भी नहीं है और न कुछ बढ़ाकर जाना है, सब कुछ यहींपर रह जायेगा । जितने भी पदार्थ हैं सब मिटने वाले हैं । सब यहींके यहीं रहते हैं । हम सबको सब कुछ छोड़कर जाना ही होगा । यहांका कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है । फिर किसके संचयके लिए, किस-किसकी वृद्धिके लिए मायाचार किया जावे ? मायाचार करने वाला शल्यमें रहता है । घरमें मित्रने अथवा किसीने कुछ बोल दिया, किसीने कुछ कह दिया सो अन्दरसे छल-कपटकी वृत्ति मनमें रहती है तो वह धर्मध्यानका पात्र नहीं बन पाता है । अपनी करनी अपनेको पता रहती है । दुनिया जाने न जाने । अपनेको विदित रहता है कि खोटी करनीकी है, धोखेकी बात की है तो वह सब उपयोगमें है तो उसको शल्य रहा करता है ।

दूसरा शल्य है मिथ्यात्व । अनेक धनिक जनोंको देखो, कितनी शल्य है कि अरे अब तो यह लाखों करोड़ोंका धन छूट जायेगा । अब तो लाखों नये-नये कानून बन रहे हैं, पता नहीं क्या होगा ? अनेकों बातें चित्तमें आती हैं । यह क्या है ? यह सब मिथ्याशल्यके कारण दुःख है । सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र अपने आपको देख लो कि मैं तो इतना ही हूं । इससे आगे मैं कुछ नहीं हूं, मेरा कुछ नहीं है, ऐसा अपने आपका अनुभव कर ले तो किसी भी स्थितिमें अपनेको दुःखी नहीं पावोगे, शल्यसहित नहीं पावोगे । दुखी सुखी तो लोक ही है, सम्यग्दृष्टिके भी दुःख सुख रहता है, पर वह सम्यग्दृष्टि उनमें विह्वल नहीं होता । दुःखी होना और बात है और विह्वल होना और बात है । वह तीव्र दुःखकी बात है । मिथ्यात्व एक शल्य है । वस्तुका जिसने सत्य स्वरूप नहीं समझा और अमुक पदार्थका अमुक मालिक है, अमुकका अमुक अधिकारी है उसका यह है, इसका मैं हूं, इस तरहका जब विश्वास रहा तो शल्य रहता है, क्योंकि पदार्थ तो उसका है नहीं । वह तो अपने परिणामसे परिणम गया । उनकी तो हम कोई जिम्मेदारी नहीं रख पाते । पर सोच रखा है जिम्मेदार, सोच रखा है अधिकारी तो वे आपकी इच्छाके अनुसार नहीं चलते तो दुःखी होना पड़ता है ।

जहां सत्य ज्ञान है कि ये तो सब निराले हैं, मेरी इच्छाके अनुसार नहीं परिणमते हैं तो ठीक ही बात है । स्वभाव ही वस्तुका ऐसा है कि वे अपनी-अपनी विधिविधानसहित बातोंमें रहा करते हैं । इसका वह दुःख नहीं मानता है । देखा होगा कि अविवेकियोंको स्त्री

पर, पुत्र पर जरा-जरासी बातोंमें क्रोध आता है, क्योंकि यह जानता है कि हम इनके मालिक हैं, ये हमारे अण्डरमें हैं। जैसा हम चाहें वैसा इन्हें करना पड़ेगा। सो उन बेचारोंको करना ही पड़ता है, पर सब बातें कैसे हो सकती हैं ? पदार्थ तो भिन्न-भिन्न हैं सो कोई और प्रकार का परिणमन करता है और कोई और प्रकारका परिणमन करता है। दुनियामें बहुतसे पुत्र हैं, बहुतसे लोग हैं, बहुतसी स्त्रियां हैं। उनकी करतूत पर उनकी परिणतिसे कभी क्षोभ नहीं होता है। जब चित्तमें यह बैठ जाता है कि मैं इनका मालिक हूं तो सिवाय दुःखके और कुछ हाथ नहीं लगता। क्लेश ही उसके बोझमें आते है। जब सम्यग्ज्ञान होता है तब ये मिथ्यात्व शल्य आदि नही रहते है। सम्यग्दृष्टि पुरुष मिथ्यात्वसे रहित होता है।

तीसरा शल्य है निदान। निदानमें आगामी कालके लिए वाछा बने सो निदान है। ज्ञानी जानता है कि समस्त पदार्थ जुदे हैं। जब जो चीज परिणमना है परिणमती है। उनका मैं कुछ हेर-फेर नहीं करता, उनका मैं परिणमन नही करता और फिर ये बाह्यपदार्थ सब मिलकर भी मेरे सामने स्थित हों तो भी उन बाह्यपदार्थोंसे मेरेमें कुछ नही आता है। मैं हूं और अपने आपमें आप बन गया। ज्ञानीके निदान शल्य नहीं होता। धर्म करो, मगर अच्छा भव पाऊँ, इतना संचय करूँ—ये बातें चित्तमें न लावो। वह तो समय पर छोड़ देना है कि जैसा जो कुछ उदय है तैसा समागम होगा। हमारे सोचनेसे कुछ नही होगा। कौन प्रायः ऐसा नही चाहता है कि मैं कुबेर बन जाऊँ और यत्न करते हैं और होता क्या है ? तो ज्ञानी पुरुष वह है कि धनको भी हेय दृष्टिसे देखे, तुच्छताकी दृष्टिसे देखे।

भैया ! जीवका धन है संयम, जीवका धन है ज्ञान और जीवका धन है श्रद्धा। जिसके कारण यह जीव सदाके लिए क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है। मैं धनकी दृष्टि करूँ तो उसको तुच्छ दृष्टिसे देखूं। मैं तो केवल ज्ञाता द्रष्टा रहूं। ये जगत्के लोग जो नाम चाहते हैं, जो लोकमें अपनेको अच्छा कहलवाना चाहते है वे स्वयं दुःखी हैं। उनके कर्म मलीन हैं, पापमय हैं, मोहमय हैं। संसार भावमें लगे हुए है। ये कोई ईश्वर नही है जो मेरेको कुछ डरा दें, कुछ कर दें और ईश्वर भी हो तो मेरा कुछ परिणम नहीं कर सकते। मैं स्वयं जैसा सोच लेता हूं वैसा ही बन जाता हूं। सो कोई बाह्य पदार्थ मेरे हितरूप नहीं हैं, इसलिए किसी भी पदार्थका निदान न हो। ज्ञानी वह सुखी रहता है जिसके किसी भी परपदार्थका निदान नहीं होता है। संयम और है क्या ? अपने आत्मामें स्थित हो जाना बस यही संयम है। इस संयम भावका आदर करके और जितने अपने आपमें यत्न बन सकते हैं उन समस्त यत्नोंको करके मैं अपने आपमें स्थित रहूं, अपने सर्व वैभवको देखता रहूं कि यह मैं हूं और क्या परिणम रहा हूं। इसके आगे यह अमूर्त ज्ञान ज्योतिमात्र मैं आत्मा कुछ भी नहीं करता

हूं ? सोचता हूं, जानता हूं, इतना ही तो मेरा काम हो रहा है। इससे आगे और मेरी कोई करतूत नहीं है। सो बाह्यविकल्पोंको त्यागकर, अपने ज्ञान और आनन्दस्वरूपको देखकर अपने में ही स्थित रहूं, और अपनेमें अपने लिये अपने आप सुखी होऊं।

यावद्दूरं कषायेभ्यस्तावात्धीरः सुखी बुधः।
आकषायः स्ववृत्यातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४०॥

जितना कषायोंसे दूर रहो, उतनी ही शांति है। मोक्षमार्ग प्रकाशमें बहुत वर्णन करते करते यह लिखा है कि कषायोंकी कैसी स्थिति है और लिखा है कि यदि सुखी होना है तो कषाय न हों। कषायोंका स्वरूप ही विह्वलता लिए हुए है, झंझट लिए हुए है। कषायोंसे दूर होनेके लिए अन्तरङ्गमें ज्ञानरूप बहुत यत्न करनेकी जरूरत है। यों तो साधारण तथा सब कही सुनी बातें तो हैं ही। सब कहते ही हैं, पर उन बातोंसे अपना ही व्यवहार बने याने अपनेमें कषाय न उत्पन्न हों, इसलिए ज्ञानरूप भारी पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता है। तभी मनुष्य कषायों पर विजय प्राप्त कर सकता है।

भैया ! जब सबसे तेज कषाय होता है तो वहां यह रहता है कि मैं चारके बीचमे हूँ, ठीक हूं इत्यादि। इस प्रकारके कषाय, ये सबसे अन्तमें विनष्ट होते हैं। वे क्रोध भी छोड़ सकें, माया भी छोड़ सकें, मनमें गर्व करना व माया, लोभ इत्यादि जिसे कहते हैं आकांक्षा करना, उसे भी छोड़ दें, इसलिए इस तरह जो तरङ्ग उत्पन्न हो, मनमें उसे छोड़ दें तो धर्म का मार्ग सुगम है, नहीं तो बहुतसे नियम हो गये। धर्मके नामपर बहुतसे जलसे भी हो गये, पर भीतरमें पर्यायकी कामनाके विभाव नहीं कम हुए हैं तो यहां कुछ भी असर नहीं होता।

जो कल्याणार्थी पुरुष हैं, उनका कल्याणार्थ यह ही एक मार्ग है कि बाहरके सब जंजालोंसे हटकर अलग होकर कल्याणमय ज्ञानसुधासागरमें डुबकी लगायें। जैसे यमुना नदी मे कछुवे बहुत रहते हैं। कछुवे कभी-कभी अपने शौकसे पानीसे बाहर मुंह निकालकर तैरते चले जाते है। जब वे कछुवे तैरते चले जाते हैं तो उन कछुवों पर हमला करनेके लिए पक्षी ऊपर मँडराया करते हैं। तो जब कछुवेके ऊपर बहुतसे पक्षी मंडराकर आ गये चोंच मारनेके लिए तो कछुवोंको उनसे बचनेके लिए केवल एक ही काम करना है कि वे कछुवे पानीमें डुबकी लगा लें। जहां ४ इंच पानीमें डुबकी लगा ली तो उनके सारेके सारे उपद्रव समाप्त हो गये। इसी तरह बहिर्मुखतामें बड़े संकट हैं और मूल संकट बहिर्मुखता ही है। बाहरी चीजोंमें कोई संकट नहीं है। बाहरी पदार्थोंसे आत्मामें कोई बात नहीं आती। आत्मा ही अपना ख्याल बनाता और उसके अनुकूल ही अपने संक्लेश करता है। पर बाहरसे देखो तो बड़े संकट हैं, परिवारसे अपना उपयोग लगाये हैं, इधर-उधर भागते हैं, व्यापारमें, रोजगार

में परेशान हैं, समाजमें, देशमें अपना उपयोग लगाये हैं और दुःखी होते हैं। संकट तो इस जीवपर बहुत पड़ रहे हैं। पर इस आत्माको तो केवल एक काम करना है, फिर सारे संकट विफल हो जायेंगे। उसे काम केवल यह करना है कि अपना जो सहज स्वरूप है अर्थात् जिस स्वरूपके कारण अपने आप जैसी हमारी परिस्थिति हो सकती है, बस उस परिस्थितिमें आ जायें याने इसका काम है केवल जाननमात्र होना। उसमें और कुछ विशेष ऐसी स्थिति यदि बन सकती है तो वे सारेके सारे संकट विफल हो जाते हैं।

आत्महितके इस बड़े कामको करनेके लिए हमें बहुत बड़ा ख्याल करना चाहिए। यह चीज तो कहीं भी बैठे हों, लेटे हों, एकान्तमें हो, कुछ मनन कर रहे हों तो भी हो सकती है। नहीं तो मनुष्य हैं, सब बातें अच्छी हो रही हैं। पशुओंकी अपेक्षा, पक्षियोंकी अपेक्षा, जंगली जीवोंकी अपेक्षा बहुत बातें तो ठीक चल रही है, पर परिणाम हमारा उत्तम न हो, मोहसे हटे हुए न हों, अपने स्वभावकी पहिचान न हो और कषायोंके परिणाम ही रहें, बहिर्मुख दृष्टि ही रहे तो हमें इस मनुष्यभवको पाकर भी कुछ अच्छा परिणाम न मिला।

भैया ! मरकर यदि कहीं कीड़े मकोड़े बन गये तो मनुष्यभव पाकर भी क्या लाभ पाया ? अपने आपमें विचार करो कि यदि मरकर असञ्ज्ञी पर्याय बन गए तो क्या होगा ? तो फिर कुछ बड़प्पन रहा क्या ? जिसने जब चाहा तब पेड़ काट डाला, जब चाहा पक्षियों को उड़ा दिया, जब चाहा तब जङ्गली जानवरोंका शिकार कर लिया।

भैया ! जरा जरासी बातोंमें क्रोध कर लिया, कषाय कर लिया, झगड़ा कर लिया। भिन्न-भिन्न भाव कर लेनेसे अपना भला नहीं। दूसरा कैसा ही दुःखी हो, पर अपना स्वार्थ सिद्ध होना चाहिए। ऐसी बातें होती है तो वे इसके लिए सब अनिष्टकी बातें हैं। हम तो हम हैं, हम ज्ञानमात्र हैं। समस्त द्रव्योंके बीच रहकर भी उन उन स्वरूपमें मैं नहीं हूं, उनमें मुझे नहीं रहना, आगे भी उनमें नहीं रहना है। किसी भी स्थितिमें रहें, यह ऐसा हमें ध्यान करना है और इसका सीधा उपाय है कि श्रद्धा सच्ची बने, उसमें कषाय न हों।

भैया ! इतना ही काम करना है। जैसा भी हो, अपनी श्रद्धा बनाऊँ और कषाय न करूँ। यह ज्ञान कर सकूं, तो कुछ अच्छा रहे और भीतरमें यह काम न कर सके, तो जैसे रबड़ तानी जाती है तो किसी तादाद तक ही, किसी सीमा तक ही तन सकती है, नहीं तो टूट जायगी। इसी तरह हम ज्ञानकी परिणतिमें शौक शान बनाकर ज्ञानमार्गमें, त्यागमार्गमें, कुछ सज्जन कहलानेके मार्गमें, कुछ समझ पर व्यवहारकी बोल-चालको बनाये रहें और भीतरमें कुछ परिणति ऐसी कर सकें कि कषाय न कर सकें और अपनी श्रद्धाको हम बना सकें तो लोग भले ही समझें कि बहुत अच्छा है, विद्वान् है, सद्व्यवहारी है या न भी समझें,

पर आने भीतरमें ऐसे ही भाव बनाने हैं।

भैया ! जैसा हम भीतरमें कर रहे हैं, उसीके अनुसार हमारा भविष्य होता है। दूसरोंके अनुसार हमारा भविष्य नही है। तो जितना हम कषायोंसे दूर रह सकें, उतनी ही शांति है, उतना ही आनन्द है। आनन्द शब्दकी व्याख्या है कि आत्मामें सर्वसमृद्धि उत्पन्न हो। इन्द्रियजन्य जो विषय मिल गया, उससे सुख मानने लगे तो यह गन्दी परिणति है। आनन्दकी परिणति नही है, क्योंकि उसमें समृद्धिकी बात तो दूर रही उसमें हानि ही हानि बढ़ती है। वे पुरुष धन्य है जिनको किसी चीजकी आवश्यकता नहीं, केवल एक चद्दरमें ही रहने वाले पुरुष हैं, जिस पुरुषका उपयोग ऐसा है कि विषय कषायोंके उपभोगसे दूर रहने वाला है वह पुरुष धन्य है। वह दूसरोंके लिए धन्य नहीं है, बस इतनी तरक्कीके लिए वह धन्य है। सबसे बडी तरक्की उसकी यही है कि वह वर्तमानमें असंक्लिष्ट रहे, संकटरहित रहे, बस यही उसकी तरक्की है। एक कथानक है कि एक देश ऐसा था जिसमें यह परम्परा थी कि किसीको एक सालके लिए राष्ट्रपति बना दिया जाता था और फिर एक सालके बाद मे जंगलमें छोड दिया जाता था। तो जैसे साल भरके लिए राजा बना दिया जाये और फिर उसे जंगलमें छोड़ दिया जाये तो फिर उसकी दुर्गति है। इसी प्रकार हम मनुष्य हैं अच्छा भव है। अगर भीतरमे, पर्यायमें आत्मत्वके विकल्प होते रहे, जो हमारा ज्ञानमात्र स्वरूप है, सामान्य वृत्तिरूपसे अपना उपयोग न बन सका अर्थात् सब विभावोंको यदि हम विच्छिन्न न कर सके और मरकर कही असंज्ञी बन गये तो फिर कोनसी बुद्धिमानी की ? उस राजाके यदि ऐसी बुद्धिमानी आ जाय कि साल भर केवल राज्य करना है फिर नहीं करना है, फिर तो जंगलमे ही रहना पड़ेगा। तो जंगलमें रहनेकी सारी व्यवस्था बना ले, खेती वगैराका इंत-जाम कर ले तो अच्छा है। क्योंकि एक सालके राज्यमें वह सब कुछ कर सकता है। तो जितना ज्ञानबल चाहो उतना ज्ञानबल बना लो, ऐसा यदि अपना पुरुषार्थ बना लो तो वह तुम्हारे काम आयेगा। बाकी जितने भी कुटुम्ब परिवार इत्यादिके व्यवहार हैं, वे सब मेरे साथ नही जा सकते हैं।

भैया ! सोच लो, मेरे साथमें तो अपना ज्ञान बल अगर दृढ़ कर सके तो वह रहेगा, मेरे काममें आयेगा। ज्ञानबलके बिना कुछ नहीं काममें आयेगा। ज्ञानबलमें भी कोई बोलने वाला, जानने वाला या जिसके व्यवहारमें अपना बल है वह ज्ञानबल नहीं, किन्तु यह ज्ञान-मय है आत्मा ज्ञानस्वरूप ऐसा जब ज्ञानमें आ जाये और उस ज्ञानोपयोगके कारण विलक्षण आनन्दका अनुभव करते रहें, ऐसा जो ज्ञानप्रकाश है वह ज्ञानबल इतना रह सके तो हम सुखी रह सकते हैं। यदि इतने ज्ञानबलकी अनुभूति हमने पा ली तो ऐसे स्मरणके कारण,

अपनेमें आनन्दके अनुभवके स्मरणके कारण हम निराकुल रह सकते हैं। यदि निश्चयतः आनन्दका अनुभव आ जाये तो उन कषायोंको छोड़ सकते हैं। और वह अनुभव एकके आधीन है। केवल इसके आधीन है, अपने आपके स्वरूपकी ओर झुकना, जानना। यदि अपने आपकी ओर यह झुके तो उसे आनन्द प्राप्त हो सकता है। यदि यह ज्ञानबल हो सकता है तो यही इसका सहायक होगा।

जगत्की कीर्ति, जगत्के यश आदि इन सब कषायोंसे दूर रह सकें, इतना धैर्य हमें ज्ञानबलसे ही प्राप्त हो सकता है। इस ज्ञानबलसे ही धीरता उत्पन्न हो सकती है। इन्हीं कषायोंसे तो अधीरताकी ज्वाला जलती है, जिसके कारण कषाय बढ़ते है। यदि कषाय हों तो धीरता अपने आप नष्ट हो जायेगी, आनन्द अपने आप नष्ट हो जाता है। कषायरहित स्वभाव होनेपर आनन्द अपने आप प्राप्त होगा और धैर्य अपने आप बढ़ेगा। यदि कषायरहित वृत्ति न बनी और ऐसा मनमे बना रहा कि हम चार लड़कों वाले है, स्त्री वाले हैं, फलां कुल वाले है तो इससे आकुलता ही बनी रहेगी।

परतत्त्वको अपना मान लेनेसे इस प्रकारकी क्रिया चलती है और अपने आत्मस्वरूपमें, ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानवृत्तिकी क्रिया चलती है। यहां लोग यह सोचते हैं कि मैं इतने लडकोंका बाप हूं, मुझे लड़कोंके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए। क्योंकि लोग यह श्रद्धा रखते हैं कि मैं इनका बाप हूं, और लड़के यह श्रद्धा रखते हैं कि मैं इनका लड़का हूं, मेरा तो अब यह बाप है, इसलिए वे चिंता करने लग जाते है, जिससे कषाय बढ़ाते जाते हैं।

भैया! जब कोई किताब लेकर, किसीके पास पढ़ने जाता है तो उसके यह भाव होते हैं कि हम पढ़ने जा रहे है, विद्या पढनेका काम करने जा रहे हैं, इसलिए कुछ क्रोध कम हो जाता है और विषय वासनायें कम रहती हैं और कुछ काम वासनायें भी कम रहती हैं। जैसे गांधी जी के आजादीके आन्दोलनके समयमें चरखेसे सूत काता जाता था। कोई कहे कि चरखेसे सूत कातनेमें क्या लाभ? पर अतमें उस चरखेसे सूत कातनेमें स्वराज्य मिला। चरखेसे सूत कातनेमें यह हो गया कि सूतसे बने भावोंसे मनुष्यके दिमागकी व्यवस्था हो गयी, लोगोंमें, रईसीका अहकार समाप्त हो गया। अच्छे हो भाव बननेकी वजहसे स्वराज्य प्राप्त हो गया। देखो, चरखेसे सूत कातनेकी वजहसे ही स्वराज्य मिल गया।

भैया! इसी प्रकार जब वे विद्या पढ़ने गये, तो अंदरसे विद्या पढ़नेके भाव हुए, तो ऐसे भावोंसे ही उनमें कुछ न कुछ अन्तर आ जायेगा, कषायोंमें मंदता आ जायेगी, विषय वासनाओंमें मंदता आ जायेगी। यदि हम सहज शुद्ध स्वरूपको सोचकर उसीमें अपनी वृत्ति बढ़ा लें, तब विषय कषायोंमें मंदता आ जायेगी। भैया! सब कुछ अपने आप पर ही निर्भर

है। अपना उत्थान पतन अपने ही ऊपर निर्भर है। सबसे पहली बात यह है कि अपने आप की श्रद्धाका अभ्यास करके उसको मजबूत बनाना है। इसीसे अपना आत्मकल्याण संभव है।

रागद्वेषोदयस्तस्मिन्नवहं का कृपा कृता।
स्ववृत्तिः स्वदया तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४१॥

रागद्वेषका उदय हुआ और उसने बह गये, तो हमने क्या कृपा की? अपनी हमने क्या दया की? परन्तु जगत्के जीवोंका यह हाल हो रहा है कि उनमें रागद्वेष होते हैं, क्लेश होते हैं, परन्तु मरनेके समय तक भी विवेक नहीं आता है। इन विकारोंको हटाने, विकारोंसे दूर रहने, विकारोंको निष्फल कर देनेकी यही विधि है कि यह ख्याल रहे कि यह विकार, कर्मोंके उदयसे होता है और यह निकल जायेगा। जो भी वर्तमानमें विकार हो रहे हैं, उन पर यदि हम ध्यान रख सकें कि ये विकार कर्मोंके उदयसे होते हैं, और ये निकल जायेंगे, यदि यह ध्यान रहे तो विकारोंमें फंसाव नहीं हो सकता है।

भैया! विकारोंमें फंसाव कब होता है? जब यह परको अपना स्वरूप मानने लगता है तब विकारोंमें फंसाव होता है। जो कि घर हमारा है, जो वैभव हमारा है, जो कुटुम्ब हमारा है, उसके बारेमें ये कल्पनायें नहीं उठती कि वे मिट जायेंगे। जितनी सरलतासे दूसरों के बारेमें कल्पनायें हो जाती हैं वैसे अपने बारेमें नहीं हो पाती है।

भैया! देखो मोहका ऊधम दूसरोंमें दोष है, यह बात बड़ी जल्दी समझमें आ जाती है और अपने बारेमें नहीं समझमें आती है। अभी छोटे बच्चोंको कुछ खोटी बात कह दो कि तू ऐसा है, तो झट वह कह देगा कि हट तू ही ऐसा होगा, तूने ऐसा किया है। यह बच्चा उसकी बातको रिटायर्ड कर देता है। यही सबसे बड़ा झंझट है कि यह मेरी निन्दा करने वाला है, मेरी आलोचना करने वाला है, मेरी बुराई करता है, पर अपने दोष नहीं देखते है। दूसरोंके दोष तो सुगमतासे दिख जाते हैं। यह प्राकृतिकता है कि मोही जीव निन्दा करने वाले, बुराई करने वाले लौर आलोचना करने वाले होते है। दूसरोंकी निन्दा करना, आलोचना करना, बुराई करना यह एक महान् ऐब इस जीवको लगा है। उसमें जीव तरक्की नही कर सकता है।

भैया! बड़े पुरुषोंको क्या कहीं निन्दा करते देखा है? जो लौकिक विद्या पढ़े हुए प्रोफेसर, डाक्टर, वैज्ञानिक आदि हैं, जिन लोगोंका दिमाग कभी फुरसतमें नहीं रहता है, वे दूसरोंको बुराई करना, निन्दा करना क्या जानें। भैया, इस स्वच्छ हृदय पर दूसरोंकी बुराई क्यों जम गयी? इसलिए कि हमें अपने वचनोंमें उलझना पड़े, हममें यही सबसे बड़ा ऐब है।

किसी पुरुषको जैसे कोई बड़ी चोट लग जाय, शारीरिक ही नहीं, किसी भी तरहकी

हो। वह चोटको जैसे तैसे गुपचुप रहकर सहन कर लेता है और किसी भी प्रकारसे काम कर लेता है। इसी तरह इस जगत्‌में कर्मविपत्तिकी और रागद्वेषकी बड़ी चोट लगी हुई है। हमें गुपचुप रहकर, शांत रहकर अपने क्लेशोंको दूर करनेका उपाय निकाल लेना चाहिए। दूसरोंसे मुझे क्या पड़ी है ? इस समय रागद्वेषका उदय है, यदि हम उसमें बह गये और अयोग्य काम किया तो हमने अपनेपर क्या दया की ? हमने अपने आपको तो गड्ढेमें ही डाल लिया। अपनी दया तो यह है कि हम खुदमें रमें, दूसरोंमें न रमें।

अपने आपमें रहना कितने तरीकोंसे हो सकता है ? उसके प्रीक्टियस तरीके अनेक हैं—जैसे सबसे पहले वस्तुविज्ञान देखो, यही सबसे पहला तरीका है। अपने आपमें रमनेकी तैयारीमें सबसे पहला उद्योग, वस्तुका ज्ञान करना है। यह वस्तु क्या है ? आत्माकी तो अभी बात छोड़ो। यहाँ पहली बात कह रहे हैं, इसमें उत्सुकता रहनी चाहिए।

किसी भी पदार्थके बारेमें उक्त ज्ञान करनेके लिए पहले पदार्थोंका ज्ञान करो और फिर अपना ज्ञान करो। क्योंकि उस लक्ष्यमें स्थिरताका ज्ञान रहना है। आत्मा आत्माको ग्रहण करती है। इसका यह अर्थ है कि वह ज्ञातामात्र रहता है। केवल जाननहार रहना ही आत्माका ग्रहण है, आत्माका कल्याण करना है, यही सबसे सर्वोत्तम बात है।

देखो भैया ! बिना प्रयोजनके भ्रमकी बात लग बैठी है, जिससे कुछ मतलब नहीं है, कोई बात नहीं है, कुछ मिलता नहीं है। यदि कुछ फायदा मिलता है तो क्या मिलता है ? लोभकी वृत्ति मिलती है। अपने कुटुम्बके द्वारा देख लो कि बच्चों और स्त्रीसे अनुराग करते हैं, तो क्या मिलता है ? लाभ क्या गाँठमें रह जाता है, क्या चीज रह जाती है ? केवल क्षोभ और आकुलतायें रह जाती हैं। पहले अनुराग किया, बोले-चाले और किसी बातपर झगड़ा हो गया तो बस विषाद करने लग गए। यह हर घरमें होता है। उस परिणामके अंतमें मिलता क्या है ? केवल क्षोभके अलावा कुछ नहीं मिलता है। अभी यह कहें कि भैया ! इन तुम्हारे बच्चोंसे तुमको कोई लाभ तो मिलता नहीं है, केवल क्षोभ मिलता है।

भैया ! वह तो जहाँ मोह लगा है, जहाँ व्यर्थका राग लगा है, बस वह ही इसका है। कहो भैया, तनिक देर हम ही को समझ लो, जितना भिन्न वह है उतने ही तो भिन्न हम हैं और चाहे हम आपकी आकुलताओंमें विशेष कारण न बनें, पर घरके बच्चोंको ही वे मानेंगे। वह लड़का चाहे चपटी नाकका हो, चाहे छोटे कानका हो, चाहे धँसी हुई आँखोंका हो, पर कहें कि भैया ! यह दूसरा लड़का सुन्दर है, इससे राग करो तो वह उससे राग न करेगा। वह लड़का कितना ही ठीक हो, पर उससे वह प्रेम नहीं करेगा। बतलाओ कि मोह क्या है ? राग करनेसे अंतमें क्या मिलता है ? अंतमें बस यहीं मिलता है कि उसे छोड़ना पड़ेगा।

हैरान होकर छोड़नेसे तो यह अच्छा है कि विवेकपूर्वक छोड़ो। आखिर परेशान होकर छोड़ना ही पड़ेगा। जीवनभर यदि चल भी जाय, तो अंतमें छोड़ना ही पड़ेगा।

भैया! किसीके घरमे कोई मर जाय और उसके यहाँ जाते हैं, जिसे कहते हैं फेरा करना। तो चित्तमें यह रहता है कि यह मर गया। लोकमें दूसरे भी तो मरा करते हैं। ऐसे ही यह मर गया। इसमें अचरजकी क्या बात है? मित्र समझाते भी हैं, मगर थोड़ा बहुत क्या, यह भी ख्याल होता है कि मेरे कुटुम्बके लोग भी तो इसी तरहसे मर जावेंगे। इस तरहकी बात अपने लिए नहीं उत्पन्न होती। रागद्वेषका उदय हो, उसमें हम बह गए तो बतलाओ कि हमने अपने पर क्या दया की? हमारी दया तो स्ववृत्ति ही है। अपने आपमें रम जाना है। सो यह मैं अपने आपमें रमकर अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

बंधिका किन्न चेष्टेयं चेष्टेयं किन्न बंधिका।
स्थित्वा ह्यचेष्टिते भावे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४२॥

चेष्टा तो सम्मुख आती है, उद्योग तो हमारे सामने रहता है, परिणाम तो मेरे सामने रहता है। उस चेष्टाके प्रति यह भावना करो कि क्या वह चेष्टा बंध करने वाली नहीं है। चेष्टाका अपने आपमें उदय होता है, पर ऐसा सोच लो कि वह चेष्टा क्या बंध करने वाली नहीं है? क्या यह परिणाम खोटे कर्मोंका बंध न कर देगा कि मरकर गधा और सूकर आदि होना पड़ेगा। क्या यह चेष्टा बंध करने वाली नहीं है? क्या ये रागद्वेषभाव कर्मोंका बंध कर देने वाले नहीं है?

अपने विकारोंके प्रति, चेष्टाके प्रति ऐसा विचार बार-बार उठना चाहिए—क्या यह चेष्टा बंध नहीं करती? ऐसा सोचनेसे चेष्टासे अनुराग न रहेगा। अपने ही घरमें रहने वाले किसी जीवके प्रति अहितकारिताका भाव हो जाये कि यह तो बड़ा चालाक है, यह मुझे नीचा दिखाना चाहता है। किसी तरहका विरोधीभाव नजर आ जाये तो उससे राग नहीं रहता। इसी तरह अपने आपमे जो परिणाम विकार चेष्टा आदि हो रहे हैं वे असलियतमें समझमें आ जाये कि ये खराब कर देनेके लिए हैं तो उन परिणामोंसे भी उपेक्षा हो जायेगी। अपने विकारोंसे उपेक्षा हो जाना ही कल्याणका मार्ग है।

भैया! करो जिसको जो करना हो, जहाँ जो होता हो। पर अपने रामको तो मजा केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेमें है। यह चेष्टा क्या बंध नहीं करती? जिस परिस्थितिका ज्ञातापन हो, द्रष्टापन हो उस परिस्थितिके अनुकूल उत्तर आता है। किसी ज्ञातृत्वमें तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान दोनोंका कोर्स है और किसी ज्ञानमे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र

तीनोंका कोर्स है। जब अपनी चेष्टामें अपनेको उपेक्षा हो जाये तो अचेष्ट परिणामोंमें ठहरना बन जाये। सो निष्क्रिय स्वतंत्र, निश्चल निष्काम जो परिणाम है वह सहज स्वाधीन है, अचल है, काम, क्रोध आदि भावोंसे रहित है, ऐसे चेष्टारहित स्वरूपमें मग्न होना चाहिये।

बड़े-बड़े लौकिक लोग भी यह चाहते है कि जो मेरे मनमें आये वह उस वक्त ही हो जाना चाहिए, और इसीमें अपनी शेखी मारते हैं कि जब जो चाहा उसी वक्त हमारा काम हुआ। हमारा उदय उत्तम है, पुण्य है क्योंकि जो चाहा वह तुरन्त हो गया। वह तुरन्त होना ही चाहिए इस प्रकारका परिणाम है तो उसमें पर्यायबुद्धिकी बात है, वह हितके लिए नहीं है, भलेके लिए नहीं है। जैसे कभी इच्छा हो गयी कि अब पापड़ खाना है घरमें कह दिया। अगर देर होती है तो अपना अपमान समझते हैं कि देर क्यों हुई ? सो उसका क्षोभ होता है। जो चाहा वह तुरन्त होना चाहिए—ऐसी मनमें आकांक्षा रहती है, सो घरके लोगों पर जल्दी क्षोभ हो जाता है और बाहरके लोगोंसे चाहे महीनों तक न हो तो भी धैर्य बना रहता है। फिर उद्योग करो, फिर मिलेगा उसमें धैर्य रहता है। और घरके लोगोंमें बात न मानी जाये, काम तुरन्त न हो जाये तो झट अधीर हो जाते हैं।

प्रश्न—उस अधीरताका कारण क्या है ? उत्तर—स्वामित्व बुद्धि। इनके हम मालिक हैं, ये मेरे आश्रित हैं और इन्होने हमारी उपेक्षा की है, सो इस आशयमें वह अधीरता हो जाती है। अधीरता वहाँ होती है जहाँ विवेक नहीं रहता है। जहाँ विवेक होता है वहाँ धीरता रहती है। सो अपने ही विकार परिणामोंके प्रति यह चिन्तन किया जावे कि क्या यह परिणाम बंध करने वाला नहीं है ? क्या मुझे आकुलतावोंमें ले जाने वाला नहीं है ? ये मुझे बरबाद करनेके लिए ही पैदा हुए हैं ना ? ऐसी बातें विकारके प्रति, परिणामके प्रति विचारकर चलना चाहो, विकारोंसे हटकर अचेष्ट निज भावोंमें उतरना बन जाये तो वहां ही अपनेको अपनेमें अपने लिए अपने आप सुख हो सकता है।

दुःखं द्वन्द्वश्च संतापो विपत्तृष्णाऽन्ययोगतः।
एकेऽनिष्टं न किञ्चिद्धि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–४३॥

दुःख, द्वन्द्व, संताप, विपत्ति, तृष्णा—ये अन्यके सम्बन्धसे होते है। केवल एकमें कोई अनिष्ट नहीं। जहाँ अन्यसे सम्बंध है वहाँ दुःख है। जहाँ अन्यसे सम्बंध है वहाँ द्वन्द्व है, जहाँ अन्यसे सम्बंध है वहाँ संताप है। जहाँ प्रकृति है वहाँ तृष्णा है। अभी कोई देहाती आदमी है, बेचारा रोटी भाजी खाकर खुश रहता है और किसी कारणसे कहीं शहर वाला उस देहाती पर नाराज हो जाये या उसको कुछ बड़ा दंड देना चाहे, उसका बुरा करना चाहे तो सबसे बुरा जो किया जा सकता है वह यह है कि उसे या तो कुछ अच्छी मिठाई खिला

दे, फिर वह जिन्दगी भरको दुःखी हो जायेगा।

एक हजामत बनाने वाला एक सेठकी हजामत बना रहा था। सो एक दो जगह उस्तरा लग गया। दाढ़ीमें खून आ गया। सेठने सोचा कि इसे दंड देना चाहिए। इसने दो जगह छुरा मारा। सो उसने क्या दंड दिया कि उसको दो रुपये दिये। सेठ बोला—भाई तुमने बहुत अच्छी हजामत बनायी देखो दो जगह छुरा मारकर तुमने हमारी तबियत ठीक कर दी। हम अब ठीक हो गये। दो जगह लगनेसे मैंने तुम्हें दो रुपये दिये। यह बड़ा खुश हुआ। इसके बाद किसी बाबू साहबकी हजामत बनायी। सोचा, वैसा ही काम करना चाहिए जिससे दो रुपये मिलें। उसने बाबू साहबके भी दो जगह छुरा लगा दिया, उसने उठकर १०-५ जूते लगाये। कहा—अरे बाबू जी यह क्या कर रहे हो? हमारा हिसाब तो सही है। हमारा हिसाब तो गलत नहीं है। अभी-अभी सेठजी की हजामत बनाकर आया, उनके दो छुरे मारे तो उन्होने दो रुपये दिये। बाबू साहब हमारा हिसाब तो सही है। सो किसीसे अगर दुश्मनी निकालनी हो तो उसको कुछ विषयोंका स्वाद चखा दो। उन विषयोंके वश वह जीवन भर दुःखी रहेगा। और अगर उसके एक दो लाठी मारो तो क्या है? वह तो ५ मिनटमे ठीक हो जायेगा। जितना दुःख है, द्वन्द्व है, संताप है, विपदा है, तृष्णा है वे सब अन्यके सम्बंधसे होते हैं।

किसी जंगलमें एक ही घर हो, एक ही कुटुम्ब हो, अपनी खेती करके खुश हो और जब वहीं पर पचासों घर बस जाते हैं तब फिर कोई पंचायत स्थापित की जाती है, कुछ सभा सोसायटियाँ होने लगती हैं। कुछ कुटुम्ब और बस जाते हैं तब फिर वहाँ सम्मान अपमानका सवाल हो जाता है। जब केवल एक ही था तब आनन्द था। किसीके एक ही लड़का है तो खुश है। उसका दिमाग १० जगह नही है और अगर चार लड़के हो गये तो कषाय सबमें है ही, तो वे चारों लड़के बड़े होनेपर आपसमें लड़ेंगे कि नही? अगर अकेला रह जाये तो वहाँ संतोष रहता है। जहाँ चार हो गये और बड़े हो गये तो भले ही छोटी अवस्थामें उन भाइयोंमें प्रेम हो, एक दूसरेको गोद लिया करता हो, अगर किसी दूसरेने मार दिया, पीट पिया तो क्यों मेरे भाईको मारा? इस तरहसे भाईका पक्ष करते और जब वे बड़े हो जायेंगे, कोई २० वर्षका हो गया, कोई २५ वर्षका हो गया, कोई ३० वर्षका हो गया तो आपसमें धन-दौलतके पीछे, लड़कों बच्चोंके पीछे लड़ते हैं और अगर एक लड़का हो तो कोई विपत्ति नहीं, कोई कलह नहीं। तो यह आत्मा केवल एक ही रहे, अकेला ही रहे तो वहाँ कोई विपत्ति ही नहीं है जहाँ अन्यसे सम्बंध होता है वहाँ तो विपत्तियाँ हैं। एकमें कोई अनिष्ट नहीं है। इस कारणसे मैं एक निजमें ही रमकर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं

सुखी होऊं।

कषायविषयत्यागे स्वास्थ्यमन्तर्बहिर्द्वयम्।
तत्यागो ज्ञानमात्रं हि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४४॥

कषाय और विषयोंके त्यागमें अंतरंगमें भी स्वास्थ्य रहता है और बहिरंगमें भी स्वास्थ्य रहता है। जो बहुत ही दुबले पतले होते हैं उनको कहते हैं कि इनमें गुस्सा भरा है। इस गुस्सेके कारण ही वह मोटा नहीं हुआ। किसीमें मान मायाकी मात्रा ज्यादा हो तो वह भी मौजमें नहीं लग सकता। चित्तमें भ्रम हो जाय, दिमाग दसों जगह लगे और किसीकी बात न सुने तो स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता, यह उसकी परिस्थिति हो जाती है। लाभ तृष्णा रहे तो जो पासमें है उसका भी आनन्द नहीं ले सकता है। किसीके पास एक लाख रुपयेकी जायदाद है और कहीं जायदादमें से दो हजारका नुक्सान हो गया तो ९८ हजार पासमें हैं, मगर उसकी दृष्टिमें तो केवल दो हजार ही हैं, जिनका नुक्सान हो गया है। हाय दो हजारका नुक्सान हो गया, इस तरहसे रोनेके कारण वह ९८ हजारका आनन्द नहीं लूट पाता है। उसके लोभ तृष्णा ऐसी है जिसकी वजहसे जो मिल गया है उसका भी उसे आनंद नहीं मिलता है। जो नहीं मिला उसकी तो मौज ही क्या लूटेगा? जो पासमें है उसका तो आनन्द लूट नहीं पाता है।

कषायोंका और विषयोंका त्याग हो जाये तो अंतरंगका स्वास्थ्य ठीक रहे और बहिरंगका भी ठीक रहे तो कषाय और विषयोंका त्याग है क्या चीज? ज्ञानमात्र रह जाना, केवल ज्ञानस्वरूप रह जाना यही कषायका और विषयोंका त्याग है। कषायोंका त्याग करना, इसका अर्थ क्या है कि ज्ञाता द्रष्टा रहना, ज्ञानमात्र रहना—यह इसका अर्थ है। मेरा त्याग यही है ज्ञाता द्रष्टा रह जाना। ममता छोड़ी जाती है क्या? ज्ञानमात्र हो जाये, केवल ज्ञाता रह जाये, इसीके मायने हैं ममताका त्याग।

वस्त्र मलीन हो गये, मैले हो गये तो कोई कहे कि भैया, मैल निकाल दो तो इसका दूसरा अर्थ है कि यह कपड़ा जिस स्वभावका है वैसा बना दो। यह तो मैल निकालकर दिख भी जायेगा। लो वह मैल है, बड़ा मैला पानी है, देखो कितना मैल निकला? क्योंकि वह मैल भी एक पौद्गलिक संचय है और कपड़ा भी एक पौद्गलिक पदार्थ है। यहाँ मैल क्या बतावेंगे? कषायोंका, विषयोंका विकल्प और क्या बताया जा सकता है? विषय कषायोंका त्याग करो, इसका अर्थ क्या है कि ज्ञानमात्र रहें। केवल देखन जाननहार रहें तो। सब छूट जावेंगे। बुद्धिमान् जो पुरुष होते हैं, गृहस्थ होते हैं उनमें झगड़ा निपटानेकी बड़ी अमोघ कला रहती है। घर गृहस्थीका कोई झगड़ा होवे वे उन झगड़ोंको महत्त्व नहीं देते हैं। वे

उन झगड़ोंकी उपेक्षा कर देते हैं, ज्ञाता बन जाते हैं। इनकी जब कषाय कम होगी तब होगी। तो यह उपेक्षा भाव और ऐसा ज्ञाता द्रष्टापना, झगड़ोंमें कमसे कम बोलना, यह झगड़ा निबटानेका बड़ा ही विलक्षण उपाय है।

सास बहूका झगड़ा हो, जेठ जेठानीमें झगड़ा हो और उनके बीचमें कोई पुरुष ज्यादा बोले, ज्यादा अपमान करे तो उनके झगड़ेका निबटारा करनेमें पहिले तो झगड़ा बढ़ेगा, निबटारा नहीं होगा। ज्यों-ज्यों निबटानेको यत्न किया जायेगा त्यों-त्यों झगड़ा बढ़ेगा और निबटानेका यत्न न करें और उन्हींकी बातोंको देखते जायें तो अपने आप ही वे दोनों अपना झगड़ा बन्द कर सकती हैं। और न कर पावें तो अंतमें उनके लिए लाभदायक है और उनकी शान्तिके कारण बन जायेंगे। और ज्यादा बढ़नेसे उनका कोर्स निकल जायेगा। यह बात तो कह ही रहे हैं। अभी भोजन करनेमें भोजन बनाने वालीको अगर रोज-रोज नाम धरें इसने यह किया, इसने यह किया तो बनाने वाली पर असर नहीं पड़ता। समझेगी कि ये तो रोज ही ऐसा कहते हैं। तो किसीके बीचमें पड़ना अच्छी चीज नहीं।

सभ्य सभ्य लोगोंकी गोष्ठीमें जो खेलते हों तो उनके बीचमें नहीं पड़ते। दो हँसते हों, मंत्रणा करते हों, फिर भी उनके बीचमें नहीं पड़ते। बस जहाँ द्वितीय पर दृष्टि है, द्वैत पर दृष्टि है वहाँ ही स्वास्थ्य बिगड़ गया। अपने कषाय और विषयोंका त्याग हो जाये तो अंतरंग स्वास्थ्य अच्छा रहे और बहिरंग स्वास्थ्य भी अच्छा रहे, क्योंकि उन विषय कषायों का त्याग क्या कहलाता है? ज्ञानमात्र रह जाना। यही उनका स्वास्थ्य है। सो मैं ज्ञानमात्र रहता हुआ अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

परैः शरणमान्यत्वं नाशोऽशरणमान्यता।
सुखं स्वः शरणं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४५॥

लोकमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपने-अपने स्वरूपको ही लिए हुए हैं। सबमें ६ साधारण गुण हैं, जिनके कारण सभी पदार्थोंमें यह व्यवस्था बनी है कि वे हैं और अपनेमें परिणमते रहते हैं। यह व्यवस्था पदार्थोंमें पदार्थोंके स्वरूपकृत है। विकारभावोंके लिए परपदार्थ निमित्त हैं। तिसपर भी परिणमने वाले पदार्थ परिणमते हैं। अपनी परिणतिसे वह विकार निमित्त बिना नहीं हो सकता। निमित्तका सान्निध्य है फिर भी होता है उस ही अकेलेमें। सारे पदार्थोंकी ऐसी ही व्यवस्था है कि वे हैं और परिणमते रहते हैं। इस कारण कोई भी जीव किसी दूसरे जीवका परिणमन नहीं करता। कोई जीव किसीकी रक्षा करने वाला नहीं है। ऐसी स्थितिमें यदि यह बुद्धि रखी जाये कि मेरे लिए तो भैया शरण है, पिता शरण है, अमुक मित्र शरण है, ऐसी बहिर्मुखी दृष्टि होती है तो इस दृष्टिमें वह अपना

विनाश कर रहा है। दूसरोंसे अपनेको शरण हो जायगी, ऐसी मान्यतामें उसने अपना तो घर छोड़ दिया, अपनी तो कोई मान्यता रही नहीं। स्वयं तो शून्य बन गये, उसकी रक्षा तो स्वयंकी ही थी, ऐसी दशामें उसकी स्थिति अपनेको छोड़कर बाहरमें भ्रमण करने लगी। इस स्थितिमें वह दु:खी रहता है।

भैया! सबसे बड़ा दुःख है पराधीनताका। एक पद है—'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' श्रद्धामें अपना सत्व पराधीन है, ऐसी बात यदि आती है तो उसको कभी शांति नहीं मिल सकती। दूसरोंके द्वारा मुझे मदद होगी, वे मेरेको शरण होंगे, ऐसी श्रद्धाको मान्यता हो तो उसमें अपना विनाश ही है। दूसरे मेरेको शरण नहीं हैं। मेरा शरण मेरे ही स्वभाव से होता है, ऐसी मान्यता करनेमें सुख और शांति है। जगत्में सबसे दुर्लभ चीज है तो सम्यग्ज्ञान है। भूधरदास जी कविने भी कहा है कि "धन, कन, कंचन राज सुख, सबहि सुलभ कर जान। दुर्लभ है संसारमें एक यथार्थ ज्ञान।" सब चीजें सुलभ हैं; धन, वैभव, राजसुख इत्यादि सभी समागम हो जावेंगे, कल्पनामें ऐसा लावो कि सारे जगत्का वैभव भी यदि मेरे निकट है तो भी उन समस्त जगत्के पदार्थोंसे इसकी परिणति क्या हो जायेगी? कहांसे आनन्द हो जायेगा? जो जैसा है अपनेमें उस योग्य, वैसी ही यह अपनी बात उगलेगा।

भैया! कई लोग क्रोधी स्वभावके होते हैं तो उनको जरा-जरासी बातोंमें क्रोध आता है। कोई नौकर है, काम करता है तो जरा-जरासी बातोंमें भी नौकर पर क्रोध आता है। सोचता है कि यह बड़ा खराब है इसको निकाल दो, दूसरा रखेंगे। दूसरा रखा तो उस दूसरे के प्रति भी क्रोध आने लगा तो झुंझला जाता है। फिर अपने आपमें निश्चय करता है कि मैं अब नौकर नहीं रखूंगा। सब काम अपने हाथसे करूंगा। अपने हाथसे काम करते हुएमें भी गुस्सा आता रहता है। जिसमें गुस्सा आनेकी प्रकृति है वह किन्हीं साधनोंमें हो वह तो क्रोध ही उगलेगा, और जिसके ज्ञानवृत्तिकी प्रकृति है वह किन्हीं साधनोंमें रहे, वह ज्ञानका ही विकास करेगा, ज्ञानका ही उपयोग करेगा। ये सब बातें तो अपने आपकी स्थिति और योग्यता पर निर्भर हैं। दूसरे मेरी शरण नहीं, हो ही नहीं सकते। वह अपना परिणमन करेगा या मेरा परिणमन कर देगा।

भैया! समझाने वाले लाखों हैं, मगर समझने वाला समझना ही नहीं चाहता तो वे क्या करेंगे? एक कथानक है कि एक अपने गाँवका मुखिया था। किसी सभामें पंच लोगों की बैठक हुई। कोई बात ऐसी चल उठी, कहा कि ४० और ४० कितने होते हैं? तो वह मुखिया बोला कि ४० और ४० मिलकर ६० होते हैं। तर्क होने लगा। ४० और ४० मिलकर ८० होते हैं। कहा—नहीं, ४० और ४० मिलकर ६० होते हैं। लोगोंने बहुत

कहा—४० और ४० मिलकर ६० नहीं होते। तब मुखियाने कहा—अगर ४० और ४० मिलकर ८० हो जायें तो हमारे घरमें चार पांच भैंस हैं जो पांच-पांच, सात-सात सेर दूध देती हैं। वे सब भैंसें हम पंचायतको दे देंगे। कहा—४० और ४० मिलकर ६० होते हैं, ८० नहीं होते। सब बड़े खुश हो गये, सोचा अब तो भैंसें मिलेंगी। सबने सोचा कि अब तो बच्चे खूब दूध पीवेंगे, कसरत करेंगे। कहा—बहुत ठीक। यह बात स्त्रीने भी सुन ली। घर पहुचे तो देखा स्त्री बड़ी उदास, मुखिया बोलता है कि तुम उदास क्यों हो? कहती है कि तुमने बोला है कि ४० और ४० मिलकर ८० होते हैं। यदि ४० और ४० मिलकर ६० न होते हों तो हम सब भैंस दे देंगे। तो अब तो ये बच्चे भूखों मरेंगे। मुखिया बोलता है कि तू तो बड़ी भोली है, अरे ४० और ४० मिलकर अगर ८० होते हों तभी तो भैंसें जावेंगी। हमने यही तो कहा कि ४० और ४० मिलकर ६० होते हैं। यदि ६० न होते हों तभी तो हमने भैंसें देनेको कहा। जब हम मुखसे बोल दें कि ४० और ४० मिलकर ८० होते हैं तभी भैंस जावेंगी।

भैया! स्वयं ही सारे पदार्थ सत् हैं। जब तक यह स्वतन्त्रता अवगत न होगी तब तक तृप्ति और शांति तो प्राप्त हो ही नहीं सकती है। क्योंकि इस सम्यग्ज्ञानके भावोंमें तृष्णा कहीं रुक ही नहीं सकती। तृष्णा तो आगे ही आगे बह जावेगी। क्योंकि पदार्थोंका स्वयं सत् तो समझमें आया ही नहीं। कृतकृत्यता तो भ्रममें आ ही नहीं सकती। मेरा जगत् में करनेको कोई काम नहीं पड़ा है, ऐसी दृष्टि आये बिना आत्मा शांत हो ही नहीं सकता। अगर बाह्यपदार्थोंमें से कुछ कर देनेका श्रद्धान् है तो बतलाओ कि विराम कब मिलेगा? यदि कोई पदार्थ परिणम जाए, पर किसी पर दृष्टि न डालें तब शांति प्राप्त हो सकती है।

भैया! अपनी ही पुरानी बातों पर ध्यान करके देख लो कि सभी जो कल्याण चाहने वाले हैं, उन्होंने यह सोचा होगा कि २ वर्ष पहले, ५ वर्ष पहले और ७ वर्ष पहलेका इतना काम बाकी रह गया है, यह भी ४-६ माहमें समाप्त हो जायेगा। फिर कोई काम नहीं रहेगा और आनन्दसे धर्मसाधना करेंगे। इस प्रकारसे प्रायः कई वर्ष पहले भी अनेकोंने सोचा होगा, मगर वह समय निकल गया होगा, बल्कि उससे चौगुना काल भी निकल गया होगा, पर आज अपने आपको ऐसा पा रहे होंगे कि उन व्यतीत हुए वर्षोंकी अपेक्षा हम अब ज्यादा फसे हुए हैं।

भैया! कोई जीव किसीसे बँधा हुआ नहीं है। किसी भी जीवसे किसी जीवका कोई बंधन नहीं है, नाता नहीं है और न ही कोई रिश्ता है। यह मेरा है, ऐसी कोई पहिचान भी नहीं है। यह जीव तो आज इस घरमें है और कल किसी घरमें पहुंच गया। किसी जीवका

किसीसे कोई नाता नहीं है, फिर भी वे श्रद्धामें बन गए हैं, ऐसी बुद्धिका होना एक अन्धकार है। जितनी सेवा और जितना व्यय हम अपने बच्चों पर करते हैं उसका ८वां हिस्सा भी यदि किसी दूसरे बच्चे पर व्यय करें तो वह उस आपके पुत्रसे भी कहीं अधिक आज्ञाकारी होगा और ऐहसान भी मानेगा।

भैया! यह बात कही जा रही है कि कोई व्यवस्था नहीं हो रही है। व्यवस्था तो होगी और उससे भी बढ़कर होगी। चाहे शास्त्रोंमें या भगवानकी परम्परामें कितना ही लिखा हो कि भाई! ममत्व छोड़ो। मगर यहाँ यही हठ रही कि चाहे भगवान कहें, चाहे आचार्य देव कहें, मगर हमारा तो वही काम रहेगा, वही घर रहेगा, वही ममत्व रहेगा और वही पुत्र रहेगा। अब यह हठ छोड़ दो, ऐसी बात नहीं कही जा रही है, मगर भीतरमें प्रकाशको सही संभाल लेनेकी बात कही जा रही है।

राजा भोजके समयकी बात है कि जब कवियों और विद्वानोंको हजारों व लाखों रुपयोंका पुरस्कार दिया जा रहा था, उस समय सब लोग बैठे हुए थे, राजा भी थे और एक विद्वान्का पिता भी बैठा था। यह कोई नियम नहीं है कि विद्वान्का पिता भी विद्वान् ही हो, डाक्टरका पिता डाक्टर ही हो। हमने तो डाक्टरके बापसे इलाज करवाया, डाक्टरकी बात जाने दो, ऐसा नहीं है। तो कोई नियम नहीं है कि विद्वान्का लड़का विद्वान् ही हो। उस विद्वान्का पिता देहाती था। उसको एक समस्या दे दी गयी। राजाने क्या समस्या दी— 'क्व यामः किं कुर्मः हरिण शिशुरेवं विलपति।' कहा कि इस समस्याकी पूर्ति करो। अब वह बेचारा मतलब ही न जाने। लड़का पासमें बैठा था। उस लड़केसे देहाती गंवार बापने कहा कि 'पुरारेवापा' जो राजाने समस्या दी है, श्लोक बोला है, इसको पूरा बना दो।

'पुरारेवापा' इस देहाती वचनको सुनकर जो लोग वहाँ पर थे, मनमें हँसने लगे। तो उस लड़के ने श्लोक बनाया 'पुरा रे वापा' से शुरू करके उसने सीधा श्लोकमें फिट कर दिया ताकि लोग समझें कि यह पिता मूर्ख नहीं है, क्योंकि इन्होंने ही कहा कि इन शब्दोंमें पूरा करके इस श्लोकको बना दो। वह बनाता है—'पुरारेवापारे गिरिरतिदुरारोहशिखरैं, गिरोः सव्येऽसव्ये दवदहनज्वालाव्यतिकरः। धनुःपाणिः पश्चान्मृगयुशतकं धावति भृशम्, क्व यामः किं कुर्मः हरिण शिशुरेव विलपति।' पुरारेवापा, इसके आगे एक रे और लगा देता है। 'पुरारेवापा रे' यों बोला। पुरारेवापा रे—केवल शब्द जुड़नेकी कला है। आगे रेवा नदीके तट पर बहुत पानी पड़ता है और दाहिने और बायें विकट जंगल है, आग जंगलमें लग रही है और पीछे १०० शिकारी धनुषबाण लिए हुए हिरणके पीछे दौड़ लगा रहे हैं, ऐसी स्थिति है। उस स्थितिमें हिरणका बच्चा बोलता है या कवि कहता है—आगे रेवा नदी है। दोनों

और पहाड़में आग लगी है। पीछेसे सौ शिकारी धनुषबाण लिये हुए हिरणके बच्चेके शिकार के लिये दौड़ रहे हैं। ऐसी स्थितिमें हिरणका बच्चा विलाप करता है कि मैं कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ?

भैया! ऐसी ही स्थिति हम आप सबकी है। क्या हुआ कि योग्यता खोटी है, कर्म बंधन साथ है, शरीरका सम्पर्क नहीं छूटता है, बाहरकी ओर दृष्टि बनी रहती है, परसमागम में, इस संयोग वियोगमें अपने अनुकूल प्रतिकूल कल्पनाएँ की जाती है, ऐसी परिस्थितिमें यह आत्मा कहाँ जाये ? क्या करें ? कैसे शांति प्राप्त हो ? उसका कोई मार्ग नहीं।

एक राहगीर था। वह शामके समय भी रास्ता चलने लगा। अंधेरी रात थी, पग-डंडियाँ बहुत ही छोटी थी, मार्ग भूल गया। मील डेढ़ मील चलनेके बाद वह परेशानीमें फंस गया कि कहाँ जाये, किधर जाये, घना जंगल है, वह घबड़ाने लगा। पर बादमें विवेक किया कि घबडावो मत। अब आगे न बढ़ो, तुम मार्ग भूल गय हो तो अपनी भूलको मत बढ़ावो। यहीं ठहर जावो। जो कुछ होगा देखा जायेगा। रात्रिके १०-११ बज गय। अचानक बिजली चमकी, क्षण भरको उजेला हुआ। उसे दिख गया कि वह सामने सड़क है, यहाँसे आधा मील दूर पर। बिजली खत्म हो गयी, प्रकाश नही रहा, अंधेरा ही अँधेरा है, लेकिन उसे बहुत संतोष हो गया। समझमें आ गया कि इतनी हमारी भूल है और हमें उस रास्तेसे जाना है। इतने ज्ञानकी बात आ जानेसे उसको बड़ा सतोष है। हालांकि वह जंगलमें बैठा हुआ है, लेकिन उसे पता हो जानेके कारण उसे संतोष है। उसके धैर्य हो गया—ठीक है, सुबह होने दो, ६ ही घटेकी बात है और सुबह होते ही यह पगडडी उस सड़कसे मिलती है, सड़कपर पहुंचती है। विश्रामसे, आरामसे चलता है और अपने इष्ट स्थानमें पहुंच जाता है।

इसी प्रकारसे हम और आप चलते रहते हैं, यात्रा कर रहे हैं, परिणम रहे हैं, ज्ञान कर रहे हैं, कल्पना कर रहे हैं। इन कल्पनाओंके पैरोंसे चलते हुए हम भूल जाते हैं। उस विषय अटवीमें भूल गये, भ्रमण कर रहे, आकुलताएं हो गयीं, विह्वल हो गये। कुछ थोड़ा विवेक हो तो थोड़ा गम रहे। बाह्यपदार्थोंमें दौड़ लगाकर उनमें ही विश्राम करते कुछ मालूम हो रहा है कि हम भूल रहे हैं, हम विपरीत मार्गमें आ गये हैं। हम अब अपनी भूलको न बढ़ावें, लम्बा न करें तो अचानक कोई ऐसी झलक समझमें आ गयी कि यह विषय वन है, यह भूल बहुत है, इसमें अगर गये, बढ़े तो भूल ही बढ़ेगी, आगे जाना नहीं है, क्योंकि रास्ता खराब है, रास्ता कौनसा जो एकाकी अनुभव किया और समझा, अपनी स्वतंत्रताकी बात। वह कैसा है ? आनन्दस्वरूप है, वही परमपद है, वही रास्ता चलने योग्य है। यह दिख गया एक क्षणकी झलकमें। गम खाते हैं कि मिलेगा वह रास्ता। चल सकेंगे उस रास्ते पर।

सुबह हो, प्रभात हो, ज्ञानविकास कुछ हो, जिसे कहते हैं एक देशचारित्र। कुछ भी चारित्र हो कि उस पगडंडीमें चलना है जिसमें आत्माका अनुभव पुष्ट होने पर कुछ अधिक अवसर मिलता है। फिर राजमार्गपर सड़कपर पहुंच गया। जिसे महाव्रतका पथ कहा है। उससे और आगे बढ़कर इस निर्विकल्पकी अनुभूतिमें चलकर वह अपने परम इष्ट निजपदको प्राप्त कर लेता है।

भैया! दूसरे मुझे शरण हैं, इस भ्रममें जो रहेगा वह अपना जीवन खो देगा। और जो अपनेको अपना ही शरण मानेगा, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप अपना परिणमन बनावेगा। मैं ही अपनेको शरण हूं ऐसी उत्सुकता है, इसलिए अपना प्रयत्न भी करेगा तो उसको शांति मिलेगी, सुख होगा। जैसे कोई पुरुष बापकी बड़ी सेवा करता है याने खूब भोजन देता है और उस पिताकी एक भी बात नहीं मानता है, उल्टी ही बातें करता है और दो चार ऊटपटांग गालियां ही देता है तो बतलावो वह पिताका उपासक है कि नहीं? सच्चे मायनेमें उपासक नहीं हुआ। पिता सही मार्ग बतलाता है तिस पर भी लड़का उल्टा सीधा कहता चला जाता है, पर हाँ इतनी बात है कि भोजनमें वह दुःखी नहीं करता, यों ही हम अपने परमपिता परमात्मदेवकी बड़ी उपासना करें, सज-धजके शृङ्गार के साथ सब कुछ करें, किन्तु प्रभुको जो आज्ञा है उसे न मानें तो क्या उसे भक्त कहा जावेगा?

भैया! सब अपने अपने ही परिणमनमें रत है। कोई कभी किसीकी फिक्र नहीं करता, सब केवल अपना ही परिणमन करते हैं। सोच तो लो, जरा अनुभव तो कर लो, यथार्थ जाननेके लिए उत्सुकता भी नहीं। तो फिर बतलावो कि इस प्रकारसे प्रभुके भक्त कैसे कहला सकते हो? जो सुख और शांति उत्पन्न कर सकनेका उपाय है उस उपायसे नहीं चलते, इतनी मनमें हिम्मत नहीं रखना चाहते कि मुझे अपना कल्याण करना है। परपदार्थोंका संयोग हो जाये, वियोग हो जाये तो भी मेरा कुछ बिगाड़ नहा है, मैं तो परिपूर्ण हूं, सुरक्षित हूं, क्या मैं अधूरा हूं? सो मुझे कोई कुछ बनावेगा या मैं किसीको कुछ बना दूंगा, ऐसा नहीं है। फिर बाहरमें किसकी चिन्ता करते हो? बाहरमें ही अपनी व्यवस्था बना ली है, पर कहीं भी अपना सहारा नहीं मिलता है।

यदि प्रभुकी आज्ञा न मानी और भीतरमें अपने शुद्धस्वरूपका विश्वास न बना सके तो भला बतलावो कि क्या ये घरके लोग आपके सहायक हो जावेंगे? ये परिवार मित्र जन आदि क्या आपके सहायक बन जावेंगे? क्या ये परिवारके लोग व मित्र जन आदि मरनेसे बचा लेंगे? मरना तो एक दिन पड़ेगा ही। मरनेसे क्या कोई रोक देगा? पंडित आशाधर

जी ने एक श्लोकमें कल्पना की है कि श्राद्ध करने वाले लोग पिताके मरनेके बाद श्राद्ध करते हैं और गाय, बछिया, कपड़ा, सोना, चाँदी इत्यादि पंडोंको देते हैं। इस भावसे कि ये मेरे पिताके पास भेज देंगे। तो मरा हुआ पिता मानो कहता है, कविकी कल्पनामें कि 'ऐ पुत्र जनों मरनेके बाद हमें ये चीजें देते हो। अरे जिन्दगी भर तो सुखसे पानी भी नहीं दिया, पर मरनेके बादमें गाय, बछिया, कपड़ा, सोना, चाँदी इत्यादि देते हो, अब ये मेरे किसी कामके नहीं। सोचो तो सही कि क्या कोई सहायक हो जायेगा ? किसपर भरोसा रखो कि बस इनसे मेरा काम बन जायेगा ? अब किसी चीजकी चिन्ता रही तो ऐसा नहीं हो सकता। भाई इस जगत्में अपनेको केवल अपना ही नहीं भरोसा है, कोई दूसरा मददगार नहीं है। यदि खुद भले हैं, खुद अच्छे है तो चार भाई भी सत् कामोंमें मददगार बन सकते हैं। अगर खुद भले नहीं, खुद अच्छे नहीं, खुद बलिष्ट नहीं, खुद धीर बीर नहीं तो दूसरे साधक कैसे बनेंगे ? दूसरोंको अपना शरण न समझो, किन्तु अपने आपका ही भरोसा रखो। वह भरोसा है ज्ञानबलका। सही-सही स्वरूपको समझना ही ज्ञान है। यदि यह बात बनी है तो मेरे लिए मैं शरण हूँ। इससे ही सुख होगा, शाँति होगी। इस कारणसे ऐसा ही अपनेको देख-कर अपनेमें ही तृप्त होकर मैं सुखी होऊं।

दुःखमूलं स्वधीरन्ये न परेऽर्था। परे परे।
स्वच्युतिः सा च स्वस्थोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५–४६॥

दुःखोंका कारण अन्य पदार्थोंमें आत्मबुद्धि होना है। परपदार्थ कोई क्लेशके कारण नहीं है, किन्तु अपने आपमें वस्तुस्वरूपके विपरीत ख्याल बना लें तो उससे दुःख उत्पन्न होता है। परपदार्थ तो पर ही हैं, भिन्न ही है, उनसे मेरेमें कोई परिणमन नहीं आता है, पर हम ही परबुद्धि बनाकर जो अपना ख्याल बनाते है, उस ख्यालसे ही क्लेश उत्पन्न होते हैं। किसी भी प्रकारका दुःख हो, उस दुःखके अनुभवकी जो स्थिति है, वह अपने आपके स्वभाव से च्युत होनेकी स्थिति है।

भैया ! स्वकी ओर जहाँ उपयोग है, वहाँ क्लेश नहीं है। यह बात यद्यपि हम सबकी पूरी तरह गुजरती है और किसी न किसी रूपमें कुछ न कुछ ख्याल बनाकर हम अपने आप को संतोषमें रखते हैं। ठीक है कि दुःख आते हैं, पर एक दृष्टि सही स्वरूपकी बन जाए तो उस दृष्टिके प्रसादसे बाहरसे दुःख होने पर भी अन्दरमें भी दृष्टि कर लेगा और अपने आपमें भी धैर्य बना लेगा कि दुःख रहता है तो कब तक रहेगा ? ऐसा अन्दरसे बल प्रकट होता है। एक सत्य और असत्य स्वरूपकी दृष्टि होनेसे और इस ही कारण अपने आपसे अन्दरमें जो स्वाद आता है, आनन्द होता है, वह एक सत्य आनन्द होता है।

भैया ! बाहरमें दु:ख है । फिर भी भीतर सुख है, ऐसी स्थिति सच्ची दृष्टि रखने वालेकी होती है । जैसे हम किसी कामकी जल्दीकी वजहसे भागे दौड़े जा रहे है और कदाचित् सिरमें कहीं कुछ लग जाय, चोट आ जाए, खून निकल जाए; मगर सुध अन्यत्र लगी है, जल्दीकी वजहसे हम भागे जा रहे हैं, हमें दर्दका ख्याल नही रहता है और जब उस ओरकी सुध हो जाती है तब उसका ख्याल होता है कि यह खून कहाँसे आया ? जिस तरफ दृष्टि लगी है, अनुभव उसका ही होता है ।

भैया ! यदि भ्रमरूप दशामें उल्टा सीधा उपयोग बना हो तो उस उल्टे सीधे उपयोग के बन जानेसे ही दुःख हो जाता है । जैसे एक जगह समयसारमे दृष्टान्त दिया है कि 'एक कमरेमें एक मनुष्य बैठा हुआ ऐसा अनुभव करने लगा जैसे कि अन्य लोग गरुड़का ध्यान करने लगते हैं कि मैं गरुड़ हूं तो ऐसा ध्यान कमरेमें बैठे-बैठे करने लगा कि मैं भैंसा हूँ बहुत मोटा ताजा हूं, बड़े लम्बे-लम्बे सीग हैं । उसे ऐसी एकाग्रताकी भावना है कि उसे यह ध्यान में आ जाए कि इस कमरेका दरवाजा छोटा है, इसमें से मैं कैसे निकलूंगा ?

भैया ! जिस ओर दृष्टि लगी है, उस ओरका ही सारा वातावरण बन जाता है और वैसा ही परिणमन होता है । हम अपनेको मनुष्य समझते है तो मनुष्य जैसा काम करनेकी नौबत आती है । हम अपनेको कई पुत्रोका बाप समझते है कि मै पिता हूं तो बच्चोके साथ भीतरसे अपना पिता जैसा व्यवहार रखना चाहता है । पिता जैसा व्यवहार करनेकी नौबत आती है । यदि अपनेको केवल यह देख सको कि यह मैं एक चैतन्यमात्र एक वस्तु हूं, इस तरह अपने आपको सबसे निराला केवल चेतनाशक्तिमात्र समझ सकता हू तो वे मनुष्यादिक जैसी प्रवृत्ति नही करते, अन्तरङ्गमें ज्ञातादृष्टा रहनेकी प्रवृत्ति कर लेंगे । जैसी आपकी मान्यता है, वैसी ही यहाँसे बात निकलती है । जब भ्रमरूप बाह्य पदार्थोंमे ममत्व करते है, यह मै हूँ, यह मेरा है, इतनी ही बुद्धि होनेमे कारण क्लेश होना तो प्राकृतिक बात है ।

भैया ! क्लेशोंसे मुक्ति पानी है तो वह सम्यग्ज्ञानसे ही पायी जा सकती है । जहाँ ज्ञानशक्ति हो, निजको निज परको पर जाननेकी वृत्ति हो वहां यह आत्मा अपने आपमे स्वस्थ हो सकता है और यह स्वास्थ्य ही शांतिका कारण है । गुरुजी बताते थे कि देखो भाई यह जो संसार है उसे एक अजायब घर समझो । जैसे अजायब घरमे लोगोंको देखनेकी इजाजत हैं, देखते जावो, पर किसी चीजको छूनेकी, उठानेकी कोशिश न करो या किसी भी चीजका प्रयोग करनेकी इजाजत नहीं है । मगर वे बेइजाजतका काम करते हैं तो वे बांधे जाते हैं, दंडित होते हैं । इसी प्रकार यह जो समस्त पदार्थोंका समूह है एक अजायब घर है । इसके देखनेकी इजाजत है, आत्मवस्तुके स्वरूपकी ओरसे केवल देखने जाननेकी इजाजत है । इस

तरहसे पदार्थोंमें राग करनेकी, द्वेष करनेकी या इस तरह आपा माननेकी इजाजत नहीं है। लेकिन जो इजाजतके विरुद्ध बाह्यपदार्थोंमें स्वत्व बताया करते हैं, आत्मीय भाव करते हैं तो वे अपने आप ही बंधनको प्राप्त होते हैं।

वस्तुतः कोई बंधन नही है, पर बंध जाते हैं। जैसे गायको बाँधते हैं लोग गायके गलेको पकड़कर और गिरवाके एक छोरसे दोनों छोरोंको बाँध देते हैं। गायका गला सुरक्षित है, गायके गलेको गिरवेसे नहीं बाँधा जाता है। किन्तु गिरवेका एक छोर दूसरे छोरसे बाँध देते हैं। ऐसी स्थितिमें ही ये जगत्के जीव पंचेन्द्रियोंमें ही बँधे रहते हैं और उन्हींमें ही विहार किया करते हैं। जैसे गिरवेसे गायका गला नहीं बँधा है वैसे ही यह जीव कर्मोंकी उपाधिसे तिरोहित हो गया है। पर साक्षात् बंधन नहीं हैं। साक्षात् बंधन तो पुद्गलका पुद्गलसे है। जैसे निमित्तनैमित्तिक भावोंके कारण गाय बंधनको प्राप्त है, इसी प्रकार यहाँ भी इन कर्मोंका कर्मोंसे बंधन है, मूर्तसे मूर्तका बंधन है। परंतु ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि कर्मों की उपाधिके बीच रहने वाला यह जीव बंधा हुआ होता है, बंध जाता है और उन कर्मोंके विपाकके कारण इस जीवके नाना ख्याल, नाना कल्पनाएँ जो इसकी भूमिकासे उत्पन्न होती है, उससे यह जीव अपनेको पराधीन अनुभव करता है, परतंत्र हो जाया करता है। तो कोई अन्य पदार्थ उसे साक्षात् नहीं बाँधे हुए हैं, किन्तु इनमें वह भ्रम करता है व रागद्वेषकी भावनाएँ लाता है तो वह परतंत्र बन जाता है।

भैया! पराधीनताके भावमें शांति नही प्राप्त होती। अपने स्वरूपमें अभेदरूपसे प्रविष्ट हो तो शान्ति है। जितना हम भेद भिन्न होते जा रहे हैं, उपयोगमें उतना ही हमारा बिगाड़ है। हम स्वतः जैसे हैं सामान्य स्वरूपसे अथवा साधारणतः चैतन्यमात्र इस तरहका उपयोग बनायें। यह ज्ञातृत्व पर्याय और यह लक्ष्यभूत चैतन्यस्वभाव यह कर्ता कर्म एकमेक हो जाये अर्थात् उपयोगमें यह चैतन्यस्वभाव इस प्रकारका ज्ञेय हो जाये कि वहाँ बदलनेकी आकुलता नहीं हो। केवल एक शाश्वत स्वभावके अनुभवका स्वाद लिया जा रहा हो, ऐसी अभेद अनुभूतिकी दशामें जीवकी शुद्ध पर्यायका विकास होता है। यह कार्य भीतर ही भीतर गुप्त रूपमें ही अपने आपके द्वारा अपने आप कर लेनेका है और यह मात्र ज्ञान साध्य है। इस ही कामकी स्थिरता होना ही चारित्र है। चारित्रका जो पालन है वह ऐसा प्रयोजक है कि कहीं मेरी इस आत्मानुभूतिकी पात्रताके विरुद्ध आचरण न हो। अगर विरुद्धाचरण हुआ, विषय कषायोंकी आसक्तिका आचरण हुआ तो वहाँ इस अनुभूतिके पात्र भी नहीं हो सकते हैं। अतः अपना प्रवर्तन जितना है, इतनी सावधानीका हो कि किसी जीवकी हिंसा न हो, किसीके प्रति असत्य व्यवहार न हो, झूठ न बोलें, किसीकी चीज न चुरावें, बेईमानीका व्य-

वहार, कामवासनाका प्रसंग न हो, परिग्रहबुद्धिता न हो, ऐसा अगर चारित्र रहता है तो आत्मानुभूतिका स्वाद लिया जा सकता है।

अन्यायकी वृत्तिमें तो अपने आपको शल्य रहता है। जिसके कारण हम मोक्षमार्गके पात्र नहीं बन सकते हैं। इसलिए मिथ्यात्वका त्याग हो, अन्यायका त्याग हो तो हम अपने ज्ञानको ज्ञानके मार्गमें सुगमतासे ले जा सकेंगे। अच्छा! एक यही श्रद्धान् हो कि मुझे जितने भी दुःख होते हैं वे सर्व मेरे अपराधोंके कारण ही होते है। दूसरोंके अपराधसे मुझे कोई दुःख नहीं होते। कल्पना बनाते हैं परवस्तुके बारेमे और परवस्तुवोंका परिणमन हमारी कल्पनाओंके कारण कुछ होता नही, इसलिए हम दुःखी बने रहते है। सो जब इस वस्तुस्वरूपका सम्यक्बोध करें और अपने आपमें यह निर्णय करें कि मेरे किस कसूरके कारण, किस अपराधके कारण मुझे दुःख हुआ? अपने अपराधके सोचनेमें लग जायें तो शांति मिलेगी। जब दुःख होते हैं तो उस स्थितिमें दूसरोंका अपराध हम सोचते है। ऐसा सोचनेके कारण हमारे दुःख और बढ़ जाते हैं। हम दुःखी होते हैं अपने ही अपराधोंसे, यह पूर्ण निश्चित बात है। तो दुःखी होनेके समय हम अपने अपराधोंके खोजनेमें लग जायें कि मैंने क्या कसूर किया है? किस वस्तुमें राग किया है इसलिए दुःख है। इसी प्रकार हम अपने अपराधको खोज लें तो निश्चित तत्क्षण शांति प्राप्त हो सकती है। अगर दूसरोंमे दृष्टि लगी रही कि अमुकने यों अपराध किया, अमुकने यों किया, इसलिए बिगाड़ हुआ, ऐसा अपने मनमें जो दूसरोंका अपराध सोचे उससे दुःख बढ़ेगा, घटेगा नहीं तो अपने जीवनमें एक यह ही बात आ जाये कि जब भी मुझे दुःख होते हैं तो वे दुःख मेरे ही किसी कसूरसे होते है।

एक घटनाका और विचार करो। कभी हम अपने न्यायसे चिगते नहीं, अपना आचार विचारसे चलते है तिसपर भी कोई मुझे सताए, कुछ भी करे तो उसमें मेरा कौनसा अपराध है जिससे मुझे दुःख हुआ और कुछ नहीं तो यह ही अपराध है कि हम अपनी स्वभावदृष्टिको छोड़कर किसी परकी दृष्टिमें लगे है, अनात्मतत्त्वकी ओर झुके है तो बस यही हमारा अपराध है। कोई दुःख हुआ तो समझो कि मेरे ही अपराधसे मुझे दुःख हुआ। अन्यके अपराधसे मुझे दुःख नहीं हो सकता है और वह अपराध इतना ही है कि हम वस्तुके सच्चे स्वरूपकी दृष्टि न कर सकें। एक स्वयंके ज्ञानके बीच एक बाधा डाल सकने वाली चीज है तो वह यहाँ मूल दो ही है—कर्तृकर्मभाव और निमित्तनैमित्तिक भावके यथार्थ निर्णयका अभाव। जहाँ दोनों बातें दिखती हैं कि कर्तृकर्मभाव परस्परमें नहीं है, पर निमित्तनैमित्तिक भाव इस प्रकारसे चल रहे हैं, ऐसी दोनों ही बातें जिस दृष्टिमें हो, जिस निर्णयसे समझमें आती है वह बड़ी सावधानीका ज्ञान है। किसी ओर एकांत न कर सके, किसी एकांतमें न

झुक सके और सर्व प्रकारकी सावधानी अवश्य बनी रहे, यह बड़ी प्रामाणिक दृष्टिका काम है।

परपदार्थ अपने ही स्वरूपमें अवस्थित हैं। यहाँ जो बिगाड़ रहता है, वह इसीका विकार है। जितनी जो कुछ परेशानियाँ होती हैं वे सब अपने ही भावके कारण होती हैं। किसी दूसरेके भावके कारण परेशानियाँ हों ऐसा नहीं होता। यह दुःख क्यों विकृत कहलाता है कि वह पर-उपाधिका निमित्त पाकर प्रकट होता है। फिर भी यह देखो कि अपने ही भावोंके कारण यह जीव बिगड़ा हुआ है किसी दूसरेके भावोंके कारण यह जीव नहीं बिगड़ा हुआ है। इसलिए यह जीव अपना ही वास्तवमें कर्ता है, कर्म है, करण है और कर्मफल है, ऐसा जो मानता है वह जीव मोहका विनाश कर सकता है। किन्तु मोहीको वह ज्ञान नहीं रुचता है। यह मेरा ही तो घर है, यहाँसे उठकर मैं सीधा उस ही घर तो जाता हूं। मैं किसी दूसरे घर तो नहीं जाता। यह मेरा घर है। अरे ये सब व्यवस्थाकी बातें हैं। वस्तुतः मेरा तो मेरे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको छोड़कर कुछ अन्य है ही नहीं। ये बाकी तो सब व्यवस्थाकी चीजें है या अज्ञानकी अवस्थामें मोहको बढ़ाने वाली वासनायें हैं। ज्ञानीको अपने सत्य स्वरूपका ज्ञान होता है और वही प्राप्त हो जाता है। प्रभो! केवल मुझे यह स्वभावदर्शन का ही परिणमन हो तो ही भला है। पर-परिणतिसे हटकर जो विचार विभिन्न परिणति लगी हुई है बस यही अकल्याण है। मेरा एक ही निर्णय है, स्वस्थिति हो, कल्याण हो। स्वसे च्युत होकर बाह्यमें रमना वही अकल्याण है।

स्वलक्ष्यता महादुर्गस्तत्रस्थस्य न बाधनम्।
तत्र गुप्तो न जेयोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४७॥

अपने आपकी आत्माका लक्ष्य करना वह महान् किला है। जैसे कोई अपनी रक्षाके लिए मजबूत किलेमें बैठता है तो उससे भी अधिक जबरदस्त मजबूत किला है अपने आपके आत्माका लक्ष्य रखना। उस ईंट पत्थरके किलेके भीतर भी कल्पनाएँ करके यह जीव दुःखी हो सकता है, पर अपने आत्माके लक्ष्यमें रहता हुआ पुरुष दुःखी नहीं हो सकता। सो अपने आपका लक्ष्य होना ही महान् किला है। उस किलेमें रहने वाले पुरुषको किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती। उसमें जो गुप्त है, सुरक्षित है, ऐसा पुरुष दूसरोंके द्वारा जीता नहीं जा सकता, अजेय है। संसारमें सबसे महान् यही कार्य है कि अपने आत्माके यथार्थस्वरूपका परिचय हो जाये और उसमे ही यह लीन हो जाये। ऐसा जिन्होंने किया है। उनको ही राजा महाराजाओंने, इन्द्रोंने पूजा है। उस किलेमें गुप्त सुरक्षित जो रहता है वह विजयी पुरुष है। सो मैं ऐसी बाहरकी वृत्तिको छोड़कर अपने ज्ञायकस्वभावके लक्ष्यरूप दृढ़ किलेमें बैठूं और अपनेमें

अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

भैया ! दुर्ग उसे कहते हैं जहां बड़ी कठिनाईसे पहुंच हो सकती है। दुःखेन गम्यते प्राप्यते यत्र स दुर्गः।' बड़ी मुश्किलसे जहां जाना होता है उसको दुर्ग कहते हैं। यह आत्मा दुर्ग ईंट पत्थरके किलेसे भी मजबूत होता है। वह ऐसा मजबूत होता है कि उसके भीतरमें अन्यका प्रवेश होना असंभव है। आत्माके लक्ष्य होनेकी बात इतनी कठिन है कि इसमें सर्व साधारण जीवका प्रवेश नहीं हो सकता। जिनका संसार निकट है, जिनकी मुक्ति पास है, ऐसे ही जीव अपने आपके आत्माका लक्ष्य कर सकते हैं। सो ऐसा अपना लक्ष्य हो यही एक सुरक्षित अपना महल है, जिसमें निवास करके यह जीव व्यग्र नहीं होता, आकुलित नहीं होता। तब यह अपने आप स्वयं सुखी हो जाता है।

स्वलक्ष्यता सुधासिन्धुस्तत्रत्यस्य न तापनम्।
तत्राविष्टः सदा शान्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४८॥

अपने आपका लक्ष्य होना यही अमृतका समुद्र है। उस समुद्रके निज लक्ष्यमे रहने वाले जीवको किसी तरहका संताप नहीं है। जैसे कोई बड़ी गर्मीसे सताया हो और वह समुद्र में नहाये, डुबकी लगाये तो उसको संताप नहीं रहता। सारा खेद उसका दूर हो जाता है। इसी तरह संयोग वियोगके नाना दुःख संताप इस जीवमें लगे हैं। सारे संतापोंसे यह जीव बहुत संतप्त है। उसका संताप इन दोनों लक्ष्योरूप समुद्रमें नहानेसे दूर हो सकता है। इस निज लक्ष्यके काममे किसी प्रकारका अनिष्ट नहीं, सदा शांति है। सो यह मैं निज ज्ञानसुधा सागरमें मग्न होकर अपनेमे अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

पापोदये न हानिर्मे हानिः पापमयं निजे।
पापं पराच्च्युतिस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४९॥

पापोंका उदय होनेपर मेरी कोई हानि नहीं, पर पापमय मैं खुद बन जाऊं तो उसमें हानि है। निश्चयतः पाप क्या चीज है कि परपदार्थमें मैं मोही हो जाऊं, स्नेही बन जाऊं, यही पाप है, इसमें ही हानि है। और जो व्यवहारतः पापप्रकृतियां है उनका उदय बाह्य बात है। देखो पापोंका उदय बड़े-बड़े पुरुषोंपर भी आया। आदिनाथ भगवानको ६ माह आहार नहीं मिला। गजकुमार मुनिराजके ससुरने उनके सिरपर अंगीठी जलाई, क्योंकि भगवान् नेमनाथके समवशरणमें गजकुमार विरक्त हो गये थे। दो दिन पहले शादी हो गयी थी, लेकिन विरक्त होकर साधु बन गये थे। जब भीतरसे राग और मोह हटता है तब यह जीव अपने ज्ञानका ही कार्य करता है। राजकुमार साधु हो गये, तो उनके ससुरको क्रोध आया कि अगर साधु होना था तो विवाहके पहले क्यों न हो गया ? सो राजकुमार मुनिराजके सिर

पर अंगीठी जला दी। कितना बड़ा पापका उदय है। सुकोशल स्वामीकी पूर्वमाता सिंहनीने उन्हें मार डाला। कितना बड़ा पापका उदय है, किन्तु हानि कुछ नहीं।

सुकुमार जब गृहस्थ अवस्थामें थे, यदि उन्हें दीपक दिख जाये तो आँखोंसे आँसू आ जायें। वे तो रत्नोंके उजेलेमें रहते थे। यदि चावलोंकी जातिमें से कोई रद्दी चावल होता था तो उसे निकाल देते थे। समस्त चावलोंमें उत्तम जातिके चावल उनके भोजन थे। जिन गद्दोंमे बिनोला रह जाता था उनपर वे सुखसे नहीं बैठते थे। लेकिन कुमारको अपनी सुकुमारताका कोई ख्याल नहीं हुआ। वे अपने आत्मीय ध्यानमे रत हो गये। जिस समय पूर्व भवकी स्यालनी अपने बच्चे सहित वहाँ घूम रही थी, इस सुकुमारको देखकर उसे एकदम स्मरण हो आया कि इसकी ही वजहसे मुझे नारा कष्ट उठाने पड़े थे। क्रोधमें आकर सुकुमार मुनिराजके पैरोंको चाटने लगी। खून निकल आया और कुछ मांसके टुकड़े भी खा लिए, लेकिन सुकुमार आत्मध्यानमें नहीं चिगे। यद्यपि स्यालनीको हटाना कोई बड़ी बात न थी। एक हाथसे डंडा उठाकर उस स्यालनीको यों ही भगा दिया जाता, मगर इतने आत्मस्नेही सुकुमार महाराज कि आत्मध्यानको छोड़कर कोईसा भी विकल्प करना उन्हें नहीं सुहाया। उन्होंने विकल्प नही किया और अपने आत्मध्यानका ही पोषण किया। सो पापका उदय भले ही था मगर उनकी आत्मा पापमय न थी, पुण्यमय थी। तो पापके उदयमें हानि नहीं होती, मगर पापी बन जाये कोई तो वहाँ हानि है।

जैसे बड़े-बड़े राजा महाराजा अहंकारके गर्वमें आकर, लालसा और तृष्णामें फंसकर अनेक अत्याचार करते है, अनेक पाप बन गये। सो पापमय बन जानेसे हानि है, खोटा बंध है। सो पापके उदयसे नुक्सान नही है, किन्तु पापमय परिणाम करनेमें नुक्सान है। पापोंका उदय बड़े-बड़े पुरुषोंके आया, पर वे शांत सदाचारी ही रहे। उनको विकारभाव नहीं हुआ। और जो बड़े पुण्यके ठाठमें रहते हैं उनको विकारभाव हो जाता है। तो अब बतलावो कि पापके उदयमें हानि क्या है? पापके उदयमें हानि नहीं है, किन्तु अपने आपको पापमय बना लेनेमें हानि है। पाप इतना ही है। यहीं सब पाप है। जिसकी अपने आपकी प्रतीति मिटी, अपने आपसे हटा, बाह्यमें अन्य पदार्थोंमें लगा तो वे सब काम पाप है। जिन्हें अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपको खबर नही और परभावोंमें लिपटा है, जो परिणति होती है उस परिणतिसे मुग्ध हैं तो वह पापमय है। और तब उसे फल बुरा भोगना पड़ता है। सो पापोंको छोड़कर अपने आपको अपने आपमें देखकर वह मैं अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊं।

पुण्योदये न लाभो मे लाभ: पुण्यमये निजे।
पुण्यं स्वशुसिता तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-१०॥

देखो भाई पुण्यके उदयमें मुझे लाभ नहीं है। पुण्यका उदय हुआ, धन वैभव पास हो गया, लोग मेरी जी हजूरी करने लगे और यदि मेरी वृत्तिमें आसक्ति चलती है तो संक्लेश ही संक्लेश रहते हैं। पुण्यमय परिणाम नहीं हैं और बड़े पुण्यका ठाठ है तो यह जीव आनन्द नही पा सकता। पुण्य क्या है ? पवित्रता करना अपने आपको अपने आपमें जानना, यही पवित्र काम है। पुण्यका अर्थ है पवित्र, सो जैसा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है उसरूप अपने उपयोगको बना लिया तो यही संकटोंसे दूर हो जानेका उपाय है।

बड़े-बड़े राजाओंके पुण्यके उदय आये, बादशाहोंके वर्तमान इतिहासमें जो महापुरुष हुए उनका बड़ा पुण्यका उदय आया और उस उदयमे दूसरोंपर अन्याय किया, अत्याचार किया तो उन्हें क्या पुण्यसे लाभ मिला ? बोलो, उनकी दुर्गति हो गयी, खोटे कर्मबंध हो गये, कुछ थोड़े समयके लिए काल्पनिक मौज ले लो। मगर इन कल्पनाओके मौजसे ही तो पूरा नही पड़ता। सो पुण्यके उदयमें कोई लाभ नही। लाभ तो अपने आपको पवित्र बना लेनेमें है, अपना शुद्ध स्वभाव बना लेनेमें लाभ है, अपने आपको संभालना, मोहसे बचा लेना यही अपना पुण्यभाव है।

भैया ! मोहके समान कोई पाप नहीं। मोह स्वयं एक पाप है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ—इनमे जितने पाप है उससे भी अनन्तगुना मोह मे पाप हैं। मोहमें अपना आत्मा अपने आधीन रह ही नही पाता। पराधीन हो जाता है। तो मोह ही एक विकट पाप है और निर्मोहता ही वास्तविक पुण्य है। अपना आत्मा देखने जानने वाला पदार्थ है तो बस जानो और देखो। उसमे राग द्वेष करनेसे लाभ क्या है ? मिलता तो कुछ है नही। पर प्रत्येक वस्तुके विषयमें विकल्प विचार बना लेनेसे इस जीवको केवल क्लेश ही होते हैं। सो पापवृत्तिका त्याग करो, अपने आपके दर्शन करो, इस ही ज्ञान-स्वरूपमे प्रसन्न होकर अपनेमे अपने आप सुखी होओ। प्रसन्नताका अर्थ है निर्मल होना। निर्मल होनेमें ही आनन्द है। इसलिए प्रसन्न होनेको आनन्द पाना लगा लेते है, पर वास्तवमें प्रसन्न होनेका अर्थ खुश होना नहो है बल्कि निर्मल होना है। सो आत्माकी निर्मलता यही है कि मोह छूटे, कषाय छूटे मोह और कषाय छूटनेसे ही निर्मल हो गये और आत्माकी मली-नता यही है कि मोहका भाव पैदा हो और कषायोंका इसमें जागरण हो। सो उस मोहसे परे होकर अपने आपको पवित्र बनाता हुआ मैं अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

प्राङ्मया चेष्टितं यत्तत्स्वकषायविचेष्टितम्।
अकषायः स्ववृत्तिः शं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-४१॥

मैंने जो पहले चेष्टाएँ की, वे सब अपने आपकी ही चेष्टाएँ हुईं। मैंने दूसरोंका कुछ

काम नहीं किया, किन्तु जब जो कषाय उत्पन्न हुई, उस कषायका इलाज किया। कोई किसी से राग नही करता, किन्तु उसमें रागकी कषाय उत्पन्न हुई तो अपने राग कषायको वह मिटाना चाहता है। सो सर्वत्र यह जीव अपने कषायोंकी ही चेष्टा करता है दूसरोंका कुछ नहीं करता, घरमें रहते हुए बच्चोंकी कितनी खबर रखते, मित्रोंकी कितनी खबर रखते, पर उनमें जब इस तरहका कषाय नहीं रहता तो वही परिवारके लोग हैं, वे ही मित्र जन हैं, पर उसे नहीं सुहाते और जब राग कषाय रहता है तो वे परिवारके लोग चाहे न पूछें, पर वह अपने रागभावसे अपने कषायकी चेष्टा करता रहता है।

एक पौराणिक कथा है कि एक देवरति नामके राजा थे और उनकी स्त्रीका नाम रक्ता था। सो देवरति राजा अपनी रानीसे बड़ा मोह रखते थे। जब राज्यके कामोंमें फर्क आने लगा तो पुरवासियोने राजासे कहा कि महाराज या तो आप रानीसे ही मोह कर लें या राज्य सम्भालें। दोनों बातें नही हो सकती। राजाने कहा कि हम राज-काज नहीं करेंगे। सो रानीको लेकर राज्यसे निकल गये। चलते-चलते एक छोटे नगरके बाहर खेतोंके पास ही ठहर गये। राजाने रानीसे कहा कि तुम यही ठहरो, हम कुछ भोजन सामग्री ले आयें। राजा भोजन सामग्री लेने गया और रानीका क्या हाल हुआ कि एक लूला कुबड़ा आदमी चरस हाँक रहा और गा रहा था। उसका कंठ सुरीला था, उस सुरीले कंठको सुनकर रानी मोहित हो गई। कुबड़ेसे रानीने जो कुछ कहना था, कहा। कुबड़ा डरा और कहा कि तुम बड़े राजा की रानी हो, यदि राजाने सुन लिया तो न तुम रहोगी और न मैं जीवित रहूंगा। रानीने कहा कि यदि राजाको खबर मिल गयी तो हम संभाल लेंगे। राजा आया जो रानी उदास होकर बैठ गई। इस सारी कथामें यह समझें कि कोई किसीसे प्रेम नही करता, सब अपने-अपने कषायकी चेष्टायें करते हैं। रानी उदास होकर बैठ गयी तो राजा कहते हैं कि तुम्हारे लिए राज्य छोडा, तुम्हारी इतनी उदासीका कारण क्या है ? रानी बोली कि आज आपकी वर्षगाँठ मनाते। राजा बोला कि वर्षगाँठ जिस तरहसे मनाना चाहो मना लो। रानी बोली कि बहुतसे फूल ला दो और बहुतसा सूत ला दो, डोरा ला दो १०-२० गज। हम २-३ मालाएँ बनायेंगी। जब मालाएँ बन चुकीं तब रानी राजासे कहती है कि राजा महलमें होते तो ऊँचे दरबारके ऊँचे सिरेपर बैठाकर वर्षगाँठ मनाती। चलो उस पहाड़पर वर्षगाँठ मनाएँ। पहाड़ पर चले गये। रानी जब राजाको पहाड़की चोटी पर ले गयी तो वहाँ चारों तरफ मालावों से राजाको जकड़ दिया। वह तो केवल उसके मनानेका बहाना था। रानीने एक धक्का लगा दिया जिससे राजा पहाड़से लुढ़ककर एक नदीमें गिर गया।

नदीमें बहकर राजा एक किनारे पर पहुंचा। तो जिस देशमें पहुंचा वहाँका राजा

गुजर गया था । उस देशके मंत्रियोंने सलाह की कि आज प्रधान हाथीकी सूंडमें माला डालकर फिराओ । हाथी जिसके गलेमें माला डाल देगा, उसीको राजा बनाया जायेगा । हाथी गया घूमता-घूमता, देवरतिके ही गलेमें माला डाल दी और देवरतिको सूंडसे चढ़ाकर मस्तक पर बैठा लिया । देवरति तो यहाँ राज्य करने लगा । रानीका क्या हाल हुआ कि कुबड़ेपर आसक्त हो गयी थी । कुबड़ेसे चलते नही बनता था तो एक चंगेड़ीमें अपने सिरपर रखकर नाचे, कुबड़ा गावे और नाचे । जो रुपया आठ आने मिल जाते उससे ही अपना पेट पालते । दुनिया में बतावे कि हम सती है और अपने पतिको सदा सिरपर रखे रहती है । वह रक्ता इस तरह से पहुंचते पहुंचते उसी नगरमें पहुंची जहाँ देवरती राजा थे । वहाँ भी नाचे और गावे । थोडी देरमे देवरतीने कुछ पहिचान लिया कि यह तो हमारी स्त्री मालूम पडती है । सो जब दरबार से उठ गये तो उस नाचने वालीमे पूछते है कि तुम कौन हो, क्या हो ? ऐसी बातें करते करते उस राजाने समझ लिया । उस राजाको यह जगत् बड़ा असार मालूम हुआ कि एक मेरी ऊँची पटरानी भी ऐसा काम कर सकती है, ऐसा सोचकर ही ये विरक्त हो गये । इस कथानकमें शुरूसे अंत तक यह देखो कि कोई किसीसे राग नही करता है । जो करता है वह अपने कषायकी चेष्टा करता है ।

भैया ! आप बच्चोंका पालन पोषण नहीं करते । आप एक अमूर्तवस्तु हैं । सो जैसा कषाय आया उसका आप इलाज कर रहे हैं । यदि भ्रम साथ लगा है तो यह मान रहे हैं कि मैं बच्चोंका पोषण करता हू, ये बच्चे मेरे ही तो हैं । सो मैंने जो भी चेष्टाएँ की वे सब अपनी कषायकी चेष्टाएँ की । वास्तवमे मेरा जो कार्य है, मेरी जो वृत्ति है वह तो कषायरहित ही है । सो कषायरहित जो मेरी आत्माका स्वरूप है उस स्वरूपमें ही मैं रमूं और अपनेमें अपने लिए अपने आपस्वयं सुखी होऊँ ।

मनोवाक्कायिकी यावच्चेष्टेच्छातस्ततोऽसुखम् ।
सुखं स्वास्थ्यमनिच्छा तत्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।५-५२।।

कहते हैं कि जब तक मनकी, वचनकी, कायकी चेष्टा रहेगी तब तक इस जीवको सुख नही हो सकता । जब तक इच्छा है तब तक इसको शांति नहीं है । इच्छा ही तो व्याधियोंको उत्पन्न करती है । इच्छा ही क्षोभ मचाती हुई प्रकट होती है । कुछ हुआ और उससे दुःख हो गया, ऐसी बात नही है किन्तु इच्छाका स्वरूप ही दुःख है । इच्छा जब उत्पन्न होती हैं तब इस जीवकी परिणतिको हिलाती हुई ही प्रकट होती है । देखो जब तक इच्छा है तब तक सुख अपनेमें प्रकट नही हो सकता । वैसे तो यह जीव स्वयं दुःखी है, स्वयं आनन्दस्वरूप है । सब आनन्दस्वरूप हैं । सब मामला ठीक है । बस समझका सब फेर है ।

एक बादशाहके यहाँ एक सेठ खजांची था या प्रधान था। सो बादशाहकी स्त्री बादशाहसे कहती कि देखो हमारे भैयाको प्रधान बना लो। दूसरे सेठको प्रधान क्यों बनाते फिरते हो? बादशाह बोला कि यह न सोचो, यह तो सब बुद्धिका खेल है। जिसकी जैसी बुद्धि होती है उसको वैसा ही पद मिलता है। स्त्रीने फिर कहा कि हमारे भैयाको ही प्रधान बनाओ। राजाने कहा कि अभी जरा अक्लसे और अंदाज कर लें, फिर बना देंगे। बादशाह ने मंत्रीसे सलाह की। मंत्री बादशाहके सालेसे बोला कि देखो तुम्हारी दाढ़ी अच्छी है, इसकी एवजमें तुम्हें १००-५०० रु० मिलेंगे। यह बादशाहको दे दो। साला बोला—बड़ी अच्छी बात है, झट नाईको बुलाया और दाढ़ी बनवा दी। मंत्रीने ५०० रु० सालेको दे दिये। मंत्री ने सेठसे कहा कि सेठजी अब यह दाढ़ी बादशाहकी हो चुकी है। तुम जो चाहो ले लो और दाढ़ी दे दो। कहा—बहुत अच्छा, नाई जब दाढ़ी बनाने बैठा तो नाईके एक थप्पड़ मारा और सेठ बोला—अबे बादशाहकी दाढ़ी पर हाथ फेरता है। सेठजी दाढ़ी लेकर अपने घर चले गये। दो महीने बादमें एक पत्र लिखा कि मेरी लड़कीकी शादी है तो बादशाहकी दाढ़ी की इज्जत रखनेके लिए इतना-इतना खर्च पड़ेगा, सो मान लो २० हजार ५० हजार चाहिएँ, सो खर्च भी आ गया। तो सालेको इस बातको देखकर बड़ा दुःख हुआ कि सेठ जी दाढ़ी भी नहीं बनवा पाया और वहींसे बैठे-बैठे गुलछर्रे उड़ा रहा है। बादशाहकी दाढ़ीकी इज्जत रखनेके लिए सेठने हजारों रुपया बना लिया। अब सालेको बादशाह पर गुस्सा आ गया। सालेने कहा कि हमारी दाढ़ी वापस दी जाये। मंत्रीने बनी बनाई दाढ़ी वापिस कर दी। अब बादशाहने स्त्रीसे कहा कि देखो आपके भाईमें कितनी बुद्धि है? तो अपनी-अपनी बुद्धिसे अपना-अपना पद मिल जाता है।

भैया! किसी प्रकारकी इच्छा चलती है, विशेष आकांक्षा उठती है तो आधी बुद्धि तो यों ही खत्म हो जाती है। इच्छा जब तीव्र होती है तो बुद्धि काम नहीं कर सकती। इच्छाके होनेसे बुद्धिमान् बुद्धू बन जाता है। जहाँ इच्छा होती है वहाँ धीरता नहीं रहती है। धीर किसे कहते हैं? धी और र। 'धीं बुद्धि राति ददाति इति धीरः।' जिसकी बुद्धि अत्यन्त प्रगत है, उसे धीर कहते हैं। तो इच्छा रहते हुए धैर्य नहीं रह सकता। सो जब तक इच्छा है तब तक दुःख ही है। सुख तो अपने आपमें स्थित हो जानेमें है। सो जब अपने आपमें स्थित हो तब इच्छा न रहे या अब इच्छा न रहे तब अपने आपमें स्थित हो। सो वास्तवमें सुख तो स्वास्थ्य ही है और स्वास्थ्य भी क्या, इच्छाओंका जो अभाव है वही स्वास्थ्य है और वही सुख है।

पुण्यका उदय जब आता है तो यही रोना रह जाता है। इच्छा बढ़ रही है, तृष्णा

बढ़ रही है, सो पूर्वपुण्यके प्रसादसे जो पाया उसका भी सुख, सामग्रियाँ पायीं, धन वैभव पाया उसका भी सुख तृष्णा वालोको नही रहता है, क्योंकि वह तो अधिक उमंगमें आकुल व्याकुल रहता है। पासकी प्राप्त सम्पदाका भी भोग नही करता है। इच्छा तृष्णा ऐसी डाइन है और इच्छा तृष्णाके कारण ही सम्पदा है। कुछ सम्पदा मिली तो कुछ इच्छा बढ़ेगी, तृष्णा बढ़ेगी। तो उन अनर्थोंकी जड यह सम्पदा है जिसके पीछे लोग इतना मरते है। वह सम्पदा आत्मोन्नति नही करने देती है। विपत्तियोंमें तो फिर भी स्वाधीनता रहती है, सदाचार बना रहता है, गरीबोंका ध्यान बना रहता है, न्यायसे चलनेकी उमंग रहती है। सम्पदा में सब भूल जाता है। सो किसी भी सम्पदाकी, कीर्तिकी इच्छा उत्पन्न न हो और अपने सहजस्वरूपके दर्शन होते रहें तो मैं अपनेमे अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी हो सकता हूं।

भ्रमे नष्टे यथा स्वप्ने दृष्टं भ्रान्तिस्तथा सदा।
निष्क्रियोऽहं यतः स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५-५३॥

जैसे जब स्वप्न आता है तो स्वप्नमे देखी हुई बात स्वप्नके समय ऐसी मालूम होती है कि यह बिल्कुल सच है। यही तो बात है। उसे झूठ नही समझ सकते है। और झूठ ही समझ लें तो स्वप्न ही कैसा है? वह तो जागना हुआ और स्वप्न जब नष्ट हो जाता है, जाग जाता है तो उसे यथार्थ मालूम होता है कि अरे वे सब बातें झूठी थी। इसी तरह जब तक मोह लगा है तब तक भ्रमकी बातें बिल्कुल सच मालूम पड़ रही हैं। हमारा ही तो घर है, हमारा ही तो कुटुम्ब है, हमारे ही तो लोग है सब सत्य-सत्य मालूम होता है। जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब उसे ख्याल होता है कि अहो, वे सब बातें झूठी थी। इतने परिभ्रमणमें जो हम पड़े है वे सब मिथ्या है। मिथ्यामें दुष्कृतम्। तो कैसे पाप मिथ्या हो? वह मालूम पड़ रहा है कि अरे जो पापोंका परिणमन था वह तो औपाधिक था। जब आत्माके ज्ञानस्वभावका उपयोग है तो उस समय पहलेकी सारी बातें मिथ्या मालूम होती हैं। अरे वह सब झूठा था। तो जब ज्ञान जग जाता है तब पता पड़ता है कि वह भ्रान्ति थी।

भैया! भ्रमके समयमे भ्रम क्या भ्रम मालूम पड़ सकता है? रस्सीको साँप जान गये हैं और उसी समय यह जाननेमें आ जाये कि हमारा ज्ञान भ्रमरूप है तो रस्सीको रस्सी ही जान गये। फिर उसे भ्रम कहाँ कहेंगे? यदि भ्रम हो जाये और यथार्थ ज्ञान न आवे तो यही निर्णय रहेगा कि यह साँप ही तो है। जहाँ भ्रम मालूम होता है वहाँ उसको लगन नही रहती है। तो ज्ञान हो जानेपर ही यह पता पड़ता है कि मेरा वह पीरियड मेरा वह समय मिथ्यात्वमें बीता। वे सारी बातें उसकी इन्द्रजालकी थीं। मैं तो ज्ञानस्वभाव मात्र हूँ। मिच्छा मे दुक्कडं। सबसे बड़ा प्रायश्चित है निज सहज ज्ञानस्वरूपका अवलोकन। यह भाव

बना तो पाप नियमसे कटेंगे । यदि पाप किया है तो आचार्य महाराजके पास जायें । वे जो कहेंगे उसका प्रायश्चित्त लें । ये बातें यद्यपि विधिवत् हैं, मगर इतने तक ही जो रह गया वह तो एक व्यापारवत् रह गया । जैसे लोग अपना व्यापार करते हैं तो सोचते हैं कि ऐसा कर लें, ऐसा करनेमें लाभ है । जैसे गृहस्थीने अपनी आजीविकाका व्यापार किया । इसी तरह ज्ञानहीन साधुने अपने धर्ममें धुनको चीज समझी तब मौज मानते हैं । तो सबसे बड़ा प्रायश्चित यही है कि अपने आपमें यह बात दृढ़तासे जम जाये कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं यही जानन बना रहा करे । जाननवृत्तिसे ही चले, बस इतना ही मेरा काम है और इसके अतिरिक्त नानारूप मैं नहीं हूं, ऐसी ईमानदारीका उपयोग बने सो पाप मिट जाते हैं, कर्म स्वयं मिट जाते हैं, आगेका रास्ता मिलता है ।

भैया ! ज्ञानामृत पान यदि नहीं हो सकता तो यह कषायोंका खेल है । किसीको जंचा कि स्त्री पुत्र, विषयभोगोंमें लाभ है, उनमें लग गये, किसीको जंचा कि इस तरहसे धर्म साधन व्यवहार करें तो उसमें लग गये । मगर कर्म जिस विधिसे कटते हैं वह विधि तो एक ही है । वह विधि है सहज ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि । इसके सिवाय धर्मका मार्ग कोई दूसरा नहीं है । यदि यह ज्ञान जग गया तो पापोंमें प्रवृत्ति न होगी । सो मुझे और क्या करना पड़ेगा ? यही व्रतरूप परिणति ही तो करना पड़ेगी । ज्ञानी इस व्रतके प्रवर्तनको भी अपना स्वरूप नहीं मानते । उसे भी मन्द कषायका फल समझते हैं । पाप है, वह तीव्र कषायका फल है और व्रत है वह मंद कषायका फल है । और धर्म है वह रत्नत्रयका फल है । यदि हिम्मत हो तो तुम्हारी आत्माके पास सब कुछ है । कहां जाते हो कहीं भटकना जरूरी नहीं । क्या करने योग्य काम है ? इसमें अधूरापन तो कुछ है ही नहीं । क्यों व्यर्थकी तृष्णा करते हो । यह भगवान् आत्मा स्वयं ही परिपूर्ण है और यह तो इस तरह कमर कसे कह रहा है कि यह मैं भगवान् तो तेरे साथ अनादिसे बैठा हुं, पर तू ही मेरी ओर दृष्टि नहीं देता तो मैं क्या करूं ?

स्वभाव है भगवान् और उपयोग है भक्त । यह भगवान् भक्तसे कह रहा है कि ऐ भक्त, मैं तो तेरे निकट सदासे रह रहा हूं । और इस शैलीसे रह रहा हूं कि तेरा भला हो कर दूं, तुझे संतुष्ट कर दूं, आनन्दमय कर दूं । पर हे भक्त ! तू मेरी ओर दृष्टि ही नहीं देता । दृष्टि तो तू फेर, फिर मैं अपनी कला दिखाऊँ । पर तू दृष्टि ही नहीं देता । तो इतनी गल्तीके कारण मैं तुझे अपना महत्त्व नहीं दिखा सकता । सब कुछ है पल्ले । कहीं कमी नहीं है, सिर्फ दृष्टिके उपयोगसे अपने आपको देखने भरकी आवश्यकता है और कुटुम्ब भी न हो तो न हो । वे भी एक स्वयं सत् हैं, उनका भी परिणमन उनके साथ है । हों तो हों और न

हों तो न । उनका परिणति उनमें है । उनसे मेरेमें फर्क क्या आ गया ? अज्ञानी घबड़ाता है । अरे घबड़ाते क्यों हो ? यह तो बिल्कुल साफ निर्णय है कि हम आप जितने भी बैठे हुए हैं वे सब एक-एक करके हट जावेंगे, मिट जावेंगे, चले जावेंगे । यह तो साफ निर्णय है फिर क्यों घबड़ाते हो ? हाय अमुक न मर जाये, अमुकका क्या हाल होगा ? अरे यह तो निश्चय है कि एक दिन वह अवश्य आयेगा कि सब अपना-अपना रास्ता नाप जावेंगे । कोई किसीका सहाय नहीं है ।

भैया ! जब भ्रम खत्म होता है और अपने ज्ञानप्रकाशकी स्थिति आती है तो उससे बढ़कर बिभूति दुनियामें और कुछ नही हो सकती । यही सबसे बड़ा भारी वैभव है । देखो अपने स्वरूपको कि यह मैं आत्मा निष्क्रिय हूं अर्थात् यह अमृतमय आत्मतत्त्व किसी विकार का करने वाला नही होता । मेरे ही सत्त्वके कारण मेरेमें विकार आता हो, इसमें मैं कभी शुद्ध नहीं हो सकता । आता है मुझ सत्में विकार, पर मेरे सत्त्वके कारण नही आता, कर्म उपाधिका निमित्त पाकर आता है । जैसे इस चोकी पर यह छाया पड़ी, यह छाया आयी तो चोकी पर है, पर चौकीके सत्के कारण नही आयी है । जैसे पुद्गलके सत्के कारण चौकीमें रूप है, इस तरहसे चौकीपर चौकीके कारण छाया नही है । चोकी पर जो यह छाया है यह छाया यदि चौकीके अस्तित्वके कारण है तो फिर सदा रहे । हाथ हटाया, छाया मिटी, यह ऐसा क्यों हो गया ? इसलिए हो गया कि चोकीका यह छायारूप परिणमन चौकीके अस्तित्व के कारण नहीं है । है चोकीमें, पर है एक बाह्य पदार्थका निमित्त पाकर । तो इसी प्रकार यह भ्रम क्या है ? इस छायाकी ही तरह यह भ्रम है । छाया, माया, काया, भोया, खाया, गाया सभी ऐसी ही बातें हैं । सो यह उपाधिका सान्निध्य पाकर प्रकट होता है । जब ज्ञानबल बढ़ता है तो ज्ञानबलके प्रसादसे भ्रम खत्म हो जाता है सो उपाधि भी खत्म होने लगती है । भ्रम समाप्त होनेपर मालूम होता है कि वे सब विडम्बनाएँ मिथ्या थीं । भामंडल सीताकी मूर्तिके रूपको देखकर मोहित हो गया ।

भामंडल और सीता भाई बहिन थे । भामंडलको यह पता न था कि सीता हमारी बहिन है । उत्पन्न होते ही दोनोंका वियोग हो गया था । इतनी आसक्ति भामंडलको हुई कि जब तक यह न मिले तब तक अन्नका त्याग, खान-पानका त्याग । नहीं खायेंगे, मर जावेंगे । उनके हठ हो गई और ऊधम किया । सीताको देखनेके लिए जब वहाँ चले तो रास्तेमें जब जङ्गलसे निकले, जिस स्थान पर कोई पूर्वजन्मकी घटना घटित हुई थी, झट ध्यान आ गया कि अरे सीता तो मेरी बहिन है उसी समय यह पछतावा हुआ कि अरे ये सब बातें मिथ्या हैं ।

ये जो सब संकट हैं, ये संकट क्या हैं ? ये तो केवल कल्पनाओंके संकट हैं। जहाँ अज्ञानज कल्पनाएँ मिटी तहाँ संकट मिट गये। यदि संकट मिटाना है तो बाह्य पदार्थोंमें कुछ नहीं कर सकता हूं। वस्तुस्वातन्त्र्य है। भावना बनाकर अपने ज्ञानबलको दृढ़ बनावें तो वे सारे संकट खत्म हो जाते हैं। जैसे कोई मेढकोंके तोलनेकी व्यवस्था क्या कर सकता है ? वे एक सेर मेढक बोलो तुल जावेंगे ? धरोगे फट उचट जावेंगे, मेढकोंको तोल कैसे सकते हो ? उनकी व्यवस्था नहीं बना सकते हैं, इसी तरह हम परपदार्थोंकी व्यवस्था क्या बनायेंगे ? एकको बनाया दूसरा मिटा और परमार्थसे तो जिसको बनाया कहते है, उसको भी नहीं बनाया। उसने विकल्प किया और ऐसा सहज योग था कि उसके अनुकूल परिणमन हो गया।

भैया ! कर्तृत्वका भ्रम, स्वामित्वका भ्रम, यह आत्मीय भ्रम खत्म हो जाय तो यह जीव सुखी रह सकता है। जब तक भ्रम साथ है तब तक इस जीवको शांति नहीं मिल सकती। सो उस सर्वभ्रमको समाप्त कर निष्क्रियस्वभाव ज्ञानमात्र अपने आत्मतत्त्वको देखो और उसीमें उपयुक्त रहो। जैसे सावनमें मूसलाधार वर्षा होने पर यदि रहनेका घर बड़ा अच्छा मिल गया, जिसमें जरा भी चूना न हो तो फिर उस घरसे बाहर होनेकी क्या इच्छा होती है ? नहीं। इसी तरह निर्विकल्प आनन्दघन आत्मस्वभावी निवास हो रहा हो तो संकटोंकी बरसातमें क्या आत्मगृहसे निकलनेकी भावना हो सकती है ? नहीं। मैं ऐसे स्वरूप में ही रहूं और अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

॥ समाप्त ॥

॥ ॐ ॥

सुख यहां चतुर्थ भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज
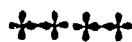
नोट—इस पुस्तकके ८ श्लोककी प्रेस कापी प्रथम संस्करणके समय आगराके एक प्रेसमें ही थी वह उसने गुमा दी। अतः नवें श्लोकसे प्रारम्भ किया जा रहा है।

सम्पदा विपदा भूयाज्ज्ञानमात्रोऽस्मि ते न मे।
कुतस्तुष्याणि रुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-६॥

चाहे सम्पदा हो जाय, चाहे आपदा आये, ये सब बातें बाहरकी है। मैं तो ज्ञानमय हूं। इस निज आत्माको तो देखो कि यह कितना है और यह ऐब करे, ऊधम करे तो यह कितना क्या कर सकता है? केवल अपने सत्वको देख करके यह अपनेमें जो चाहे परिणमन करे, इतनी ही तो बात है। अब वह परिणमन पदार्थोंके स्वरूपके प्रतिकूल है तो दुःखी होता है और पदार्थोंके स्वरूपके अनुकूल ज्ञानपरिणमन है तो सुख होता है।

मैं तो ज्ञानमात्र हूं, किसमें संतोष करूं और किसमें रोष करूं? सबसे बड़ी विपत्ति जीवपर अज्ञानकी है, मोहकी है, भ्रमकी है। वास्तवमें विपत्ति एक ही है। इस एक ही विपत्तिके विषयभूतसे अनेक रूप बन जाते हैं।

अगर किसी दुःखीके पास आप बैठ जायें और उसकी कहानी सुनने लगें तो सुनते जावें और परखते जावें तो आपको विदित होगा कि इस बेचारेने अपनी दृष्टि किसी परमें लगायी है। उसने मोह किस जगह किया है, यह सब निरखते जाओ, उसकी सारी दुःखकी कहानीमें परद्रव्यका मोह मिलेगा। और निर्णय करते जावो कि इसने अमुक परद्रव्योंसे मोह किया है, इसलिए दुःखी है। कोई क्या कहेगा? कोई लड़केकी बात सुनायेगा। लड़का ऐसा कपूत हो गया है, यों धन बरबाद करता है, संभालता भी नहीं है। कोई क्या कहेगा कि

स्त्री लड़ती है, घरमें बनती नहीं है, ऐसी ही और-और बात भी करेगा । व्यापार की, लेन-देनकी । इन सब बातोंका जो क्लेश है उसे मैंने स्वयं निर्मित किया है । जिसे अमुक पदार्थों का व्यामोह है इसलिए उसे क्लेश ही क्लेश बाहरी पदार्थोंसे नहीं आते, किन्तु अपने आपके स्वयं विचारोंसे आते हैं ।

एक राजा था । उसने एक दूसरे राजापर चढ़ाई कर दी, जीत गया और बचे हुए पुरुषोंमें से एक पुरुष जंगलमें चला गया और साधु हो गया और बाकी बचे हुए पुरुष भी सब मर गये । अब राजा सोचता है कि अब राज्यका क्या करना है ? जीतना था सो जीत गये । अब ढूंढते फिरते कि किसी परिवारका कोई पुरुष मिले, उसे राज्य दे देते । बहुत ढूंढा, पर वे सब मर गये थे सो कैसे मिले ? उनको खबर मिली कि एक पुरुष बच गया है । वह धर्मसाधना कर रहा था । सो राजा उसके पास पहुंचे । बोले—इस धर्मसाधनाको छोड़ दो और अब महलोमें चलो । जो चाहोगे सो तुम्हे मिल जायगा । उस साधुने कहा—हाँ, हाँ चला, पर मुझे ऐसा सुख देना कि जिसके बाद फिर कभी दुःख न मिले । पहिली चीज यह माँगी । राजाने सोचा कि हम तो यह नही दे सकते । कहाँ तक क्या दे सकते हैं ?

एक जंगलमें एक साधु महाराज थे । वे कठिन धूपमें तपस्या कर रहे थे । सो राजा को उनको देखकर दया आ गयी । राजा बोले—महाराज नीचेसे भी तपन और ऊपरसे भी तपन, कितनी परेशानियां आपको होंगी ? आपको जूते बनवा दें । साधुने कहा कि अच्छा हमें जूते बनवा दोगे तो गर्मी तो मिट जायगी । ठीक है, बनवा देना । राजा बोला—हाँ बनवा देंगे । साधुने कहा—पर एक बात तो बताओ कि नीचेकी तपनके लिए जूते हो गये, पर ऊपरकी धूप तो सताती है । राजाने कहा—छतरी ला देंगे । तो छतरी हो जायगी, जूते हो जायेंगे, पर सारा शरीर ढकनेको तो कुछ चाहिये । राजाने कहा—रेशमके कपड़े बनवा देंगे । कहा—ठीक है, ऐसी वेशभूषाके हो जानेसे खानेको कौन देगा, खायेंगे क्या ? अन्न तिष्ठ अन्न तिष्ठ कौन कहेगा ? कौन खाना देगा ? खाना कौन बनायेगा ? राजाने कहा—शादी कर देंगे । स्त्री खाना बनायेगी । ५ गाँव और लगवा देंगे । मगर चलनेमे तब तो आलस्य आ जायगा । कहा—मोटर दे देंगे । फिर बच्चे होंगे उनका गुजारा चाहिये । कहा—१० गाँव और लगा देंगे । कहा—ठीक है, पर एक बातका ख्याल आया कि लड़के जब होंगे, लड़कियां जब होंगी तो उनकी मृत्यु होगी, दामादोंकी मृत्यु भी होगी तो रोना भी पड़ेगा । तो राजा बोले—महाराज, और सब कुछ तो हम कर सकते हैं, पर रो नही सकते हैं । रोना तो उसे ही पड़ेगा जो मोह करेगा । हम तो रो नहीं सकते । रोनेकी जिम्मेदारी तो उसी पर है जो

मोह करेगा।

घरके लोग, मित्रजन, रिश्तेदार आदि बहुत हैं। सभी मन बहलाते हैं, मौज करते हैं, पर जिसके चोट लगी होगी, जिसके इष्टवियोग होगा ही तो उसे चोटको भोगना पड़ेगा जिसके चोट लगी है।

यह जीव बिल्कुल असहाय है। यह जैसा भाव करता है तैसा ही इसपर बीतता है। इसकी मदद दे सकने वाला कोई भी पदार्थ नहीं है। सो चाहे सम्पदा हो, और चाहे विपदा हो मैं तो केवल एक ज्ञानमात्र ही हूं। फिर मैं किन बातोंसे संतोष करूँ? क्यों जी, कोई धन चाहने वाला हो और उसके आगे लाख, करोड़, अरब, खरब कितने ही रुपये पटक दें तो उसे संतोष हो जायगा क्या? संतोष चाहे न हो पाया, मगर घबड़ा जरूर जायगा।

जगत्में कौनसी विभूति, कौनसा परपदार्थ ऐसा है जो इसके आनन्द गुणके सीधे परिणमनको बना सके? किसीमें भी सामर्थ्य नहीं है। सो बाह्य पदार्थोंसे संतोष और रोष न करके अपने आपमें ही अपने आपको सुखी करनेका यत्न करूँ।

> अयशो वा यशो भूयाज्ज्ञानमात्रोऽस्मि ते न मे।
> कुतस्तुष्याणि रुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१०॥

चाहे अपयश हो, चाहे यश हो, देखो भीतरकी एक बड़ी हिम्मतकी बात है। यदि ज्ञानमात्र निजस्वरूपकी प्रतीति हो गयी है तो उस अपयश और यश पानेसे भला हुआ। तेल की तरह उसकी ऊपरी बातें मालूम होती हैं। भीतरमें उनको अङ्गीकार न करना और उनके ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहना, यह है बड़ी हिम्मतकी बात और एक शुद्ध ज्ञान दर्शनके परिणामकी, यश, अपयशकी बात होकर भी यह अपने आपको अछूता तके। अपने आपको देखे कि मैं क्या हूँ? जगतके सब जीव भी किसी प्रकारका परिणमन कर दें ऐसा हो ही नहीं सकता है। यह ही बिगड़कर, खुदसे हटकर याने भ्रष्ट होकर जब बर्तता है तो दुःखी होता है। कहनेकी बातें बहुत हैं, साहित्य है, पुस्तकें हैं, सब कुछ है, मगर फल उसको ही मिलता है जो इस तरहकी वृत्ति अपनेमें कर सकता है। यह इज्जतका ध्यान, ख्याल एक विकट व्यामोह है। इज्जत कौन करता है और इज्जत किसकी होती है? मेरा यश और अपयश करने वाला कोई नहीं है। यह जो परमार्थतत्त्व है वह तो सबसे निराला अपने स्वभावमात्र है। सो यह प्रसंग तो ऐसा है जैसा कि इस कहानीसे विदित है—

किसी ऊंटका विवाह हो रहा था। ऊंट तो टेढ़े मेढ़े होते हैं। उनको यदि छू लिया जाय तो हाथ उलासने लगें। सो किसी ऊंटका विवाह था, विवाहमें गाने वाला कोई न कोई

चाहिए ही तो ऊंटने गारी गानेके लिए गधोंको बुलावा लिया। गधोंने क्या गाया कि दूल्हा और बरातियोंकी प्रशंसा की। बड़ा सुन्दर रूप है, जगतमें अनुपम आप लोगोंका शरीर है। ऊंट बोले—वाह, वाह कितनी सुन्दर ध्वनि है, कितना सुन्दर राग है, कितना बढ़िया गला है। ऊंटोंने कर दी गधोंकी प्रशंसा और गधोंने कर दी ऊंटोंकी प्रशंसा।

सो कड़वी बात हो तो तनिक कोमल बना लो। सो ऐसा हो रहा है कि यहाँ प्रशंसा यश, अपयश, इज्जत इत्यादि बातें चल रही हैं। ये जो सम्मान समझते हैं और जो सम्मान करते हैं उनकी यह बात है। यों तो व्यवहारमें प्रत्येक सत् पुरुषका यह कर्तव्य है कि दूसरों का सम्मान करे। मगर जहाँ द्रव्यदृष्टि नहीं, यथार्थदृष्टि नहीं, और उस ही इज्जतमें एकमेक हो रहे हैं उनकी बात कही जा रही है। अरे भाई चाहे यश हो, चाहे अपयश हो, यह मैं तो ज्ञानमात्र ही हूँ। तो किसमें संतोष करूँ और किसमें रोष करूँ ?

हे भगवान् ! ऐसा कब बल आये कि सरासर अपमान सामने हो, दुर्वचन सामने हों और यह मैं अपनेको यों तक सकूं कि यह अपना स्वरूप पूर्ण स्वच्छन्द 'अमर' किसी परके द्वारा कुछ भी इसमें नहीं हो सकने वाला ऐसा यह मैं आनन्दमय ज्ञानतत्त्व हूं, ऐसा निरखकर अपनेको बलिष्ट बना सकूँ ऐसा क्षण कब हो ? और ऐसी भावना जागृत हो कि मैं अपने ज्ञानको इतने दृढ़ उपयोगसे देख सकूँ कि इन बाहरकी घटनाओंसे अपने आपमें क्षोभका कारण न बन सकूं। बात कठिन, मगर करने वाला जीव ही तो होता है। और देखो—

अरि मित्र महल मसान कंचन कांच निन्दन थुति करन।
अर्घावतारन असि प्रहारनमें सदा समता धरन॥

जिन्होंने ऐसा किया, वे जीव कुछ और नहीं थे; बिलकुल हम आपकी ही तरहसे थे, कुछ भेद नहीं था। जो स्वरूप उनका था वहीं स्वरूप हमारा है। वे कर सके तो यह मैं भी कर सकता हूं।

कोई युद्धका मोका था, स्त्रीने अपने पतिसे कहा कि युद्ध हो रहा है, तुम भी अपने देशकी सेवाको चले जावो तो बोले कि युद्धमें चले जायें तो यों ही प्राण चले जायेंगे। जो छोटी चक्की होती है उसमें स्त्रीने चने डाल दिए और दाल बनायी, पर कुछ चने समूचे रह गये। कहा—देखो ये चने तो फूटनेसे बच गये ना ? यदि हम ऐसा सोचते हैं कि हम सिद्ध देव जैसे नहीं हैं हम तो लटोरे खचोरे जैसे विषयी पतित जीवोंमें से है—यदि ऐसा विचारें तो फिर अपना उत्थान कहाँसे हो ? अपना ज्ञान बल बढ़े इसमें ही सार है, जिससे कि किसी परपरिणतिका अपने आप पर कोई असर नहीं हो सकता।

जीवनं मरणं भूयाज्ज्ञानमात्रोऽस्मि ते न मे ।
कुलस्तुष्याणि रुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-११॥

यह आत्मा एक स्वयं सत् है । जो सत् होता है वह अनादिसे है और अनन्तकाल तक रहता है । जो कभी न था और अब हो जाय, ऐसा जगत्में कुछ नही है । जो है रची वह बिल्कुल मिट जाय, ऐसा भी लोकमें कुछ नहीं है । यह मैं आत्मा स्वयं सत् हूं, अनादिसे हूं और अनन्तकाल तकके लिए हूं, किन्तु क› उपाधिके बन्धनके वशसे विधानपूर्वक यहजीव नारक, तिर्यंच, मनुष्य, जीव पर्यायरूपमे उपस्थित हैं । जैसा जो मनुष्य आयुका उदय है निमित्त है । जिस क्षण मनुष्य न रहेगा अन्य कोई गतिका उदय आयेगा, उस क्षण यह स्थूल शरीर न रहेगा और दूसरे स्थूल शरीरके लिए यह चला जायेगा । बस इसी परिस्थितिका नाम जीवन और मरण है । वैसे आत्माका मरण नही होता, किन्तु होता क्या है ? शरीरका बदलना । जिसे लोग कहते है चोला बदल गया । एक चोला समाप्त हुआ और दूसरे चोलेका ग्रहण किया ।

सो यदि अपने आपकी निजी बातें सोचते हो तो जीव वही है, परिणमनशील है सो अपने परिणाम कर रहा है । ये बातें अब भी हैं और जिसे मरण कहते हैं उसके बाद भी यही बातें हैं । जीवन हो और मरण हो आत्माके लिए एक ज्ञेय परिस्थिति है । "तन उपजत अपनी उपज जान । तन नसत आपको नाश मान ।।" ऐसी उपयोगवृत्ति बनती है, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं । मरण समय इस जीवको बड़े संक्लेशके अवसर हो सकते है और कुछ तो परिस्थिति ऐसी है कि जब जीव शरीरसे निकलता है तो शारीरिक कष्ट होता है । जैसे कि देखते भी हैं लोगोंको कि दुःखमयी प्राण छातीके दिलमें है । छाती भी उत्तर देना बंद कर देती है । कुछ अवसर भी इस प्रकार है और फिर अपने आपकी ममता इस दुःखको बीस गुनी बना देती है । मरते समय जो क्लेश हैं, देखे जाते हैं ये दुःख मोहके कारण हैं । अब भैयाको छोड़कर जा रहे हैं, घर छोड़कर जा रहे हैं । दस साल रहकर इतनी बड़ी हवेलियां बनायी थीं, इतना बड़ा वैभव इकट्ठा कर लिया था अब आरामके दिन थे, बड़े मौजसे रहते, हाल क्या हो रहा है ? नन्हें नातीको यह जायदाद लिख देना, फलांको तार दे देना कि जल्दी जल्दी आ जायें । कितने-कितने विकल्प होते हैं जिनके क्लेश बना रहे हैं ।

सच पूछो तो जन्म उत्सव मनाया करते हैं उससे तो अच्छा है कि मरणका उत्सव मनावें, क्योंकि जन्मते समय प्रत्येक मनुष्यकी मलिनताकी वृत्ति रहती है । वहां परिपक्व ज्ञान नहीं होता है । परन्तु मरते समय पुरुष ज्ञान, ध्यान, सावधानी रख सकता है और इसका भावी जीवन इसके होनहार उस मरणके समयके परिणामोंपर निर्भर है । बिना जीवन

के अन्यके समयके परिणामों पर जिन्दगी निर्भर नहीं। मरणके समय सावधानी रखनेका अत्यन्त आवश्यकता है तो भी जिसने अपने स्वरूपास्तित्वका निर्णय किया है, सबसे प्रकट भिन्न ज्ञानबलसे उसे आत्मा नजर आ रहा है, ऐसे ज्ञानी पुरुषका जीवन और मरण उसकी ज्ञेय परिस्थितियाँ हैं।

जीवन हो या मरण हो, मैं तो ज्ञानमात्र हूं। जीवन और मरण मेरी ये दोनों चीजें नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञानमात्र हूं। फिर मैं कहाँ तो संतोष करूँ, कहाँ रोष करूँ? इस जीवनसे मैं क्या संतोष करूँ?

यदि बुरे परिणामों सहित जीवन चल रहा है तो वह ऐसे मरणसे भी भयंकर है और यही बड़ी सावधानीसे शुद्ध आत्मस्वभावकी दृष्टि प्रतीति सहित मरणके लिए रहता है तो वह सबसे बढ़कर चीज है। जन्मके बाद दुःख कहाँसे उठता है और मरणके बाद अरहंत भगवान्के दुःख मिट जाते हैं। खैर अरहंतके दुःख है तो अपने आपके ही ऊपर अपने आपसे मिटते हैं, पर यह बताना है कि आयुके क्षयका निर्माण होता है। आयु द्वारा बड़ा निर्माण नहीं होता है। निर्वाण गमन कहो या मरण कहो एक ही बात है। मरण शब्द जरा कठोर बात है और निर्वाण यह उत्तम शब्द है। तो जीवनसे संतोष न करो। कोई जिन्दा है, चल रहा है, क्या चल रहा है? इस जीवनसे क्या लाभ निकला? इस जीवनसे हित है नहीं, मरणसे हित है नहीं, अज्ञानसे हित है नहीं, पर ज्ञानसे हित है। इसलिए उस जन्ममें क्या संतोष करूं और मरणमें क्या विषाद करूं। ज्ञानमात्र वृत्ति रह सकती है तो संतोषके लायक बात है और ज्ञानमात्र वृत्ति नहीं रह सकती है तो उस जीवनसे फायदा क्या है?

मायास्था मयि हृष्टाः स्युः रुष्टा मे ज्ञस्य का क्षतिः।
कुतस्तुष्याणि रुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–१२॥

पश्चिमसे आये हुए ये लोग, लौकिक भाषामें रहने वाले लोग चाहे मुझपर खुश हो जायें, चाहे मुझपर रुष्ट हो जायें, पर इस ज्ञानमात्र मुझ आत्माकी क्या क्षति है? माया नाम है पर्यायका और परमार्थ नाम है द्रव्यका। जैसे अन्य जगहमें परमार्थ नाम हैं द्रव्यका और माया नाम है इन सब खटपटोंका। मायाके मायने मत, नहीं यह हैं। जो परमार्थ नहीं सो यह है, जो यह है सो न मायने परमार्थ नहीं है। स्वरूपदृष्टिका माहात्म्य महान् है। द्रव्य और पर्याय अस्तित्वमें होते हुए भी इसमें स्वयंभेदसे भेद है। एक चीज होते हुए भी इसमें स्वयंभेदसे भेद ही असद्भाव है, प्रदेश भेद नहीं है। यह मैं ज्ञानस्वरूप स्वभाव और ये क्रोध, मान आदिक कषाय ये भिन्न-भिन्न क्षेत्रमें नहीं हैं, जुदे सत्में नहीं हैं, लेकिन जो मेरे

ज्ञानस्वभावका स्वरूप है वह कषायोंका स्वरूप नहीं है और जो कषायोंका स्वरूप है वह मेरे स्वभावका स्वरूप नहीं। स्वरूपभेद करके ध्रुवस्वरूपमें आत्मीयताका अनुभव करना और अध्रुवस्वरूपमें आत्मीयताका अनुभव न करना। इस प्रज्ञाके प्रयोगमें अद्भुत फल प्राप्त होता है। इसलिए आत्मस्वभावकी दृष्टि करने वाले जन ऐसी भावना करते हैं, सोचते हैं कि माया में ठहरे हुए ये लोग, विषय कषायोंमें लगे हुए ये लोग यदि मुझपर हर्षित हो जायें, मुझपर प्रसन्न हो जायें तो ये मेरा लाभ क्या करेंगे, और मुझपर रुष्ट हो जाय तो मेरी हानि क्या करेंगे ? उनका परिणमन उनमें होता और समाप्त होता है, हमारा परिणमन हममें होता और समाप्त होता है। और यदि ये मायास्थ पुरुष खुश हो जायें तो खुश होनेके प्रसादसे भी आपदा मिलेगी और रुष्ट होनेके प्रसादमें भी आपदा मिलेगी।

जैसे पिता अपने बेटोंपर कितना खुश रहता है ? इस खुश रहनेके परिणाममें वह क्या करता है कि बच्चोंको चौथी कक्षामें यदि मास्टरने पीट दिया तो वह बोलता है कि हमे अपने बच्चेको नहीं पढ़ाना है या वह उनपर खुश हो गया है। और आगे चलो तो जल्दी ब्याह कर देते हैं और और साधन जुटा देते हैं। दुकान कराते, अमुक काम कराते। ये साधन उसके मोह बढ़ानेके साधन हुए या ज्ञान बढ़ानेके साधन हुए ? कौनसा पिता ऐसा होता है जो यह सोचे कि मेरा बच्चा आनन्दकी दृष्टि पा ले तो अच्छा है। ऐसा कोई बाप हो तो हमे पता नहीं। पर प्रायः जो हमें दिखते हैं वे यही कि पुत्रके आत्माकी हितकी बात तो नहीं देखते, किन्तु अपने कषायोंकी बात देखते है। तो ये मायास्थ पुरुष खुश हों तो क्या, रुष्ट हों तो क्या ?

कभी किसीने स्वप्न देखा है या नहीं, पर हमने तो देखा है इसलिए कह रहे हैं कि जब बहुत बुखार है, रजाई ओढ़े हैं, जाड़ा लग रहा है, कुछ नींद आ गयी है, स्वप्न देखने लगे कि कहीं पड़ा हूँ रेलकी पटरी पर या पटरीके बीचमें, ऊपरसे रेल निकल रही है, मैं अपनेको बहुत संभाल रहा हूँ, जमीनसे चिपककर अपनेको संभाले हूँ। देख रहे हैं कि गाड़ी निकल रही है और मैं सुरक्षित हूँ, थोड़ीसी और रह गयी, अब सब निकल गयी, अब मैं आनन्दमय हो गया। नींद खुल गयी, वहाँ कुछ नहीं था और बुखार मिट गया। ऐसा स्वप्न कभी-कभी जब बुखारसे निवृत्ति होती है तब आता है, इसी ढंगका आता है।

आपमें उन सब परिस्थितियोंमें कोई खुश हो रहा है, कोई रुष्ट हो रहा है, कोई किसी प्रकार चल रहा है, कोई किसी प्रकार चल रहा है। उन सब परिस्थितियोंके बीच जिन्हें कल्पनाओंसे आपदा मान लेते हैं, उन परिस्थितियोंके मध्य भी अपने आपको इतना दृढ़

बनाये रहें, अपने आपको केन्द्रमे सटा हुआ, चिपका हुआ, अपनेको ऐसा मजबूत सावधान बनाये रहें कि यह बात अमुक जगहसे यों आयी और यों निकल गयी। आपसकी बात उठ निकलेगी। अपना जीवन इस तरहसे गुजार दो कि अपने आपको भीतर अपने केन्द्रसे सिमटा हुआ मजबूत बनाकर इन सब आपदाओंको निकाल दो। आपदा क्या है? ये मायास्थ जन कोई खुश हो गया है, कोई रुष्ट हो गया है। उनकी यह परिणति है, उनका यह विकल्प है, आपदा कुछ नहीं है। आपदा तो मोंहसे मान ली है।

सो ये कोई कहीं कैसा भी परिणाम नहीं, उससे मेरा सुधार बिगाड़ नहीं है। किस बातका संतोष करूँ, किस बातका रोष करूँ? क्या करोड़ोंका धन हो जायगा तो संतोषकी स्थिति हो जायगी? केवल स्वप्न देख रहे हैं ऐसा मात्र लगता है। करोड़ोंकी सम्पदाके बीच क्या गुजरा है, सो उन सेठोंकी परिस्थितियोंको देख लो। प्रायः सब लोग जानते ही हैं, दूसरों के द्वारा सुनकर, खबरोंके द्वारा सुनकर क्या उनपर गुजरा है? संतोष नामक चीज क्या है? आत्माके गुणोंकी पर्याय है आनन्द। मेरी गुणोंकी पर्याय किसी अन्य वस्तुसे प्रकट होती है। यह कितनी असम्भव बात है। वे प्रत्येक पदार्थका निमित्त पाकर यह करते हैं, पर जो शुद्ध आनन्दकी बात है वह तो परका आश्रय करके होनी ही नहीं है तब कहाँ संतोष करूँ?

उस मृगकी तरह हालत है जो प्यासा है, रेतीले स्थानपर खड़ा है। कहीं आगेके रेत को देखता है तो पानीकी आशासे दौड़ता है, पास पहुंचता तो पानी नहीं मिलता। फिर सिर उठाया, बाहरका रेत पानी जंचने लगा, दौड़ा, पास पहुंचता है तो पानी नहीं पाता है। पानी की आशासे दौड़ लगा-लगाकर दुःखी होकर वह हिरण प्राण गंवा देता है। इसी तरह नवीन नवीन विषयोंकी आशामें अपने जीवनमें दौड़ लगाकर, भटककर, थककर अन्तमें यह भी प्राण गंवा देता है। देते कहो कुछ हो, अपने आपको देखो, अपने आपको सही व्यवस्था बना लो जिससे अपने आपका कल्याण हो।

ज्ञानी ज्ञानरतोऽज्ञानी मायास्थः परलोचकः।
मायास्थवाचिको रोषः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१३॥

ज्ञानी पुरुष ज्ञानमे रत रहता है और अज्ञानी पुरुष मायामें स्थित रहता है। जो दूसरोंकी आलोचना करने वाले है वे मायास्थ हैं, ज्ञानरत तो नहीं हैं। जो दूसरोंकी निन्दा और भी विवाद आदि करने वाले हैं। इतना तो निश्चित है कि वे ज्ञानसे रत नही हैं, मायास्थ हैं। सो और भी अधिक देखो तो जिसकी निन्दाकी प्रकृति है और निन्दा करता है उस पुरुषको उन्मत्त मोही कहेंगे। जिस आत्मामें स्वाधीनता नहीं है, बाह्यमें ही दृष्टि फंसी है और अपने आप पर चाहे वह कैसी ही निन्द्य परिणति वाला हो, पर मानते हैं उच्च, इसी

कारण दूसरे मेरी नजरमें निम्न है । तब ऐसी वृत्ति वाले पुरुष मायास्थ कहलायेंगे या ज्ञानी ? उत्तर मिलेगा — मायास्थ उन्मत्त ।

जब आप सड़कसे निकलते हैं । कोई पागल मिलता है और वह गालियां देता है, बुरे वचन बोलता है और आपको यह मालूम पड जाय कि यह तो पागल है तो फिर उसके वचनोंसे आपको बुरा न लगेगा, क्योंकि आप यह जान गये कि यह पागल है, होशमें नहीं है, यह तो दयाका पात्र है । इतनी बात समझमें आने पर कि पागल है, दीन है, उसकी गालियोंको बुरा नहीं मानते । सोचते हैं कि बेचारा खुद पागल है ।

इसी तरह जो निन्दा करने वाले हैं, आलोचना करने वाले हैं वे पुरुष उन्मत्त हैं, ज्ञानी तो नहीं हैं, वे खुद अपनी सावधानी खो बैठे हैं, दयाके पात्र हैं, स्वयंपर अज्ञान अन्धेरा छाया है, ऐसा जब ज्ञानमें आये तो उसके वचनोंका बुरा तो नहीं मानता है । सो मायास्थ पुरुषोंके वचनमें यह रोष हो कि मैं तो अपनेमें अपने आपकी स्वाधीनता रखता हुआ अपनेमें तृप्त रहूं।

ये स्तुवन्ति च निन्दति ते दृश्यं न तु मामिमम् ।
शंसा निन्दा न गुप्तस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१४॥

जो स्तवन करते हैं, प्रशंसा, निन्दा करते हैं, वे इस दिखने वाले पुतलेका ही लक्ष्य बनाकर प्रशंसा करते हैं और निन्दा करते हैं, पर जो परमार्थ सत् मैं हूं उसकी न तो प्रशंसा वे करते और न निन्दा करते । मुझे तो वे जानते ही नहीं हैं । तो उस ज्ञायकस्वभाव मुझ आत्मतत्त्वको वे जानते ही नहीं । तो उनके इस ज्ञानमें यह व्यक्ति ही नहीं ठहरता, किन्तु एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप वर्तता है । ऐसी स्थितिमें वे क्या प्रशसा कर सकेंगे या निंदा कर सकेंगे ? और जिसने मुझे देखा ही नहीं इस दृश्य पुतलेको ही निहारते हैं तो जिसको देखकर उसने गाली दी वह गाली उसको हुई, मेरेको नहीं हुई । जैसे कोई पुरुष गाली बकता है तो समझने वाले समझते भी जाते हैं कि मुझे कहा है लेकिन उसका नाम लेकर नहीं कहा तो कहते हैं कि न जानें किसको कह रहा है ? वह समझकर भी ऐसा बोलता है । वह दुनियामें यह बताना चाहता है कि इसने मुझे गाली नहीं दी और दी भी हो ता मैंने मानी नहीं ।

जब खुद मान लिया तो अपने-अपने लिए सोचते हैं कि मेरा प्रभाव है, मेरा असर है और जब खुद नहीं मानते तो उसका प्रभाव नहीं होता । हमें इतना जो दुःख है, जन्म-मरणके चक्कर काटते ही रहते हैं, इसका कारण क्या है कि मैं जैसा सहज नहीं हूं वैसा मान लिया है । मैं सुखी हूं, दुःखी हूं, मेरे धन है, घर है, मेरा प्रभाव है आदि अपने आपको मान लिया तो भैया सारा खेल, सारा सुख-दुःख सब एक माननेपर निर्भर है । कोई कितना ही

कुछ कह रहा हो, पीठ पीछे आलोचना, निन्दा करे और जब तक ज्ञान आया हो तब तक बड़ा प्रसन्न भी है, और अगर यह कल्पना आने लगे कि हमें तो किसीने कुछ कहा तो दुःख हो गया।

इस जीवके अन्दर ही विकल्पोंकी चक्की चलती है, उस चक्कीमें यह प्रभु आत्मभगवान् पिसा जा रहा है। कोई दूसरा इसे दुःखी करने वाला नहीं है। सो चाहे प्रशंसा करें, चाहे निन्दा करें वे इस दृश्य पुतलेकी कर रहे हैं, मुझ आत्मतत्त्वकी नहीं। क्योंकि यह मैं गुप्त हूं। इस गुप्त ज्ञायकस्वभाव प्रभुकी न तो प्रशंसा हो रही है और न निन्दा हो रही है। प्रशंसा और निन्दा हो ही नहीं सकती सो अपनेसे उठकर बाहर ढूंढ़कर विकल्पोंको क्यों करूं? अपनेको ही निहारकर अपनेमें अपने आप सुखी होऊँ।

प्रशंसया न मे लाभो निन्दया का च मे क्षतिः।
स्वे हिन्म्येव विकल्पेन स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१५॥

प्रशंसासे मेरा लाभ नहीं है। संसारी प्राणियोंपर इतना विकट भ्रमका पहाड़ लदा है कि इसे चैन नहीं है। प्रशंसासे लाभ मानते हैं। प्रशंसा हो तो बेचैनी, न हो तो बेचैनी। इस जगत्में किसीका कोई लगता नहीं है। और न किसीकी प्रशंसा हो जानेपर मुझे कुछ लाभ मिलता है पर एक व्यर्थका कारोबार प्रशंसाकी धुन हुई। यह विकट अज्ञानका पहाड़ शांति समाधिका अन्त दूर हो जाता है। जगत्में यह एक प्रकारका रोना है। यह एक गोरखधन्धा है और इन रागोंको लगाने वाला है पुण्यकर्म। सम्पदा तो दुःखका साधन है। जो दुःखी है, पीड़ित है उसको प्रशंसाकी चाहका रोग नहीं लगता। जो धनी है, ऐश्वर्यवान् है उसके पास सुख सामग्री है, चार आदमियोंमें थोड़ीसी पूछताछ है, ऐसी स्थितिमें प्रशंसाका रोग लगता है।

भला खुदके जीवनका गुजारा करनेके लिए कितने द्रव्य आवश्यक हैं? कितनेमें पेट भर जायगा और कितनेमें कपड़ोंकी व्यवस्था बन जायगी सो सोच लो। मामूलीसी बातें हैं, कोई लखपति हो या करोड़पति हो, वह भी अधिकाधिक धन चाहता है। इसलिए कि अभी पेट भरनेका, तन ढकनेका, कपड़ा मिलनेका जरा प्रबंध नहीं है। क्या इस कारणसे अब करोड़पति होनेकी धुनमें है? नहीं। करोड़पति हो जायें या अरबपति हो जायें, किन्तु धन सभी चाहते हैं। क्या कुछ जीवनका गुजारा होनेमें कमी है? कमी नहीं है, पर इन सब प्रयत्नोंका कारण है प्रशंसा लूटना। मैं जगत्में सर्वाधिक कहलाऊँ। अरे किसकी दृष्टिमें धनी कहलवाना चाहते हो? मोही अज्ञानी जन्म मरणके चक्रमें फँसे हुए हैं, उनका हित कुछ भी नहीं होता। ऐसे समुदायमें धनी कहलानेकी चाह कितना विकट रोग है? गुणी कहलवानेकी

चाह है, सज्जन कहलवानेकी चाह है, यह कितना विकट रोग है ? पुण्योदय हुआ सो कुछ साधन अच्छे हुये, पर जो यह बहुत बड़ा विकट रोग है कि मेरी प्रशंसा हो, उस प्रशंसासे मेरा कुछ भी लाभ नही है । और निन्दासे मेरी कुछ भी क्षति नहीं है । निन्दा होना मेरा भाव है और कषाय है और उस कषायका निमित्त पाकर वचनवर्गणाओंका ऐसा फैलाव है, वह सब वहीं समाप्त है । किसी अन्यका इस मुझ आत्मामें प्रवेश नही है । तो फिर उस निंदा में मेरी क्षति क्या हुई ? मैं तो अपने ही विकल्पोंसे अपने आपकी क्षति कर रहा हूं ।

और भी देख लो—समझते है कि प्रशंसा करने वालोंसे हमारा हित है और निन्दा करने वालोंसे हमारा अनिष्ट है । तो प्रशंसकके द्वारा हमको मिला क्या और निन्दकके द्वारा हमको मिला क्या ? कुछ मोही जीवोंने प्रशंसा कर दी, बड़े सज्जन है, बड़े ज्ञानी हैं, तो प्रशंसा करके वह अपने घर चला गया और उसको सुनकर यह हृदयमें उर्दाको चुनने लगा, बेचैनी हो गयी, क्षोभ मच गया । प्रशंसक मेरा बड़ा हितू है । वह तो कहकर चला गया है, पर यह तो प्रसन्न हो गया, और निन्दा करने वालेने क्या किया ? एक वचन ही बोला, किंतु उन वचनोंको सुनकर सावधानीका भाव आया, संयम चारित्र । सभी प्रकारके आचरणोंसे रहित भाव आया तो निन्दकके निमित्तसे यहां कुछ सत्पथ मिला । तो प्रशंसासे क्या मिला और निन्दासे क्या मिला ? वास्तवमें तो दोनो ही वृत्तियोंसे क्षोभ मिला । वहाँ विकल्प करके अपने आपको ही घात किया और भी देखो, निन्दक पुरुष कितना उपकारी है कि आपके दोष कहकर, बुराई कहकर आपको तो नरकसे बचा लेगा और खुद नरकमे जानेकी तैयारी कर लेगा ।

दूसरोंको दुर्गतिसे बचाकर खुद दुर्गतिमे जानेका उपकृत करने वाला उपयोगकारी है या निन्दक ? अरे न कोई दूसरा उपकारी है न कोई दूसरा अपकारी है । सब अपने-अपने परिणामोंकी बात है । सबसे बड़ा धन क्या ? अपना परिणाम । अपना परिणाम यदि पवित्र है, शुद्ध है, स्वभावदृष्टिमें लगा हुआ है तो ठीक है और "पापनिरोधान्य सम्पदा किम् प्रयोजनम् ?" यदि मेरे पाप रुक गये है तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन ?

सबसे बड़ी सम्पदा तो पापनिरोध ही है । यदि पापोंका आस्रव है तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन ? पापोंका उदय आ गया तो हमें दूसरा कौन बचा लेगा ? क्या सम्पदा बचा लेगी ? नहीं । तो सबसे बड़ा वैभव है आत्मनिर्मलता । मोहमें बड़ी दौड़ लगाने वाले बंधुवों को सोचना चाहिए कि क्यों ऐसी विकट दौड़ लगा रहे हैं ? अपनेको तो देखो संभालो, अपने आपमें ही समस्त सुख, वैभव भरा हुआ है । जो यह है वह बाहर नहीं है और जो बाहर है वह बाहर वालेका है । वहाँ मेरा नहीं है । सब कुछ पूरा पड़ेगा अपने आपसे ही, सो स्तवन

निन्दाके विकल्पोंको तोड़कर इन फंसाने वाले मायाजालोंको तोड़कर अपने आपमें गुप्त रहते हुए अपने आपमें देखूं और स्वयं सुखी होऊँ।

ज्ञानमात्रमहं तस्माज्ज्ञानादन्यत्करोमि किम्।
किं त्यजानीह गृह्णीयाम् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-१६॥

मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ। अपने आपके स्वरूपके बारेमें मैं परखना चाहूं कि मैं कैसा हूं तो पहिले अपनेमें पायेंगे क्या? शुद्धदृष्टि करके अपने आपके स्वरूपको देखेंगे तो कुछ विवेक उसमें है, कुछ राग है, द्वेष है, मोह है, विकल्प है, अशांति है, मौज, सुख है, दुःख है। जिसमें ये सब पाये जाते हैं वही तो जीव है, नहीं तो अभी निशान ठीक ही जमा है। यह एक अशुद्ध दशाकी दृष्टिसे विचार हुआ है। इस तरह अभी पता नहीं पड़ा कि जिससे ज्ञान होने पर अद्भुत अनुपम आनन्द होता है और सत्य परिचय मिलता है। मैं क्या हूं? अपने आप को ही निरखो, परमें तो मालूम होगा कि ये कुछ नहीं है। यहां कुछ अड़नेकी चीज नहीं, लेने देनेकी चीज नहीं, किन्तु और गहरे चिन्तनसे परखेंगे तो यही निर्णय होगा कि मैं ज्ञान-मात्र हूँ, जाननमात्र हूँ। यह हो गया ग्रहण। जानन सामान्य ऐसा है कि जिसमें स्वरूपके कारण अर्थ ग्रहण भी होता है, पर अर्थ ग्रहणका विकल्प प्रतीत नहीं होता। ऐसा शुद्ध जानन मात्र मैं आत्मा हूं। तब फिर ज्ञानसे अन्यमें मैं करता ही क्या हूँ? प्रत्येक जगह पर कहते हैं कि यह मैं आत्मा ज्ञान परिणमनके सिवाय करता ही क्या हूं? आत्माका असाधारण लक्षण चैतन्य है, ज्ञान है, इसमें इस चैतन्यकी वृत्ति चलती है। उसके अतिरिक्त और मैं करता ही क्या हूँ? और उस ज्ञानमें भी मैं क्या करता? केवल ज्ञानरूप परिणमन होता है। जैसे अचेतन पदार्थोंमें हम करनेका शब्द नहीं लगाते। लगाते भी है तो समझते रहते हैं कि क्या कुछ नहीं रहा जाता है?

जैसे पूछा जाय कि इस वृक्षने क्या किया? तो इसने अपनेमें हरियाली कर ली। और हरियाली करनेका अर्थ क्या है? हरेपनका परिणमन हुआ, अचेतन पदार्थोंके करनेकी बात कम जंचती है, होनेकी बात स्पष्ट जंचती है तो यह सब पदार्थोंका ही तो नाता है। जितने पदार्थ हैं उन सबकी भी यही बात है कि वे हैं और परिणमते हैं। विभावरूप परिण-मते हैं तो इसी अनुकूल निमित्त पाकर ही परिणमते हैं। परिणमन करनेका अर्थ क्या? अरे कहते भी हैं—

यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो स्वभावतः स कर्मः।

बस परिणमनका निमित्त करना है। मैं ज्ञानमात्र हूं तो ज्ञानके अतिरिक्त मैं करता ही क्या हूं? जैसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र प्रसंगमें ये तीनों चीजें ज्ञानवृत्ति

रूप परिणमतो हैं। ज्ञानका 'जीवात्मक श्रद्धान्' स्वभावसे है। सो सम्यग्दर्शन है।

ज्ञानका अर्थ है आत्मग्रहण। स्वभावका होना सम्यग्ज्ञान है और ज्ञानका रागादिकों के स्वभावसे बने रहना सो सम्यक्चारित्र है। इसी प्रकार यह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र भी इस ही ज्ञानसे सम्बंधित बात है। ज्ञानका विपरीत श्रद्धा भावसे परिणमना सो मिथ्यादर्शन है। ज्ञानका विपरीत ज्ञानसे परिणमना मिथ्याज्ञान है और ज्ञानका रागादिकों में लगते हुए होना, परिणमना सो मिथ्याचारित्र है।

भेदवादका गुणभेद होता है, सो सर्वत्र यह देख लो कि उस ज्ञानके सिवाय और करता क्या हूँ ? घरमें बैठे हुए झुंझला गये तो वहाँ पर भी उसने अपने ज्ञानका परिणमन किया। कभी-कभी सभाओंमें या देशसेवाके कामोंमें या अन्य कोई प्रकारके पारिश्रमिकताओं में कुछ सफलता पायी और यहाँ कुछ गौरवके साथ अपनी वृत्ति दिखाई तो उन सब साधनोंमें भी इस आत्माने क्या किया है ? ज्ञानका काम किया है, विपरीत रूपसे अथवा सही रूपसे। ज्ञानसे अन्यत्र मैं करता ही क्या हूं ? किसीको ऐसा मान लेनेसे कि यह मेरा पुत्र है, तो क्या उसका पुत्र बन जाता है ? यह मेरा घर है, इतना सोच लेनेसे क्या घर उसका हो जाता है ? और यह सोच लेनेसे क्या घर उसका हो जाता है ? और यह सोच लेनेसे कि मैंने दरीको बनाया, घड़ीको बनाया, इस चौकीको बनाया, इस चौकीको जला दिया इतना सोच लेनेसे क्या सब कुछ हो गया ? नहीं। क्या उस चौकीको जलाने वाला आत्मा हो गया ? नहीं। क्या उन चौकी कागजको तोड़ने फाड़ने वाला आत्मा हो गया ? नहीं। आत्मस्वरूपको देखो। आत्मा क्या है ? कितना मात्र है ? क्या वह किसीको छू भी सकता, पकड़ भी सकता है ? यह ज्ञानमात्र है, ऐसा यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानके सिवाय और करता ही क्या हूं ? फिर मैं किसको छोड़ूं और किसको ग्रहण करूं ? यह बहुत अन्तर मर्मको पहचानकर आत्मस्वरूप का बोध करने वाला चिन्तन कर रहे हैं। छोड़ना क्या ? सब बाहर ही तो हैं। ग्रहण करना क्या ? क्या किसी भी तरहसे परपदार्थ इसके ग्रहणमें आते हैं। यह जो विकल्प करता है, यही तो पदार्थोंका ग्रहण है। और उसे विकल्पोंको छोड़ना हो तो यही पदार्थोंका त्याग है। इसे आत्माके निज चतुष्टयको देखकर सोचना चाहिए।

कोई पदार्थ अपने स्वरूपचतुष्टयसे बाहर कुछ अपना अस्तित्व रखता है क्या ? नहीं। फिर मैं क्या छोड़ूं और क्या ग्रहण करूं ? अरे उन विकल्पोंका त्याग करना है, जिन पदार्थों से हमने परपदार्थोंका ग्रहण करना माना है। उन विकल्पोंके त्यागकी आवश्यकता है। यह बात कही जा रही है बहुत अंतरदृष्टि लगाकर योगके साथ चिंतन करनेकी बात है, तब फिर सबसे उपेक्षित होकर मैं अपनमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊं।

संसारबाहिमूढेनासाम्यमभ्रान्तवेदिनः ।
अलिप्तो हि सदा शान्तः स्यौ स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।६—१७।।

एक मोही और एक ज्ञानी इनकी समानता क्या की जा सकती है ? नहीं । मोही संसारमें रोने वाला आत्मा है और ज्ञानी, भ्रांतिरहित, सत्य स्वरूपका जानने वाला आत्मा है । इन दोनों आत्माओंकी क्या तुलना की जा सकती है ? कोई समानता क्या बतायी जा सकती है ? नहीं । बहुत अन्तर है, यह मोही जीव अपने ऊपर संसारका बोझ लादता और बढ़ाता चला जा रहा है । धन्य है वह सम्यग्ज्ञान जिसके प्रतापसे संकट दूर हो जाते हैं । वह संकट भी इन्द्रजाल है । है कुछ नहीं, कल्पनामें बनाया हुआ एक विभाव है । उसके मिटानेमें कुछ बाहरसे उद्यम नहीं किया जाता है । जैसे बाहरके कितने ही काम होते हैं ? हथौड़ी छेनी आदिसे खटपट काम किया जाता है ।

एक भीतमें कपड़ा टाँगनेका यदि पटिया बनाना है तो काठ लायें, ठोकें, पीटें, छेद करें, पेंच कसें, टाँगने जैसा करें, और बाहरकी चीज ही मिटाना हुआ, तोड़ना, फोड़ना, सुधारना ही हुआ । हथोड़ा लाये फिर उसमें खटपट किया । क्या जीवको अपने संकट मिटाने के लिए कोई बाहरी औजारोंकी आवश्यकता है ? नहीं । संकट क्या है ? एक विचार, कल्पना, अशांति ही संकट है ।

कुछ पुरुष सड़कपर जा रहे हैं, कुछ सेठ हैं, कुछ जानकार हैं । उन्हें दो-चार आदमी साधारणसे सामने मिले । उन्होंने राम-राम भी नहीं किया, वह सेठ भीतरसे आग बबूला हो गया । इन्होंने मुझे कैसा समझ लिया है ? ये मुझे कुछ भी नहीं समझते हैं, जमाना बड़ा खराब है । सब उद्दण्ड बन गये हैं, ये राम-राम भी नहीं करते, ये मुझसे बात भी नहीं करते, झुकते भी नहीं है । सेठ बड़े संकटोंमें पड़ गया है, बड़ा बेचैन हो रहा है । उसके आकुलताएं बन गयी हैं, संकट हो गये हैं, देखिये बात वहाँ कुछ नहीं है, पर सेठपर संकट गुजर रहे हैं ।

एक बात ही संभालना है । ये भी जीव हैं, स्वयं हैं, उनसे मुझे क्या होता है ? वे मेरे न स्वामी हैं, न अधिकारी है, क्या सम्बंध है, वे घटनाको ज्ञेय नहीं बना सकते । संकट विकट आ गये । और ये संकट मिटेंगे कैसे ? क्या दौड़ धूप करके इन संकटोंके सामने लगना पड़ेगा ? इन संकटोंको मिटानेके लिए और कुछ नहीं करना पड़ेगा, केवल अज्ञानको हटाना होगा, ज्ञान बसाना होगा, लो संकट जो थे वे मिट गये । कहाँसे संकट होते हैं कुछ जरा सोचो तो ? केवल एक ही इस संकटसे इस जीवपर अनेक काँटे लगते चले जा रहे हैं अथवा किन्हीं व्यसनोंमें कुछ धन खर्च हो रहा है । इतना खर्च इसमें करना पड़ेगा, बस संकट हो गये । तो क्या संकट हो गये ? कल्पनाओंमें बात आ चुकी थी कि मैं एक इज्जत वाला हूं,

मैं इतने परिवार वाला हूं, और इतने पैसे वाला हूं, और इस तरहसे टोटे पड़ते जायेंगे तो लोगोंके बीच मेरी स्थिति क्या हो जायगी ? इतना केवल भाव ही तो बनाया है, उसीका सारा संकट है। कैसे मिटेंगे ये संकट ? इन संकटोंके मिटानेका उपाय एक ज्ञान है।

मैं तो यह एक पूर्ण नग्न अतरंगसे शुद्ध ज्ञायकमात्र हू जिसमें किसी भी दूसरी चीज का मेल नहीं है, केवल अपने ही स्वरूपास्तित्वमें है। ऐसा यह मैं बिल्कुल एकाकी मात्र हूं। ऐसा ही था, ऐसा ही हूँ और ऐसा ही रहूँगा। जो भी दिखते हैं ये सब चले जायेंगे। जो कुछ भी व्यवहारमें आता है सब इन्द्रियजाल है, यह सब निमित्तनैमित्तिक भावोंका खेल है। इन्द्रियजाल ही निमित्तनैमित्तिक भावको कहते हैं, क्योंकि किसीके सत्की वह बात नहीं है। परके प्रसंगमें वह सब कुछ हो जाता है। किसी एक सत्में नहीं है और फिर भी होता है, वही इन्द्रजाल है। जिस जीवमें सदासे राग नहीं है, पौद्गलिक कर्मोंमें राग नहीं है, पर परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावके प्रसंगमें राग परिणति होती है। मान लेनेकी बात आस्रवभूत पदार्थोंके साथ है।

जैसे मान लिया कि यह घर मेरा है तो घर मेरा केवल मानने भरकी बात है। नहीं, पर घर मेरा है, इस प्रकार जो विभाव परिणमन है वह तो उसमें परिणमन है ही, पर अपना प्रयोजन यह है कि इन्द्रजाल कहो, चाहे निमित्तनैमित्तिक भावोंका विस्तार कहो, दोनों एक ही बातें हैं। तो यह संसारका बोझ लादने वाला मोही जीव और भ्रांतिरहित पदार्थोंके परमार्थ स्वरूप ज्ञानी जीव इन दोनोंमें क्या समानता हो सकती है ? नहीं, इनमें तो महान् अन्तर है। एक ज्ञानी जीव अलिप्त रहता है और मोही जीव कल्पनाओंमें लिप्त रहता है। सो इस लगावमें तो चैन है नहीं और अलिप्त रहनेमें चैन है। अहो जो ज्ञानानुभूतिकी ओर ले जाय उससे बढ़कर दुनियामें कुछ वैभव नहीं है। वही मेरा सर्वस्व है, वही मेरी शरण है। सो मैं बाह्य पदार्थोंसे अलिप्त होता हुआ अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

रागद्वेषो हि संसारो भ्रमात्तत्रोपयोजनात्।
शुद्धं शान्तं विजानीयां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–१८॥

राग और द्वेषका ही नाम संसार है। यह संसार कैसे बना ? तो भ्रम उपयोग करने से ये राग द्वेष बने। एक यह जीव ही तो भ्रम करके अपने आपके सत्य, शांतिस्वरूप स्वभाव से बिगकर क्षोभमें आता है। यह जीव जब तक अपने आपको ज्ञानघन और आनन्दमय समझ नहीं पाता, अपने स्वरूपका श्रद्धान् नहीं कर पाता तब तक यह जीव अपने आपमें नहीं टिक सकता। और जो अपने आपमें न टिक सके उसके राग और द्वेषकी तरंगें होती हैं।

मेरा संसार मेरा विभाव है। लोकमें अनेक जगह हैं, अनेक चीजें हैं, संयोग हैं। वे

मेरी कैसे कही जा सकती है ? तो यह संसार मेरा नहीं है । मेरा संसार तो मेरा विभावपरिणाम है । बाहरमें कहीं कुछ हो तब भीतरमें कल्पनाएँ हानि सोचनेकी बन जाती है तो दुःख होता है और भीतरमें हानि महसूस नहीं होती । संपत्तिका ही अनुभव करते और सुख मानते हैं । कोई इष्टवियोग हो तो उस समय वियोगी पुरुष कहने लगते हैं कि मेरी दुनिया लुट गयी । पर उसके तो दुनिया थी ही नहीं तब लुटी क्या ? बाह्यपदार्थ थे, यों परिणमना था तब परिणमन हो गया, पर उन बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धमें जो कल्पनाएँ बनायी थीं, विचार बनाया था, वह कल्पना अब नहीं चल पाती है । उनका आश्रयभूत पदार्थ मिट गया, अलग हो गया । सो अपनी कल्पना वैसी बन पाती तो यही कहलाता है कि दुनिया मिट गयी ।

एक प्रसिद्ध चुटकुला या कहावत या कथानक है कि एक नाई बादशाह की हजामत बनानेके लिए आया । बादशाहकी हजामत बनाता जाय तो नाई लोगोंकी बिना बात किए तो बात नहीं बनती । आदत उनकी ऐसी होती है कि चारों तरफके समाचार उनसे सुन लो । तो नाई बहुत-बहुत बातें करने लगा । बादशाहने नाईसे पूछा—क्यों खवास, आजकल प्रजामें सुख है कि दुःख ? नाई बोला—महाराज, जनतामें बड़ा आनन्द बरस रहा है । घी दूधकी नदियाँ बह रही हैं । बादशाहने पूछा—तेरे घर कितना गोधन है ? बोला—१०-१२ भैंस हैं, १०-१५ गाय हैं । बादशाहकी समझमें आ गया कि इसके घरमें खूब घी दूध होता है तो इसे दिखता है कि प्रजा सुखी है । नाई तो चला गया । उधर राजाने मंत्रीसे कह दिया कि कुछ समयके लिए नाई पर कुछ इलजाम लगाकर उसकी गाय, भैंस गिरफ्तार कर लो । ऐसा ही हो गया । अब फिर नाई हजामत बनाने आया सो बादशाह पूछता है कि खवास प्रजामें कैसा सुख दुःख है ? नाई बोला—महाराज, प्रजामें बड़ा दुःख है । घी दूधका तो किसीको दर्शन ही नहीं होता ।

तो जैसा अपना परिणाम है बस वही उसके लिए दुनिया है । अपना असर अपने ही उपयोगसे हो जाता है । जब चिन्तातुर हुए तो सभी लोगोंकी दशा सम्भवतः जितना देख सकते हैं, चिन्तातुर ही दिखती है । यदि कोई बड़ी विकट चिन्ता लगी है, किसी प्रकारका दुःख है तो ऐसा लगता है कि वे लोग भी बड़ी चिन्तामें पड़े हैं, सभी चिंतित लगते हैं, सभी दुःखी दिखते हैं । और कोई बड़ा खुशी हो तो जो चिंतातुर हैं उन पर भी यही ख्याल होता है कि ये बड़े खुशी हैं, ये बड़े आनन्दमें हैं । कभी कभी प्रभुमुद्राको देखकर ऐसा लगता है कि आज तो भगवान् हँस रहा है और कभी उसकी मूर्तिमें ऐसा लगता है कि आज भगवान् उदास है । तो यह क्या है ? क्या वह चेहरा कल और था, आज और हो गया है ? अरे आप अगर खुश हैं तो आपका भगवान् भी प्रसन्न नजर आ रहा है और जब आप शोकातुर हों तो

आपको उस भगवानकी मुद्रा भी उदास नजर आती है। तो जो राग द्वेषका असर है वही संसार है। और इस संसारकी जड़ है भ्रम, सो मैं निज शुद्ध, सहज तत्त्वको जानूं और अपने में आप स्वयं सुखी होऊं।

अन्तर्बाह्यं जगत्सर्वं नश्वरं तत्र किं हितम्।
कर्तव्यमितरद्व्यर्थं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–१६॥

अन्तरजगत् और बाह्यजगत्—ये सबके सब विनाशीक हैं। बाह्य जगत् तो अपने आत्मासे अतिरिक्त अन्य जितनी पर्यायें है वे सब बाह्य जगत् हैं और अपने आपमें जो परिणति, तरंगें होती हैं वह अंतर जगत् है सो ऐसा जगत् भी विनाशीक है और यह बाह्य जगत् भी विनाशीक हैं, इसमें मेरा क्या हित है ? न तो इस अंतरजगत्में हित है और न बाह्य जगत्में हित है। जो लोग ऐसा विचार रखते हैं कि मेरी इस दुनियामें, लोगोंमें कीर्ति सदा काल रहे, अविनाशी रहे तो ऐसा सोचने वाले विनाशीक हैं या अविनाशी ? द्रव्यकी यह बात नहीं है। यह पर्यायमें ही गुजर रहा है। तो जो ऐसा चाहता है वह विनाशीक है और जिनमें चाह है कि लोगोंमें सदा काल यश रहे, वे लोग भी विनाशीक हैं या अविनाशी ? वे भी विनाशीक हैं और जिनकी चाह की जा रही है कि सदा काल यश रहे, वह यश भी अविनाशी है कि विनाशी और इसकी जो चाह होती है यह इच्छा भी विनाशीक है कि अविनाशी ? यह भी विनाशीक है। तो कितने मजेकी बात, गजबकी बात है कि विनाशीक, विनाशीककी चाह कर रहे हैं। अविनाशी होनेकी चाह कर रहे हैं।

यह सारा जगत् विनश्वर है। कितने की काल अब तक बीत गये, अनन्तकाल बीत गये। जिसकी अवधि नहीं उसके सामने इन १०० वर्षोंका भी कितना मूल्य है ? एक स्वयंभूरमण समुद्रमें बहुत बड़े समुद्रमें जो करीब आधे राजूमें फैला हुआ है, इतने बड़े समुद्रमें एक बूंद तो गिनतीमें आ सकती है, पर इस अनन्तकालकी समझो कि १०० वर्ष तो क्या, करोड़ सागर भी गिनतीमें नहीं आते। एक कल्पकाल भी गिनतीमें नहीं आता। तो थोड़ेसे कालके लिए अपनेको कुछ भी जाहिर कर देनेकी इच्छामें यह अमूल्य नरजीवन व्यर्थ गुजर रहा है। किसलिए आये थे ? क्या करने आये थे और क्या कर रहे हैं ? इसपर तो विचार करो। आये थे यों समझ लो आत्महितके लिए, और कर क्या कर रहे हैं विषय और कषाय। बड़े से भी बड़े पुरुष, राजा महाराजा बड़े अच्छे लगते हैं सवारियोंमें बैठकर आते, चेहरा भी बड़ा साफ-सुथरा रहता है। शृङ्गार भी अलौकिक अनुपम रहता है। पर ये विषयकषायोंके घर क्या स्वतंत्र हैं ? तो ऐसे विषयकषायोंके घर स्वयं संसारके लिए बने हुए हैं। उन लौकिक बड़ोंको देखकर मनमें यह वाञ्छा होती कि मैं भी ऐसा ही हो जाऊं। तो इसका

अर्थ यह है कि ऐसे ही अशुद्ध, ऐसे ही विषयकषायोंका घर बनाये रहनेकी चोह कि है अपने हितकी बात कुछ की।

इस जगत्में करने योग्य कार्य कुछ भी नहीं है। है तो एक यही कि बस जो जैसा है तैसा जान जावो, केवल जान जावो। किसी पदार्थमें इष्ट और अनिष्ट बुद्धि न जाय सोई भाई तप है, आत्मकल्याणका उपाय है। बात मानो तो रहेंगे, न मानो तो रहेंगे। वे अपने हैं ही नहीं। आत्मीयताकी जो जबरदस्ती करते हैं यही दुःखका कारण बन गया है। नहीं तो क्या दुःख है ? कोई दुःख नहीं है। रंच भी दुःख नहीं होता। दुःख तो केवल कल्पना बनानेका लगा है, पदार्थ तो सब जो है सो पूरे हैं और अपने आपमें परिणमते रहते हैं। जो आपकी स्थिति है वही उन सबकी स्थिति है। सो यह समस्त जगत् नश्वर है। इस जगत्में कोई हित नहीं है। अन्य कर्तव्य करना व्यर्थ है सो अन्य कर्तृत्वकी कल्पनाओंको छोड़कर मैं अपने आप सुखी होऊँ।

स्वतन्त्रोऽहं परास्तेषां तंत्रो, योगवियोगयोः।
कथं हृष्याणि खिन्दानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२०॥

में स्वतंत्र हूं, अपने तंत्र हूं, मेरा स्वरूपास्तित्व जो है वह मुझमें है। देखो जो अपने घरमें रह रहा है और घरकी सारी चीजें इधर-उधर पड़ी हैं तो भी अपनी गद्दी पर बैठे हैं, गद्दीके आस पास चीजें भी बिखरी हैं तो भी चूंकि अपना ही सब कुछ है सो विश्रामसे रहते है, परवाह नहीं करते हैं, विश्वास तो है। ये देहपर भी यथा तथा पड़े हुए हैं तिसपर भी गौरव है।

इसी प्रकार अपने आपके निजी आत्मगृहमें जो बैठे हैं, देखते हैं, वहां कितनी बातें गड़बड़ भी चलती है; रागद्वेष कषाय, इष्ट बुद्धि, आशा, इच्छा इत्यादि अनेक गड़बड़ियां भी इसमे चल रही हैं, पर अपनेको देखो न तो भी एक इस निश्चयदृष्टिसे अर्थात् अपने उपादान की दृष्टि रखने वाले पुरुषको अव्यवस्थित होते हुए भी आकुलतायें नहीं हैं। घरमें ही तो हैं, ऐसा हो रहा है, ऐसा जान तो रहे हैं। यहां ऐसा हो रहा है। यहां कुछ परद्रव्योंमें परकी परिणति नहीं है। अपना सब कुछ बुरा ही सही, पर अपने आपको देख तो रहा है। व्यवस्थित ढंगसे क्रिया चलते हुए आखिर कन्ट्रोल तो कर लिया है। अपने आपमें तो तन्मय है, यह परिणति हो गयी है। ऐसी दृष्टि वाले अपने आपमें इस ही एकत्वकी पद्धतिके प्रतापसे उन वाञ्छाओंसे दूर हो सकता है।

मैं स्वतन्त्र हूं, अपने आपके आधीन हूं और परपदार्थ उनके ही आधीन हैं, उनका संयोग उनका वियोग हर स्थितिमें उनका उनमें होता है फिर किसी भी प्रसंगमें मैं हर्ष क्या

करूँ, किसीमें खेद क्या करूँ ? संयोगमें तो जीव हर्ष मानता है और वियोगमें जीव खेद मानता है। पर जैसे रात्रिको कोई भय या कल्पना या उपद्रव या कोई मानसिक क्लेश है तो यह दृष्टि है कि यह रोगी गुजर जायगा, मिट जायगा। प्रातः हो गया तो ऐसी प्रतीति वालेको यह धैर्य रहता है कि लो रात गयी, प्रातः हुआ है। जैसे जिन्होंने रात्रिमें पानी छोड़ रखा है, प्यास लगी है, पर यह जानते है कि अभी ४-६ घंटेमें सवेरा तो होगा ही। सवेरा होगा तब पानी पी लेंगे। सवेरा हो गया। ऐसी उपेक्षामें वह रात्रिका समय निकाल देता है। प्रातः होने वाला है। वह अपने दुःखकी वेदना नहीं करता है। इसी प्रकार कितना वियोग हो गया, कितना उपद्रव हो गया तो वह जानता है कि संसारमें दुःखके बाद सुख आता है और सुखके बाद दुःख आता है।

ऐसा कौन इन्द्रिय सुख है जिसके बाद दुःख न आता हो ? सब बैठे है, शृङ्गारसे बैठे है, ढंगसे बैठे हैं, मुद्रा तो ऐसी बनी है कि इनको दुःखका कोई काम ही नहीं है। सजे सजाये बैठे है, पर सभी जानते है कि दिनका जितना अवसर है उसमें अधिक अवसर दुःख माननेका है और थोडा अवसर सुख माननेका है। पर सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख लगा है। इसी प्रकार इन सबमें ऐसा दुःख भी कोई नहीं है कि पूरे दिन लगातार दुःख ही दुःख रहता हो। दुःख निरतर दिनभर रह ही नहीं सकता है। दुःखके बाद सुख लगा है और सुखके बाद दुःख लगा है। तो जिस समय यह जीव सुखमें है उस समय यह जानता है कि इसके बाद दुःख आयगा तो वह सुखमे मौज कैसे मान ले ? दुःख है तो यह बात मन मे है कि यह तो मिटने वाला है, इसके बाद सुख आयगा, दिन अच्छे आयेंगे तो वह दुःखमें धैर्य रखता है तब हर्ष करनेकी चीज कुछ नहीं रही और खेद करनेकी चीज कुछ नहीं रही।

विशिष्ट ज्ञानी तो वह है कि जो इसका ज्ञाता रहता है, इसमे हर्ष और क्लेश नहीं मानता। मैं अपने तन्त्र हूं, बाकी परपदार्थ वे उनके ही आधीन है, फिर मैं किसमे हर्ष करूँ और किसमें खेद करूँ ? मैं तो अपनेमें अपने लिए अपने आप रहकर, समझकर स्वय सुखी होऊँ।

ज्ञानेन ज्ञानमात्रोऽहं भवान्‌स्यन्यगुणानपि।
साक्षात्कर्तुः कुतः क्षोभः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२१॥

मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानके अतिरिक्त आत्मामें और कोई स्वरूप नहीं है। सो यह ज्ञानके द्वारा अपने सभी गुणोंको जाना करे तो उसमें कोई क्षोभ नहीं होता। आत्माका काम तो केवल जानना है, राग द्वेष करना नही है। जो रागद्वेष करते है वह इनकी भूल है। आनन्द तो इस जीवमें स्वयं मौजूद है, पर बाहरी पदार्थोंमें अपना एकत्व माननेके कारण

इन्हें क्षोभ होता है। आत्माके बाहर सब कुछ पर है। किसीसे कुछ सम्बंध नहीं है। पर सम्बन्ध मानते हैं और दुःखी होते हैं। अपने घरके दो-चार बाल बच्चोंके लिए धन कमाना, परिश्रम करना, सारी परेशानियाँ इसे होती हैं और हैं वे सब परचीजें भिन्न चीजें। जैसे जगतके और सब जीव हैं वैसे ही घरमें बसने वाले जीव हैं। कुछ भी फर्क नही है, मगर जीव उनको मानने लगता है कि ये मेरे हैं बस इस रोगसे सब दुःखी हैं। इनको ऐसा ज्ञान जगे कि मेरा तो मात्र मैं ही हूं और जो कुछ भी हैं वे सब मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं और वे अपनी साथ नहीं देते। मृत्यु हो जायगी तो लोग इसको जला देते है।

औरकी बातें जाने दो, जो बड़े-बड़े आचार्य थे उनकी भी तो मृत्यु हो गयी तो उनके शरीरको भी कोई रखता है क्या ? नहीं। पहले उनकी पूजा होती थी, पैर पुजते थे, पर मृत्यु हो जानेके बाद शरीरकी भी वही हालत कर दी गयी तो हम आप लोगोंकी की जाती है। उन आचार्योंके शरीरको चंदनसे जला दिया गया। सो चंदनसे जलायें चाहे लकड़ीसे, कुछ अन्तर नही है। यह तो लोगोंकी भक्ति है कि बड़े पुरुषोंके शरीरको लोग चंदनसे जलाते हैं।

जितना यह क्षोभ है वह बाहरी पदार्थोंमें ममता करनेका क्षोभ है, नहीं तो क्षोभका कुछ काम नही है। ऐसी भावना होनी चाहिए कि मैं तो सबका ज्ञाता मात्र रहूं, किसी पदार्थ में मेरा राग न पहुंचे वही साधक है। गृहस्थीमें रहते हुए भी यदि वैरागी रह सके तो उसका जीवन सफल है और वैरागी न रह सका तो मोहांध हो जायगा तो इसका जीवन बेकार है। मनुष्यजीवन पाया और न पाया उससे कुछ हित नहीं निकलता, सो ममताका त्याग हो और अपने आपसे अपने हितके लिए अपनेको सुखी बनाओ दूसरोंसे सुखकी भीख न मांगो। कोई दूसरा जीव सुखी नहीं बना सकता। कल्पनाएं करते हैं और मौज मानते हैं। कोई भी तो किसीको सुख देनेमे समर्थ नहीं है। खुदको आत्मा निर्मल हो तो सुख हो सकता है और सुखका कोई उपाय नहीं है।

ज्ञानस्य चेष्टयाऽचेष्टोऽचेष्टीभूतः कृती स्वयम्।
अचेष्टनं द्वयोः सारः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६ २२॥

हम चेष्टाएँ तो बहुत करते हैं, पर विकल्पोंकी चेष्टाएँ करते हैं। यदि ज्ञानकी चेष्टाएँ करें तो सब चेष्टाएँ समाप्त हो जावेंगी। मैं केवल जाननहार हूं और जानन ही हमारा काम है। इस प्रकार जाननरूपमें ही अपने उपयोगको रखकर ज्ञानकी चेष्टाके कारण बाकी सब कुछ चेष्टाएँ छूट जावेंगी। सो चाहे ज्ञानकी चेष्टाएँ कहो, चाहे कृतकृत्यका भाव कहो, एक ही बात है। मैं केवल जाननहार रहूं।

ज्ञानीके मायने हैं कि उसे दुनियामें अब कोई काम नही करना है। जिसे दुनियामें काम करनेकी धुन लगी होगी उसे शांति नही मिल सकती है। क्या करना है ? करनेको कुछ भी है क्या ? विचार करो, कुछ सामर्थ्य भी हो सो बात बन सकेगी। संसारके संयोग में, वियोगमें रंच भी अधिकार नही। होना है तो होता है और यदि नहीं होना है तो नहीं होता है। ऐसा अपने आपमे अनुभव करना चाहिए कि मेरा करनेका दुनियामें कोई काम नहीं पड़ा है, क्योंकि मैं दुनियाके पदार्थोंमें कुछ काम कर ही नही सकता। सबकी न्यारी-सत्ता है। किसमे क्या करना है ? अपने आपमे सदा ऐसा विश्वास रखो कि जो प्रभुका स्वरूप है सो मेरी आत्माका स्वरूप है। प्रभुका स्वरूप तो व्यक्त हो गया है, ज्ञानानन्दमय है, ज्ञानमय है, और मेरा स्वरूप जो है वह तिरोहित है।

सो जैसा द्रव्य प्रभुका है वैसा ही द्रव्य अपना है। अपनेमे और प्रभुके स्वरूपमें कोई अन्तर नही है, सो ऐसे ज्ञानका भाव यदि बन सकता है तो जीवनकी सफलता है। नही तो देखो सभी जी रहे है, जीते जाओ, पर मरण तो होगा ही। क्या मरण न होगा ? होगा। ५० वर्ष जी लो, ६० वर्ष जी लो, मरनेके बाद क्या साथ ले जावोगे सो बतला दो। तो फिर जब तक जिन्दा है तब तक अपने दिलसे हटाये रहो। ऐसी बात तो सोचते रहो कि मेरा दुनियामें कुछ नहीं है। जो भी जीव सुखी हो सकेंगे वे अपने भावोसे सुखी हो सकेंगे। इस जगत्में मेरी कुछ चीज नही है। जो यह मान गये कि इस दुनियामे मेरा कुछ नहीं है तो वह उनके हाथ नही आ गया और जो समझा कि मेरा कुछ नही है तो एकदम उसके भीतर ज्ञान और आनन्दका विकास हो जायगा।

जगतके जीव एक ही तरहके रोगी है ममताके। प्रत्येक जीवमें ममता पायी जाती है। पशुओमें देखो तो भी अपनी ममता लगाए है। घोडीको देखो तो वह भी अपने बछड़ेको देखकर हिनहिनाती है। यदि वह घोडी और पर्यायमे होती तो उसका उस बछड़ेके साथ क्या सम्बन्ध था ? आज आप मनुष्यके पर्याय है, यदि आप और किसी पर्यायमे होते तो इस विभूतिसे क्या कुछ सम्बन्ध था ? कुछ भी तो सम्बन्ध न था। यदि इस ममता डायनको दूर करोगे तो भगवान्की भक्ति हुई, नही तो भगवान्की भक्ति नही हुई।

इस तृष्णासे रात-दिन व्याकुल होते चले जा रहे हैं। सबके तृष्णाका ही परिणाम लगा है। इतना धन और हो जाय। अरे कितना धन और हो जाय ? दुनियामें जितना वैभव है मान लो कि मेरा है। जितना धन-वैभव तुम्हारे घरमें है उसको तो माना कि मेरा है तो और भी संसारमें जितना धन-वैभव है उसे भी मान लो कि मेरा है। जितनी चीजें हैं सब भिन्न हैं। कल्पनाएँ ही करके मान लिया कि यह मेरा है। सबकी केवल कल्पनाओंकी

ही बातें चलतीं, और कुछ बातें हो ही नही सकती हैं। कल्पना करके सारी दुनियाके वैभव को मान लो कि मेरा है।

कंजूस आत्माका धन पत्थरके ही समान है। कंजूसने धनको गाड़ दिया और मान रहा है कि यह मेरा है, उसी तरहसे तुम संसारके वैभवको कल्पना करके मान लो कि मेरा है तो तुम और कंजूस बराबर हो गए। कंजूस खर्च नही करता और तुम उस काल्पनिक धनको खर्च करोगे ही क्या ? तो तुम दोनों बराबर हो गए। सारी वस्तुएँ नाशवान हैं। जितना भी सदुपयोग दूसरोंके उपकारमें बने उतना कर लो। और यदि सदुपयोग नही करते तो सारी चीजें मिटेंगी ही, सारी चीजें तो जावेंगी ही। व्यर्थमें पाप और बांध लिया।

सो भगवान्‌की भक्तिका तो यही प्रयोजन है कि हम अपने ज्ञानानन्दमें लीन हो सके जिससे फिर किसी भी प्रकारको आपत्ति न समाए। सो ज्ञानरूप रहना, किसी पदार्थमें भी न फंसना और न बोलना यही सबका सार है।

ध्याने स्तुतौ च याञ्चायां मनोवाक्कायखेदनम्।
निर्विकल्पे कुतः खेदः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२३॥

देखो अपना जो स्वरूप है उस स्वरूपमें तो रंच भी खेद नही। अपने स्वरूपसे अलग होते हैं और बाहरी बातोंमें पड़ते हैं तो खेद है। अभी घरमे अगर देवरानी जेठानीका झगडा हो जाय तो चैन है क्या ? नही। व्यर्थकी लड़ाई है। सब जुदा-जुदा अपना-अपना सत् लिए है। रच भी सम्बंध नही है। यह बना लिया कि यह मेरा है। इसने ज्यादा पहिचान लिया। अरे जिसने ज्यादा पहिचान लिया वह मरनेपर क्या साथमें चला जायगा ? वह साथमें नहीं जा सकता है। आखिरकार छोड़ने ही पड़ेंगे।

सो जितना भी खेद है सब बाह्यपदार्थोंसे खेद है औरकी बात ही क्या, अगर ध्यान करने बैठे हैं तो उस समय भी मनको खिन्न करना पड़ता है। उससे भी ध्यान हटाओ। अपने आपके ध्यानमें लगो तो ध्यान करनेमे भी खेद नही होता है। अपना धर्म है ज्ञायकस्व रूप निजतत्त्व देखना, विकल्पोंसे छूटना, निर्विकल्प रहना। यही असली चीज है, सारे जगत का काम करनेमें आपत्ति है, मगर अपना काम करनेमें अपनेको कोई आपत्ति नहीं है। अपना काम है ज्ञाताद्रष्टा रहना। ज्ञाता द्रष्टा रहनेमें रागद्वेष नही होंगे, मगर इस जीवमे तो ऐसे कुटेब लगे हैं कि उसे अपना बच्चा चाहे नाक बहती हो सबसे प्यारा लगता है और दूसरेका कितना ही सुन्दर बच्चा हो, प्यारा नहीं लगता है।

एक नौकरानीने किसी सेठके यहाँ नोकरी की। सेठानीने नौकरानीसे कहा कि स्कूल जावो, स्कूलमें जो मेरा बच्चा पढ़ता है उसे खानेको दे आवो। नौकरानीने कहा कि मैं तो

तुम्हारे बच्चेको पहिचानती नही। बोली—अरे मेरे बच्चेको क्या पहिचानना ? स्कूलमें जो सबसे अच्छा बच्चा मिल जावे वही मेरा बच्चा है। सेठानी अपने बच्चोंको ही सबसे अच्छा बच्चा समझती थी। सेठानीको यह गर्व था कि मेरा जैसा सुन्दर बच्चा और दूसरा नही है। नौकरानीका भी बच्चा उसी स्कूलमे पढ़ता था। उसे अपना बच्चा ही सबसे ज्यादा सुहाता था। नौकरानीने भोजनके डिब्बेसे भोजन निकालकर अपने ही बच्चेको दे दिया। भोजन उस बच्चेको देकर वह नौकरानी चली आयी। जब छुट्टी पानेके बाद सेठानीका बच्चा आया तो बोला— माँ जी आज आपने मुझे खानेको कुछ नही भेजा था ? माँ ने कहा कि भेजा तो था। उसके कहा—नही भेजा। अब उस सेठानीने नौकरानीको बुलाया उस सेठानीने कहा कि तूने मेरे बच्चेको आज भोजन नही दिया था क्या ? कहा—दिया तो था। उस नौकरानीने कहा कि मैंने दे तो दिया था। तुमने ही तो कहा था कि स्कूलमे जो सबसे अच्छा बच्चा तुझे दिखे वही मेरा बच्चा है उसे ही तू भोजन दे देना। यही मेरा बच्चा मुझे अधिक सुहा गया, इस-लिए मैंने उसे ही भोजन दे दिया।

सो सबको अपना बच्चा प्यारा होता है। सूअरसे कहो कि मेरा बच्चा तो कितना अच्छा है, तू इससे प्यार कर ले तो प्यार नही कर सकता है। सो यह व्यर्थका ऊधम है। ध्यानमे, स्तुतिमे, भजनमे निर्विकल्प अपना ध्यान लगे तो वहाँ खेद नही होता। सो अपने आत्माके स्वरूपको सोचकर, उसमे ही तृप्त रहकर मैं अपनेमे अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊ।

विरक्तो विषयद्वेषी रक्तोऽस्ति विषयस्पृहः।
साक्षी रक्तो विरक्तो न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–२४॥

अब विरक्त कौन है ? जो विषयोंसे हरा हो, राग द्वेष युक्त हो। कभी-कभी कह देते है ना कि स्त्री, पुत्र ये सभी नरककी खान है। तो स्त्री, पुत्र नरककी खान है कैसे ? अरे खुद का परिणाम बिगड़ा हुआ हो तो वही नरककी खान है। जिसने विषय कषायों द्वेषसे अपने को रहित किया वह तो विरक्त कहलाया। मगर जो साक्षी पुरुष है, ज्ञाता पुरुष है वह न रागी होता है और न वैरागी होता है, वह तो जानन देखनहार रहता है। सो बातोंका सार यही है कि अगर ममता नही रहती है तो आनन्द पावोगे और अगर ममता रखो गयी तो आनन्दकी स्थापना नही है। ज्ञाता द्रष्टा रहूं और अपनेमें अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

किन्ही बाह्य पदार्थोंमे सुख होगा क्या ? जैसे इस घड़ीमे सुख गुण है क्या ? इस घड़ीमें सुख हो अथवा यह घड़ी सुख पैदा कर सके तो ऐसा नही है। ये जो घरके लोग हैं उनसे सुख है क्या ? उनसे सुख है, मगर उनका सुख उनके लिए ही है। सुख उनसे निकल-

कर दूसरेमें आवे ऐसा नहीं हो सकता है । किसी परद्रव्यमें कोई लाभ या हानिकी बात नहीं आ सकती । कुछ ही कल्पनाएं करो और दुःखी हो लो । सुख, दुःख तो अपने ही ऊपर निर्भर हैं, किसी अन्यपर निर्भर नहीं हैं । जो विषयोंसे दूर रहना चाहता है वही विरक्त कहलाता है । उसे विषयोंसे द्वेषबुद्धि होती है । जिसे विषयोंसे हटना है और जो विषयोंसे रहित रहना चाहते हैं उनकी रागरहित बुद्धि है, वे रागमें नहीं लगते हैं ।

ये सब ज्ञानी पुरुष जानता है कि जो विषयसे, द्वेषसे रहित है वह विरक्त है । जो विषयोंसे, लोभोंसे रहित है वह ज्ञाता कहलाता है, वह जाननहार है । रागी हो तो, विरागी हो तो वह जाननहार नहीं रहता है । लाखोंका धन भी खर्च हो जाय फिर भी यह समझो कि मेरी कुछ हानि नहीं हुई अथवा यदि लाखोंका धन मिल जाय, फिर भी यह विश्वास रहे कि मैंने कुछ नहीं पा लिया । केवल एक आत्माकी बात न मिली, बाहर ही बाहर भटकता रहे तो इसे कुछ लाभ न मिलेगा । इसलिए हर उपायसे आत्मज्ञान बनाऊं और ममताको दूर करके तो शांति मिल सकती है अन्यथा सुखके स्वप्न देखना केवल कल्पना है ।

सुखं दुःखं स्तुतिं निन्दां कस्य कर्तुं हि क. क्षमः ।
किं श्रमं स्वच्युतेः कुर्यां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२५॥

किसीको सुखी कोई दूसरा नहीं कर सकता है, न दुःखी कोई दूसरा कर सकता है । स्तुति भी कोई किसीकी नहीं करता, प्रशंसा कोई किसीकी नहीं करता । खुदका जैसा भाव होता है वैसी ही वह अपनी चेष्टाएँ करता है । कोई किसीकी निन्दा भी नहीं किया करता, जिसका जैसा अपना कषाय परिणाम है उनके अनुसार ही प्राणी चेष्टाएँ करता है । फिर जब यह देख रहे है कि इसमें कोई प्राणी किसी दूसरेका कुछ नहीं करता, सब अपने-अपने कमाये हुए कर्मोंके अनुसार इस लोकमें सुख और दुःख भोगते हैं । इस लोकमें प्रत्येक जीव अकेला ही है और जो कुछ भी इन जीवोंपर बीतता है सुख हो या दुःख, वह अकेले पर ही बीतता है । इस कारण अपने आप पर दया करना, अपना धर्म करना, यह सबसे आवश्यक चीज है । आजीविका और लौकिक बातोंकी अपेक्षा भी आत्मधर्मको सबसे अधिक महत्व है, क्योंकि यहां दिखने वाली सम्पदा और कीर्ति, सन्मान ये सब मायारूप चीजें हैं । इनसे आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है । न आत्माके साथ ये सब आते हैं और न आत्माके साथ ये सब जायेंगे । ये सब तो यों ही मिले हैं और यों ही छूट जायेंगे ।

आत्माको शांति केवलज्ञानसे प्राप्त होती है । सुख ज्ञान पर ही निर्भर है, सुख काय की चेष्टापर निर्भर नहीं है । सुख धनसे नहीं प्राप्त होता है । कोई करोड़पति भी है, धनिकों में सन्मानके योग्य भी है तो भी अशांत पाया जाता है, क्योंकि वह अपने ज्ञानका अनुभव

अपनेमें नहीं कर पाता कि मैं सबसे न्यारा हूं, केवल ज्ञानमात्र हूं, जाननके स्वरूपके अतिरिक्त मेरा और स्वरूप नहीं है। जब तक यह विश्वास न हो तब तक जीव शांति नही पा सकता। बाहरी बातोंमें लगकर, परपदार्थोंसे दुःख मानकर कभी अकुशलताएं मिट नहीं सकती।

सभी जीव इस मोहके रोगी हैं, और मोहमें जो कष्ट होता है उस कष्टको दूर करने का उपाय भी यही है कि उस मोहको अपनेसे अलग करना है। जैसे कीचड़में पड़ा हुआ कपड़ा कीचड़से साफ नही हो सकता, उसी प्रकार मोहसे होने वाले दुःख मोहसे कभी दूर नही हो सकते। यह जीवन कितना है? कुछ वर्षोंका। कुछ वर्षोंका जीवन मिल गया और मोह किया जा रहा है, तब आखिर इसका फल क्या हाथ लगेगा? इसपर कुछ भी गंभीरता से प्रत्येक मनुष्य विचार नही करता है और वर्तमानमें जो मौज है, विषयका आनंद है, इसको ही सब कुछ समझते हैं। समझे, मगर विषयोके भोगोके कालमे भी और मोहकी मौज मानने के कालमे भी यह जीव सुखी नही रहता है। आकुलतायें तब भी मची हुई है, आकुलतायें मिटनेका सम्बन्ध तो ज्ञानसे है, मोहके साधन मिलनेसे नही।

मनमें यह निर्णय करना चाहिये कि शांतिका सम्बन्ध ज्ञानसे है भोगके साधनोंसे नही है। दो मकान बन जायेंगे तब शांति आ जायगी, दुकान हो जायगी तब मौज हो जायगी, यह सोचना केवल स्वप्न जैसी बात है, शेखचिल्ली जैसी बात है। दो मकान नही, इस मकान हो जायें तो भी चैन नही आ सकती है। जिनके ५० मकान है उनको भी देख लो चैन नही आता है। आनन्दका सम्बन्ध ज्ञानमे है, परिग्रहसे नही है। ऐसे आनन्दकी जिनको चाह है, मुक्तिकी जिनको चाह है, कर्मोंसे छूटनेके जिनके भाव हैं, ज्ञान उपयोगमें जिनको लगना है उन्हें परिग्रहको तो बिल्कुल छोड़ देना चाहिए। उदय अनुकूल होगा तो स्वयं ही वैसा भाव सामने आयगा। उदय अनुकूल नही है तो करोडो यत्न करो तो भी वैभव प्राप्त नही होता, उसमें हमारे विचारोंकी गति नही है। विचारोंका असर तो सबको छोडनेसे ही चल सकता है, संसारके कार्योंसे नही। इसलिए इन बाह्य विभूतियोका चित्तमें आदर न करो।

बड़ी कठिनतासे यह नरजन्म पाया है, उत्कृष्ट कुल पाया है, धर्म पाया है, इस उत्कृष्ट रत्नको केवल परिग्रहकी तृष्णाओंमे गंवा दें तो यह बुद्धिमानी नही है। तृष्णाओंसे दूर रहना चाहिए। इस परिग्रहको कहते हैं—पिशाच। जो कुछ थोड़ा बहुत संतोष है वह संतोष भी परिग्रहकी बुद्धिमें नही रह पाता।

एक छोटासा कथानक है कि एक संन्यासीको रास्तेमें पड़ा हुआ एक पैसा मिल गया। उसने सोचा कि यह पैसा किसको दिया जाय। सोचा कि जो महागरीब हो उसको ही देना चाहिए। वह साधु गरीबकी तलाशमें निकला तो महागरीब न मिला। एक बार नगरका

बादशाह दूसरे राजा पर चढ़ाई करने जा रहा था। बादशाह हाथी पर बैठा था। संन्यासीने वह पैसा उसकी जेबमें फेंक दिया। राजा कहता है कि यह पैसा क्यों फेंका? साधु बोला कि यह पैसा मुझे मिला था, सो सोचा था कि मैं महागरीबको यह पैसा दूंगा। मुझे तो आपसे गरीब कोई नहीं नजर आया, सो आपको यह पैसा दे दिया। बादशाहने कहा कि मैं गरीब कैसे? मेरे पास नगर है, बहुतसा वैभव है, मैं गरीब कैसे? साधु बोला—महाराज, आप यदि गरीब नहीं हो तो एक छोटेसे राजा पर चढ़ाई करने क्यों जाते हो? आपके पास कुछ नही है, इसलिए दूसरेका धन हड़प करने आ रहे हो। आपसे बढ़कर गरीब कोई नहीं है। अब तो उस राजाको ज्ञान हुआ। उस साधुने राजाको अमीर बना दिया। राजा उसी जगहसे अपनी सेना लेकर वापिस लौट गया।

अरे भैया! जितना वैभव है उसका यदि पौना वैभव होता तो क्या गुजारा अच्छी तरहसे नही चलता? अरे जो है वह बहुत है और नही है तो क्या करोगे? जबरदस्ती संपदा को आकाशसे खींचा नहीं जा सकता। इस जीवनमें यदि परिग्रह ही परिग्रह किया तो क्या किया? इस जीवनका ध्येय तो धर्मका पालन है। सात्त्विक वृत्तिके अनुसार गुजारा चलता रहे। करनेका काम तो धर्मका पालन है। यदि वस्तुस्वरूपका ज्ञान करो, मोह ममताको अपने से हटाओ, अपने आपकी पवित्रता बढ़ाओ और अपना जीवन सफल करो तब तो इस नर-जीवनसे लाभ है, नहीं तो यह नरजीवन पानेसे कोई लाभ न होगा।

सम्पदाका कमाना यह नरजीवनका उद्देश्य नही है। स्तवनमें तो पढ़ते हो, 'आतमके हित विषय कषाय। इनमें मेरो परिणति न जाय।' और भावनामें परपदार्थोंकी ध्वनि बनी रहे तो इसे दर्शन करना कहेंगे क्या? अपनी दयाका भाव जब तक न आये, अपनेमें बसे हुए प्रभुस्वरूपके जब तक दर्शन न हों तब तक क्या एक क्षणको भी यह मनुष्यभव पाना सफल कहा जा सकता है? नही। सो बहुत गम्भीरतासे विचार करो और परिग्रहकी ममताको छोड़कर उसमें ममत्वबुद्धि न रखकर अपने कर्तव्यको निभाये बिना मुक्तिका मार्ग नही प्राप्त हो सकता है।

सुखे दुःखे च को भेदो द्वयोराकुल्यवेदनम्।
शान्ते ज्ञे स्वे रतो भूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–२६॥

सुख और दुःखमें कोई अन्तर नहीं है। दोनो ही स्थितियोंमें आकुलताओंका अनुभव होता है। सुख कहते हैं इन्द्रियोंको जो विषय सुहावना लगे। सुहावना लगनेकी स्थितिमें आ-कुलताएँ होती ही हैं। यदि आकुलताएँ न हों तो इन्द्रियोंके विषयमें प्रवृत्ति हो क्यों करें? इन्द्रियोंके विषयमें जीव तभी प्रवृत्ति करता है जब उसे कोई दुःख हो। जिसे फोड़ा फुंसी

नहीं है वह मलहम पट्टी ही क्यों लगायेगा ? इसी तरह किसी प्रकारकी अशांति नहीं है तो वह इन्द्रियके विषयोंमें क्यों लगेगा ? जो जीव विषयोंमें हैं उनको आकुलतायें ही हैं अथवा विषयोंसे उनका आदर नहीं होता। तो उस सुखमें आकुलतायें ही पायी जाती हैं और दुःखमें भी आकुलताएँ पायी जाती हैं। इस कारण सुख और दुःख दोनोंकी कल्पनाओंको छोड़ूँ। न तो सुखकी चाह करनेका मुझे सुख हो और न दुःखसे भयभीत होऊँ। दुनियामें दुःख कहीं नही है, दुःख मात्र अपनी कल्पनाओंमें है। सब कुछ सम्पन्न होते हुए भी यदि एक कल्पना बना ली कि मेरी कुछ शान नही है मेरी कुछ इज्जत नही है, लोग मेरा कुछ कहना नहीं मानते तो इससे क्लेश ही प्राप्त होगे।

इस संसारमें प्रीति करने लायक कोई चीज नही है। इसमें सर्वत्र आधीनता ही आधीनता भरी हुई है। बाहरसे पदार्थोंका संयोग जुटाया तब सुख प्राप्त होता है। तो यह सुख स्वाधीन नही है। जिस सुखमें पराधीनता हो, जो सुख होकर दूसरे समयमें नष्ट हो जाता हो, ऐसे संसारके सुखका क्या आदर करना ? यह सुख आदरके योग्य नही है। तो मैं अपने शांत स्वभावपर ही दृष्टि दूं और उसमें ही लीन होकर अपनेमें अपने आप सुखी होऊं।

इस जीवने अपने जीवनमें कुछ पानेका यत्न नही किया, पर जितना ही ये जीव यत्न करते रहे उतना ही फंसते रहे। इस लोकमें सुख कही नही है। और जिसने लौकिक सुखको सुख माना है तो वह सुख तो राईके बराबर है और दुःख है पर्वतके बराबर। और राईके बराबर भी सुख सही, किन्तु इस सुखमे भी तो विह्वलता कितनी है और वह सुख भी नष्ट हो जाने वाला है। ऐसे सुखका आदर करना व्यर्थ है। यह चीज मेरी नही है। मेरा स्वरूप तो शांत है, शुद्ध ज्ञानमय है, आत्माका लक्षण एक ही तो है। यदि आत्माका हम परिचय पा सकते हैं तो इस रूपसे जाना करें कि यह मैं आत्मा केवल जाननमात्र हूँ। जाननस्वरूप के अतिरिक्त मैं कुछ नही हूँ और जाननस्वरूपके अलावा कुछ मेरा है नही ऐसी दृढ़ भावना बने तो इस जीवको अपने स्वरूपका परिचय मिलेगा।

यह जितना विवाद जीवनमें होता है। भाई-भाईमे भी परस्पर विवाद हो जाता है, ये सब विवाद विषय सुखकी दृष्टिसे होते है। विषयोंमें सुख माना तो उस सुखकी पूर्ति परिग्रहसे हुआ करती है। जब परिग्रहमें दृष्टि फँसी तो परिग्रह तो अपने आधीन है नही। परवस्तु है उस परवस्तुके पीछे अनेक प्रकारके विवाद हो जाते है। प्रीति, वात्सल्य, दया सब कुछ हृदयसे विदा हो जाते हैं। एक परिग्रहकी तृष्णामें फँसे तो इस आत्माको क्लेश ही हैं। मैं आत्मा तो केवल ज्ञानस्वरूप हूं, मेरा तो मेरे ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यदि इसे ऐसा बोध हो तो आकुलतायें नही होती।

कितना अज्ञान इन जीवोंके छाया है कि इनको अपने मार्गका पता ही नहीं पड़ता। मैं कुछ परमार्थभूत सत् हूं इसका उसे अन्दाज ही नहीं होता। जो शरीर मिला है उस शरीर को यह आत्मा सर्वस्व समझता है। जब इस शरीरको ही मान लिया कि यह मैं आत्मा हूं तो दूसरोंके शरीरको मान लिया कि यह दूसरी आत्मा है। फिर शरीरके पोषणमें विषयोंकी पुष्टि हुई। उनमें यह अपनी रिश्तेदारी मानता है। और इस प्रकार इस जगतमें अपना सम्बन्ध बनाता है और अपना जीवन समाप्त कर देता है। इसके साथ रहता कुछ नहीं।

भाई इस सुख और दुःखसे संसारमें बंधन होकर इन दोनोंमें ही प्रीति न करो और सबसे निराले अपने आत्माकी उपासना यही है कि अपनेको सबसे न्यारा मानते रहो। मैं सबसे पृथक् हूं, ज्ञानमात्र हूं यह भावना जितनी दृढ़ बन गयी उतना ज्ञान बढ़ेगा, कर्मोंका क्षय होगा, आनन्द और सत्य शांतिका मार्ग मिलेगा।

धर्म करनेके लिए प्रधान बात यह है कि अपनेको सबसे निराला समझो, किसीसे मेरा सम्बन्ध नहीं। यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा अकेला ही जन्मता हूं, अकेला ही मरता हूं, अकेला ही सुख दुःख भोगता हूँ, इसके साथ किसीका भी रंच सम्बन्ध नहीं है। यदि अपने आपको विरक्त देख लो तो गृहस्थीमें रहकर भी आप धर्मका पालन करते हैं। यदि परिवार, पुत्र आदिकमें यह मेरा है, ऐसी ममता बनी हुई है तो आप धर्मके नामपर चाहे कितना ही श्रम कर डालें बड़े बड़े विधान, पूजन, यज्ञ आदि कितने ही कर डालें, पर ममता तो जब तक हृदयसे न उतरेगी तब तक धर्म न मिलेगा। धर्म तो आत्माका निर्मल परिणाम है। जहां राग न हो, द्वेष न हो क्षोभ न हो, जहां शांत ज्ञानानन्दमय आत्माका जो परिणाम है उसको कहते हैं धर्म। जिसके ममताका रंग चढ़ा हुआ है ऐसे हृदयमें धर्मका निवास हो जाय यह बात त्रिकाल असम्भव है। धर्म करनेका तो सबसे बड़ा काम है कि ममताको छोड़ो। घर छोड़नेकी बात नहीं कही जा रही है, किन्तु ममता छोड़ो। ममता छोड़नेका उपाय शुद्ध ज्ञान है। यदि सम्यग्ज्ञान है तो ममता छूट सकती है। इसलिए धर्मपालनके लिए पहिला काम है कि ज्ञानका अर्जन करो।

सुरूपयोः रूपे कुरूपे वा को भेदोऽशुचिता समा।
आकुल्यकारणं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२७॥

इस जीवको सबसे अधिक मोह शरीरका है। कितनी ही धर्मचर्चा हो जाय, तपस्या हो जाय, अनेक भेदविज्ञानोंकी बातें कर डाली जायें, जब भी बुखार होता है, सिर दर्द होता है तो सब भूलकर अपने शरीरकी ओर ही दृष्टि देते हैं।

कोई भी बुढ़िया हो, बहुत बूढ़ी हो और रोज-रोज भगवानसे यह प्रार्थना करे कि हे भगवान् ! मुझे उठा ले । मेरा मरण हो जाय, ऐसी सुबह शाम भगवानसे विनती करने वाली पुरानी डुकरिया भी जब पासमें उसके साँप दिख जाता है तो वह चिल्ला करके अपने पोतों को पुकारती है कि बेटा दौड़ो, मुझे साँप खानेके लिए आया है और वे पोते यदि कह दें कि दादी तू तो रोज-रोज सुबह शाम भगवानसे प्रार्थना करती थी कि मुझे उठा ले तो तेरी बातों को भगवानने सुन लिया है, वह तुझे उठाने आया है । वह बुढ़िया शरीरके मोहसे अपनी जान बचाना चाहती है । इतना विकट मोह होता है ।

इस शरीरकी जरा कथा भी तो देखो । चाहे मनुष्यका शरीर हो, स्त्रीका शरीर हो, सुन्दर रंगका शरीर हो, कुरूप शरीर हो सब शरीर आखिर हड्डी, माँस, मज्जा, खून, मल मूत्र आदिसे भरा हुआ है । इस शरीरमें भीतरसे बाहर तक सर्वत्र देख तो लो कि इसके अन्दर सारकी चीज क्या है ? यह शरीर हड्डी, माँसका पिंजड़ा है, चामकी चादरसे मढ़ा है । यदि यह चामकी चादर इस पर न हो तो कौवे, चील इसको अब तक बचने देते क्या ? न बचने देते । ऐसा यह अपवित्र शरीर है । इसमें सर्वत्र अपवित्रता ही समायी हुई है ।

इस जीवको सबसे अधिक पराधीनताका अवसर आता है तो वह इस मनुष्यदेहके रूपमें रमनेमें आता है । पर इस रूपकी अपवित्रता तो देखो । सर्वत्र वही अपवित्रता है । एक बार राजकुमारने घूमते हुए एक सेठके लड़केको देखा और उसके पास संदेश भेजा, लड़का था चतुर, सोचा राजकुमार है अधिक हठी बातोंमें पार न पड़ेगा । १५ दिनका अवसर दे दिया कि १५ दिनके बाद आप आना । १५ दिनमें क्या किया कि खूब जुलाब और दस्त होते है ना ? दवा खूब की । १५ दिन तक दस्त करके उसने एक घड़ेमें दस्त बंद कर दिया । घड़ा भर गया । उस घड़ेको अच्छी तरहसे ढक दिया । अब १५ दिनके दस्तोंके बाद रूप तो बिल्कुल फीका हो जायगा । सो उसका रूप ही बदल गया, हड्डियाँ निकल आयी, भूत जैसा शरीर लगने लगा । राजकुमार आया और हालत देखी तो आश्चर्यमें आ गया कि यह क्या ? १५ दिन पहले तो क्या देखा था ? अब तो यहाँ कुछ भी सुन्दरता नही और डरावना शरीर भी हो गया । तो भी सोचो कि लड़का कहता है कि आश्चर्य मत करो, सुन्दरता तो अब भी रखी हुई है । तुम्हें सुन्दरतासे प्रेम था ना ? आवो हम तुम्हें सुन्दरता दिखावें । घड़ेके पास ले गया । घड़ेका मुख खोला । उसने कहा—सूँघो इसको । यह है इसकी तुम्हारी सुन्दरता । अपवित्र जो धातुवें भरी हुई हैं उनका ही दिखावा है, वही सुन्दरता है । न तो अपने शरीर से मोह रखो कि मैं इतना ही सब कुछ हूं और इस शारीरके लिए ही हमें सब कुछ करना है, इस शरीरको आरामसे रखना है । शरीरको कष्ट हो, शरीरको खूब काममें लगाया तो आपदा

है यह मत सोचो। अरे शरीर तो शरीर है, मिट जाने वाली चीज है। हमारा इसमें तत्त्व न है। इसको तो जितना ही काममें लगाओ उतना ही अच्छा है। यदि इस शरीरको ही माना कि मैं हूँ और उसमें ही मोह बसाये रहे तो धर्म कैसे कहा जायगा, बतलाओ ? फिर भगवान्के दर्शन करके लाभ ही क्या पाया ? रात दिन यह किया कि यह मैं हूं, यह मेरा है, यह लड़का मेरा है, यह सब कुछ मेरा है ऐसा संस्कार ही समाया रहा तो प्रभुके दर्शन क्या किये और धर्मका क्या काम किया ?

गृहस्थीकी तो शोभा है कि वह सही जानता रहे और इन आरम्भ परिग्रहकी बातों में रहनेका पछतावा बना रहे। गृहस्थी तो वह है कि सच्चा ज्ञान भी जग रहा हो और परिग्रहके संगममें आनेका पछतावा भी हो रहा हो। इन दो बातोंका अपने-अपने हृदयमें परिचय तो करो कि इसमें ये दो बातें कितनी हैं ? ज्ञान कितना जग गया है और घरमें रहनेसे पछतावा कितना आ रहा है ? इतना बड़ा गांव है। दस पांच ही ऐसे निकलेंगे कि जिनको घर में रहनेका पछतावा हो रहा होगा। गृहस्थ है वही कि जहाँ ज्ञान और वैराग्यका सम्बन्ध होता है। (इससे आगेकी कुछ प्रतियां नहीं मिलीं)

ज्ञानी सब जीवोंके यथार्थस्वरूपका भान कर रहा है। उसकी दृष्टिमें पाप तो घृणाके योग्य हो सकता है, पर पाप आत्मा या जीवद्रव्य उसके घृणाके योग्य नहीं हैं, क्योंकि वह ज्ञानी सर्वत्र निरख रहा है कि जीवस्वरूप तो सर्वत्र समान है। उसमे किसीका किसीसे कुछ भी अन्तर नही है। ऐसी विशद निर्मल स्वभावदृष्टि जिन ज्ञानी पुरुषोंमें होती है, ऐसे वे गृहस्थ हों तो भी उन गृहस्थोंका बहुत आदर्श आचरण होता है। विजय है पुरुषोंको तो आचरणसे है। ये लोग आदरके पात्र हो सकते हैं तो अपने आपसे हो सकते हैं। धन वैभव कितना ही हो यदि आचरण मलीन है तो प्रजाजनोंके द्वारा वह सन्मार्ग योग्य नही हो सकता है। सेवासे और आचरणसे आजके समयमें बहुत बड़ा स्थान प्राप्त किया जा सकता है।

भैया ! प्रभुकी भक्ति करते हुए अथवा जब-जब प्रभुको याद आये या किसी धार्मिक कार्यमें लगें तो अन्तरमें यह ध्वनि उत्पन्न होनी चाहिए कि हे प्रभो ! मोह ही एक महान संकट है और मेरा वह अपूर्व अवसर आये जिससे क्षण मोह न रहे, यही प्रार्थना है। यही धुनि प्रभुभक्तिमें और धर्मकृत्योंमें हमारी होनी चाहिए और अंतरकी आवाजसे होनी चाहिए। सब कुछ संगम होकर भी इस संगममें यदि आसक्ति नही होगी तो अनाकुलता पायी जा सकेगी। संगममें आसक्ति हो तो इसका फल सीधा आकुलता है। यह नही होगा कि भाई हम उत्तम कुलमें पैदा हुए हैं तो हमारे ऊपर विपत्ति नहीं आनी चाहिए।

भैया ! अपने आपकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी समझो और अपनेमें गुप्त रहकर अपनेमें

बसे हुए शुद्ध परमात्माके दर्शन करके, अनुभव करके कर्मोंका क्षय करो, मोक्षमार्गमें आगे बढ़ो। यह काम यदि अपने अन्तरमें कर सके तो वह अपने लिए बड़ी लाभकी बात होगी।

प्रभुकी भक्तिमें अपनी और प्रभुकी समानता देखी जाती हैं और वर्तमानका अन्तर देखा जाता है और जिस उपायसे प्रभु हम जैसी निम्न अवस्थाओंमें उठकर प्रभु बन गये हैं, उस मार्गका अनुसरण किया जाता है। यही एक अपनेसे सम्बंधित मार्ग है, बाकी तो यहाँ जो कुछ होता है सब जिस-जिसके उपयोगसे लगे उस उसके भाग्यसे वह उपार्जित होता है। जो होता है होने दो, किन्तु आप तो आत्महितका संकल्प करो, एक महान उद्देश्य बनाओ। ऐसा उद्देश्य बनाओ कि इन विकल्पोकी तरंगें शांत हो जाएँ और जाननमात्र वृत्तिका रसपान किया करें। एक ऐसी अन्तरमे धुनि होनी चाहिए बाकी तो सब बातें जानते हैं, अधर्मसे बचनेका यत्न करते है और बचाये बचाये भी फंसते रहते हैं। उन्होने क्या मार्ग नही सोचा उन्होने क्या उपदेश नही ढूंढ़ा, मार्ग तो उन्होने सोचा, किन्तु अन्तर धुनके बिना अब तक नही पाया।

यथार्थ अहिंसाका मूल है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र। अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूपका श्रद्धान हो, अपने आत्माके ज्ञानका अनुभव हो और रागरहित वृत्तिमे रह-कर ज्ञानानन्दका स्वाद लिए रहना, यही सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रमें रहना है। इसका मुख्य ध्येय बना लो और अपने जीवनमें ऐसी क्रांति लावो। ये सब कुछ संसारके कार्य, विकल्पोंके लिए होते हैं। मेरा करनेका काम तो एक आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मआचरण ही है। जो स्वाध्यायके द्वारा, पढ़नेके द्वारा जिस तरहसे ज्ञानका विकास हो वही एक करने योग्य काम है, तो इसकी ही धुनि बनाओ और तो सब बातें होती है पर फल करनेसे मिलता है। जाननेको सब जानते हैं, पर जो उस मार्ग पर चलेगा विजय वही पायेगा। सब जानते है कि कषाय करना ठीक नही, पर कषाय उत्पन्न न हो इसका साधन अनन्तज्ञान है। दूसरा साधन नहीं है। ऐसे उपायसे अपने आत्मज्ञानकी वृद्धि करो और बड़ा शांत वातावरण रखो। वचनव्यवहार अपना ऐसा प्रेमयुक्त रखो कि चाहे कोई कितना ही कडुवा बोलता हो। बोलता है तो उसकी परिणति है। तुम कडुवा बोलने वाले पर विजय प्राप्त कर सकते हो। ऐसा अपने आपमें गौरव होना चाहिए। कडुवा बोलने वालेपर अपनी विजय प्राप्त हो सकती है मधुर और हितकर वचन बोलनेके द्वारा। घर-घरमे लड़ाइयां क्यों बढ़ जाती हैं? इसने दो कहा, इसने चार कहा। यह नहीं होता कि यह जगत् तो असार है, यहाँ दूसरों पर क्या बगराना है? ये तो रीते हैं। कैसा भी व्यवहार किसीका हो, पर अपना व्यवहार मधुर होना चाहिये। देखो अभी कोई आपत्ति नही आ सकती है। ऐसे शांत वाता-

चरणको बनाकर अपने आपमें अपने आत्मधर्मकी साधना बनाये रहे तो धर्म होगा और नर-जीवन अवश्य सफल होगा।

नैर्मल्यं नान्यनिन्दातो मालिन्यं शल्यमेव च।
किं कं कथं च निन्दानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-२३॥

अन्य पुरुषोंकी निन्दा करके निर्मलता नहीं आती है। प्रत्युत मलीनता ही होती है, शल्य ही होता है। फिर मैं किसकी निन्दा करूँ? निन्दा करने वाला मोहवश समझता है कि मैं कुछ अपनी बडाईका काम करता हूं, पर निन्दासे उसको कितनी हानि हो रही है और लोकमें भी कितनी हानि है, इसका वह ख्याल नहीं करता। कोई पुरुष दूसरेकी निन्दा करता है तो अभिमानके कारण करता है। अपनेमें अभिमान उत्पन्न होता है तो दूसरोकी निन्दाकी चेष्टा बन जाती है। मैं बडा हू, अमुक छोटे है इस प्रकारके भाव आये बिना निन्दा नहीं कर सकता। जो लोग छोटी गृहस्थावस्थामें रहकर भी बड़े-बड़े साधुजनोंकी निन्दा करते हैं तो उनके चित्तमे यह ध्यान है, यद्यपि वे जानते है कि मैं गृहस्थ हूं, मेरा साधारण पद है, लेकिन वे यह भी समझ रहे है कि मैं अपने साधारण पदमें रहकर भी उत्कृष्ट काम कर रहा हूँ और साधु जन खोटे है। बडोंकी निन्दा जब तक नहीं हो पाती है जब तक अपनेमें अभिमानका उदय न हो। उस निन्दासे तत्त्व कुछ नहीं निकलता। एक तो अपना उपयोग भ्रष्ट किया और निन्दा करनेके फलमें पड़ोसियोंने अपनी निगाहसे उतार दिया। सो निन्दासे केवल मलिनता बढ़ती है, शल्य ही होता है। दूसरोकी निन्दा करनेके बाद एक मलिनता बढती है शल्य ही होता है। दूसरोकी निन्दा करनेके बाद एक पछतावा आता है कि मैंने व्यर्थमे ऐसे वचन निकाले। लोगोके बीच हमने तुच्छता ही जाहिर की····ऐसा विचार कर उनको एक पछतावा भी होता है, शल्य भी हो जाता है।

जो निन्दा नहीं करता तो आप उसे बड़े प्रेमसे देखते हैं, वह सभीके आदरके लायक है। जितने भी संकट है वे सब संकट अपने वचनोंकी पद्धतिके कारण है। जीव तो कोई किसीका शत्रु नहीं। जीव सब एकस्वरूप है पर यह जो ऐसा अनुभव होता है कि यह मेरे विरुद्ध है या इसकी नजर हमपर ठीक नहीं है तो उसके कारण खुदका ही अपराध ढूंढना चाहिए। अपने अपराध बिना अपनेको क्लेश नहीं होता। ये बातें सब जानते हैं। यह वचनों का उपक्रम ही हमारी शांति और अशांतिका कारण बनता है। विवेकी पुरुष जो होते हैं वे अपने आपमे ऐसा निर्णय रखते है कि भाई बोलनेकी ही तो बात है। जरा भला बोल लिया तो उस भला बोलनेसे सब समयके लिए आराम मिल गया, शान्ति प्राप्त हो गयी, किन्तु जब अभिमानका उदय होता है, अपनेको बड़ा माननेका भूत सवार हो जाता है तो वचन

सुन्दर नही निकल सकते । अभिमानी पुरुष कड़ुवा ही बोलेगा । अभिमान कहो या कठोरता कहो एक ही बात है । जब अभिमान नही रहना है तो वहाँ मार्दव प्रेम हो जाता है । मार्दव कहो या कोमलता कहो, एक ही बात है । जब तक उपयोग विनयपूर्ण रहता है तब तक इसको बड़ा आराम मिलता है, शांति और निराकुलता प्राप्त होती है । जिसके हृदयमें अन्याय और मुखसे जब दुर्वचन निकलने लगे तो वहाँ बेचैनी अपने आप आ जायेगी । किसी मनुष्यके बुरा बोलनेका परिणाम या निन्दा करनेका परिणाम भयंकर ही है । उस दुर्व्यवहार से शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है । इसलिए मैं परकी निन्दा त्यागकर, परसे दुर्वचन बोलना त्यागकर अपनेमें बसे हुए सहज परमात्मस्वरूपको निरखूं और उसमें ही लीन होकर अपनेमें अपने आप सुखी होऊँ ।

प्रशंसकेन दत्तं किं क्षोभं कृत्वा पलायितः ।
किं हितं तेन किं रोचै स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६·३४॥

जैसे किसीकी निन्दा करनेसे हमें लाभ नही है और दूसरोंके द्वारा निन्दा भरी बातें सुनकर अपनेमें अज्ञान विकार उत्पन्न कर लेनेमें लाभ नही है, इसी प्रकार प्रशंसाके सम्बंधमें भी कह रहे हैं कि प्रशंसासे अपनेको लाभ क्या मिलता है ? प्रशंसकने यदि प्रशंसा कर दिया उसकी एवजमें उसे प्राप्त हुआ क्या ? वह अपनेमें क्षोभ मचा करके भाग गया । प्रशसा की दो चार बातें सुनीं त आपको एक क्षोभ उत्पन्न हो गया और प्रशंसा करने वालेने किसी प्रकारसे सुखी कर दिया । किसी प्रकार उसको उत्थान दूं ऐसा उसके चित्तमें श्रम करनेका भाव आ जाता है । प्रशंसा करने वालेसे इसको लाभ नही मिला, बल्कि क्षोभ ही इसको प्राप्त हुआ । क्षोभ करके यह अपने स्थानपर आ गया और प्रशंसा सुनने वाला जीव अपने आपमें अनेक प्रकारके विकल्प मचाकर दुःखी होने लगा । मोही प्राणी ही अपनी प्रशंसा सुनकर अपनेमें सुखका अनुभव करता है । तत्त्वदृष्टिसे विचारो तो प्रशंसकसे अपनी हानि होती है । यदि प्रशंसक न होते तो इसको बहिर्मुखता करनेका अवसर न मिलता । अपने आपमें बसे हुए आत्मदेवके ध्यानमें इसका उपयोग जमता । वह तो क्षोभका निमित्त बनाकर भाग गया, उससे लाभ कुछ नहीं होता । मेरा लाभ तो मेरे स्वाभाविक निरुपाधि चैतन्यस्वभावके उपयोगमें है । इन सब पर्यायोंमे जो कि विपरीत भी हो रही है, जिनका निषेध किया जाने योग्य है उन पर्यायोंमें भी यह अनन्तानन्त नित्यप्रकाशमान मेरा चैतन्यप्रभु विराजमान है, उसकी दृष्टि करूँ और सर्वविडम्बनाओंसे दूर होकर मैं अपनेमें अपने समता रसका स्वाद लूँ । जगत-व्यवहारमें जो संकट हैं वे प्रशंसाके संकट हैं । प्रायः प्रत्येक मानव प्रशंसा सुनने का लोभी है और भिखारी प्रशंसा सुननेका बन रहा है । परसे आशा की जा रही है । इनका

राग मिटाना यद्यपि बहुत कठिन चीज है, लेकिन शांति यदि पानेकी अभिलाषा है तो इस रागको समुल नष्ट करना होगा। किसी भी प्रकारकी प्रशंसाकी रुचि न करनी होगी। सबसे दूर अपनेमें बिराजमान परमात्मदेवकी उपासना करनी चाहिए। जिस प्रशंसकने मुझे कुछ देना नहीं तो उससे प्रीति करना व्यर्थ है इस प्रकार निन्दकने मेरा कुछ छीना नहीं, इसलिए निन्दकसे ग्लानि करना, निन्दकको संगमें लेकर अपने आपमें शोक करना भी व्यर्थकी बात है इसी बातको अब कहते हैं।

निन्दकेन हृतं किं मे दोषमुक्त्वा स्थिरीकृतः।
का क्षतिस्तेन किं शोचे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–३५॥

निन्दा करने वालेने हर क्या लिया ? वह तो मेरे दोष कहकर मुझे स्थिर और सावधान कर गया है। अपना व्यवहार अयोग्य है तो दूसरे भी हमसे विमुख हो जाते हैं। अपना व्यवहार योग्य है तो दूसरे अपनी ओर आकृष्ट होते हैं। इस कारण विरुद्ध परिस्थितिमें अपने ही अपराधकी खोज करना चाहिये। यद्यपि जैसे अपना अपराध अपनेसे होता है वैसे ही दूसरे पुरुषोंमें भी अपराध हो जाना है। दूसरे अपराध मेरे लिए पीछे करते हैं, किन्तु अपराध मैं पहिले करता हूं। मौलिक आपदा वही है। हम यदि अशांतिका अनुभव करते हैं, जिसकी वजहसे जगतके दूसरोंका भी उपयोग मेरे विरुद्ध हो गया है। निन्दकने हरा क्या ? निन्दा करने वाला यही तो कहेगा कि यह ऐसा बुरा है। तो यदि बुरा है तो बुराई हटाना चाहिए. निन्दा करने वालेसे यह अर्थ निकालना चाहिए कि हमको यह सावधानीका उपदेश दे रहा है, हमारे भविष्यमें कोई बुराई न आ जाय। हर प्रकारसे निन्दकके द्वारा अपना भला ही हो सकता है, बल्कि प्रशंसकके द्वारा अपनी बुराई हो सकती है, क्योंकि प्रशंसकके संगमें सावधानी बर्तनेका उपयोग नहीं रहता, किन्तु निन्दकके संगमें अपनी सावधानी बर्तनेका प्रयत्न रहता है, इसलिए निन्दकने हरा कुछ नहीं। वह निन्दक तो मुझे स्थिर कर गया है। मैं क्यों शोक करूँ ? मेरा हित तो मेरे स्वाभाविक इस चैतन्यस्वभावके बर्तनेसे है जो सब क्लेशोंमें भी सर्व अवस्थाओंमें भी अन्वय रूपसे रह रहा है, कभी मुझे दिखता नहीं है, ऐसा अपने आपमें गुप्त विराजमान ज्ञानस्वभावकी दृष्टि वाले और अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होवें।

ज्ञप्तिक्रियस्य मे वृत्तौ निवृत्तौ चाग्रहः कुतः।
यत्कर्तुमपि चायातु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–३६॥

कहते हैं जानना ही एक क्रिया है। ऐसे मुझ आत्मामें किसी कार्यकी प्रवृत्तिसे क्यों आग्रह हो और किसी बातकी निवृत्तिका क्यों आग्रह हो ? जो करनेमें आ रहा हो आवे मैं

तो अपने शुद्धज्ञानकी वर्तनाको ही संभालूं । मैं ज्ञानसे अतिरिक्त अन्य कुछ कार्य करनेमें समर्थ नही हूं । क्योंकि मैं ज्ञानस्वरूप हूं और ज्ञानकी वृत्तिमें ही रहा करूं, ऐसा मेरा कार्य है । सो मैं ज्ञान वर्तनाके द्वारा ही अपनेको पवित्र बनाए रहूं । किन्ही बाह्य भावोंमें प्रवृत्ति करनेका मेरा स्वभाव नही है और किसी बाह्यपदार्थसे निवृत्ति करनेका मेरा स्वभाव नही है । मैं अपने स्वरूपास्तित्वमें हूं । सो स्वयं ही बाह्यपदार्थोसे निवृत्ति हो । अब और निवृत्ति क्या होना चाहिये ? मेरा किसी पदार्थमे प्रवेश ही नही, किसीमें लगा हुआ नही हूं । लगकर हटना है । केवल विकल्प किसी पदार्थमे लगानेका बनाया था सो उन विकल्पोंको ही हटाना है । वे विकल्प ज्ञानभावके द्वारा ही हटाना है । इसलिए मेरी किसी भी प्रवृत्तिमें या निवृत्तिमें कुछ हठ न हो, मैं तो स्वभावसे ज्ञानमात्र हूं, निस्तरंग हूं, सो अपने ही इस शुद्ध ज्ञानस्वभावको ही निरखकर सर्वविकल्पोंका मैं परित्याग करूं । बड़ा कष्ट है इस जीव पर कि यह अपने स्वभावका आश्रय छोड़कर बाह्य पदार्थोंको ओर संलग्न रहता है सो इन करनेकी विषमताओं को त्यागकर मैं अपने ज्ञानरूपसे ही रहूँ । यह ज्ञान कैसा है ? केवल जाननमात्र है । केवल जाननमात्र मेरी वृत्ति रहे, इस प्रकारके जाननका ही जो यत्न है बस यह यत्न हमारे हितका साधन है । सो हम यह मानें कि मैं अज्ञानसे दूर होऊं, ज्ञानवृत्तिमें रहूं और सर्वसंकटोंसे मुक्त होऊं ।

मानापमानता मोहे पर्यायस्य न चान्यथा ।
तद्विविक्तस्य न क्षोभः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–३७ ।

इस मनुष्यको सबसे बडा दुःख है तो मान अपमानका दुःख है । जितने विवाद और झगड़े चलते हैं उनका कारण मान और अपमान है । मान और अपमान तो जानते होगे ? किसीने गाली दे दी या बुरी तरहसे बोल दिया हो यह समझने लगे कि हमारा अपमान कर रहा है । सो इस जीवको यह राग बहुत लगा है जिसके मारे यह परेशान है । घरके बच्चोंने व बहूने बात न मानी तो मानो पर उतना दुःख नहीं है जितना कि यह दुःख है कि मेरा अपमान कर दिया । हमारी बात नहीं रही । सो घर-घरमे, देश-देशमें इस जीवको बड़े संकट हैं । पर यह तो बताओ कि दुनिया अगर तुम्हारा बुरा करती है, अपमान करती है तो तुम्हारी आत्माका क्या करता ? है या इस ढांचेका क्या अपमान करती है ? पहिले यह बतलावो । तुम्हारा जो जीव है, इस शरीरके अन्दरमें उस जीवको कोन जानता है ? उसके शक्ल नही, सूरत नहीं तो दूसरोंकी दृष्टि नही । आपके जीवको तो कोई जानते नही । जो शरीर लगा है यही हाथ, पैर, नाक, कानका इसको ही दुनिया समझती है कि यह फलां हैं । जीवको नहीं जानते । यदि कोई गाली देगा तो शरीरको गाली देगा । जीवको तो कोई

जानता हो नहीं, क्योंकि तुम्हारे जीव तक दूसरोंकी पहुंच नहीं। और जिसकी पहुंच उस जोव तक हो जाय वह ज्ञानी हो जाय। मान अपमानकी जो बुद्धि है शरीरसे होती है। शरीर को माना है कि मैं हूं। इसने मुझे यों किया, ऐसा सोचकर दुःखी होने लगता है। सो मान और अपमान मोहसे ही होता है। मान अपमान पर्यायसे होते हैं। इतना मान अपमान ही दुःखी करता है मेरा मान अपमान कोई नहीं करता। मान अपमान इस ढांचेका होता है। मान अपमान मेरे जीवका नहीं किया जा सकता। सो शरीरमें यह जीव है। शरीरमें ममता है तो शरीर मानता है कि मेरा मान अपमान है। इस जीवका कोई कुछ नहीं करता, पर शरीर सोचता है कि हाय मेरा यह कर दिया। शरीर बहुत संकटोंमें आ जाता है। अभी तुम्हारे घरमें कोई बच्चा बीमार हो जाय तो तुम्हारे भी बुखार चढ़ आता है। बच्चेको बुखार नहीं चढ़ता, किन्तु मोहवश आप भी दुःखी हो गए। सो ज्ञानका यही फल है कि भीतर बसे हुए अपने भगवान्को समझ लो। मान और अपमान लौकिक दुनिया करती है। उसका सब ख्याल छोड़ दो तो सुखी हो जावोगे। सो जब तक शरीरमें यह बुद्धि है कि यह मैं हूँ तब तक समझोगे कि दूसरोंने मान किया और दूसरोंने अपमान किया और जब ज्ञान जग जायगा कि शरीर अलग चीज है और मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हू, शरीरसे न्यारा हू, तो जैसी दूसरों पर बीतती है उसका क्षोभ मनमें न करो। इस शरीरपर जो कुछ बीते उसका ख्याल न हो, इस शरीरसे अपनेको न्यारा समझो तो बहुतसी खटपट बातें अपने आप दूर हो जाती है। अभी देखो शरीरमें जितना मोह लगा है तो १० जगह खावो फिर भी भूख लगती है। शरीरकी स्थिति बार-बारके भोजनसे रहती है। शरीरमें मोह लगा है तो पेट भरा है, फिर भी कोई चीज दिख जाय तो जी कर जाता है कि खावें। यह जीव कुछ नहीं कराता। ये सब नटखट शरीर ही कराता है। खाने-पीने व गप्पों सप्पोंमें समय गुजार देते हैं। भगवान् का ख्याल करना; अपना ध्यान करना इसके लिए बुद्धि ही नहीं उत्पन्न होती है क्योंकि शरीरसे मोह लगा है। सो शरीरसे मोह त्यागो और अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होओ।

परान् शिक्षेः परैः शिष्ये मोहचेष्टैव नान्यतः।
गुणो ह्यन्येऽविकल्पोऽत्रः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–३८॥

जितने जीव हैं उन सबके साथ कर्म लगे हैं और जो जैसे कर्म करता है वह वैसा ही फल पाता है। करे और, भोगे और ऐसा अन्याय इस दुनियामें नहीं है। जो करेगा सोई भरेगा। पापका काम करोगे तो पापका फल भोगोगे और पुण्यका काम करोगे तो पुण्यका फल भोगोगे। जैसा अपना आचरण करे, विश्वास करे वैसा फल भोगता है। कोई ऐसा नहीं है कि दूसरा मदद कर दे। तुम्हारा अगर पुण्य है तो दूसरे भी तुम्हारी मदद कर देंगे और

अगर तुम्हारा पुण्य नही है तो कोई तुम्हारी मदद न करेगा। अपना व्यवहार अच्छा बनाओ, दूसरे जीवोंको अपने ही समान समझकर उनसे प्रेमयुक्त वचनोंका व्यवहार करो। किसीको परशानी न उत्पन्न हो ऐसा अपना व्यवहार रखना यही लौकिक सुखोंका उपाय है और इसी से परमार्थ सुखका रास्ता मिलता है। कोई जीव किसी दूसरेको न सुखी करता, न दुःखी करता, और न कोई किसी प्रकारकी दुःखकी परिस्थिति बनाता। यहां तक कि जैसे हम बोल रहे हैं तो हम तुम्हे नही समझा सकते आप लोग तो स्वयं ज्ञानमय हो, समझना होगा तो आप लोग स्वयं ज्ञानसे समझ लेंगे। हम नहीं समझा सकते। हमारा भाव है हम कह रहे है, बोल रहे है, पर आप लोग समझोगे तो अपने ज्ञानसे स्वयं समझ लोगे। मैं तुम्हें कैसे समझा सकता हू ? कोई किसीको समझाता नही है। सब अपनेसे समझते हैं। अगर कोई किसीको ज्ञान देने लगे तो मास्टर लोग १०-२०-२५ बच्चोको ज्ञान देनेके बाद मास्टर तो ज्ञानसे खाली हो जायगा, मास्टर स्वयं ज्ञानसे लुट जायेगा। बच्चे स्वयं अपने आप ज्ञान पैदा कर लेते हैं। मास्टर तो निमित्त रहता है। कोई जीव किसीका कुछ नही करता, सब अपने ही कर्मोंसे सुख भोगते और अपने ही कर्मोंसे दुःख भोगते है। जैसा ज्ञान है तैसा इस आत्माका बर्ताव चलता है। सो इस दुनियाको असार समझो, अशरण जानो और यहाँ यह विश्वास न बनाओ कि हमारे घरके लोग अच्छे हैं, घरके लोग प्रेमी है, वे हमारी मदद करते हैं—ऐसा भाव न रखो। आपका उदय अच्छा है तो आपसे बोलने वाले मिलेंगे और यदि आपका उदय खोटा है तो आपसे बोलने वाला भी कोई न मिलेगा। आपको अपनी बहुत बडी सावधानी रखना चाहिए। किसीको दुःख पहुंचानेका परिणाम न होना चाहिए। एक जीवका दूसरे जीवके साथ कुछ भी सम्बंध नही है कि वे समझाते हों और दूसरे समझते हों। हम आपको न ज्ञान देते है और न आप मुझसे ज्ञान लेते है। इतना भी सम्बध नहीं है। आप स्वयं ज्ञानस्वरूप है। सभी जीव आनन्दके निधान है। आप अपने आपसे अपने विचार बनाते हो और अपने ज्ञान बनाते रहते हो। इसी प्रकार आनन्दकी बात है। कोई किसीको आनन्द नही देता, कोई किसीको सुख दुःख नही देता। खुद कल्पनाएं करते है और सुखी दुःखी होते है। कोई किसीका कुछ कर सकने वाला इस लोकमे नही है। सो अपनी जिम्मेदारी है कि न्याय नीतिका व्यवहार करो। अगर अन्याय करके, अनीति करके धनसंचय कर लिया तो किस कामका ? अरे न्याय बना रहे, नीति बनी रहे, सच्चाईका व्यवहार बना रहे तो अपने कर्मोंका फल मिलता है। अपनी करतूत पर निर्भर है कि हम सुखी हों, हम अपने भाव बिगाड़ते है, अपनी करतूत बिगाडते हैं और दूसरेपर दोष देते हैं तो उसका फल अशांति रहेगा, शांति नहीं हो सकती है।

स्वद्रव्यत्वेनभावानामाप्तौ भवति शुद्धता ।
नान्यभावविकल्पोऽस्तु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६ ३९॥

देखो जगत्में रुलते रुलते चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते आज आपने यह मनुष्यभव पाया है । बहुत बार कीड़े-मकोड़े, पेड़, पक्षी आदि बने । आज भी देखो उन नारकी जीवोंकी गतियां सुधरी नहीं हैं । पेड़ खड़े हैं, उनके जीभ नहीं है, नाक, कान, आंख आदि नहीं हैं । केवल ढांचा खडा है । उनके जिह्वा तक नहीं है और वे कीड़े मकोड़े सुरसरे निकलते हैं इनके जीभ है, नाक कान नहीं । उनका विकास अब भी रुका है । वे इतनी छोटी पर्यायमें हैं कि उनके नाक, कान, आंख भी नहीं । चीटी चींटा आदिके तो नाक है, पर आंख कान नहीं । मच्छर जो हैं उनके नाक हो गई, पर कान नहीं और कान भी हो गए, आंखें भी हो गयीं । भैंस, गाय, मुर्गा, मुर्गी, सूकर आदि हैं तो भी उनसे क्या लाभ ? हम आप आखिर मनुष्य हैं, हम आपको ज्ञान मिला है, और इस जगत्के जीवोंको निगाह करके समझ लेते हैं । हम आपको मनुष्य भव मिला है हम आपको मन मिला है, दिमाग मिला है । चाहो तो अच्छा काम कर लो तो संसारसे तिर जायें और चाहो तो विषयोंमें लीन होकर संसारमें घूमते रहे । यह मनुष्य मुक्तिको भी प्राप्त कर सकता है और नरकमें भी जा सकता है । तो इतनी बड़ी पदवी पायी है, इतना बडा उत्कृष्ट साधन पाया है तो विवेक करना जरूरी है । ऐसा विवेक बने कि अपने द्वारा किसी जीवको किसी प्रकारका संकट न पहुंचे । अहिंसा अपनाकर सब जीवोंको सुखी बनानेकी भावना बनाओ । कोई जीव मेरे द्वारा दुःखी नहीं हो, ऐसी अन्तरमें भावना बनाओ । यही है अहिंसा । सत्यव्यवहार रखो, किसीसे झूठ न बोलो, सच्चाईमें रहोगे तो लोग तुम्हें देवताकी तरह मानेंगे । सब लोग तुम्हें देवता तुल्य मानेंगे । चाहे हजारोंकी चीज पडी हो, लाखोंकी चीज पड़ी हो उसे न छुवो, चोरी न करो । यदि उठा लानेसे वह धन आपके पास आ भी गया तो प्रथम तो धन घरमें रहता नहीं । वह किसी न किसी बहानेसे निकल जायगा । उस धनका आप उपयोग नहीं कर सकते । तो वह चीज भी आपके पास न रही और पापी भी बन गए । यदि वह चीज रहे भी तो इस जीवको लाभ क्या मिला ? इसके साथ तो अपना ज्ञान और आनन्द है । बाहरी चीजोंसे मनुष्यको सुख नहीं मिलता, किन्तु सच्चा ज्ञान बने तो सुख मिलता है । धन-वैभव कितना ही हो तो सुख नहीं मिलता । सुख प्राप्त करनेका साधन तो केवल अपनी सद्बुद्धि है ।

किसीकी चीजपर निगाह न डालो, चोरी न करो । चौथी बात है कि सब स्त्रियोंपर मां, बहू, बेटियोंपर बराबर निगाह डालो । सब बराबर हैं । यह शरीर तो एक पिंड है । मनुष्य हुए हैं प्रभुभक्तिके लिए और आत्मध्यानके लिए हुए हैं । सो बुरी दृष्टि न हो । सबको

माँ बहिनके तुल्य जानो ५वीं बात है कि परिग्रहकी बात न रखो। संसारकी कोई भी चीज आप अपनी न समझें, क्योंकि किसी दिन हम मर जायेंगे। साथमे क्या ले जावेंगे ? अपना तो यह विश्वास हो कि मेरा कुछ नही है। द्रव्यके बिना गृहस्थी नही चलती है सो आप रखते हैं, ढंगसे खर्च करते है। सब कुछ बातें है। पर भीतरमे यह श्रद्धा बनी रहे कि मेरा कुछ नही है। परमाणु मात्र भी मेरी चीज नही है, ऐसी सद्भावना जीवके बने तो आत्माका पोषण होगा। सबसे बड़ी चीज यह है कि अपनी शुद्ध भावना बनानेके लिए कुछ बातें रोज करनी आवश्यक हैं। कोई न कोई धार्मिक ग्रंथ रोज पढो, क्योकि उन धार्मिक पुस्तकोंसे अपनेको एक प्रेरणा मिलती है। प्रभुकी भक्तिमे कुछ समय जरूर बिताओ। तीसरी बात है कि अच्छी संगतिमें बैठो, खोटे पुरुषोके संगमें न बैठो। हमेशा उत्तम कुलमे बैठो। चौथी बात है कि जो गुणी पुरुष मिलें उनका गुणगान करते रहो। किसीकी निन्दा न करो। यदि अपना जीवन उठाना है, अपनेको सुखी करना है और आत्माका उपकार करना है तो अपनी ऐसी उत्तम तैयारी बनाओ कि हमेशा यह सोचो कि किसीकी निन्दा मुझसे न बने। किसीके प्रति दुर्वचन न निकलें। यह चीज है ५वी। छठवी बात यह है कि सबके प्रिय बनो। किसी भी प्रकारका क्षोभ करके प्रिय वचन बोलो। वचन ही तो है, इसमें कौनसी दरिद्रताकी बात है। प्रिय वचन बोलो और सुखी होओ। कथानकमें कहते है कि एक बार दाँत और जीभमें विवाद हो गया। दाँत बोले कि ऐ जीभ ! हम तुझे किसी दिन मरोड देंगे। जीभ बोली कि ऐ दाँतों ! भूल जावो, हममे वह कला है कि सब तुडवा दे। अप्रिय वचन बोलकर लाठी डंडे से दाँत तुड़वा दें। ७वीं बात यह है कि अपनी आत्माका ध्यान करो। इस शरीरके भीतर कौनसी चीज ऐसी है जो सुखकी आशा कराती है और दुःखसे दूर कराती है। ऐसा जो अपना आत्मा है उस आत्माका भी तो थोडे समय ध्यान करो। और आत्माके ध्यानकी तरकीब है कि (१)इस संसारमे सबको समान जानो, (२) किसी चीजका ख्याल न रखो कि घर कैसा है ? मकान कैसा है ? लोग कैसे है ? कुटुम्ब कैसा है ? कुछ ख्याल न रखो। शरीर तक पर ध्यान न दो। केवल अपने इस ज्ञानस्वरूप पर ध्यान दो। मेरा कुछ नही है, ऐसा सोचकर विश्रामसे बैठ जावो और उस प्रभुकी ऐसी प्रेरणा होगी कि आत्माके दर्शन होगे। यदि अपने परमात्माके दर्शन हो जायें तो जिन्दगी सफल है।

कर्म कर्महिताय स्याच्चेदहं स्वहिताय हि।
हितं नैर्मल्यभावोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४०॥

इस जीवके साथ जो कर्म लगे हैं उन कर्मोंकी ऐसी प्रकृति है कि वे कर्मोंसे दबते जाते हैं। ये कर्म अपना कुटुम्ब बढ़ाया करते हैं। तभी तो देखो जिनमें कषाय जगती है

उनके कषाय बढ़ती रहती है । सो ये कर्म कितने लगे हैं ? कर्मोंका काम है कि कर्मोंकी वृद्धि हो । कर्म अपने हितमें लगे हैं, उन्नतिमें लगे हैं । तो हमें भी चाहिए कि अपनी-अपनी उन्नति में लगें । जब कर्म अपनी आदत नहीं छोड़ते ये और अपनी वृद्धि करनेमें ही संलग्न हैं तो मैं भी अपने हितके लिए हूं । मेरा हित है अपनेमें निर्मल परिणाम बनाना । निर्मल परिणाम वे कहलाते हैं कि जिनमें विषय और कषायकी बड़ाई न हो । इन्द्रियोने जो विषय कहा, जिन्होंने जो स्वाद चाहा उनमें ही बह गये तो यह मलिनता है । इन्द्रियां चाहती हैं कि बहुत सुन्दर भोजन मिले । मगर आत्माकी ओरसे ऐसा भाव होना चाहिए कि ऐ जिह्वे ! तेरे स्वादके लिए अब तक क्या-क्या किया ? कैसे-कैसे आरम्भ परिग्रह नाज तेरे स्वादके लिए किये, पर तू अब तक तृप्त नहीं हुई । बल्कि ज्यों ज्यों स्वाद लिया त्यों-त्यों तृष्णा बढ़ी और स्वास्थ्य भी गया । इसी तरह और इन्द्रियोंकी बात देखो । चक्षुओंसे रूप देखना । कोई रूप ऐसा देख लिया बहुत देर तक, इससे आत्मबुद्धि क्या हुई ? कुछ भी तो कल्याणकी बात नहीं है । इन्द्रियोंके विषयमें न बहना और अपनेमें कषाय उत्पन्न न होने देना, यह ही साधुता है, यही निर्मलता है । सो अपना हित निर्मल परिणाममें है । सर्व प्रकारके यत्न करके अपने परिणामोको निर्मल बनाओ । इस जीवकी इच्छा होती है कि मैं बड़ाईकी बातें सुना करूँ । प्रशंसाकी बातें सुना करूँ, निन्दाकी बातें नहीं सुनना चाहता । पाप और निन्दाकी बातें भर पेट सुनेगा, क्योंकि दूसरा कोई बात ही बोलेगा । उसका मुख है, उसकी जीभ है उसका कषाय है । जो उसे बोलना था बोल दिया, चेष्टा कर लिया । मैं कल्पना बनाऊँ और उन बातोंको अपने चित्तमे जमाऊँ तो मुझे क्लेश है । मैं नहीं जमाना चाहता । हो गया, वहांकी चीज वहां रहेगी । ऐसा यत्न करो कि जिससे विषय और कषायकी बातें अन्तरमें न जमें । यही आत्माका हित है । इससे हितकी वृद्धि है । और यह निर्मलता जब आती है तब अपने स्वरूपकी पकड़ हो कि मैं दुनियासे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप एक सारभूत चीज हूं ऐसा उपयोग आ जाय तो इसमें निर्मलता बढ़ सकती है । तो कुछ क्षण अपने इस धर्मको पालना चाहिए और अपने आत्माको अपने ध्यानमें जमाना चाहिए । कर्म अगर अपनी बड़ाईमें लगते हैं तो लगा करें, हमें अपनी बड़ाईमें लगना चाहिए और अपनी बड़ाई निर्मलताके न्यायके विरुद्ध भाव न रखो । उन्माद करके अगर दो पैसे ज्यादा आते हैं तो उन पैसोंकी लानत है । इन सब असार चीजोंका संचय करना चाहें तो यह अज्ञानता है । विश्वासघात बहुत भयंकर पाप है । किसीको कोई विश्वास देकर उस विश्वासका घात कर दिया, इसे कितने क्लेश होते हैं ? उसका आत्मा ही जानता है । इसलिए अपना आचरण बडी सावधानीका होना

चाहिए। कम बोलो, व्यर्थ न बोलो, प्रयोजन हो तो बोलो। जिन्दगीमें दो ही प्रयोजन हैं— एक तो आजीविकाका है और दूसरा प्रयोजन व्यवहारका है। और बाकी अगर संग बढ़े, अपना प्रचार बनाए, दोस्ती बनाए तो वे सब फाल्तूकी बातें है। सो मैं अपनी निर्मलताको बनाता हू, अपनेसे बढ़कर रागद्वेषको बाहर कर विश्राम पाऊं और अपनेमे स्वयं सुखी होऊं।

स्वज्ञः शत्रुः कुतो मित्रमज्ञः कस्य सुहृद्रिपुः।
स्वपरस्यः सहृच्छत्रुः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४१॥

एक मलीनता और विकट हुआ करती है कि अपने मनमे यह धारणा बना लो कि अमुक मेरा शत्रु है। अरे जगतके इन जीवोमे जो कि सभी मेरे स्वरूपके समान है और मेरी ही तरह कोई मेरेमें सुधार बिगाड नही कर सकता। एक जीवका दूसरे जीवमें अत्यन्ताभाव है, कोई वास्ता नही है। उनमें यह छटनी करना कि अमुक मेरा मित्र है और अमुक मेरा शत्रु है। यह बहुत बड़ी मलीनता है। कौन मेरा शत्रु है ? कौन मेरा मित्र है ? यह विचार करो कि कौन मेरी आत्माको जानता है ? यदि आत्माको यथार्थसे कोई जानता है तो वह मेरा शत्रु रह नही सकता, क्योंकि यह ज्ञानी बन गया। ज्ञानी जीव किसीका शत्रु नही हो सकता। मेरी आत्माको जिसने न जाना तो वह मेरा शत्रु कैसे ? मुझे तो जानना ही नही है, शरीरको जानता है। और दुश्मनी कोई करता है तो शरीरसे दुश्मनी होगी। अव्वल तो कोई शरीरका दुश्मन नहीं होता। यदि कोई दुश्मनी करता है तो वह अपनेमें दुश्मनीके भाव करता है। खुद दुश्मन बना है, दूसरोंका दुश्मन कोई नही बनता है। दुनियामे कोई मेरा मित्र नही है। हो ही नही सकता। और कोई जीव मेरी परिणतिको बना देगा या बिगाड़ देगा ऐसी किसीमे ताकत है क्या ? हम ही अपने भाव खोटे करके बिगड गये और अपने भाव ठीक रखें तो सुधर गये। मुझे सुधारने और बिगाड़ने वाला दुनियामे कोई नही है। तो फिर मेरा कोई शत्रु मित्र कैसे ? जिस विषयका जिसको आप चाहते हैं उसे मित्र मान लेते हैं। जैसे कोई बच्चा सिनेमा देखने जाता है और किसी दूसरे बच्चेको भी सिनेमा देखनेकी आदत हो जाय तो वे दोनो एक दूसरेके मित्र हो जाते है। कोई किसीका न मित्र है और न शत्रु है। यदि मैं अपने आपकी आत्माका ज्ञाता होऊँ और अपने आत्माके स्वरूपमें विश्राम पाऊँ तो मैं अपना मित्र बन गया। और मैं अपनेसे चिगकर किसी बाह्यपदार्थमें उपयोग दूं तो मैं अपना ही शत्रु बन गया। हममे ऐसी कला है कि अपनेमें अपना मित्र बन जाऊँ और अपना ही शत्रु बन जाऊँ। पर दूसरे जीवोंमे कोई ऐसा नहीं है कि मेरा शत्रु हो और कोई मेरा मित्र हो। सो इस कल्पनाको त्यागो कि मेरा कोई शत्रु है और मेरा कोई मित्र है। मैं तो ज्ञानमात्र पदार्थ हूँ। मेरे ज्ञानमात्र भावको कोई पहचानेगा तो वह खुद ज्ञानी बन जायगा।

अब वह रागद्वेष मोह कैसे कर सकेगा ? इस कारण एक निर्णय मनमें रखो कि कोई न मेरा शत्रु है और न मेरा मित्र है। किसीसे मोह मत बढ़ाओ और किसीसे क्रोध मत करो। राग द्वेषको तजकर अपने आपकी ओर झुककर अपनेमें विश्राम लेनेका प्रयत्न करो।

स्वैकत्वस्याप्युपायो मे साम्यं नान्यत्कदापि हि ।
साम्यघात: परे बुद्धे: स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४२॥

मेरा जो निजी स्वरूप है वह मेरा एकत्व कहलाता है। मेरा निजी स्वरूप है चैतन्य भाव, ज्ञानानन्द। उस ज्ञानानन्दकी प्राप्तिका उपाय हैं समताका परिणाम। रागद्वेष करके अपने आत्माके दर्शन कोई नही कर सकता है। प्रभुके दर्शन भी कोई नही कर सकता है। जब समताका परिणाम आयगा, किसी पदार्थमें रागद्वेषकी वृत्ति न जायगी तो समताके परिणामके समयमे ही इस प्रभुके दर्शन हो सकते हैं। और गृहस्थीका तो मुख्य काम है कि गृहस्थावस्थामें हो पड़े हैं तो कीचड़ जैसी अवस्था है। गृहस्थीमें उपद्रव है तो कितनी कठिनाइयाँ आती हैं ? यह केवल एक गृहस्थी ही जान सकता है। घरमें ५, ६ आदमियोंसे संग है तो कभी न कभी अनबन हो जाती हैं। कोई किसीसे मेल नही खाता है। अपनी-अपनी आदतें जुदा होती हैं। उनको अनेक आपदाएँ होती है। वे आपदाएँ ज्ञानसे ही दूर हो सकती है। जहाँ यह जाना कि किसका कौन है ? सबकी स्वरूपसत्ता जुदा है, सब अपने आपमें अपना परिणमन करते हैं। जो करते है करने दो। उससे मेरेमें कोई हानि लाभ नही है। हाँ, मेरे हितके वास्ते शिक्षाकी बात जरूरी है। यदि तुममें थोडासा ज्ञान है तो मान जावोगे और यदि कुटेव है तो ज्ञानकी बातोंसे उपेक्षा कर जावोगे। अपने ज्ञान, ध्यान और वृत्तिके कामोंको करते जावो। ज्ञानी गृहस्थीको कभी क्लेश नही होता। क्लेश गृहस्थीमे नही होते, क्लेश तो अज्ञानसे होते हैं। गृहस्थीमें रहते हुए जब अज्ञान बनता है तो कष्ट होगा और अज्ञान नही है तो गृहस्थीमें भी सुख है। उसको कोई क्लेश नहीं है, क्लेशकी जड़ तो अज्ञान है। सो वह अज्ञान दूर करो। समता अपनेमें लावो। समताका जो बिनाश है वह तो पर पदार्थोंमे रागबुद्धि करनेसे होता है। परको चाह रहे है, संचय चाह रहे हैं, अपने विषयकी वाछा कर रहे हैं तो उसमें समता परिणाम नही टिक सकता। यह मेरा है, यह इनका है, घरके दो भाई हैं, उन भाइयोंके अपने लड़कोंमें जब यह बुद्धि आ जाती है कि ये मेरे हैं, इनकी खूब संभाल करनी चाहिए और दूसरे भाईके लड़कोंमें यह बुद्धि आये कि ये मेरे नहीं हैं तो यह समताका परिणाम नहीं रहा। वे सब न्यारे हैं। घरमें रहने वाले सभी व्यक्तियों पर समान बुद्धि रखो। उनमें यह न मानो कि ये मेरे हैं, ये गैर हैं। गृहस्थावस्थामें भी यदि ज्ञान जागृत है तो क्लेश नहीं हो सकते हैं। क्लेश तो अज्ञानसे होते हैं। और अज्ञान क्या

है ? मूलमें तो यही अज्ञान है कि यही चोला मैं हूं, यह शरीर ही मैं हूँ। सो इसकी खुशामद में रहना अज्ञान है। दूसरोंकी सेवा करनेमें आलस्य करना, स्वयं आराम करते रहना यह अज्ञान है यही तो मिथ्यात्वकी बात है। इससे बड़ा मिथ्यात्व है कुटुम्ब परिवारका मोह, सो कुटुम्ब परिवार भी अपने क्लेशोका कारण है। और अपनी समतासे, धैर्यसे कुटुम्बके साथ सद्व्यवहार कर लो। अगर मोह अधिक बनाकर अपनेमें विकल्प बनाऊँ तो यह अज्ञान है। सबसे अपना समताका परिणाम रखो, अपने ज्ञानसे अपने परिणामोको सावधान बनाओ और क्लेशोंसे दूर होवो, यही क्लेशोंके दूर करनेका एक उपाय है। इसी बातपर विशेष ध्यान दो।

साम्यं विशुद्धविज्ञानं साम्यं रागविवर्जितम्।
साम्यं स्वास्थ्यं सुखागारः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-८३॥

समता ही जीवकी सम्पत्ति है। जिस मनुष्यके हृदयमें समता नही है बाहरमे चाहे कितने ही आडम्बर हो, वैभव हों फिर भी शांति नही हो सकती है। समताकी बड़ी महिमा है। बड़े-बड़े ऋषिगण जिसके सामने झुकते, राजा महाराजा भी झुकते, जिसको देवता भी बड़ी पूज्यताकी दृष्टिसे निरखते थे वह क्या था ? समताका पुञ्ज। जो क्रोध करता हो, अभिमानमें ऐंठा रहता हो, मायाचार जिसके वर्त रहा हो, लोभकी कितनी ही प्रबलता हो ऐसा पुरुष क्या किसीके द्वारा आदरके योग्य हो सकता है ? समतामे ही पूज्यता और शांति है। वह समता क्या चीज है ? तो उसे कई विशेषणोंसे कह सकते है। विशुद्ध ज्ञानका नाम समता है, निर्मल ज्ञान इस आत्माका ही ज्ञान है। सो वह जानता रहता है। उस जाननेके साथ रागद्वेष नहीं। केवल जानन बना रहे इसे कहते है समता। जिसके राग न उत्पन्न हो उसका नाम है समता अथवा अपने आत्मामे अपने आपकी स्थिति हो जाय उसको कहते है समता। अभी अपने व्यवहार ही में देख लो, जो जरासी बातोंमे भड़क जाते है, रागद्वेष करने लगते है, गाली-गलौज देने लगते हैं उनको कितनी अशांति रहती है ? समता सबका काम है। गृहस्थ भी जहाँ तक बनें वहाँ तक अपनी समता बनावें। धैर्य न खोवे तो जितने गुण आते हैं वे समताके माध्यमसे आते हैं ज्ञान सही रहे तो आनन्द स्वतः प्रकट हो।

ये सब बातें समता पर निर्भर हैं। इसलिए समताका अभ्यास करना बहुत आवश्यक चीज है। सो उस समतापरिणामको रखते हुए अपनेमें सुखी होऊं। समता क्या चीज है ? शत्रु और मित्रमे समान प्रेम रखो। शत्रु और मित्रमे समान प्रेम हो इसका नाम समता है। शत्रु जिसे समझा है वह भी एक चेतन जीव है और जिसको मित्र समझा है वह भी एक चेतन है। आत्मा अपनेसे बिल्कुल जुदा है। वे अपने परिणामोंसे अपनेमें अपनी चेष्टा करते हैं। उनमे से कोई भी न मेरा शत्रु है और न कोई मित्र है। ऐसा विवेक

करके अपनेमें समता परिणाम बनाए रहना यही सबसे बड़ी सम्पदा है। महल मकानोंको सम्पदा, बड़ी ऊंची अटारी वाले घर मिल गये तो क्या? एक छोटा घर मिल गया तो क्या? ये सब बाहरी बातें हैं। उन स्थितियोंको पाकर मनमें किसी प्रकारका विकार न करो, खेद न करो, जो मिल गया सो ठीक है। जैसे मुसाफिर लोग रास्ता चलते जाते हैं, रास्तेमें कैसा भी वृक्ष मिल गया ठीक है, कैसी भी सड़क मिल गयी ठीक है। वह समझता है कि मुझे गुजरकर जाना ही है, इसलिए उसे दुःख नहीं होता है। इसी तरह धन वैभवकी बात है। थोड़ा धन वैभव हो गया तो क्या? अधिक वैभव मिल गया तो क्या? काम तो इस जिन्दगी में धैर्यका है। प्रभुके दर्शनकी भक्ति बनी रहे और अपने आत्माके स्वरूपका ध्यान बना रहे जिससे कर्म कटते है तो इससे लाभ है। धन वैभवसे क्या लाभ है? धन वैभव थोडा हो तो क्या, बहुत हो तो क्या? धन वैभव बहुत होनेपर लोग इतना ही तो कह देंगे कि यह बडा धनी है। वह तो इतना कहकर अलग हो गया और यहाँ तृष्णा लग गयी। सो धन कमाने को फिक्रमे रात दिन मर गये और जो लोग कुछ प्रशंसाकी बात कह देते हैं वे भी तो मलिन जीव है। वे भी तो संसारमें जन्ममरणके चक्कर लगाने वाले जीव हैं। कोई महंत नहीं है। कोई प्रभु नहीं हैं। वे भी तो इस ससारमे रुलने वाले प्राणी हैं। उनको बातोंका क्या ख्याल करें? वे हमारे सहाय तो नहो हैं। मरने पर हमारी मदद कर देंगे या इस जीवनमें वे मेरे सुख दुःखके साथी हो सकेंगे, ऐसा कोई नहीं है। खुदने जैसे कर्म उपार्जित किये हैं, उनके अनुसार मुझे सुख दुःख मिलेगा। हम ही हमारे सुख दुःखके जिम्मेदार हैं। जितना समतासे हटते है उतना ही तो कर्म बाँधते हैं और जितनो अपनेमें समता बनाए रहते हैं उतना ही कर्म कटते हैं। यह समता जब पैदा हो तब अंतरमें किसी वस्तुके प्रति मोह न जगे। घरमें रहते रहें, पर सच्ची बात जान लेनेमें कौनसी आफत है? मैं सबसे न्यारा हूं कि नहीं? सब जुदे हैं कि नहीं? सबके कर्म न्यारे हैं कि नहीं। उनसे कुछ सम्बन्ध तो नहीं है। सच-सच बातें जानते रहो बस यही धर्मका पालन है। आप स्तवन करें, मजीरा बजायें, बड़े ऊँचे स्वरसे गावें तो यह धर्म नहीं हुआ। धर्म तो मोह न हो तो होगा और चीजोंसे धर्म न होगा। इसलिए ऐसा ध्यान बनाओ और अपने प्रभुसे यह माँगो कि मेरेमें मोह न जगे। सत्य ज्ञान बना रहे। सम्यग्ज्ञानसे ही इस जीवको सफलता है।

मुनीन्द्रैरपि पूज्यं तत्साम्यं सर्वोत्तमं पदम्।
साम्यं स्वस्य स्वयं रूपं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४४॥

यह समता बड़े-बड़े मुनियोंके द्वारा पूज्य है। पूजा किसकी होती है? किसीकी शकल सूरतकी पूजा नहीं है। पूजा तो गुणोंकी होती है। जो अपनेमें गुण रच गये उससे पूजा होती

है। तो अपने ही गुणोंकी पूजा है। इसलिए भगवानकी पूजा करते हो तो वह भगवानकी पूजा नही है। वह आपके अपने गुणोंकी पूजा है। सो जो कोई पूजता है वह अपने ही गुणों को पूजता है। समताका ही एक महान् गुण है। यह समता बडे-बड़े मुनिराजोंके द्वारा पूज्य है। सबसे उत्कृष्ट यह है। यह समता क्या चीज है ? अपना ही स्वरूप है। यह जीव शांति का समुद्र है। इसमें दुःख और अशांति स्वभावसे नही है। पर अपने स्वरूपको भूलकर बाहर से सुखकी आशा लगाये है, इसलिए सब आनन्द खत्म हो गया है और भिखारी बनकर जगह जगह भागता फिरता है। अपना स्वरूप संभाल लो तो सब कुछ चीजें न्यारी हैं।

प्रभुकी मुद्रा निरखकर यही अपना भाव आता है कि हे प्रभो ! तुमने संसारको असार जाना था और सबसे वैराग्य लेकर अपने आपमे अपनेको पूजा था। जिसके फलमें आप सर्वज्ञाता हैं, अनन्तानन्दनिधान हैं। ऐसी ही शक्ति प्रभु मुझमें है, क्योंकि द्रव्यसे आत्मा वही एक है। मैं भी वैसा हो सकूं, ऐसी भावना प्रभुके दर्शन करके मानी जानी चाहिये, समताका आदर करना चाहिए, तिलमिला नही उठना चाहिए। जरासी विपदा आती है या किसीको कोई दुर्वचन बोला जाता है तो तिलमिला नही उठना चाहिए, क्षमा करना चाहिए। आपका बड़प्पन इसीमे है कि दूसरा कोई अपराधकी चेष्टा बनाए तो उसे क्षमा कर दो। इससे बहुत उत्थान होता है। तो यह समता बड़े-बड़े मुनिराजोंके द्वारा पूज्य है। वह समता अपना ही स्वरूप है। सो यह मैं अपनेमें ही वर्तता हुआ सुखी होऊँ।

मानापमानयोः साम्यं कीर्त्यकीर्त्योः सुखासुखे।
व्यग्रता पश्यतो न स्यात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८-४५॥

मान हो, चाहे अपमान हो, उसमे व्यग्रता न होनी चाहिए। ज्ञानानन्द निधानस्वरूप को देखकर अपने ही अनुपम स्वरूपमें संतोषको पाकर मान और अपमानकी व्यग्रता न करनी चाहिए। किसीने सन्मान दिया तो उससे तिर तो नही जावोगे, तिरना अपने ज्ञानसे होगा। किसीने दुर्वचन बोल दिया तो तुम बिगड तो नहीं गए। और दूसरोंकी दृष्टिमें तुम खोटे हो तो उसकी ही तो दृष्टि खोटी है, तुम तो ज्योंके त्यों ज्ञानानन्दस्वरूप हो। सो अपमानका भी क्षोभ न करो। कोई प्रशंसा करे, कोई निन्दा करे उसमे भी क्षोभ न हो। सुख और दुःख आएँ उसमें भी व्यग्रता न होनी चाहिए। धन्य है वह गृहस्थी, वह पुरुष जो विपदाओंका भी स्वागत करता है। दुःख आते हैं तो आवो, दुःखमे मेरा ज्ञान न बिगड़े तो कुछ परवाह नहीं। जितने संकट आ सकते हों आवो। ज्ञान अगर बिगड़ता है तो वह सम्पदासे बिगड़ना है वह सम्पदा अपने कामकी नही है, वह सम्पदा बेकार है। अपने आपकी पवित्रता बनी रहे ऐसा अपना ज्ञान जमाना चाहिए। सो सुख और दुःखमें व्यग्रता न हो ऐसा उपाय करो। वह

उपाय यह है कि सबसे न्यारा केवल एक ज्ञानानन्दमय अपने आपको देखो, इसमें ही संतोष रहे। मैंने अपना स्वरूप पाया तो सब कुछ पा लिया। ये बातें आत्मज्ञानकी हैं जब तक अपने आत्माके स्वरूपका भान नहीं होता है तब तक अपने धर्मका कुछ भी पालन नहीं हो सकता। और आत्माका ज्ञान होना बहुत सरल है, जो चाहो सो कर सकते हो। केवल इतना ही तो करना है कि जगत्के सब पदार्थोंको भिन्न और अहित जानकर उनका विकल्प छोडना हैं और स्वयं शांत होकर निर्विकल्प बैठना है। अपने आपसे अपना ज्ञान प्रकट हो जायगा। सो आत्माका ज्ञान करो और साथ ही साथ सद्व्यवहार करो। अपना ऐसा व्यवहार हो कि किसी जीवको क्लेश न उत्पन्न हो। कितनी ही विपदा आये, पर झूठ न बोलो। किसीकी गवाही न दो। किसीको फँसानेका जाल न बनाओ। परिग्रहके संचयमें अपनी बुद्धि न फँसावो। परिग्रह तो गुजारेके लिए आवश्यक है ऐसा नहीं है। गुजारा तो होता है। परिग्रहकी धुन न बनाओ। अपनी धुन तो सदाचारकी बनाओ। मेरा आचरण अच्छा रहे, पवित्र रहे, ऐसा यत्न करो तो उसमें शांति मिलेगी, परिग्रहसे शांति कहां मिलती है ? वे तो जड पदार्थ हैं, लौकिक वैभव है, उनसे आत्मामे निराकुलता नहीं होती। अपने ज्ञानका आदर करो। अपनेको पवित्र रखो और दूसरे जीवोंका सम्मान करो। अपनेको चाहे दुःख हो जाय, पर दूसरोंको दुःखी न होने दो। ऐसा यत्न करो तो यह व्यवहार सुखका कारण हो सकता है।

शंसा निन्दा विपत्संपत्स्वाकुलतैव केवलम्।
नैर्द्वन्द्व्य ज्ञानमात्रेऽस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४६॥

इस जगतमें जहाँ देखो वहाँ आकुलतायें ही आकुलतायें नजर आ रही हैं। घरमें रहने वाले लोग हैं वे समझते हैं कि मुझे बडी परेशानी है, जो कुटुम्बसे भरपूर हैं वे समझते है कि हमे बडी परेशानी है, जो गरीब हैं वे अपनेमें बेचैनी मानते हैं, जो धनी हैं वे अपनेको बेचैन मानते हैं। तो फिर यह बतलावो कि इस जगत्में सुखी कौन है ? किसी आदमीका नाम तो बतलावो कि अमुक सुखी है। आप मिनिस्टर देखें चाहे राजा देखें ये सब दुःखी हैं, क्योंकि वे सब जीव हैं उनके साथ कर्म लगे है। कर्मोंका उदय है। सब दुःखी हो रहे हैं। कौनसी बातसे सुखी हैं सो बतलावो। धनसे भी तो सुख नहीं है। प्रशंसा निन्दासे भी सुख नहीं। सुख तो अपने भीतर बसे हुए शुद्ध ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि देनेसे ही हो सकता है। बाहर देखो तो सुख नहीं मिलेगा। बाहरसे आँखें मींचो और अपने अंदर ही कुछ पता पड़े तो सुख मिलेगा। बाहरमें सुख नहीं है। यह सारी दुनिया बाहर बाहर ही में है। इसलिए सुख नहीं नजर आ रहा है। अपने निज अंतर ज्ञानका पता पड़े तो मैं सुखी बना बनाया हूँ। कोई

सुख हमको बनाना नहीं है। सुख मेरा ही स्वरूप है, ऐसा मालूम हो तो मोह हटे तो इस जीवको सुख हो सकता है।

अभी चाहे आरामसे भी हों, पर परस्परमें कलह चलता है, विवाद चलता है। उसका कारण क्या है कि कषाय अन्दर है और कषायके वश है सो जैसा कषाय आ गया तैसा कर लिया। जहाँ प्रशंसा है तो वहाँ आकुलता है जहाँ निन्दा है तो वहाँ आकुलता है। गरीब हो तो वहाँ आकुलता और सम्पत्ति आ जाय तो वहाँ आकुलता बाहरी पदार्थोंमें अपनी दृष्टि देनेसे सुख नहीं हो सकता है। सुख मिलेगा तो अपने अन्तरसे ही मिलेगा। मेरा स्वरूप तो निर्द्वन्द्वता है। इसमें कोई दूसरी खटपट नहीं लगी है। शरीरके भीतर जो आत्मतत्त्व है, जिसके निकल जानेसे लोग कहते है कि यह मर गया। और लोग मृत शरीरको जला देते हैं। ऐसी जो चीज है वही तो मैं हूं। मैं शरीर नहीं और बाहरी चीज नहीं। इस शरीरके अन्दर जो चेतना है जिसके निकल जानेसे लोग शरीरको मृत कहने लगते है, वह चेतना मैं हूं। वह मैं चेतना सुखी हूँ, निर्द्वन्द्व हूं, ज्ञानमात्र हूं, जो भीतरमें एक उजेला है, बस वही मैं हूं। इससे आगे अपनेको और कुछ माना तो दुःख ही है। मैंने शरीरको माना कि यह मैं हूं तो फिर दूसरोंको माना कि ये मेरे शत्रु है और ये मेरे मित्र है, ये मेरे भाई है। इससे ही दुःख है, नहीं तो दुःखका कोई काम नहीं है। यह ब्रह्म सुखस्वरूप है "आनन्दम् ब्रह्मरूपम्।" यह खुद सुखस्वरूप है, इसका किसीमें रंच भी सम्बन्ध नही। बाहरको अपना मानते है, इसलिए क्लेश होते हैं। बाहरसे दृष्टि हटाओ और अपनी ओर आओ तो इसमे सुख प्राप्त हो सकता है।

अन्यवृत्ते नं मे बाधा स्वस्य विकल्पतः।
प्रज्ञयाऽनाश्रयीकृत्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४०।

एक तो यह निर्णय कर लो कि हमें जो दुःख पैदा होता है वह क्यों होता है और किस तरह होता है? लोग यह समझते है कि अमुकने इस तरहका कार्य किया, इसलिए दुःख हुआ। अनेक प्रकारकी बातें मानते हैं। पर दुःख किसी दूसरेके कुछ करनेसे नहीं होता। दुःख होता है अपने विकल्पोंसे। बड़े-बड़े राजा महाराजा अपना राज-पाट छोड़ करके वन में चले जाते हैं और बड़े सुखसे वहाँ रहते हैं। जहाँ खाने पीनेका ठिकाना नहीं, अन्नकी सुविधाएँ नहीं, फिर भी वे अपने आनन्दमें मस्त रहते हैं, क्योंकि आनन्द किसी चीजसे नहीं मिलता। आनन्द तो अपनेमें मिलता है। दुःख तो बाह्यपदार्थोंकी प्रवृत्तिसे होता है। अपना आचरण खराब रखनेमें दुःख होता है। दुःख देने वाला दुनियामें कोई दूसरा नहीं है। अभी किसीके प्रति बुरा ख्याल हो जाय तो उसकी जितनी चेष्टाएँ हैं उसे बुरी लगती हैं। जिससे

लड़ाई हो यह अगर दूर खड़ा हो तो उसका खड़ा होना भी बुरा लगता है। उसका कोई मानो काम हो, उसे लगेगा कि यह मेरा बुरा करनेके लिए कर रहा है। दूसरा बुरा नहीं करता है। अपना ख्याल बुरा बना लिया इसलिए बुराई आ गयी। अपना हृदय स्वच्छ हो तो भगवान् प्रसन्न होगा और यदि हृदय मलीन है तो भगवान् दर्शन नहीं दे सकता है। यह मनुष्यजीवन बहुत दुर्लभ जीवन है। ऐसे दुर्लभ नरजीवनको पाकर यदि अपना जीवन तक न बनाया तो भला बतलाओ कि कौनसी ऐसी गति मिलेगी जिसमें अपना सुधार कर लोगे? इस मनुष्यभवको पाकर अपने कल्याणके अतिरिक्त और बातें न सोचो। ऐसी बातें तो पशु पक्षियोंमे भी मिलती हैं। स्त्री पशु पक्षियोंके भी होती हैं, बच्चे होते हैं। मनुष्य खाते हैं तो पशु पक्षी भी खाते हैं। अगर खाने पीनेके लिए अपनी जिन्दगी समझो तो मनुष्यजीवनमें और पशु पक्षियोंके जीवनमें क्या अन्तर रहा? अंतर तो ज्ञान और धर्मका ही है। यदि ज्ञान और धर्म न किया तो मनुष्यजीवन बेकार है। कोई तत्त्व नहीं निकला। सो ऐसा निर्णय रखो कि चाहे तुम्हारा कोई बिगाड कर दे, पर तुम किसीको बाधा न पहुंचाओ। बाधा तो तब आयगी जब ख्याल बुरा बनेगा। हमारा ज्ञान सही है, हमारा ज्ञान ढंगका है तो कोई कुछ करे उससे बाधा नहीं आ सकती है। भला बतलाओ कोई ऋषि संत जंगलके अन्दर बैठा है और कोई शेर आदि खा ले या कोई शत्रु आकर उसपर उपसर्ग करे तो उस साधुका ख्याल जरा भी खराब नहीं है। प्रभुमें लौ लगाये है, आत्मस्वरूपमें ही दृष्टि गडाए है तो उसको रंच भी बाधा नहीं है। देखने वाले जरूर जानेगे कि उस साधुको बड़ा कष्ट हो रहा है, पर वहां उसे रंच भी कष्ट नहीं है। क्योंकि अपना उपयोग, अपना ज्ञान अपने प्रभुमें लगा रहा है। ज्ञानरसका पान कर रहा है। इससे यही निर्णय रखो कि हमको दूसरोंसे तकलीफ नहीं होती। यह विचार रहेगा तो जिन्दगीमें आराम मिलेगा। नहीं तो दसों बहाने ऐसे मिलेंगे जिससे क्लेश होते रहेंगे। हमको दूसरे यों बातें सुनाते हैं, कोई मेरी परवाह नहीं करता है, दसों ख्याल करने लगते हैं और अगर यह ख्याल बनाते हैं कि मुझे दुःखी करने वाला कोई नहीं है तो मैं प्रभुकी तरह शुद्ध ज्ञान और आनन्दका पुञ्ज हूं। मैं बिगड़ता हूं तो अपने आपसे ही कल्पनाएँ करके दुःखी हो जाता हूं। मुझे दुःखी करने वाला दूसरा कोई नहीं है। मैं यहां बैठा हूं और शहरमें कोई दुकान है उसमें चाहे हजारोंका फायदा हो गया हो और वातावरण ऐसा सुननेमें आया कि दुकानदारोंमें हजारोंका नुक्सान हो गया है, चाहे वहां लाभ ही हुआ हो, पर ख्याल बनाकर दुःखी हो जाते है। सो मुझे दुःखी करने वाला कोई नहीं है। मैं ही अपना ख्याल बनाता हूं और दुःखी होता हूं। और चाहे दुकानमे टोटा ही पड़ गया हो, पर यह सुन लिया कि दुकानमें लाभ हुआ, तो सारा दुःख मिट गया। और

अगर यह दृष्टि गड़ाए रहे कि नुकसान हो गया तो दुःख ही मिलते रहेंगे। सो दुःख अपने ही द्वारा मिलते है, दूसरोंके द्वारा हमें दुःख नहीं होते हैं—यह निर्णय बनाओ।

स्वाक्ष्येच्छाजाऽन्यनिन्दा स्यात्तस्मान्निन्द्यो हि निन्दकः।
स्वं दृष्ट्वाऽनिन्दकानिन्द्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६–४८॥

मनुष्योंमें सबसे बड़ा अवगुण है दूसरोंकी निन्दा करना। क्या निन्दा करनेसे कुछ मिल जाता है ? सबको अपने जीवनमें इसका परिचय होगा। किसीकी निन्दा कर लिया तो तुम्हें क्या मिल जायगा ? मिलना तो दूर रहा, आपदाएँ जितनी चाहें आ सकती हैं। जिसकी निन्दा की जाती है उसमें यदि सामर्थ्य है तो वह आफत डालेगा। जिसने निन्दा की है उसके कानोंमें यह बात आ जायगी कि सम्भव है कि वह आफत डाल सके अथवा किसी उत्तम संतकी निन्दा की हो तो लोगोंकी दृष्टिमें वह स्वयं बुरा बन जायगा। इस कारण निन्दा करके लाभ नहीं मिलता, आपत्ति ही आपत्ति आती है। सो निन्दक जो पुरुष है वह स्वयं निन्दाका पात्र है। निन्दा जब कोई करता है तब उसको अपने यश और कीर्तिकी इच्छा होती है। जब कोई अपनेको बड़ा समझने लगता है, अहंकार उत्पन्न होता है और अपनी मान्यता दुनियामें चाहता है तो कुबुद्धिके कारण इसके दूसरोंकी निन्दा करनेके भाव होते हैं। निन्दा करना मनुष्यका एक बड़ा अवगुण है और जीव तो निन्दा कर नहीं सकते। गाय, बैल, भैंस, सूकर, घोड़ा जो तुम्हारे घरमें हैं, पड़ोसमें हैं, वे क्या निन्दा करेंगे ? मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो बोलता है अपने भाव दूसरोंको बताता है दूसरोंकी बातोंको सुनकर उसका अर्थ लगा लेता है। यह बात औरोंमें नही पायी जाती है। इतनी बड़ी बात यदि पायी है तो इसका उपयोग करना चाहिए। मनुष्यका वैभव वचन है। वचनोंसे ही यह समझा जाता है कि यह बड़ा पुरुष है।

एक कथानक है कि राजा मंत्री और सिपाही तीनों कहीं जा रहे थे। रास्तेमें ये तीनों किसी कारणसे ऐसे ही रास्ता भूल गये, अलग-अलग हो गये। पहले सिपाही उस रास्ते से निकला जहाँ एक अंधा बैठा था। सिपाहीने पूछा कि अबे अंधे ! यहाँसे राजा या मंत्री कोई निकला है ? तो सूरदास कहता है कि नहीं सिपाही जी अभी तो कोई नही निकला। बादमें मंत्री निकला तो उस अंधेसे पूछता है कि सूरदास यहाँसे अभी कोई निकला है ? तो वह बोला कि मंत्री जी सिर्फ एक सिपाही निकला है और कोई नहीं निकला। बादमें राजा निकला तो पूछता है कि सूरदासजी यहाँसे कोई निकला है ? तो वह कहता है कि हाँ राजा जी पहले तो सिपाही निकला, उसके बाद मंत्री निकला। यह सुनकर सब आगे जाकर इकट्ठे हो गए ? बादमें सूरदासकी चर्चा आयी कि उस सूरदासने कैसे बता दिया ? सिपाहीने कहा

कि मुझे सिपाही बताया, मंत्रीने कहा कि मुझे मंत्री बताया और राजाने कहा कि मुझे राजा बताया। तो वे सूरदासके पास आये। राजाने पूछा कि आप हम सबको कैसे जान गये? बोला—महाराज वचनोंसे परख लिया। अबे अंधे जिसने कहा वह छोटा ही व्यक्ति हो सकता है तो मैंने अन्दाज कर लिया कि यह सिपाही है। कुछ कोमल वचन जिसने बोल दिये वह मंत्री है। और अंतमें अति कोमल वचन थे तो मैंने समझ लिया कि यह राजा है। मनुष्य का धन वचन ही है। वचनोंसे ही मनुष्य आदर पाता है और वचनोंसे ही जूते खाता है। वचनोंसे ही दूसरोंका आकर्षण रहता है और वचनोंसे ही विमुखता हो जाती है तो मनुष्यका जो एक अनुपम वैभव है जो अन्य जीवोंमें नहीं पाया जाता है, वह वैभव है वचन बोलनेका। सो ऐसी अमूल्य बातको पाकर हम उसका दुरुपयोग न करें। वचन संभालकर बोलें, वचन प्रिय लगें ऐसे बोलें, निन्दाकी बात कभी न करें। सो अपने आपके स्वरूपको तो देखो कि इसका स्वरूप न तो निन्दा करनेका है और न दूसरे जीव इसकी निन्दा करने योग्य है। ऐसा यह मैं अनिन्दक हूं, आनन्दमय हूं। ऐसे शुद्ध ज्ञानस्वभावको अपने उपयोगमें लेकर अपनेमें सुखी होना चाहिए। निन्दाकी बात तो अपने जीवनमें बिल्कुल दूर कर दो। संकल्प कर लो चाहे कैसी भी स्थिति आये, पर दूसरोंकी निन्दा न करो। एक यह ही गुण मनुष्यमें आ गया तो आदरका पात्र बन जायेगा।

सर्वे समाः समे मैत्री मैत्र्या शान्तिर्मतेह च।
सुखं साम्यं हि तत्स्वास्थ्ये स्वां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-४१॥

जितने जीव हैं सब समान हैं। किसी जीवका स्वरूप मुझसे बढ़कर हो या मुझसे कम हो ऐसा नहीं है। सब जीवोंका स्वरूप एक चैतन्यमात्र है। कीडा हो, पतंगा हो, पशु हो, मनुष्य हो सबका स्वरूप एक समान है। और मित्रता समानमें ही होती है। जगत्के जीव यदि मित्रता चाहते हैं तो उनको पहले अपनी दृष्टि पवित्र बनानी होगी, जिससे सब जीव समान दिखें। एक रूप ही दिखे। यदि मैत्रीका रूप है तो दुःख नहीं उत्पन्न होता। ऐसा भाव बनाओ कि किसी जीवको दुःख न उत्पन्न हो। ऐसा परिणाम ही मैत्रीभाव कहलाता है। सो मैत्री परिणाम होगा तो शांति आयेगी और यदि अपनेमे अहंकारकी बुद्धि हुई तो उसमें अशांति ही होती है। इसका परिणाम क्या हुआ कि समता परिणाम ही सुख है? सब जीवोंमें समताकी बुद्धि हो तो उसके फलसे अपने आपकी दृष्टि रह सकती है। और जब अपने आपकी दृष्टि हो तो उसमें ही शांति मिल सकती है। सब जीवोंको एक शुद्ध चैतन्यमात्र निरखो। किसीके ऊपर ऐब आये हैं तो जानो कि इस जीव पदार्थमें ऐब नहीं है। कर्मोदय इस कालिमा है कि इसमें दुराचार अथवा कोई अवगुण आ गया है। यह तो अनन्तज्ञानस्व-

रूप पवित्र पदार्थ है । ऐसी दृष्टि सब जीवोंके प्रति होनी चाहिए । बालक हो, तुच्छ हो, छोटी जातिका हो, किसी भी प्रकारका जीव हो, यहाँ तक कि पेड़ोंको भी देखकर ऐसा विचार करो कि इन पेडोंमें भी जो जीव है, वह पदार्थ भी मेरे स्वरूपकी तरह है । यह पर उपाधि की, अन्य उपाधिकी वजहसे जैसा इसका कर्म है उसके अनुसार इस जीवको देह मिली है और इसकी रचना हुई है । है तो यह जीव मेरे ही जीवके समान । ऐसा परिणाम सब जीवोंके प्रति रखो तो उससे दूसरोंको दुःख उत्पन्न करनेका भाव न रहेगा और इससे बढ़कर क्या पवित्र हृदय कहा जायगा ? जिस हृदयमे यह भाव आ जाय कि किसी भी प्राणीको क्लेश न हो । इस भावके फलमें आत्मामें शांति उत्पन्न होती है ।

इष्टे न हर्षभावश्चेदनिष्टे स्यान्न खेदता ।
ऋध्वेष्टेच्छां स्वबोधेन स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥८-५०॥

इष्ट पदार्थोंके संयोगमे यदि हर्षभाव न होवे तो न रहनेपर उसका खेद नहीं होगा । गृहस्थ जीवनमें गृहस्थीकी ये बड़ी तपस्याएँ है कि एक तो जो समागम मिला है, इष्ट, प्रिय, आज्ञाकारी, मनपसंद जो समागम प्राप्त हुए है उनके प्रति ऐसा विश्वास रखो कि ये सबके सब कभी न कभी जरूर अलग होगे और जब तक हैं भी तब तक ये परपदार्थ है । इनसे मेरेको आनन्द नही हो सकता है । आनन्द तो मेरे ज्ञानसे होता है । ये समागम अवश्य वियुक्त होगे । ऐसे इष्ट पदार्थोंके सम्बन्धमे सोचो तो जब उन पदार्थोंका सम्बन्ध है, जब तक उन पदार्थोंका समागम है तब तक इस जीवको हर्षका अतिरेक नहीं होगा । जब किन्ही इष्ट पदार्थोंमे आसक्ति न होगी तो वियोग होनेपर क्लेश न होगा । सो सबसे बड़ी तपस्या जो गृहस्थीमें बता रहे है उनमे सबसे बडी तपस्या यही है कि इष्ट पदार्थोंमें ऐसी बुद्धि रखकर कि ये भिन्न हैं, कभी मिट जायेंगे, उनमे हर्ष न मानो, आसक्ति न करो । और दूसरी तपस्या यह है कि गृहस्थके पुण्यके उदयके कारण जो कुछ भी मिलता है, जितना भी लाभ होता है, जितना भी द्रव्य प्राप्त होता है उसमें संतोष रहे । क्योंकि जगत्के अनेक पुरुषोंपर दृष्टि दो । किसीके पास २०-२१ रुपये महीने तकका रोजगार न हो और अपना गुजारा करता है । इसमे कोई सीमा नही कि हमको कितनी आमदनी हो जो शांति हो । धनके हिसाबमे संतोष नहीं होता । जो भी पुण्योदयसे प्राप्त होता है उसमे ही संतोष रहे उसमे ही सब विभाग बन लें, उससे आगेकी वाञ्छा न करो । किसी भी वस्तुसे मुझे हानि नही है, ऐसा विश्वास करके परिग्रहकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए । यह बड़ा तप है । जिसके कारण गृहस्थ जीवनमें भी रहकर सुखी हो सकता है । और इसके विरुद्ध परिणाम हो जाय याने जो इष्ट पाया है उसमें आसक्ति हो रही है तो सब कुछ यही है कि दुनियाकी लीलाको बिल्कुल भूल गये । अपना

आगा पीछा सब भूल गए। एक आसक्ति है धनमें, स्त्रीमें, इज्जतमें, यदि इतना मोह बढ़ गया, आसक्ति हो गयी तो आप समझ लें कि पग-पगमें ठोकरें खानेको मिलेंगी, क्लेश होंगे और भुगत भी चुके होंगे। इसी तरह दूसरी बातोंके विरुद्ध परिणाम हो जाय अर्थात् परिग्रह की लालसा ही करते रहे तो इस लालसाका परिणाम आप समझते हैं कि कभी सुख नहीं हो सकता। जो कुछ पाया है उसका भी आनन्द न पा सकेंगे। इससे गृहस्थको इन दोनों बातोसे कभी न हटना चाहिए और अगर हटते हैं तो नियमसे दुःख होगा। इष्ट पदार्थोंमें-यदि हर्ष भाव नहीं होना है तो अनिष्ट भावमें उसे खेद नहीं होता है। तब क्या इन दो बातोंके लिए करना है कि अपने आत्माके ज्ञानके प्रसादसे इष्टकी इच्छा रोककर मनको संयत करके अपने आपमें अपना आनन्द प्राप्त करो। इष्ट वह कहलाता है जो अपनेको सुहावना लगता है। जिसमें अपनी प्रीति जगती है उसमें जो इच्छाएँ बढ़ रही हैं उनको रोको। आसक्त होकर एकदम विषयोंमें न लग जावो। एक एक प्राणी एक-एक इन्द्रियोंके वशमें होकर प्राण गंवा देता है। स्पर्शन इन्द्रियके वशमें हाथीका उदाहरण प्रसिद्ध है। हाथी इसी तरह गड्ढेमें पड़ता है कि फांसने वालोंके द्वारा एक झूठमूठकी हथिनी बना ली जाती है, उसमें आसक्त होकर वह हाथी आता है और उस गड्ढेमें गिर जाता है। रसना इन्द्रियके वशमें मछली अपने प्राण गँवा देती है। मछली पकड़ने वाले लोग किसी गंदी चीजको काँटेमें लगा देते हैं तो उस काँटेमें आकर वह मछली फंस जाती है। घ्राण इन्द्रियके वशमें भ्रमर कमलके फूलमें अपने प्राण गंवा देता है। चक्षुइन्द्रियमें पतंगोंका उदाहरण आता है। दीपकको पाकर पतंगे अपने प्राण गंवा देते हैं। कर्ण इन्द्रियसे साँप पकड़ा जाता है। साँप राग रागनीका बड़ा शौकीन होता है। जब बीन बजती है तो साँप एकदमसे कहींसे फंस जाता है। अब जरा मनुष्यको देखो, किस इन्द्रियमें कम बन रहा है। मनुष्यकी पाँचों इन्द्रियाँ एकदम आगे बढ़ रही हैं। जो मनुष्य पाँचों इन्द्रियोंके वशमें है उस मनुष्यको दुःखसे बचा सकने वाला कोई है क्या? कौन बचा सकता है? सो एक यही जिम्मेदारीका भव है। इसमें यों ही उपेक्षा न करना चाहिए। ज्ञान प्राप्त करो। संयम करो, चारित्र बनाओ, आचरण पवित्र रखो। एक भी व्यसन न आ सके, एक भी बुरी आदत न आ सके, इसलिए अच्छा सत्संग बनाओ। प्रभु की भक्तिमें विशेष समय लगाओ अपने आप ज्ञान जगेगा और इस ज्ञानकी विभूतिसे वैराग्य बना रहेगा और अपने आपमें वैराग्य बना रहेगा। यदि अपने आपमें वैराग्यकी पूंजी है तो आप संकटोंसे बच जायेंगे। यदि ज्ञान वैराग्यका नहीं है तो संकट अनेक आते ही हैं। अभी कोई बीमार हो, कभी कोई गुजर गया, किसीने निन्दा कर दी इत्यादि अनेक बाधायें इस गृहस्थावस्थामें आती हैं। यदि ज्ञान और वैराग्यमें कुछ बल नहीं है तो हर जगह यह जीव

दुःखी होता है। ऊपरी बातें करनेसे शांति न मिलेगी। भीतरमें यदि ज्ञानकी बात जगती है और उस ही के कारण वैराग्य कुछ बनता है तो इसे शांति मिलेगी, धैर्य प्राप्त होगा अन्यथा यह अधीर होकर ही अपना समय गुजर गया। सो ज्ञानका आलम्बन लो, इष्टका हर्ष न मानो, अनिष्टमें खेद न मानो, ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहो और अपने सुखका उपभोग करो।

आत्मरूपेऽन्ययोगो न वियोगस्य च का कथा।
कथं हृस्याणि खिन्दानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-५१॥

इस आत्माका स्वरूप जगत्के सब पदार्थोंसे जुदा है। पदार्थ जितने होते हैं वे सब जुदे जुदे होते है। किसी पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ कोई सम्बन्ध नही। प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अपने रूप ही हैं। तब यह मैं आत्मा अपने अनन्तानन्त गुणोंसे तन्मय हूं। मुझमें किसी दूसरी चीजका प्रवेश नही है। तब फिर वियोगकी बात ही क्या कहना है ? अर्थात् उसका न तो इष्टका संयोग होता है और न वियोग होता है। मैं तो अपनेमें अकेला हूं। पर हम आप सोचते रहते हैं कि ये अच्छे हैं, ये मेरे पास हैं, ये बुरे हैं। इन सब बातोंके सोचनेसे तो वियोग होगा। परद्रव्य रहें चाहे न रहे, उनसे मेरी आत्मामे कुछ नही गुजरता। पर हम आप कल्पनाएँ करके सुख दुःख मानते हैं। किसी चीजको पाकर हम हर्ष मानते तो यह मूढ़ता है मेरी कि नही ? जब कोई चीज मेरी है नही तो उसको पाकर खुश होना यह मूढ़ता है कि नही ? इन चीजोंका वियोग होगा तो दुःख होगा। यह सब मोहका जाल है जो अपने आपके स्वरूपका ज्ञानी है वह न संयोगमे हर्ष मानता है और न वियोगमें दुःख, वह तो हमेशा ज्ञाता द्रष्टा रहता है। कभी किसी मनुष्यकी ऐसी प्रकृति देखी होगी कि ये परवाह नही करते हैं। कुछ भी आवे या जावे। शिवपुरीमे, ग्वालियर जिलेमें एक गाँव बदवाँ है। वहाँ एक जैनी छोटासा हलवाई दुकानदार था। उसका इकलौता लड़का जवान अचानक गुजर गया तो गाँवके सभी लोग दुखी हो गये कि हाय देखो उसका एक ही सहारा था, इकलौता लड़का था, गुजर गया। लोग उसके घरमें आये समझानेको और वहाँ देखा तो बाप प्रसन्न है। उसके जरा भी विषाद नही। लोग बोले कि तुम्हें जरा भी दुःख नहीं तो वह बोला कि दुःख क्यों हो ? वह अपनी आयुसे रह रहा था और आयु पूरी हो गयी तो चला गया। हम तो अपने फँसे हुए थे सो अब प्रभुभजनमें हमको स्वतंत्रता मिल गयी। बहुतसा भार हट गया। तो जो ज्ञानी होता है वह न संयोगमें हर्ष मानता है और न विषादमें दुःख। नहीं तो गृहस्थीमें दुःख क्या है बतलाओ ? सिवाय इष्ट अनिष्ट बुद्धि के और कोई क्लेश नहीं है। संयोग वियोग सुख दुःख मानकर बहिर्मुखता बनाकर अपनी आत्माको भूलकर विकल्प बनानेमें पड़ गये, यही तो दुःख है। सो जो ज्ञानी गृहस्थ होगा

वह इन झंझटोंमें न पड़ेगा। वह तो उपासक मुनि धर्मका होता है। उसे ये सब जगजाल दिखते हैं और चाहते हैं कि हम इस जालसे कब निकलें ? ऐसी बुद्धि ज्ञानी गृहस्थके होती है सो कैसी भी परिस्थिति गुजरे वह अपनेको बिह्वल नहीं करता है। ज्ञानीके यह ज्ञान है कि मैं तो समस्त बाह्यपदार्थोंके संयोग वियोगसे परे हूँ। इस मुझमें जो तरंग उठती है उससे मैं जुदा हूं। इसलिए न किसी स्थितिमें हर्ष मानूँ और न किसीमें विषाद और समता परिणाम रखकर ज्ञानस्वरूपका अनुभव सम्वेदन करता हुआ अपनेमें स्वयं सुखी होऊँ।

कल्पितेऽर्थेनुतर्केऽशं शमन्वर्थे च कल्पिते।
स्वतन्त्रोऽर्थो हि सर्वोत: स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-५२॥

पदार्थोंका स्वरूप है कि वह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रहें। पदार्थ हैं और निरंतर परिणमते रहते हैं। उन पदार्थोंमें अपनी कल्पनाके अनुसार परिणमनका विचार करनेसे तो क्लेश होते हैं और जैसे वे पदार्थ हैं उनके स्वरूपके अनुसार अपना ज्ञान बनानेसे सुख मिलता है। जैसे परिवारमें ही जैसे अपनी इच्छा है इस तरहसे ये लड़के बनें, परिणमें, काम करें, ये सब घरके लोग, मित्र लोग मंशामाफिक चलें, ऐसा जब ध्यान होता है तो दुःख मिलता है, क्योंकि इच्छाके अनुसार वैसे तो बन जायेंगे नहीं। उनका जैसा कषाय होगा, जैसा परिणाम है वैसी ही उनकी परिणति बनेगी। आप प्रतिकूल परिणति मानकर अपने हृदयमें दुःखी रहेंगे और जैसा उनका स्वरूप है उस तरह जानेंगे तो आपको क्लेश नहीं हो सकता। जानोगे कि सब जीव हैं, स्वतंत्र हैं, अपने अपने कर्मोदयके अनुसार भिन्न भिन्न गतियोंको त्यागकर यहाँ इकट्ठा हो गये हैं, उनकी परिणति जुदी है, इनका स्वामित्व इनमें ही है, इनपर मेरा कोई अधिकार नहीं है, ऐसा जब वह जानता है और अपने विचारोंको परपदार्थोंके स्वरूपके अनुसार बनाता है तो कोई कैसा हो परिणमे उसे क्लेश नहीं हो सकता। जैसा पदार्थ है उसके अनुकूल तुम्हारा विचार बने तो सुख होगा और जैसी तुम्हारी कल्पना है उसके अनुकूल पदार्थ परिणमें तो उसमें क्लेश होता है। इस तरहसे निहारो कि सब पदार्थ हैं, अपने आप अपनेमें वे अपनी दशा बनाते हैं। किसीके कारण किसी औरमें कोई दशा बनती नहीं है, इस तरह ही निरखो तो फिर वहाँ क्लेश नहीं हो सकता। क्लेश तो हम स्वयं ही बनाया करते हैं। जैसे और पदार्थ हैं वैसे यह आत्मा भी एक पदार्थ है। इसमें क्लेशोंका काम क्या ? यह तो स्वभावसे ज्ञाता और आनन्दस्वरूप है। अपने स्वरूपमें अपना उपयोग न लगानेसे नाना विरुद्ध धारणायें बनती हैं, इन कल्पनाओंके कारण यह क्षोभ उत्पन्न होता है। यदि वे कल्पनाएँ दूर हों तो अशांति दूर हो। सो शांतिके लिए बड़ा भारी प्रयत्न करते हैं, धन कमानेका, मकान दुकान

बनानेका, बच्चोंके पालन-पोषणका। किन्तु अपने आपको यदि ज्ञान मिले स्वाध्यायके द्वारा, किसी पंडित, गुरुजनोंके उपदेशके द्वारा तो उपयोग बने, वस्तुस्वरूपकी स्वतंत्रता अपनी दृष्टिमें बनी रहे तो वहां किसी प्रकारका क्षोभ नहीं हो सकता है। क्षोभ मिटानेका कारण, क्लेश दूर होनेका उपाय ज्ञान है। ज्ञानके बिना क्लेश दूर हो ही नहीं सकते हैं। इसलिए ज्ञानके अर्जनमें आलसी मत बनो और कामका आलस्य आ जाय तो आ जाय, मगर अपने ज्ञानका आलस्य न आना चाहिए। ज्ञान ही अपना असली धर्म है। अपने ज्ञानकी दृष्टिमें प्रमाद मत करो। कमसे कम एक घंटा किसी आध्यात्मिक ग्रन्थके स्वाध्यायके मननमें लगाओ, अपनी आत्माको ज्ञानसे सींचो ताकि यह आत्मा आनन्दसे भरपूर हरा-भरा हो जाय। क्योंकि जो मोहकी बात है वह सब बुद्धि उत्पन्न करती है। जगत्के जीव सब चैतन्य हैं। उनसे आपका क्या सम्बन्ध है? मगर मान रखा है कि यह मेरी स्त्री है, यह मेरा कुटुम्ब है और इतना ही नहीं, किन्तु उनके खुश करनेके लिए बड़ेसे बड़े कृत्य करते हैं। लोकमें और भी जीव हैं, उनको खुश करनेका क्यों यत्न नहीं करते हो? जैसे और जीव हैं तैसे ही घरमें बसे हुए जीव हैं। मोहका पर्दा ज्ञानकी आँखोंके आगे बँधा हुआ है। वे सब जीव उस एक स्वरूपका दर्शन नहीं करने देते। अनन्त जीवोंमेंसे दो चार जीवोंकी छंटनी कर ली कि ये मेरे हैं, बस उनके लिए ही सारा श्रम करते है, अपनी सुध भूल जाते है, अपनी शांतिका यत्न नहीं करते हैं। सो जब तक अपना उपाय न बदलेगा तब तक शांतिका दर्शन नहीं हो सकता है। सो अपनी कल्पनाओंमें न दौड़ाकर और अपनी कल्पनाओंके माफिक परमें परिणमन हो ही जावे ऐसा हठ मत करो। सब स्वतन्त्र पदार्थ हैं। जैसा सहज संयोग बने उसके ज्ञाता दृष्टा रहो तो यह उपाय शांतिका है।

हृद्य साम्यं रतो मोहे सस्माज्ज्ञायकरूपिणम्।
जानन् मुक्त्वा रतिं मोहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-५३॥

राग और मोह होनेपर हृदयमे समता नहीं रहती। अभी दो सगे भाई हैं, बड़े हो गए, विलग हो गए, अब अपने बालकोंमें राग हुआ तो समता खत्म हो गई। अब भाईसे वह आत्मीयता नहीं रही। अब जानने लगे कि ये मेरे लड़के है। ये दूसरोंके लड़के हैं। इस प्रकार मेरा और दूसरेका उनमें भाव आने लगा। उनके समता कहाँ रह सकती है? बाजार से यदि अमरूद भी खरीदकर लाओ, भाईका लड़का और तुम्हारा लड़का अगर दोनों ही सामने आ जायें तो उन दो अमरूदोंमें से विचार करते है कि कौन अच्छा और बड़ा है, अपने लड़केको दे दें और छोटा या रद्दी कौन है दूसरेको दे दें। तो देखो दो पैसेकी चीजमें ऐसी बुद्धि हो जाती है। जब राग और मोह आता है तो हृदयमें समता नहीं रहती। पर अपने

पवित्र स्वरूपको तो देखो । कहाँ तो प्रभुके समान शुद्ध ज्ञानानन्दके स्वभाव वाला यह आत्म-तत्त्व और कहाँ कहाँ इन बाह्य दो-चार जीवोंमें ऐसी मोहकी दृष्टि लग जाना यह इस मुझ पर महान् संकट है । इस अज्ञानको छोड़ो ज्ञायकस्वामी ज्ञानानन्दमात्र अपने आपको जानो और ज्ञानबलसे बाह्यपदार्थोंके विकल्प छोड़ते हुए अपने इस सामान्य ज्ञानानन्दमें आवें और निस्तरंग निर्विकल्प हो जायें यही शुद्ध आनन्दके अनुभवका उपाय है । जो ऐसा नहीं कर सकता, बाह्यपदार्थोंमें ही आसक्ति होती है, वह निरंतर क्लेश ही भोगता रहता है, वह आत्मतत्त्व अनुभव नहीं कर सकता । परिग्रहकी बुद्धि लगी है, चैन नहीं है, दिमाग उन्मत्त है, धर्मकी बात, धर्मका श्रद्धान नहीं समाता है । गेंदकी तरह उचकता रहता है । कभी इस पदार्थमें लगे, कभी उस पदार्थमें लगे, इससे ही क्लेश पाते रहते हैं । सो राग और मोहको त्यागकर ज्ञायकस्वरूप अपने तत्त्वमें जगो, वस्तुस्वरूपको जानकर ज्ञाता द्रष्टा रहो, यही हित का मार्ग है । यह आत्मा किसी भी परपदार्थमें कोई सुधार बिगाड़ हेर-फेर नहीं कर सकता । क्योंकि इसकी शक्ति परस्वरूपमें है ही नहीं । जो कुछ यह कर सकता है, मात्र अपने स्वरूप का परिणमन कर सकता है । दूसरोंका यह बुरा नहीं कर सकता है । ऐसा भाव बनाना आवश्यक है । बुरा करनेका अधिकार नहीं है । दूसरोंका यह भला नहीं कर सकता है । इसका भला हो जाए, ऐसा भाव बनाना आवश्यक है । तो हमारी और आपकी भाव बनाने तककी ही गति है । इसके आगे तो हम आप कुछ नहीं कर सकते । तब आप ही बुरे भाव क्यों बनाएँ ? जब भाव ही बना पाते हैं इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाते तो फिर भाव बुरे क्यों बनाएँ ? अच्छा भाव बनाएँ जिससे स्वयंको शान्ति प्राप्त हो और दूसरे जीवोंको भी लाभ हो । अपने निमित्तसे किसीको अशांति नहीं प्राप्त होती है । एक ज्ञानस्वरूप ज्ञानमात्र अपने आत्माको जानता हूं, इसमें ही अपना भाव जमाता हुआ मैं कुछ आनन्दस्वरूपका अनुभव करूँ और कर्म कलंकसे दूर होऊँ, जन्ममरणके बन्धन दूर करनेका पुरुषार्थ करूँ ।

यस्मिन् साम्ये विनष्टा स्युराशा साम्यं सदास्तु तत् ।
साम्येन सहजानन्दः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।६—५४।।

समता परिणामके होनेपर आशा नष्ट हो जाती है तो व ' समता मेरे सदा रहे । हम और आपको दुःखी करने वाली चीज आशा है । अब देखो अपने आत्मामें ही बस रहे हो, आत्माको छोड़कर कहीं बाहर नहीं जाते, मगर यहीं बसे-बसे बाहरी पदार्थोंकी आशा बनाते हो और दुःखी हो जाते हो । चीजें तो आपकी कुछ भी नहीं हैं । जो चीजें पासमें हैं वे भी नष्ट हो जायेंगी, साथमें न रहेंगी तो फिर अभीसे आशा छोड़ दो । आशा जब उत्पन्न होती

है तब इस आत्मामें बड़ा क्लेश होता है। आशा दूर करो और समताका परिणाम बनाओ, उनके प्रसादसे शाश्वत सहज आनन्दका अनुभव करो। यह आशा कैसे दूर हो? जब बाह्य पदार्थ मेरे हितकर नहीं हैं प्रत्युत अहितकर हैं, ऐसा ज्ञान जगेगा तो उन परपदार्थोंकी आशा दूर होगी और जब तक चित्तमें यह बना है कि स्त्रीसे हमारा हित है ऐसी दुर्बुद्धि जब तक रहेगी तब तक क्लेश ही रहेंगे। इससे तो यदि आप चाहें कि आशा खत्म हो जाय, आशाका विनाश हो जाय, तो ऐसा नही हो सकता है। सो उस सम्यग्ज्ञानके उपयोगसे आशाको दूर करो। कब तक जिन्दगी है और कितनी उम्र हो चुकी है, अब तक बहुत आशा की है, पर आशा करके क्या आज आप सुखी हैं? आप सुखी तो नही नजर आते। आशा सुखका कारण नही है। सूरदासजी ने लिखा है कि "आशा नहि मरी अब तक" शरीर मर गया, मन मर गया, थक गया, पर आशा तो बढ़ती ही जा रही है। अब वृद्ध अवस्था है, बुढ़ापा है, मगर आशा और बढ़ती ही जाती है। काहेकी बाबा आशा रखते हो, कुछ समय बादमें तो मरण होने वाला है, यहाँके सारे समागम छूटने वाले हैं। अब मनमे किस बातकी आशा बनाए हो? आशाको त्याग दो और अपनेमें विश्राम पावो। यह आशा आराम नही लेने देती। मनको भ्रमाये रहती है। यहाँ जाना, वहाँ जाना, वहाँ कष्ट, उनको भी कष्ट, इस तरहसे अपना प्लेटफार्म बनाए अपना क्षेत्र बनाए, कितने प्रकारको इनके आशा लगी हुई है? इन खोटी कल्पनाओंके कारण परमात्मतत्त्व तिरोहित है, छिप गया है, जिससे आनन्द प्रकट होता है वह कुचल गया है। केवल एक अपराधके कारण कि बाह्यपदार्थोंकी उसने आशा लगा रखी है। बाह्यपदार्थोंकी आशा त्यागो तो अपने आपमें ज्ञानस्वरूपका अनुभव होगा और अपने आपके ज्ञानरसका स्वाद आए तो तीन लोकका वैभव नीरस लगने लगेगा। इसमें फिर रस नही आ सकता। यह भव आ गया, कब उसे छोड़ें? देखो पुराने समयमें ऋषिगण हुए हैं, बड़े-बड़े महाराजा हुए हैं, बड़ा वैभव त्यागकर वे ज्ञानरसके लिए उसके हुए थे। और यहाँ इस वैभवमें इतनी ममता, इतनी आसक्ति है कि धर्मकी बात व ज्ञानके स्वरूपको समझानेका उत्साह ही नहीं जगता। तो उन पुरुषोंमें और आपमें कितना अन्तर हो गया? परम्परासे हम उन धर्मात्मा पुरुषोंके पुत्र कहलाए। उस धर्मपरम्परासे हम वीतराग सर्वज्ञ देवके पुत्र हैं। हम उनके कुलको न बढ़ायें। अपने विषय कषायोंसे अपने परिणाम मलिन बनाते रहें तो हम उनके पुत्र कहलानेके क्या अधिकारी हैं? हम उनके समान बनें तो उनके सपूत हैं। सो आशाको त्यागकर समता परिणामको लायें और अपने सहज आनन्दका अनुभव करें।

श्रद्धावृत्तं श्रुतं ज्ञानं सत्यं साम्यं भवेद्यदि।
तदैव स्वसुखं स्वास्थ्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥६-५५॥

यह श्रद्धा, यह चारित्र, यह आगमका अभ्यास, यह ज्ञान जब हमारा सत्य है तब मेरेमें समता परिणाम जगे। बड़े परिश्रमसे तो कोई रसोई बनावे और रसोई बनाकर मूर्खता से, पागलपनसे या किसीसे लड़ाई लड़ झगड़कर बादमें कूड़ेमें फेंक दे तो आप उसके भोजन बनानेके पुरुषार्थको क्या सच्चा काम कहेंगे? क्या आप बेवकूफी न कहेंगे? इसी प्रकार जितनी श्रद्धा है, चारित्र है, ज्ञान है ये सब किसलिए किए जाते हैं कि मेरेमें समता पैदा हो, और धर्मके इतने कष्ट सहकर भी चित्तमें समता परिणाम न लाना चाहते हों तो उसे विवेक नहीं कहा जायगा। वह सब असत्य है। जैसे अरद्धा सेठसे ८ सेठानियोंकी बात हुई थी। सेठने रानियोंसे पूछा कि तुम्हें कैसे सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ? जरा अपनी कहानी तो बतलावो। तो बड़ी सेठानीने सम्यक्त्वकी कहानी कही। उसने कहा—सच है, मगर छोटी सेठानीने कहा झूठ। सब सेठानियोंने अपने-अपने सम्यक्त्वकी कहानी कही तो सबने कहा—सच है और छोटी सेठानीने कहा—झूठ है। इन बातोंको राजा मकानके पीछे खड़ा सब सुन रहा था। पहिले राजा लोग प्रजाका सुख दुःख जाननेको रातमें गश्त लगाया करते थे। जब राजाने यह हाल अपने आँखों देखा तो सोचा कि सुबह होने दो। सुबह सेठानीको बुलाऊँगा और पूछूंगा कि इन सब कथाओंको तूने झूठ क्यों कहा? कुछ कथाएँ राजापर 'गुजरी हुई थी। जब सुबह हुई तो राजाने बड़े सम्मानसे छोटी सेठानीको बुलाया और पूछा कि रात्रिमें जो सम्यग्दर्शनकी कहानी हो रही थी सो तू झूठ क्यों कहती थी? कहा—सच तो है। तो छोटी सेठानीने मुखसे तो कुछ उत्तर नहीं निकाला और सब गहने आभूषण और कपड़े आदि उतारकर केवल एक साड़ी पहिनकर वहाँसे जंगलके लिए चल दी और यह कहा कि महाराज वे सेठानियाँ केवल बातें कर रही थीं, उसको व्यवहारमें तो नहीं ला रही थीं। सच तो यह है कि जैसे हमें भाव उत्पन्न होते हैं, वे तो केवल बातें ही बातें थीं। समता परिणाम उत्पन्न होता है तब तो श्रद्धान सच्चा, ज्ञान सच्चा, बाह्यदृष्टियाँ सच्ची और समता अगर नहीं जगती तो इस जगत्के बाह्यपदार्थोंमें यह छंटनी बनाए रखते हैं कि यह मेरा है, यह दूसरेका है, सब अलग-अलग। विश्वके समस्त पदार्थोंमें अत्यन्ताभाव है, कुछ भी सम्बंध नहीं है। फिर भी द्वैत बुद्धि बने तो यह ज्ञान असत्य है, वे सारी क्रियायें असत्य हैं। धर्मका काम तो अपने आपके आत्मा ही में लीन होनेके लिए होता है। सो समता परिणाम जगे, उस ही में सत्य आनन्द है और वही आत्माका सुख है, वही आत्माका वास्तविक स्वास्थ्य है। जब तक अपने आपका आत्मतत्त्व अपने उपयोगमें दृढ़तासे स्थित न हो जाय तब तक कर्म नहीं कटते। जन्ममरणका संसार नहीं छूटता। यदि संसारसे मुक्त होना चाहते हो तो अपने आपके स्वरूपको अनुभवमें लो। अपने इस पवित्र ज्ञान सिंहासन पर मलिन परिणामों वाले संसारजनों

को मत बिठाओ। स्त्री-पुत्रादिक सम्बन्धी जनोंको अपने ज्ञान सिंहासन पर मत बिठाओ। उनके ज्ञाता द्रष्टा रहो और अपना यह उपयोगसिंहासन प्रभुके विराजमान करनेके लिए सदा स्वच्छ आप केवल बनाए रहो। जब जब ज्ञानमे प्रभुका स्वरूप आता रहेगा तब तब इस जीवके कर्म कलंक ध्वस्त होंगे और मुक्तिके मार्गका अनुभव होगा। मोक्षका जो आनन्द है वह आत्माके शुद्ध स्वभावका ही आनन्द है। कहीं दूसरे पदार्थोंका आनन्द नही है। आनन्द जो यहाँ भरा हुआ है उस आनन्दको खोलकर यह उपयोगमे न ला सके वही आनन्द है, वही मोक्षका मार्ग है। मोक्ष कोई न्यारी चीज नही है। जो ज्ञान और आनन्द दबा पड़ा है वह ज्ञान और आनन्द विकसित हो गया इसीका नाम मोक्ष है। पर ऐसा पुरुष जो अपने ज्ञान और आनन्दका पूर्ण विकास कर लेता है उसके कर्म तो रहते नही। शरीर और कर्मों का सम्बन्ध इस आत्मामे, इस संसारमें या उस स्थानसे नीचे रोके हुए है। सो जब रोकने वाले कर्म और शरीर न रहें तो यह आत्मा मोक्षस्थानमे पहुंच जाता है। पर उस मोक्षस्थान मे अनन्त निगोदिया जीव भी भरे है, जहाँ सिद्धप्रभु विराजमान है। उन निगोदिया जीवोमें ऐसे ही निगोदिया जीव है जैसे कि ये निगोदिया जीव है। इसलिए किसी खास स्थान पर पहुंचनेसे आनन्द नहीं, किन्तु अपने शुद्ध ज्ञान और आनन्दके विकासमे आनन्द है और इस ही सिद्धस्वरूपके विकासका नाम मोक्ष है।

को दृश्यं नश्वरं सर्वं दुःखमूलं पृथक् हि तत्।
निन्द्यं हेयमदस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१॥

इस संसारमें जितने भी पदार्थ दृश्यमान हैं वे सब विनाशीक हैं और अपनेसे बिल्कुल जुदा हैं। साथ ही वे दुःखोंके मूल कारण है। देख लो, जितना जो कुछ दिखता है, विनाशीक है या नही? जो कुछ दिखता है वह सब नष्ट होगा कि नही? पहिले तो इसीका विचार करो। जो भी मिला है वह पदार्थ हेय है या उपादेय? हेय हैं, त्यागने योग्य है, तो जो विनाशीक चीज है उसमे प्रीति करनेसे अहित ही है। उससे कुछ सम्बन्ध नही। विनाशीक अवश्यम्भावी है। जिसका विनाश जरूर होगा उसमें प्रीति करो तो हित नही है। इसी कारण ये सर्व समागम मेरे लिए निन्द्य हैं। इन समागमोंमें प्रीति करनेसे हित नहीं है। यह जो कुछ दिखता है सब मायारूप है। मायाका अर्थ है जो परमार्थ तो नही है मगर है जरूर, उसका नाम माया है। अगर यह परमार्थ हो तो सदा काल टिका रहना चाहिए था, सदा नहीं रहता, इस कारण यह परमार्थ नही है। किन्तु परमार्थभूत पदार्थके मेलसे बना हुआ यह मायारूप है। तो जितनी भी माया है वह सब नष्ट होने वाली होती है। परमार्थस्वरूप एक अविनाशी है जो चेतनतत्त्व तो जीव अविनाशी है और चेतनतत्त्वमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य,

आकाशद्रव्य और कालद्रव्यपर अवस्थित हैं, और पुद्गलमें परमाणु अवस्थित हैं। दिखनेमें जीव तो आता नहीं, क्योंकि वह अमूर्त है। इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य ये भी दिखनेमे नहीं आते, क्योंकि ये भी अमूर्त हैं। दिखनेमें पुद्गल ही आ सकते है। सो पुद्गलमें जो परमार्थभूत है वह भी दिखनेमे नही आता। अनन्तपुद्गल परमाणुवोंका जो पिंड है ऐसा यह मायामय स्कंध दिखनेमें आता है तो इन मायामय पदार्थोंकी प्रीति करनेमें हित नहीं है। किन्तु मोही जीवोंको इस मायासे ही प्रेम लग रहा है और इतना घनिष्ट प्रेम लगा लिया कि आत्मकल्याणकी बात भी कुछ समझ नही सकता। आत्महितकी रुचि ही नहीं है। जो कुछ है सो परिवार है, धन वैभव है, बस इन्हींकी उन्नतिकी चिंता रग-रगमें बसी हुई है। दूसरे जीवोंका तो कुछ मूल्य ही नही आंकता है। जो कुछ है सो घरके लोग हैं, ऐसा ये मोही जीव अपना परिणमन बना रहे हैं। सो इन विनाशीकठाट- बाटोंकी प्रीति करने मे कुछ भी भलाई नहीं है। फिर ये चीजें सब पर हैं। परका आश्रय करनेसे, परकी ओर दृष्टि लगानेसे आत्माको शांति मिल ही नही सकती। परपदार्थोंकी दृष्टि आकुलताओंका निमित्त ही बनेगी। शांति तो स्वाश्रित चीज है, यह दृश्यमान जगजाल मुझसे न्यारा है, इस कारण निंद्य है, हेय है। जिस समय अपना उपयोग अपने आत्मामें आ जाय तो यह सारा मायाजाल भी बना रहे, पर उससे आत्माका अहित नही होता। किन्तु अज्ञानदशामें जब हम हैं तो किसी भी भी मायाभूत पदार्थका विचार करके हम दुःख उठाते है, क्लेश किया करते हैं सो इन भिन्न पदार्थोंके देखनेके कारण मुझे सुख नही होता। मैं स्वयं ही अपने स्वरूपके दर्शन करके सुखी होऊँ, ऐसी भावना होनी चाहिए। यह भावना न रहनी चाहिए कि मेरे घरके लोग, कुटुम्बके लोग धन वैभवकी वृद्धिको प्राप्त हो, उससे हित नहीं है।

न कोऽपि शरणं भूतो न च कश्चिद् भविष्यति।
शरणस्य भ्रमं हत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७—२॥

इस लोकमें मेरा कोई शरण नहीं हुआ और न कोई शरण होगा। जब पापका उदय आता है तो सगे लोग भी मुख मोड़ लेते हैं। जब तक पुण्यका उदय है तब तक पड़ोसी भी बड़ी सम्वेदना प्रकट करते हैं। तो इस लौकिक तपश्चरणमें हमारी शरण तो हमारा पुण्य-कर्म है और पुण्यकर्म जो बना है, बंध है वह हमारे अच्छे भावोंके निमित्तसे बँधा है। तब हमारे लिए शरण हमारी भली करनी है। हम अच्छा काम करेंगे तो पुण्यका बंध होगा और जब उस पुण्यका उदय आयेगा तब हमको सामग्री मिलेगी। तो हमारे सुखी होनेमें हमारी करनी ही काम देने वाली है। इसलिए निरन्तर ऐसा यत्न करो कि हमारी करनी शुद्ध रहे। मेरे मनमें किसी भी जीवको दुःखी करनेका भाव न उत्पन्न हो। किसी भी जीवको मैं दुश्मन

न मान सकूँ। कोई मेरा दुश्मन नहीं है, किन्तु मेरे कारण यदि मेरी स्वार्थसाधना न हो तो वह शत्रुताकी कल्पना कर लेता है। कोई किसीको शत्रु माने तो कहीं वह शत्रु नहीं हो जायेगा। जीव तो कोई शत्रु है ही नहीं। हमारी खुदगर्जी नहीं सिद्ध हो पाती है तो इस कारण हम दूसरोंको अपना शत्रु मान लेते हैं। वस्तुतः हमारा कोई शत्रु नहीं है। इसी प्रकार मेरा कोई मित्र नहीं है। शत्रु और मित्र संबंधी रागद्वेषोंको छोड़कर अपने भाव शुद्ध बनाओ। तुम्हारे भाव शुद्ध होंगे तो पुण्यकर्म बढ़ेगा और पुण्य पल्ले होगा तो लोकमें सुख साता रहेगा। पुण्य खत्म है तो सुख साता नहीं रह सकता है। हम आपके मनमें झूठ बोलनेका इरादा न हो। झूठ बोलनेका इरादा रहे और झूठ बोल न सकें तो झूठ बोलनेका इरादा होना भी मलिन परिणाम हो गया। और जब परिणामोंमें मलिनता आ गयी तो पापोंका बंध हो गया। पापोंके उदयमें जीवको सुखसाता नहीं प्राप्त हो सकती। तो हमारे लिए शरण तो हमारा निर्मल परिणाम ही है और फिर कोई यदि चाहे कि मैं अमुकका रक्षक बन जाऊँ तो वह दूसरोंका रक्षक बन ही नहीं सकता है क्योंकि वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि केवल अपने भाव बनानेमें समर्थ है। दूसरोंका सुधार और बिगाड़ करनेमें समर्थ नहीं है। यहाँ कुछ क्रोध की या रागद्वेष भावोंकी बात नहीं कही जा रही है, किन्तु न्याय ही ऐसा है कि कोई जीव किसी दूसरेका शरण हो ही नहीं सकता और शरण माननेकी आवश्यकता क्या है ? मैं एक पदार्थ हूं, सत् हूँ तो सत् होनेके नाते ही मैं स्वरक्षित हूं। मेरा कोई बिगाड़ नहीं करता। जैसे पुद्गलमें उनका कोई विनाश नहीं कर सकता।

मान लो कोई काठ जल गया तो काठ नहीं रहा, पर परमाणु तो नष्ट नहीं हो गये। काठ नष्ट हो जानेके बाद वह राखरूपमें आ गया या आकाशमें फैल गया। तो छोटे-छोटे अणुवोंके रूपमें फैल गया। मगर वह विनाशीक तो नहीं हुआ। जो चीज सत् है उनका कभी विनाश नहीं होता। मैं भी सत् हूं, मेरा भी कभी विनाश न होगा तो फिर किसी दूसरे की शरण ढूंढ़नेकी आवश्यकता क्या है ? मैं हूं और परिणमनशील हूं, स्वयं रहने वाला हूं। स्वरक्षित हूँ, इसको भय माननेकी जरूरत ही नहीं है। पर यह जीव जो निरतर भयकी वासनाएँ बनाए है, इसका कारण है परपदार्थोंमें मोह बुद्धिका होना। मरते समय यह जीव शरीरसे अलग होता है इसका दुःख मरने वाला नहीं करता, किन्तु हाय यह मेरा मकान छूट जायगा, मेरा यह घर छूट जायगा, ऐसा परपदार्थोंके छूटनेका गम उसे बना है और इसी कारण वह दुःखी है। सो ऐसा जीवनमें यत्न करो कि मरणके समयमें मोहका परिणाम न जगे। देखो मरते समय तो दो मिनटमें ही सर्व खेल समाप्त होनेको है, सब कुछ छूट जानेको है। ये चीजें जबरदस्ती छूट जायेंगी, यदि इनके रहते हुए हम अपने भावोंसे इन पदार्थोंको

छोड़ दें तो कुछ महत्त्व भी है। जबरदस्ती पदार्थ छूट जायें और फिर उससे अपनेको त्यागी मानें तो ये सब मोहकी बातें हैं। त्याग तो तब है जब खुद अपनी इच्छासे सारे पदार्थ त्यागे जायें। जगत्में कोई भी पदार्थ मेरी शरण नहीं है—यह बात युक्तिसे भी सिद्ध है और अनुभवसे भी सिद्ध है। इस युक्तिसिद्ध अपने आत्माको क्यों नहीं देखा जाता ? कोई भी पुरुष मुझे न तो मरणसे रोक सकेगा और न मेरे दुःखोंमें कुछ मदद दे सकेगा। इस ही भवमें देखो कितनी बार तो असाधारण रोगी हुए, उस समय कुटुम्बके लोग बैठकर बातें तो बहुत करते रहे, प्यार भी जताते रहे, मगर मेरे रोगको बाँटनेमें समर्थ नहीं हो सके। अभी देखो आप कुछकी कुछ कल्पनाएँ बनाकर चित्तमें दुःखी होते हो और तुम्हारे बाल-बच्चे हंस खेल रहे है। उन्हे कुछ भान ही नही है। तो अपना दुःख अपने सिर रहता है और बच्चोंका दुःख बच्चोंके सिर रहता है और संसारमें भटकना बना तो अकेले ही भटका करते हो और संसारसे यदि मुक्ति मानते हो तो मुक्ति माननेका उपाय भी आप अकेले ही कर सकते हो। आपका आप ही अपने लिए सर्वस्व है, यह किसी दूसरेका शरण नही हो सकता है। ऐसा वस्तुका स्वतंत्र स्वरूपास्तित्व देखकर व्याकुलताओंको, छल कपटोंको, खोटे परिणामोंको अपन लोग त्याग दें तो इस त्यागके माहात्म्यसे अपने आपमें सच्चे सुखका विकास होगा। अब मैं शरण के भ्रमको समाप्त करके स्वयं शरणस्वरूप निजब्रह्ममें ही ठहरकर अपने आपमें ही सुखी होऊँ।

न भूतो न भविष्यामि कस्यचिच्छरणं कदा।
कर्तृत्व वारुणी क्षिप्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३॥

जैसे कोई मेरी शरण न हुआ और न होगा, इसी प्रकार मैं भी किसी दूसरेका शरण नही हू और न हो सकूंगा। छोटे बच्चेका जब मरनेका समय हो तब गोदमें बैठाये हुए है, देखते जाते हैं कि बच्चा मरने वाला है, पर उस बच्चेको बचानेका उपाय करते हैं। किसमें बच्चेको बचानेकी सामर्थ्य है ? कोई दूसरेकी शरण हो ही नहीं सकता। यदि मान लो कि आपने किसी दूसरेको बहुतसी सहायता दी, जिससे उसका बहुतसा स्थिरीकरण हुआ, उसे सुखसाता मिला तो भी आपने उसे अपनी शरण नहीं दी, किन्तु उसका पुण्यका उदय था तो कोई न कोई शरण उसे मिल ही जाता है। आपके छोटे बच्चे जिनको आप इतने चावसे देखते हैं, उनसे प्रीति करते हैं, उनको खुश करनेका यत्न करते हैं तिसपर यदि आप ऐसा समझते हैं कि मैं बच्चोंको पालता हूं, बच्चोंकी रक्षा करता हूं तो यह आपका ख्याल गलत है। उन बच्चोंका इतना उत्कृष्ट भाग्य लगा हुआ है कि आप जैसे दसोंको उनकी खुशामदमें रहना पड़ेगा। मैं किसीकी शरण नहीं हूं और न किसीका शरण होऊँगा। यह मोह महामद अनादिकालसे जीव पिये हुए है और खोटी खोटी गतियोंमें भ्रमण कर रहा है। यह मोहका

नशा कैसे मिटे ? इसका उपाय है ज्ञान । खोटे ध्यानसे इस जगत्में शांति न मिलेगी । कई वर्षोंसे यही धूमधाम आप कर रहे हो, पर कभी शांति मिली हो तो बतलावो ? यदि एक-एक वर्ष एक-एक दिनको आप जोडते रहते तो कितनी शांति आप देखते । पर शांति तो कभी नहीं हुई, कभी कुछ कल्पनाएँ हैं, कभी कुछ कल्पनायें हैं । शांति पानेका मार्ग दिखने वाली यह प्रभुकी सूरत है जिसके हम दर्शन करने आते हैं । जिस मूर्तिके हम दर्शन करते हैं उस मूर्तिसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि यदि हमें शांत होना हो, सुखी होना हो तो बाह्य आडम्बरोंके परिग्रहको तजकर उसके समान ही अपने आपमे ज्ञान बनाओ और उस ज्ञानको बनाए रहो तो तुम्हें शांति मिलेगी । ऐसी आवाज मानो मूर्तिकी ओरसे आए तो समझो कि हमने अब प्रभुके दर्शन किये अन्यथा यह भी एक श्रम है कि नहाया, मंदिर आये, थोडासा झट-झट बोल गए । भजन करनेमे भी अच्छा नही लगता, जब कोई चिंता सवार हो, जगत्की धुनि बनी हो तब वहाँ कोई मार्ग नहीं सूझता । कर्तृत्वकी बुद्धि इन जीवोंके साथ निरंतर लगी रहती है । मेरा यह किया, मैंने मंदिर बनवाया, मैं मित्रोंकी अच्छी व्यवस्था करता हूँ, मेरा घरके लोग बड़ा हुक्म मानते हैं—ऐसी कितनी ही बातोंका ख्याल करके यह जीव व्यर्थमे दुःखी हो रहा है । मैं कभी भी किसीका शरण नही हूं और न हो सकूंगा । फिर परपदार्थोंके करनेकी तो बुद्धि लगाए रहना क्या विवेक कहला सकता है ? अरे मनुष्य जन्म पाया, संयम से रहो शुद्ध खान-पानसे रहो, किसी जीवको मर्मभेदी वचन न बोलो । यह जीभ मिली है तो इस जीभका सदुपयोग करो; सरस, मधुर, हितकारी वचन बोलो । आपसे दूसरे जीवोंका भला न हो सके तो पाप करनेकी चेष्टा तो न करो । भाव पवित्र बन गये तो स्वयं ही संसार आपकी ओर झुकेगा । चाहो तो यह कि जैसा चाहें भाव बना रहे । हमारे विषयमे आनन्द न छोटी और थोडी टीमटामके साथ अपने धर्मका रक्षक बनाया तो उससे क्या दुःख मिट सकते है ? दुःख दूर होनेका उपाय मात्र सम्यग्ज्ञान है । तो भैया, ज्ञान सीखो, यह देहातका ग्राम है इसमें कुछ ऐसा काम नही है कि रात-दिन आप धधेमें ही जुटे रहो । दुकान चलाने को बहुत टाइम पड़ा है । दुकानदारी करो, पर बाकी समय तो अपना अच्छे उपयोगमें लगावो । पर उपयोग तो दूर रहा, बाकी समय शायद गप्पोंमें ही बीतता हो, लडाईमें बीतता हो । अपने कामसे काम रखो । जिससे अपना सम्बंध है वह काम करो या तो आपकी कमाई होवे तब बोलो या आपका धर्म सद् है वहाँ बात बोलो । फाल्तू बातें बोलनेसे गप्प-सप्पमें समय बितानेसे यहाँ वहाँकी दूसरोंकी निन्दा करनेसे कोनसा आपको लाभ हो जायेगा सो बतलावो ? तो व्यर्थके वचन बोलनेकी क्रियायें, चेष्टायें करनेसे हित नही है । इसलिए धन कमाओ, खूब कमाओ, जितना बन सके उतना कमाओ, हम मना नहीं करते । कमाईके काम

के अलावा जो समय बचता है उस समयका आप सदुपयोग क्यों नहीं करते ? गप्पों सप्पोंमें अपना समय न लगावो सो यह मनमें निर्णय रखो कि मैं किसीका शरण हुआ और न होऊँगा। मुझे कोई शरण न मिला और न मिलेगा। इस संसार वनके अन्दर हम आप केवल अकेले ही घूमते फिरते है। कोई सुयोगवश एक घरमें चार छः जीव इकट्ठे हो गये। अचानक ही कुछ बुद्धिपूर्वक इकट्ठे नहीं हो गये कि अगर मैं ऐसे यत्न करके मेले न होता तो यहां न पैदा होता। जो जीव आ गए, आ गये, उन जीवोंसे आपका रिश्ता नहीं है। आ गये हैं, बिखर जायेंगे। तो यों दुनियाको असार जानकर यहांकी प्रीतिको छोड़कर अपने ज्ञानकी प्रीतिमे लगावो तो यह ज्ञानस्वरूप ही आपका शरण होगा।

बन्धुर्मित्र सुतो दारा भृत्यः शिष्यः प्रशंसकः।
एभ्यो मे न हितं शक्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७—४॥

बधु, मित्र, पुत्र, स्त्री, नौकर, शिष्य, प्रशंसक आदि किन्हीं भी जीवोसे मेरा हित नही हो सकता है। भाई मेरा क्या हित करेगा ? बंधु तो एक बंधन है। बंधुसे मेरा हित नही है. राग या द्वेषरूप बधनका वह कारण है। कहो उससे मन मिल जाय तो विकट राग हो जायगा। उसमे यदि भाव न मिले तो विकट द्वेष हो जायगा। भाई-भाईसे बढ़कर प्रेम कही नही हो सकता है और भाई-भाईसे बढ़कर द्वेष कही नही हो सकता है। भाई तो एक बंधन है। बंधुसे हित कैसा ? अनुराग हो गया तो हित नही और द्वेष हो गया तो हित नही। बंधु शब्दका सरल अर्थ है—'बंधयति योजयति स्वहिते इति बधुः।' जो अपने हितमें लगावे, उसे बधु कहते हैं। दूसरा कोई जीव मुझे अपने हितमें कैसे लगा सकता है ? हित तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे है, सो भला यह रत्नत्रय आत्माकी परिणति है। सो मेरी आत्माकी परिणतिको कोई दूसरा कैसे कर सकता है ? अभी यही लोकमें देख लो जिस किसीको क्लेश होगा उसे इष्ट वियोगका ही क्लेश होगा। उसे कोई धन वगैरा नष्ट हो जानेसे क्लेश होगा तो वह अपने चित्तमे अत्यन्त दुःखी है, उसको समझाने वाले बहुत-बहुत समझाते है, किन्तु उसकी समझमे नही बैठता। रिश्तेदार भी बहुत समझाते हैं जितना हो सकता है उतना सहयोग भी देते हैं, पर दूसरोके हृदयकी व्यथाको कोई दूसरा नहीं मेट सकता। और व्यथा भी कुछ नही, केवल अपना भ्रम है परवस्तुका लगाव है, सो उस भ्रम के कारण यह जीव दुःखी होता फिरता है। अपने हितमें लगाने वाली आत्मा ही है। इस कारण बंधुसे हित न रखो। मित्र किसे कहते हैं ? 'माति रक्षति विपद्भ्यः इति मित्रः।' जो विपत्तिसे बचावे उसे मित्र कहते है। अब विपदाएँ जीव पर क्या हैं ? केवल अपने भ्रमका रागद्वेषका भाव विपदा है, और कोई विपदा इस जीव पर नहीं है। जो जीव बड़ी चिन्तामें

बैठा है वह कहीं दूसरे पदार्थोंके कारण विपदाओंसे ग्रस्त नहीं है; किन्तु अपने ही भाव खोटे बनाकर अपनेको विपदाओंमें डालता है। दूसरा कोई हम पर विपदाएँ नहीं डाल सकता। हम खुद अपनेमें ख्याल बनाकर विपदाएँ डाल लेते हैं। सो मैं ही अपनेको विपदाओंमें डालता हूं और मैं ही सद्‌विचार करके अपनेको विपदाओंसे बचाता हूं। मुझे विपदाओंमें डालने वाला कोई दूसरा पुरुष नहीं है। मैं ही मेरा मित्र हूं। लोग यह दृष्टांत दिया करते हैं कि पुत्र तो रक्षक बनेंगे। पुत्रोंसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखते हैं। क्या पुत्र उसके दुःख परिणमनको मिटा सकते हैं? पुत्रको यदि उसकी प्रवृत्ति सह जाय तब तो बाधक नहीं बनता है और यदि न सुहा जाय तो उल्टा क्लेश देनेको तैयार रहता है। सुतका अर्थ है—'सुइते इति सुत:।' जो उत्पन्न किया जाता है, उसे सुत कहते हैं। आपका ज्ञानानन्दघन अमूर्त आत्मा किसको पैदा किया करता है? आकाशवत् निर्लेप अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा क्या शरीरको, पुत्रको उत्पन्न कर सकता है? नहीं। आत्मा अपने ही संस्कारोंको रचा करती है, इस कारण आत्माका सुत आत्मा ही है और इस अपने सुतसे तो अपना हित सम्भव है, पर बाहरके जीवोंसे जिन्हें पुत्र मान रखा, उनसे अपना हित सम्भव नहीं है। सुतसे हितकी क्या आशा रखनी? इसी प्रकार संस्कृतमें दाराका अर्थ स्त्री है। स्त्रीका नाम दारा है। दारासे भी क्या हित है? दारा शब्द का अर्थ है—'दारयति भेदयति इति दारा।' जो भेद करा देवे उसका नाम दारा है। अब किसका भेद करा देवे? यह अपने आपसे अर्थ लगा लो। जो भाई-भाईमें भेद करा देवे उसका नाम दारा है। विवाह होनेके बाद फिर भाई भाईमें राग नहीं रह पाता। अरबों भाइयोंमें विरला ही कोई भाइयोंका जोड़ा ऐसा होगा कि स्त्रीके होते हुए भी भाई-भाईमें प्रेम बना रहे। विवाह होनेके बाद भाई-भाईमें प्रेम नहीं रह सकता है। इसी कारण स्त्रीका नाम दारा है। जो भाई-भाईमें भेद कर दे वह दारा है। अच्छा अब अपने सम्बंधमें अर्थ लगाओ। जो विभावोंमें भेद करा देवे उसका नाम दारा है। मेरा ज्ञानघन शुद्ध स्वरूप और राग द्वेषादिक विभाव इसमें भेद करा देवे, इसको जुदा-जुदा समझा देवे ऐसी परिणतिका नाम है दारा प्रज्ञा, भेदविज्ञान। सो प्रज्ञा ही मेरा हित कर सकनेमें समर्थ है। पर यह लौकिक दारा, स्त्री मेरा हित करनेमें समर्थ नहीं है। इसी प्रकार भृत्य याने नोकर। भृत्योंसे अपना सम्बंध हो सकता है क्या? वे भी परपदार्थ हैं। उनसे मेरा सम्बन्ध कैसे? भृत्यका शब्दार्थ है—'भरण-विशेषणानि इति भृत्य:।' जो दूसरोंका भरण-पोषण करे, उसका नाम भृत्य है। दुकानमें जो मुनीम आदि लगे हैं, वे उस धनी परिवारका भरण-पोषण कर रहे हैं। जो परिवारका भरण पोषण करे उसका नाम भृत्य है। मेरी आत्माका भरण करने वाला कोई दूसरा नहीं है। मेरी ही आत्मा मेरी आत्माको पोषित कर सकती है। तो यह मैं आत्मा ही अपने लिए

हितकारी हूं। पर लोकमें कहाने वाले भृत्य, नोकर-चाकर ये मेरा हित करने वाले नहीं हैं। फिर भी कोई मेरा हित करनेमें समर्थ नहीं है। शिष्य कहते हैं—'शिष्यते हिते इति शिष्यः।' जो हित करना अपनेसे सीखे उसका नाम शिष्य है। तो परमार्थसे मेरे हितकी बातको मैं ही सीख सकता हूं। दूसरेके हितकी बातको वे दूसरे ही सीख सकते हैं। कोई किसीको हित सिखा नहीं सकता है। परजीव मेरा हित क्या करेंगे ? वे तो अपने आपके हित करने अथवा अहित करनेके भाव बनाते हैं। मेरा हित करनेमें मैं ही समर्थ हूं। इसी प्रकार प्रशंसक लोग मेरा क्या हित कर सकेंगे ? जो प्रशंसा करे उसका नाम प्रशंसक है—'प्रशंसेण संसते इति प्रशंसकः।' जो बहुत अधिक रूपसे प्रशंसा करे, उत्तम निरूपण करे उसका नाम प्रशंसक है। तो दूसरा जीव यदि कोई प्रशंसा करता है तो उस प्रशंसा करने वालेसे मेरा हित तो दूर रहा, उल्टा अहित ही होता है। मैं अपने गुणोंको भूल जाऊँगा और यथा तथा विचार बना डालूंगा। और प्रशंसा रुच जानेके कारण बड़वारीमें लग जाऊँगा। प्रशंसकसे मेरा कोई हित नहीं है। मेरा प्रशंसक तो परमार्थसे मैं ही हूं। मैं तो अपने अनुभवके द्वारा अपने गुणोंसे ज्ञानरसका स्वाद लूं तो यही मेरी सच्ची प्रशंसा है। बाहरी प्रशंसकसे मेरा हित नहीं है। तो इन सबसे हितकी भावनाओंको त्यागकर मैं अपने आपको ही अपना हितकारी समझूं और अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

मृत्यौ सत्यां न यास्यन्ति केऽपि ये रागदर्शिनः।
केभ्यः कुर्यामसदध्यानं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-५॥

जितने भी रागके दिखाने वाले हैं, मृत्यु होनेपर मेरे साथ न जावेंगे। पति पत्नी पर कितना अनुराग दिखाता है ? पर पतिके साथ पत्नीकी आत्मा क्या जायगी ? पिता पुत्र पर कितना भी अनुराग रखे, कदाचित् पुत्रकी मृत्यु हो जाय तो पिताकी आत्मा क्या पुत्रके साथ जाती है ? पुत्र कितना ही अनुराग पिताके साथ दिखावे, पर क्या पिताके मरने पर पुत्रकी आत्मा साथ जाती है ? कितना भी रागदर्शी हो, मृत्यु होने पर कोई साथ नहीं जाता है। बल्कि एक कथानक है कि एक स्त्री अपने पतिसे बड़े प्रेमकी बातें किया करती थी कि आपके जीवनके बिना तो मेरा जीवन ही नहीं है। एक बार पतिने सोचा कि पत्नीकी परीक्षा करें। रात्रिको भोजन करने वाली जातिके लोग थे। जब रात्रिको नौ-दस बजे तो अपनी श्वांसको रोककर मरनेका ढंग बनाकर पैर पसारकर मरनेका स्वरूप दिखा दिया कि हम मर गये। अब १० बजे भोजन करनेको बुलाया तो बच्चा बोला कि पिताजी मर गये। वहाँ जाकर स्त्रीने देखा तो पतिदेव मरे पड़े थे। अब स्त्री सोचती है कि यह तो १० ही बजे रात्रिको मर गये और अभीसे रोवें तो लोग जुड़ आवेंगे और सारी रात्रि रोना पड़ेगा। अभी हल्ला

न करूं । पहिले जो यह खीर बनाकर रखी है, खा पी लूं, फिर सोकर ५ बजेसे रोना शुरू करूंगी । जो बनाया था; खूब खाया, खूब सोई । सुबह ५ बजेसे रोना शुरू किया । लोग जुड़ गये । सब समझाते कि रोनेसे क्या लाभ है ? इनको जल्दी मरघटमें ले चलो सो वह तो पैर पसारकर मरा था । अब दरवाजेसे निकालते तो निकलता नहीं । बहुत यत्न किया, औंधा सीधा, तिरछा टेढ़ा किसी ओरसे फिट नही बैठता । दरवाजेसे न निकला । लोगोंने कहा कि देर क्यों करते हो ? कुल्हाडी मंगावो और दरवाजेको काटो फोड़ो । सो दरवाजा फोड़नेको पंच लोग कहते हैं । तो पंच लोगोंसे स्त्री कहती है कि ये तो मर ही गये, मैं विधवा हो गई, मेरे कमाने वाला कोई रहा नहीं सो इसको बनवायेगा कौन ? इसमें २०० रुपया लगेंगे । ये तो मर ही गये हैं, इनको जलानेके लिए ही जा रहे हो, सो इनकी टांग काट लो, यहां नहीं काटते तो वहां तो जलेगा ही । सो कुछ नये विचारके लडके लोग थे । उनकी समझमें आ गया कि मरे हुएको क्या है ? टांग तोड़ देना ही अच्छा है । दरवाजेका काटना ठीक नही है । कुल्हाड़ी मंगायी । जब कुल्हाड़ी सामने आ गयी तो अब मरे बननेसे तो काम नही चलेगा । सो धीरे-धीरे अंगड़ाई लेकर जिन्दा होनेका ढंग दिखा दिया । लोग सब खुश हो गये कि यह जिन्दा है । अब सब लोग चले गये । अब दूसरे दिन उसने समझ लिया कि स्त्री कितनी प्रीतिकी बातें करती थी, अब वे सब बातें कहां चली गयीं ? यह पति पत्नीका प्रेम कब तक है जब तक वासना सरती है, नही तो देखो विवाह होनेके दो-चार साल बाद तक बडा प्रेम रहता है और फिर ४-५ साल गुजर जानेपर प्रेम नही रहता है । कोई किसीसे प्रेम नही करता है । सब अपना-अपना प्रेम करते हैं । जितने ये राग दिखाने वाले जन है ये सब कोई भी मरण होनेपर मेरे साथ नही जाते । फिर मैं किनके लिए खोटा ध्यान करूं । खोटा ध्यान करनेका फल परिवारके लोग, मित्रजन न भोगेंगे । मेरे ध्यानका फल तो खुदको ही भोगना पड़ेगा । 'को वा कुर्यामसध्यानम् ।' किनके लिए मैं खोटा ध्यान करूं । कोई भी आत्मसंयोगके समयमें मेरी परिणतिके साथ नही परिणमता । जैसी मेरी इच्छा हो, शत प्रतिशत वैसी ही इच्छा दूसरोंकी हो जाय, ऐसा कहीं मिलेगा नही । हो ही नही सकता । सब अपने अपने राग और कषायके अनुसार परिणमते हैं । जीवनमें भी तो लोग मेरे साथ नही चल रहे हैं । जैसा मैं चाहूं तैसा लोग चलें ऐसा तो जीवनमें भी नही हो रहा है । मरने पर मेरे साथ कोई जायगा यह बिल्कुल असम्भव बात है । मेरे साथ जावेगा तो मोह राग करके जो हमने अपना बुरा सस्कार बनाया, वह साथ जायगा, और उस संस्कारके कारण जो कर्म बंध गए, वे कर्म मेरे साथ जायेंगे । और अगले भवमें खोटे कर्मोंके उदयका फल ही हाथ आयगा । फिर मैं किनके लिए अपना खोटा ध्यान करूं । इस खोटे ध्यानके फलका असर

दूसरों पर नहीं होता। मैं किसी दूसरेका बुरा विचार करूँ तो मेरे बुरा विचारनेसे उसका बुरा हो जायगा ऐसा नहीं हो सकता है। बल्कि बुरा विचार करनेसे दुर्विचारका असर मुझ पर ही होगा। तो विचार बनाने मात्रसे मेरा कल्याण होता है और विचार ही बना लेनेसे अकल्याण होता है। तो मैं अपने शुद्ध विचारोंको बनाए रखनेकी सावधानी रखूं। जिन पदार्थोंमें राग किया जा रहा है वे पदार्थ थोड़े समयको भी मेरे सहायक नहीं हैं। वे तो जड़ हैं, और जो चेतन परपदार्थ हैं वे अपने कषायके पोषणमें लगे हैं। वे मेरा शरण नहीं हैं। यदि दूसरोंका विचार करके अपना ध्यान खराब न करो। अपनेमें अपने आपके ही चेतनस्वरूपका, परमात्मस्वरूपका ध्यान करके अपनी आत्माकी पुष्टि कर लो। विवेकी पुरुष वही हैं जो ऐसे प्रसंगोंके बीच भी इनमें अलिप्त रहकर अपने कल्याणकी धुन रखते हैं, रागद्वेषोंसे परे रहते हैं। इन रागद्वेषोंसे लाभ कुछ नहीं है। तो इन विकल्पोंसे परे रहकर मैं अपने आपमें अपने ज्ञान रसका स्वाद लूं और सदाके लिए संकटोंसे बचूं।

यथात्रत्यस्य नार्थाः प्रागन्यत्रे मे न केऽपि मे।
क्व हितं क्व सुखं मृज्यां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७—६॥

वैसे इस समय मुझ आत्माको पहले भवकी कोई चीजें मिली नहीं हैं। जिस भवसे मरकर हम यहाँ आये उस भवकी कोई भी चीज मेरे पास है क्या? जिस घरको छोड़कर आये उसकी कुछ खबर है क्या? जिस कुटुम्बको छोड़कर आये वह कुटुम्ब आपकी मदद करता है क्या? उस कुटुम्बको तो खबर ही नहीं है और न आपको उस कुटुम्बकी खबर है। जैसे पहले भवके समागमकी बातें कुछ भी आज नहीं हैं तो ऐसा ही यह निर्णय रखो कि इस भवमें जो मुझे समागम मिला है इसमेंसे रंच भी मेरे साथ जाने वाला नहीं है। ये तो सब अपने-अपने स्वार्थके साथी हैं। देखो मोहका विकट संकट ऐसा है कि ज्ञानकी बातें कुछ जानते भी हैं तो भी उनसे दूर नहीं हटा जा सकता। क्या उन्हें पता नहीं है कि सब अपने-अपने स्वार्थके साथी हैं? लड़के यदि कोई बात न मानें तो मनमें आता है और कह भी डालते हैं कि सब अपने अपने स्वार्थके गर्जी हैं, पर दो मिनट बाद फिरसे उन्हींमें मोह होने लगता है। ये सब अपने स्वार्थके साथी हैं—ऐसा कहना ज्ञानसे नहीं होता है, किन्तु चबड़ा कर होता है। ज्ञानपूर्वक यदि भेदविज्ञानकी बातें आ जायें तो इसे सम्यग्ज्ञान हो गया। कोई भी जीव मेरा साथी नहीं है। किन्हीं भी जीवोंसे मेरा हित नहीं है फिर मैं किनमें हित खोजूं और किनमें सुख खोजूं? बड़े बड़े पुराणोंकी बातें देख लो तो वहाँ यही दृश्य नजर आता है कि एक घरमें कहाँ कहाँसे कैसे कैसे लोग इकट्ठे हुए और कुछ ही समय बाद किस किस विधिसे लोग बिखर गये, उनका वियोग हो गया।

पुराणोंमें देखो तो यही नजर आता है और अपने गांवमें देखो तो यही नजर आता है। कौन किस गतिसे आया है ? कैसा वह आत्मा है, इकट्ठे हो गये हैं। बस घरमें आने मात्रसे आप उन्हें अपना मानने लगे। प्रत्येक जीव तो सब एक-एक स्वरूप है। जो घरमें नहीं आया उसका भी स्वरूप मेरे ही जैसा है और जो घरमें आया उसका भी स्वरूप मेरे ही जैसा है। कुछ अंतर नही है। जिन्हें आप पुत्र मानते हो, जिन्हें आप गैर मानते हो सब जीवोंमें कोई अंतर नहीं है। रही समय पर सहयोगकी बात तो आपके पुण्यका उदय है तो पड़ोस वाले भी आपका सहयोग देंगे और यदि पापका उदय है तो घरमें जाया बालक भी आपका सहयोग नहीं दे सकता। तो आपका सहयोग आपका पुण्यकर्म है। सो अपने पुण्यका भरोसा रखो, अपनी करनीका भरोसा रखो, किसी दूसरेका भरोसा न रखो। दूसरे लोग भी सभी मददगार होंगे जब आपका उदय ठीक है। असलमे तो आपका उदय ही आपकी मदद करता है और दूसरा कोई मदद करता नहीं है। सदा अपने शुद्ध विचार रखो, उदारता व प्रेम रखो। अभी देखो इस ही गांवमें हजारोंका नुक्सान हुआ, किसीका क्या यह विचार हुआ कि पापका उदय आया था सो १० हजारका नुक्सान हुआ। यह तो जबरदस्ती हुआ और अपने मनसे ५ हजारका और दान कर दें जिससे कि पापोंका एकदम क्षय हो जाय। विरले ही पुरुष ऐसे होते हैं कि वे विवेक रखते हैं। मान लो १० हजारका नुक्सान हो गया तो क्या ११ हजारका नुक्सान नहीं हो सकता था ? पर अपने मनसे एक हजारका भी त्याग किया जा सकता है क्या ? जिसको जो कुछ मिला है, क्या वह किसीके पैर पीटनेसे मिला है ? पूर्वमें जो कर्म किए उससे यह प्राप्त हुआ है। यदि सुख समृद्धि चाहते हो तो यह कर्तव्य है कि अपने उत्तम विचार बनाओ। अपना हित अपने आपमें सोचो, बाहर हित न ढूंढो, बाहर सुख न ढूंढो। तुम्हें क्लेश क्या है ? तुम तो सुखी हो। तुम्हारा स्वरूप ही आनन्दमय है। पर मोह बना रखा है, परपदार्थोंमें तृष्णा बना रखी है तो निरन्तर आकुलताओंका अनुभव करते है। उस तृष्णाको हटावो तो तुम्हारा आनन्द अभी प्रकट है। पर यहाँ बैठे हुए तुम शरीरमें भी न हो तुम शरीरको भी भूल जावो। जो शरीर पर कपड़े पहिन रखे हैं उनको भी भूल जावो और जो शरीरका बंधन लगा रखा है उसको भी भूल जावो। और जिनमे मोह किए जाते हो उनको भी भूल जावो और अपने शुद्ध आत्मस्वरूपके दर्शन करो तो तुम यहाँ ही पूरे सुखी हो। सो अपने आपको देखो और सुखी होवो।

आस्तां दूरे पुरे वासः संगो दूरे जनैर्षिणाम्।
दूरे प्रशंसकाः सन्तु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-७॥

यह नगरका निवास, जिसमें लोगोंकी बड़ी रुचि रहती है यह दूर रहे, क्योंकि नगर-

वासी जनमोहमें लिप्त हैं सो यह देख ही रहे हो उनके संगमें निर्विकल्पकी भावना आनी कठिन है। उनके आरामको देखकर, उनकी यश कीर्तिको देखकर स्वयंमें भी वैसी आरामकी इच्छा हो जाती है। उनसे हित कुछ नहीं मिलता है। और ऐसे पुरुषोंका भी संग दूर रहे जिनकी यश और कीर्तिकी ही सदा चिन्ता रहती है। कीर्तिकी चाहका नाम है लोकेषणा। प्रशंसा करने वाले दूर हों। किसीकी प्रशंसासे आत्मामें निराकुलता नहीं होती। ये जीव स्वयं दुःखी हैं। जो स्वयं दुःखी है वह दूसरोंके दुःख दूर होनेमें निमित्त कैसे हो सकता है? प्रभु स्वयं आनन्दमग्न है। प्रभुके दर्शन भी न हों, किन्तु प्रभुकी मूर्तिकी स्थापना करली है तो वह मूर्ति दर्शन भी हमारे आनन्दका और मार्गदर्शनका साधक हो जाता है। अब किसी भी देहाती पुरुषके दर्शन करके हम अपने हितका क्या मार्ग ढूंढ सकते हैं? इसी प्रकार जिसे ज्ञानकी उपासनासे प्रेम नहीं है, किन्तु मोह कलंकसे दूषित होकर इस असार दुनियामे अपने पर्याय नामको फैलानेके यत्नमें रहता है, ऐसी कलुषित आत्माओंके संगमें ही क्या हितका मार्ग मिल सकता है? प्रशंसा करने वाले लोग हमारे हितके साधक नहीं होते, किन्तु उनकी प्रशंसाको सुनकर हम अपने आगामी दुःखोंको भूल जाते हैं। इस जगतमें हम हितके लिए उत्पन्न हुए थे इस मनुष्य पर्यायमें, किन्तु प्रशंसाके व्यामोहमें आकर हम अपने हितकी बातें सब भूल जाते हैं और प्रशंसा करता भी कौन है? जो लोग प्रशंसा करते हैं वे मात्र अपने कषायकी चेष्टा करते हैं। प्रशंसामें ज्यादासे ज्यादा कोई क्या कहेगा? यह बड़े धनी हैं। तो धन तो मेरा स्वरूप नहीं है। धनकी बढवारी करनेसे मेरी क्या बढ़वारी हो जायगी? यही कहेगा कि यह बड़े परिवार वाले है। तो परिवार मेरा स्वरूप नहीं है। उनकी बड़ाईसे मेरी बड़ाई नही होती। कोई कहेगा कि इनके बड़े ऊँचे मकान हैं। तो मकानकी बड़ाईसे कहीं मेरी बड़ाई नहीं होती। कोई यह कहेगा कि ये बड़े धर्मात्मा हैं, पूजन करते, पाठ करते, स्वाध्याय करते तो ऐसा कहने वालोंने तुम्हारे वास्तविक धर्मको देखकर नही कहा, किन्तु ऊपरी जो बातें हैं, उनको आत्मा करता ही कहां है? ये धर्मकी ऊपरी बातें मेरा स्वरूप नही है। धर्मकी ऊपरी बातें करते हुए भी शांति और आनन्द हो सकता है। दुनियामें यश लूटनेके लिए, दुनियामें अपना नाम रखनेके लिए कुछ त्याग कर दिया जाता, ऐसा भी हो सकता था। बाहरी पदार्थोंके त्यागसे वास्तविक त्याग तो नहीं कहलाता है। वास्तविक त्याग तो वह है कि जिसमें दृष्टि समस्त पदार्थोंसे न्यारी निज ज्ञानमात्र आत्मामें लग गयी है—ऐसी दृष्टिका जिन्हें पता है वे मेरी क्या प्रशंसा करेंगे? वे तो स्वयं ज्ञानके पुजारी हो जायेंगे। जो लोग मेरी प्रशंसा करते हैं वे मेरे स्वरूपको नहीं जानते हैं और ऊपरी बातोंकी प्रशंसा करते हैं। तो उनकी प्रशंसा सुननेसे हमारा अहित ही होगा। हित नहीं हो सकता है। तो प्रशंसा करने

वाले भी दूर रहूँ, यह अन्तरध्वनि उस ज्ञानी संत महंतके है। चाहे गृहस्थ हो, चाहे योगी हो, जिसने अपने स्वरूपको देखा, सर्व परपदार्थोंसे न्यारा अपने ज्ञानमात्र प्रभुको देखा उसकी यह अन्तरध्वनि है कि मुझे घरके निवाससे प्रेम नहीं। घरमें रहते हुए भी घरसे विरक्त रह सके ऐसा ज्ञानका ही प्रताप है। मैं घरके निवासको नही चाहता, नगरके निवासको नहीं चाहता, न मैं लोगोंके संगकी चाह करता हूं। मैं तो केवल अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिको चाहता हूं। ये लोग मेरे कुछ शरण नही होंगे। जब संकट आयेंगे तब ये मुझे बचा न लेंगे। उनकी खुदगर्जी उनके पास ही रहेगी। पदार्थोंका स्वरूप ही खुदगर्जी लिए है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थसे नहीं आता है। यों मेरा स्वरूप सबसे न्यारा है। इस स्वरूपमें ही मैं रहूं। अन्य किन्हीं प्रसंगोंमें न रहूँ। सम्बन्ध तो सुखी होनेके लिए मिलाया जाता है, पर यह जगत्‌का कैसा विकट सम्बन्ध है कि यह सम्बन्ध सुखी होनेका कारण नही है प्रत्युत दुःखी होनेका ही कारण है। मान लो इन मिले हुए समागमोंमें खूब आसक्तिसे मिल जुलकर भी रहो तो अंतमें क्या मृत्यु न होगी ? ये लोग छोड़कर जाना न होगा ? किस गतिमें जायेंगे ? वहां क्या बीतेगा ? इसका भी ख्याल रखना चाहिए। ऐसा नही है कि मेरे मरनेके बाद ये रहेंगे नहीं। जगत्‌में जितने भी पदार्थ हैं वे सब सदा रहेंगे। जो है उसका नाश नही होता। वैज्ञानिक लोग भी इस बातको सिद्ध करते हैं कि जो भी अणु हैं, जो भी सत् है उसका नाश कभी नहीं होता। जैसे आंखों दिखता है ना कि जो लकड़ी है उसको जला दिया तो कोयला बन गया। उसका नाश तो नही हुआ और जल गया, राख हो गयी तो कुछ भी अभाव नहीं हो गया। राख उड़ गयी, परमाणु बिखर गये, फैल गये, अभाव फिर भी नहीं है। अपने आपकी भी बात विचारो कि मैं भी हूं या नही हूं। यदि मैं नहीं हूं तो इससे बढ़कर और बात क्या होगी ? मैं भी नही हूं तो अच्छा है। सुखी दुःखी होनेका स्वरूप ही नहीं तो सुख दुःख कैसा ? हूं मैं और इसमें संकट है, सुख है, दुःख है, उपद्रव है, तरंगें हैं। जिसमें यह सुख दुःख है, जिनमें ये तर्क वितर्क है यही तो मैं हूं। मैं हूं इसलिए मेरा विनाश कभी नहीं होगा। इस शरीरको छोड़कर जाऊँगा तो भी रहूंगा। क्या रहूंगा ? जैसे वर्तमानमें इस शरीर रूप हूं तो आगे भी किसी शरीररूप रहूँगा। किस शरीररूप रहूंगा ? कैसा रहूंगा ? यह इस आजके भावके अनुसार बात है। सो इस जगत्‌में यह सब चांदनी जो दिख रही है, चमक वैभव दिख रहा है इसमें राग हो गया तो इसमें कल्याण नहीं है। बड़ी संभालका यह अवसर है। यदि इस मनुष्यभवमें संभल गये तो एक शरीर संभल जानेसे संभलते संभलते बढ़ते जायेंगे और यदि कुछ मनसे ढीला कर दिया और भोगोंमें आपत्तियोंमें बह गये तो बहते ही चले जायेंगे। इसलिए अपनी संभालका उद्यम हो, मनमें लालसा न आये और अपने स्वरूप

के दर्शन करके अपने आपमें सुखी होनेका यत्न करो।

> सुखं सत्वं हितं तत्र तेभ्यः किञ्चिन्न वर्तते।
> न च वत्स्यामि तत्राहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-८॥

इन बाह्यपदार्थोंसे मुझे सुख है क्या ? यदि मुझे सुख हो तो बाह्य पदार्थोंमें लगूँ। इन बाह्यपदार्थोंको हृदयमें लगाकर परीक्षा करके देख लो, सुख कैसे कैसे हैं ? कुछ आह्लाद रूप परिणाम हो, कुछ आनन्द हो उसे सुख कहते हैं। आह्लाद और आनन्द इन बाह्यपदार्थों में कहाँ रखा है ? ये दिखने वाले बाह्यपदार्थ अचेतन है, जड़ हैं। इनमें ज्ञान और आनन्दका मादा ही नहीं है। ये तो रूप, रस, गंध, स्पर्शके पिंड हैं। इनसे मेरा हित नहीं। क्या इनमें मेरा सत्व है, बल है, शक्ति है ? मेरा बल मुझमें ही तन्मय है। ज्ञानका बल होना, श्रद्धाका बल होना, चारित्रका बल होना—ये बल मेरेमें ही रहते हैं, बाह्यपदार्थोंमें यह बल नहीं होता है। लोग बाह्य पदार्थोंमें प्रतीक्षा करते हैं, अपना बल बढ़ानेका। मेरा बडा बल है, मैं बलिष्ठ हूं, मेरे पास इतनी सेना है, इतना वैभव है, मैं इतने बल वाला हूं, मेरे इतने बलके आगे दूसरे क्या करेंगे ? इस प्रकार अन्य पदार्थोंमें बलका अभिमान रखकर, बलका भ्रम रखकर जगत्के जीव व्यर्थ ही दुःखी होते हैं। मेरा बल किन्हीं भी बाह्यपदार्थोंमें नहीं रखा है। मेरा बल तो मेरे गुणोंका बल है। जो अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण गुण मुझमें हैं, उनका ही मुझमें बल है। सो अपने ही आपके बलका भरोसा रखो और बाह्यपदार्थोंका बल प्राप्त करनेकी आशा न रखो। स्वभावमें मग्न हो जाते हैं, तो हमारा बल हममें ही प्रकट होता है। इस बलसे ही सभी लोग ज्ञाता बन जाते हैं।। और ऐसे अनन्त असीम आनन्दके भोक्ता हो जाते हैं कि जिस आनन्दको कभी चाह ही नहीं सकते हैं। यह अपना बल क्या परकी आशा रखनेसे बढ़ गया ? मेरा बल मेरेमें ही आनेसे बढ़ गया। परकी आशा रखनेसे तो यह बल घटता है। सो इस बलके लिए भी मैं दूसरोंकी आशा न रखूँ। क्या मेरा हित, कल्याण दूसरोंमें है ? मेरा हित निराकुलता है, और निराकुलता कहाँ है ? मोक्षमें है, मुक्तिमें है, अपने इन विकल्पोंसे छुटकारा हो जाय, ऐसी स्थितिमें ही अपना हित है। विकल्पोंमें हित नहीं है, किंतु मोहके भावोंमें यह जीव ऐसा रंगा हुआ है कि इसकी तो यह गांठ बन गयी है। अपना हित, अपना सुख अपने परिवारमें ढूंढ़ते हैं। औरोंमें, परिवारमें सुखका भ्रम करनेसे इसको समय-समय पर नाना संकट आते रहते हैं। जिन संकटोंको यहाँ देखा जा रहा है। दुःखी रहने पर भी यह मोह करनेकी आदतको नहीं छोड़ता। जितने क्लेश हैं ये सब मोह करनेसे हैं। अपने घरमें जो जीव इकट्ठे हो गये उनको मान लिया कि ये पुत्र हैं, ये फलां हैं। घरमें आये हुए लोगोंको मान लिया कि ये मेरे हैं। फिर उनमें मेरा है कौन ? कोई नहीं।

आपका मोह पुत्र बन रहे हैं। तो आप जिसे पुत्र मानते हो। कभी कोई बात बिगड़ जाय, कभी कोई बात कहनेसे बिगड़ जाय, चित्त पुत्रोंमें न रहे तो वे पुत्र आपके पुत्र नहीं रहते। पुत्र क्या दुश्मनसे भी अधिक हो जाता है ? यदि किसी पुत्रने आज्ञाको भंग कर दिया तो आप उसे देखना तक नहीं पसन्द करते। तो कौन पुत्र है ? आपका मोह है तो आपका पुत्र है। मोह है तो वहां आपका कुछ भी नहीं है। पुराणोंमें आप पढ़ते होंगे कि कोई पुरुष साधु हो गया। उसके बड़े लड़केने छोटेको ले जाकर मुनिजी के सामने पटक दिया और कदाचित् छोड़कर चला जाय। जिनके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया ऐसा पुरुष क्या मान सकता है कि यह मेरा पुत्र है ? तो जब तक अज्ञान है, मोह है तब तक इस जीवको यह आत्मा बड़ा प्रिय दिखता है और विवेक हो जाय तो फिर इस दुनियासे प्रीति नहीं हो सकती। इन बाह्यपदार्थों में न कोई सुख है, न सत्य है, न हित है, फिर मैं उनमें क्या करूं ? अर्थात् अपना उपयोग किसी परपदार्थमें न लगाऊँ। आप स्वयं ज्ञानमय हैं, आनन्दनिधान है, अपने आपको दृष्टि देते हो तो यहां इतनी सिद्धि बढ़ती है कि अनन्त भवोंके बंधे हुए कर्म कट जाते है। पाप-कर्म पुण्यरूप बंध जाते है और पुण्यमें आकर थोड़ा रस हो तो अधिक रस बन जाता है। एक अपने आपकी दृष्टि करनेमे इतना गुण है कि जिसके प्रतापसे इस लोकके वैभवका सुख भी आप पाते हैं और परलोकके आनन्दको आप पायेंगे और मुक्तिका मार्ग भी आप पायेंगे। तो इन लौकिक वैभवोंमे न बसूं, इनसे दूर होकर मै अपने आपके स्वभावमे रहूँ, अपनेमे स्वयं सुखी होऊं।

> दुःख सुखं विपत्सम्पत्कल्पनामात्रमेव तत्।
> किं भिन्नं खेददं कल्पं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७—६॥

दुःख है, सुख है, विपदा है, सम्पत्ति है—ये सब कल्पनामात्र है। आपके पास एक काचका टुकड़ा हो और यह कल्पना बन जाय कि यह तो रत्न है तो आप बड़ा गौरव मानेंगे कि मैं धनी हूं। और हाथमें यदि रत्नका टुकड़ा रखा हो, और यह ख्याल बन जाय कि यह काच है तो आप अपनेको धनीका अनुभव न करेंगे। हाथमे हजारों लाखोंका धन है, पर आपका अनुभव गरीबका है और एक काचके खंडमें रत्नकी कल्पना हो जाय तो अपनेको यह अनुभव करेंगे कि मैं धनी हूँ तो सुख दुःख और क्या चीज है ? ये तो एक कल्पना मात्र है। विपत्ति क्या चीज है ? लोगोमें यह कल्पना बन गयी है कि देख लो मेरे कहे माफिक नहीं चलते। अरे नहीं चलते तो न चलें। विपत्ति कहांसे आ गयी ? अगर मोह बसा हुआ है, यह टेक पड़ी हुई है कि जैसा मैं चाहूं वैसा लोग करें तब तो मेरी शान है, तब तो मेरा अस्तित्व है और नहीं करते तो मैं कुछ नहीं रहा। इतने बड़े मोहके अंधकारके कारण यह

जीव परेशान है। कोई मानना हो माने, न मानना हो न माने, आप स्वयं अपने आपको मना लें। अपने आपको अपने वशमें तो कर लो। जरा-जरासी बातोंको सुनकर अपनेसे ही बिगकर बाह्य असार बातोंमें लग जाते हैं। पहिले अपनेको वशमे कर लो। आत्माकी चिंता करनेसे लाभ नहीं हैं। बस जैसी यहाँ इच्छा होती है तैसा बाहरमें काम नही मिलता है तो हम अपने आपमें विपत्तियोंका अनुभव कर लेते हैं। जरा विवेकपूर्वक तो सोचो। ये सब बाहरी समागम मेरे कुछ लगते हैं क्या ? उनकी सत्ता उनमें है। मेरा स्वरूप मुझमें है। वे किसी प्रकार परिणमें तो उससे मेरा क्या बिगाड़ है और क्या सुधार है ? एक कथानकमें जैसे कहते है कि दो भाई थे। उनमें से एक भाई दूसरेसे बोला कि अपनी मंदिरकी बारी है तो हम जंगल जाकर लकड़ी बीन लावें और तुम मन्दिर पहुंचो। एक लकड़ी बीनने गया। एक मंदिर गया। मंदिरमें पूजा करने वाला सोचता है कि वह भाई तो किसी आमके पेड़पर चढ़ा होगा, आम खाता होगा या किसी जामुनके पेड़ पर चढ़ा होगा, जामुन खाता होगा। लकड़ी बीनने वाला यह सोचता है कि वह मेरा भाई भगवानके स्वरूपके चिंतनमें आनन्द ले रहा होगा। हम यहाँ कैसे आकर फंस गये। अब यहाँ यह बतलाओ कि लकड़ी बीनने वालेको लाभ मिलता है कि मंदिरमें दर्शन करने वालेको ? जो लकड़ी बीनने गया उसे लाभ हो रहा है और जो मंदिरमें है, अन्य-अन्य बातें सोच रहा है सो उसे लाभ नहीं मिलता। सो सुख दुःख विपत्ति सम्पत्ति सब अपने भावोंसे भरी हुई चीजें हैं। बाहरी चीजोंसे विपत्ति न मानो। हम आप स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं। गृहस्थीके ज्ञान प्रकट होता है तो गृहस्थीके समागममें रहते हुए भी वह संत है, मोक्षमार्गी है। इस सम्यग्ज्ञानकी कितनी अच्छी करामात है कि घरमें रहते हुए भी वह मोक्षमार्गमें चल रहा है और इसीमें इतनी भी करामात है कि वह नरक निगोदके रास्तेमे चला जाता है और ज्ञानमें कुछ लगता नहीं है। बल्कि अपने शुद्ध विचार बनाना है। वस्तुके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करना है। इतना करनेमें कोनसी व्याकुलता है ? खूब देख लो, परख लो। वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा देख भर लो तो मोक्षका मार्ग बिलकुल खुला हुआ है। पर ऐसा मोह हो जाय कि ग्रन्थ चाहे कुछ लिखें, आचार्यजन चाहे कुछ कहें और भगवान्के उपदेश चाहे कुछ हों, मगर हमें तो रागद्वेषमें हो रहना है तो इसमें मेरा नाश अवश्य हो जायगा। ऐसा कुटेव लगा हुआ हो तो यह कितनी खेदकी बात है। इनसे हटें तो अपना कल्याण नियमसे होगा।

पराधीनं सुखाभासं परकीयां कृतिं मुधा।
लब्धुं क्लिश्नानि किं स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१०॥

यह मोही जीव परके निमित्तसे होने वाले झूठे सुखको पानेकी चेष्टा किया करता है

और परपदार्थोंकी परिणतिको पानेकी चिंता किया करता है। पर सोचो तो सही कि परके निमित्तसे होने वाला जो सुख है जैसे इन्द्रियका सुख और प्रतिष्ठाका सुख, उस सुखमें स्वयं क्या बल है ? माया रूप है, स्वयं एक विकार परिणति है, होकर नष्ट हो जाने वाला है। उस सुखकी चाहसे क्या लाभ है ? चाहो तो उसे जो सदा रहता हो। जो मिट जाने वाला है, पराधीन है, उसकी चाहसे तो कष्ट ही है। इस जगतके स्नेहमें क्या दम है ? यह जगत् अपने आधीन नहीं है। अपनेसे पृथक् है। उसके स्नेहसे फायदा क्या है ?

जैसे रास्तेमें चला जाता हुआ मुसाफिर किसी चौराहे पर मिल गया, राम-राम हुई, कुछ बातें हुईं और चल दिये। यदि उससे स्नेह करने लगे तो वह मेरी बुद्धिमानी तो नहीं है। अरे रास्तेमें चलते हुए मुसाफिरसे स्नेह करनेसे लाभ तो कुछ नहीं मिलता है। इसी प्रकार ये संसारके प्राणी एक चौराहे पर इकट्ठे हो गये हैं। कोई किसी गतिसे आया, कोई किसी गतिसे आया। फिर कुछ क्षणों बाद अपने-अपने भावके अनुसार अन्य भवमें चले जावेंगे। इन प्राणियोंसे स्नेह करनेका फल बड़ा कटुक है, केवल अंतमें क्लेश ही है। इस पराधीन सुखाभासको पानेके लिए मैं क्यों क्लेश करूँ और पराधीन परकी परिणतिको कुछ बनानेकी क्यों मैं चिंता करूँ ?

यह जीव स्वयं आनन्दस्वरूपको लिए हुए है। पर ऐसा ही मानकर रहे तो इसे आनन्द प्राप्त हो, किन्तु यह अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूपको तो मानता ही नहीं। इसके यह समझ बनी है कि मेरा सुख मेरे बच्चोंके आधीन है। मेरा सुख घरके आधीन है, इन बातों से अपना बड़प्पन समझते हैं। फिर बतावो मिथ्याभावसे शान्ति कैसे आवे ? जीव तो सब पूरे हैं, अपने स्वरूपसे भरपूर है, कृतार्थ है। प्रत्येक जीवका चैतन्यस्वरूप है। सो कितना बड़ा यह अपराध है कि हम अपनेको अधूरा मानते और दुःखी हुआ करते हैं। अचेतन पदार्थ तो कोई नहीं दुःखी होता। पुद्गल है, जल जाय तो जल गया, उसको क्या कष्ट है ? धर्म-द्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य हैं, जैसे भी हों, वे है और परिणमते हैं। मगर जीव है सब द्रव्योंमें सरताज, सब द्रव्योंकी व्यवस्था करने वाले हैं। ज्ञानमय हैं, लेकिन ये सब भूलसे अपने दुःख बना रहे हैं। कुछ भी हो, ज्ञाताद्रष्टा रहो और प्रसन्न रहो यही भगवान् का उपदेश है। जो भगवान्का उपदेश नहीं मानेगा, वह कितना ही ऊधम मचावे, जब तक पुण्यका उदय है, आखिर परिणाममें उसे क्लेश ही होंगे।

भगवान्का यह उपदेश है कि जो भी समागम प्राप्त हुए हैं, उसमें मोह न करो। पराधीनताका सुख और प्रतिष्ठाका सुख और दूसरोंकी परिणति, इनको प्राप्त करनेकी इच्छा ही बड़ा संकट है। धन्य है वह गृहस्थ जिसके दुकान भी है, व्यापार भी है, अन्य और तरह

के व्यवसाय भी हैं, लेन-देन हैं, चारों ओरकी समृद्धि है, पर चारों ओरकी समृद्धिमें भी वह आसक्त नहीं है। वह गृहस्थ धन्य है, वह सब ज्ञानका बल है। मोही जीवको यह बात नहीं रुच सकती। वे तो किसी विरक्त संतको देखकर यह कहेंगे कि यह तो बाबा पागल है। इसको अपनी जायदादकी खबर नहीं। मगर फिक्र करनेसे होता क्या है? जब तक जीवके पुण्यका उदय नहीं है तब तक उसमें शांति नहीं है। अगर पुण्यका उदय है तो उसमें शांति है।

एक दिन दो भाइयोंमें विवाद हो गया। एक तो कहता था कि तकदीर बड़ी और एक कहता था कि तदबीर बड़ी। दोनोंका यह मामला राजाके पास गया। राजाने एक कोठरीमें दोनोंको २४ घंटेके लिए बंद कर दिया। तब तदबीर वाला देख रहा था कि क्या करना चाहिए? भूख लग रही है। यहाँ देखा, वहाँ देखा, एक जगह दो लड्डू पड़े हुए उसे मिले। एक लड्डू इसने खाया और थोड़ी देरमें उसको दूसरे भाईपर दया आयी। कहा—आखिर विवाद है, विवादके पीछे भूखा क्यों पड़े रहे? उसने दूसरा लड्डू दूसरे भाईको दे दिया। अब जब दूसरे दिन दोनों निकाले गए तो तदबीर वाला कहता है कि महाराज तदबीर बडी है। अगर तदबीर हम न करते तो भूखों मरते। और देखो तदबीर करनेसे हमने भी लड्डू खाया और इनको भी खिलाया। अब तकदीर वाला बोलता है कि महाराज मेरी तकदीर चोखी थी तभी तो दास बनकर इन्होंने मुझे लड्डू दिया। ये जगत्के जितने वैभव हैं सब पुण्य पापके वश हैं। यहाँ बिल्कुल व्यर्थका अभिमान है। यह सब सम्पदा पराधीन है। इस सम्पदाकी इच्छा करके मैं क्यों क्लेश सहूं? मैं तो अपने स्वरूपका ध्यान करके अपने आपमें ही सुखी होऊँ।

स्वच्युतेर्हेतवो भोगा अशान्तिर्भोगवेदनम्।
चेष्टैः किमेतदर्थं ज्ञः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७—११॥

भोग आत्मासे च्युत होनेका नाम है। भोगोंका और काम ही क्या है? जिसके भोगों की इच्छा है, परकी ओर दृष्टि है तो वह अपने आपके स्वरूपको भूल जाता है। दूसरे ही इसे सब कुछ मालूम होते हैं, दास बन जाते हैं। ये भोग आत्माको च्युत कर देनेमें निमित्त है। वे भोग कौनसे हैं वे हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द। ये ५ विषय हैं पंचेन्द्रियके और छठा विषय है मनका। लोगोंसे प्रतिष्ठा चाहे, अपनी बड़ाई चाहे, यह मनका विषय है। इसमें आत्महितकी बुद्धि करके रमण करना अपने चैतन्यस्वभावसे च्युत होनेकी अवस्था है।

अपने आपके स्वरूपको छोड़कर बाह्य विषयभोगोंमें रमना, यह आत्मापर बहुत बड़ी निर्बलताकी बात है। इसमें केवल अंधकार है, इसमें विकट कर्मबंधन है, जिसके उदयमें आगे

भी बड़ी-बड़ी आकुलताएँ भोगनी पड़ेंगी। इसलिए यह बात बिल्कुल सुनिश्चित है कि भोग हमारी विकार परिणतिके ही कारण हैं। जो बाह्य या अंतरंग उपाधिका निमित्त पाकर बन गया वह विकृत ही तो है। अपने आपके ज्ञाननिधान इस प्रभुको न निरखकर बाह्यपदार्थोंकी आशा रखना यह सब आत्माके पतनका ही कारण है तथा भोगोंके अनुभवमे केवल अशांति है।

भैया ! खूब ध्यानसे समझते जावो, जो भी आप भोग करते होंगे चाहे आप स्पर्शन इन्द्रियके विषय भोग कर ले तो आकुलताएँ हैं, कोई रसका स्वाद लिया वहाँ आकुलतायें हैं। कोई घ्राणसे सूंघ लिया वहाँ भी आकुलतायें है। किसीका रूप देखा तो रूप देखनेके कालमें भी आकुलतायें ही हैं। इस आत्माको विषयोंके प्रसंगमे क्या मिलता है ? आकुलताएँ ही तो मिलती हैं। भोगसे जितने अनुभव है उनमें अशांति ही है। मेरे लिए मैं क्या चेष्टायें करूं ? मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं। अज्ञानमय परिणामोंको लेनेवा मैं क्यों यत्न करूं।

देखो भैया, जिसने अपने आपको सावधान बनाया वह है ज्ञानपरिणाम और जिसने अपने आपके होशको खो दिया वह है अज्ञान परिणाम। आरम्भ है, परिग्रह है, कुटुम्ब लगा है, आत्माके होशको खो दिया है, ऐसे ये सब अज्ञानमय परिणाम हैं। ज्ञानमय परिणाम वे हैं जिसमें महंत संतोंकी रुचि जगे, अपने आत्माके ध्यानकी प्रीति हो, भगवानकी भक्ति उत्पन्न हो, ऐसी जहाँ सावधानी रहती है वे सब हैं ज्ञानपरिणाम। मैं ज्ञानी होकर अज्ञानपरिणामों में क्यों लगूं ? मेरी तो केवल जानन ही क्रिया है। ये जितने भोगके ख्याल है वे सब मेरेसे भिन्न हैं। वे मेरे स्वभावरूप नहीं हैं। और जिन पदार्थोंके भोगनेका ख्याल बना है वे पदार्थ मुझसे अत्यन्त जुदे हैं। मेरा तो पुद्गलोंमें अत्यन्ताभाव है। फिर ऐसे बिल्कुल भिन्न पदार्थों के लिए मैं क्या चेष्टा करूं ?

अरे दुर्लभसे भी दुर्लभ जो अपने ज्ञानानंद निधानकी दृष्टि है वह दृष्टि जगनी चाहिए। जिन्होंने भी आनन्द पाया, शांति प्राप्त की, उन्होंने केवलज्ञानके बलसे प्राप्त की। इस आत्मा का धन मात्र ज्ञान है। ज्ञानको छोड़कर अन्य किसी बातमें धनकी कल्पना करनेका फल क्लेश ही है। चाहे रहना कहीं पड़े, मगर अपनी श्रद्धासे न चिगो। अपनी श्रद्धा यथार्थ बनाओ कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं। मेरा धन मात्र ज्ञान है। मेरा काम मात्र जाननका है। मेरा सर्वस्व केवलज्ञान है। जिस दिन इस भवको छोड़कर जाऊँगा तो अपने ज्ञानप्रकाश स्वरूपको ही साथ ले जाऊँगा।

एक सेठ जी थे। वे इतने कंजूस थे कि वे अपने घरोंकी चाबियाँ अपने ही पास रखते थे। अपने लड़कोंको नहीं देते थे। जब सेठ गुजरने लगे तो बच्चोंसे बोले कि ऐ बच्चों

लो ये चाबियां ले जावो। यह इस घरकी चाबी है, यह उस घरकी चाबी है। बेटे कहते हैं कि पिताजी हमे चाबियोंकी जरूरत नहीं है, आप अपने साथमें लिए जाइये। भला बताओ कि मरनेपर चाबी साथमें कैसे ले जाये? एक अणुमात्र भी तो साथमें नहीं ले जाया जा सकता है। केवल एक ज्ञानस्वरूप यहांसे निकल जाता है। तो सब कुछ यहांसे छूटना है। अपने चैतन्यस्वरूपको ही अपना धन समझो। ऐसा सच्चा विश्वास बनाओ तो जरूर कल्याण होगा।

भैया, सब बातकी समझ करनेमें कौनसी कठिनाई है? कल्याण केवल भावोंसे है। उसमे न मनका श्रम करना है, न वचनका श्रम करना है, न शरीरका श्रम करना है, केवल अपने भाव बनाना है। सो अपने शुद्धभाव बनाओ तो मोक्षमार्ग मिले। गृहस्थी है तो क्या यह एक धर्म नहीं है? गृहस्थी भी एक धर्म है, साधु भी एक धर्म है, पर श्रद्धान् और ज्ञान है तो धर्म है, पर विकल्प किया तो कितनी ही व्यवस्थाएँ कर डालो उससे धर्म नहीं होता है। सो भाई इन भोगविषयोंकी प्रीतिको तजो। ये विषयभोग आत्मासे च्युत करानेके कारण है। और उन भोगोंके अनुभवके समयमें केवल आसक्ति रहती है। सो इनसे दूर रहनेकी मैं चेष्टा करूँ और अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

स्वयं भिन्ने च किं हेयं भिन्ने काऽऽदेयता मम।
अतर्क्यो ज्ञानमात्रोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७–१२॥

देखो अपना आत्मा ही मात्र एक अपना है। आत्मातिरिक्त अन्य सब पदार्थ मुझसे अत्यन्त जुदा है। जो जुदा है वह छोड़ना है। वे तो छूटे ही हैं। आप यहां बैठे हैं तो घर चिपटाकर तो नहीं बैठे हैं। वह घर तो उस ही जगहपर पड़ा हुआ है। वह घर आपके साथ नहीं है। घरको क्या छोड़ना है। घरमें जो ममता बुद्धि है कि यह मेरा है, इस प्रकारकी जो भीतरमें ममता लगी है उस आशयको त्यागना है।

भैया! अत्यन्त भिन्न इन पदार्थोंमें से कौनसे पदार्थ ग्रहण करनेके योग्य हैं? ग्रहण करने योग्य तो केवल अपने आपका नित्य सदा प्रकाशमान जो सहज चैतन्यस्वरूप है वह ग्रहण करनेके योग्य है। अपनी आत्मा अपने हाथसे या इन्द्रियोंसे नहीं ग्रहण किया जाता है किन्तु मात्र ज्ञानबलसे ग्रहण किया जाता है। ज्ञान द्वारा अपनेमें होने वाले विकार और विकल्पोंको त्यागना है। फिर यह तो सिद्धका सिद्ध ही हो गया।

यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा तर्कसे परे हूं। कोई कहे कि मुझे आत्मा दिखा दो तब हम अपनी आत्माको कैसे दिखा दें? आत्मा तो दिखती ही नहीं है। कोई कहे कि हमें समझा दो तब हम मानें। दूसरा कैसे समझा दे? दूसरेकी समझकी चेष्टासे दूसरोंमें समझ तो नहीं

उत्पन्न होती। परकी परिणतिसे परमें कुछ सुधार बिगाड़ नहीं होता। तो फिर कैसे समझाया जाय ? यह आत्मा अतर्क्य है, तर्कसे परे है। हमको तो हम ही समझा सकते हैं। कोई किसीके समझाये नहीं समझता। आपके ज्ञानका जब वैसा परिणमन नहीं है तो आप नहीं समझ सकते हैं। जैसे कोई गलत बात बोल रहा है और आप गलत समझ रहे हैं, पर गलत बोलने वाला अपने आपको गलत नहीं समझ सकता, फिर वह कैसे गलती मानेगा ? यह सब सब एक कषाय ही समझिये।

जब मेरे ही ज्ञानका उस प्रकारका परिणमन हो तो मैं समझा कहलाऊँगा। स्कूलमें मास्टर लोग कितना उपदेश देते हैं, पर यदि बच्चे जब अपने ज्ञानके परिणमनको उस प्रकार का बनाते हैं तो समझ जाते है और यदि अपने ज्ञानका परिणमन वैसा न बनाया तो नहीं समझ सकते हैं। मैं आत्मा तर्कसे परे हूँ अर्थात् स्वानुभवगम्य हूं। अपने आपको तो अपने ज्ञानके स्वरूपके विचारमें लगा दो, आखिर जानें तो कि कैसा स्वरूप है ? जाननेका क्या लक्षण है ? जाननेका ज्ञान अगर हम करते जायें तो हम आत्मामें झट लग सकते हैं। अहो, ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूं। तर्कोंसे परे यह ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूं। इसको छोड़कर बाकी सब चीजें हमसे अत्यन्त पृथक् हैं। छोड़नेकी चीज क्या है ? ममता। घरको छोड़ें और ममता न छूट सके तो यह छोडना नही कहलाता है। घरमे भी रहते हैं और ममता नही है तो घरमें रहना नहीं कहलाता है। घर ही एक बंधन है और ममतासे ही तो सारे संकट हैं।

भैया ! जिसको अपने आप पर दया हो, अपने आपको सुखी रखना हो तो चुपचाप, कोई किसीके जाननेकी बात नही है, कोई घोषणा करनेकी बात नहीं है। केवल अपने आपमे ही विचारते हुए, अपने आपमें सोचते हुए भीतरकी ममताको निकाल दो। घर वही है, वैभव वही है, संभाल, व्यवस्था वही है, केवल एक ज्ञानके विकासमें अंतर हो गया। आप यदि यह मानते जाओ कि यह मेरी विभूति है। उसमें जो अड़चनें आ जातीं तो ये दुःखी हो जाते हैं। जब यह समझ लिया कि मेरा कुछ नहीं है तो दुःख नहीं होता है। जैसे जब तक लड़कीकी शादी नही होती तब तक वह लड़की अपने घरको अपना समझती है और बापके घरमें अगर कुछ हानि हो गयी तो उस लड़कीको भी चिन्ता हो जाती है और जब शादी हो गयी तो वह लड़की समझती है कि मेरा घर तो वहाँ है। सो बापके घरमें रहते हुए भी वहाँकी कोई चिंता नहीं रह जाती है। मान लो पिताके यहाँ कुछ बरबाद हो गया तो उस लड़कीको कोई विशेष चिन्ता नहीं होती है।

सो भैया, जब जहाँ जैसी ममता है तब उसका वहाँ संकट है सो बाधा कहिए, बंधन कहिए वह केवल ममता है। ममताके कोई हाथ पैर नहीं हैं। कोई पौद्गलिक स्वरूप नहीं

है। केवल एक कल्पनाकी बात है और देखो हमारे घरमें हमको क्लेश नहीं होते कि यह मेरा घर है। दूसरोंके घरमें दूसरोंको क्लेश नही होता कि यह मेरा घर है। पर कैसा रंग चढ़ा हुआ है कि बिल्कुल पराई चीजें, मगर जो जहाँ पैदा हो गया वहाँ भी ऐसा रंग चढ़ा कि यह सर्व वैभव है, है वहाँ कुछ नहीं। केवल अकेले ही नाना हो गये। सो भाई पदार्थ तो सब भिन्न हैं, उनसे छुड़ा लेना कुछ नहीं है। केवल अपना समता परिणाम छुड़ाओ और सुखी होओ।

किञ्चिदिष्टमनिष्टं न कल्पना क्लेशदो भ्रमे।
नाहमज्ञानरूपोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१३॥

संसारमें न कोई इष्ट है न अनिष्ट है तो किसे आप इष्ट कहेंगे? जो पदार्थ रुचे वह मेरे लिए इष्ट है और जो न रुचे वह अनिष्ट है। तो इष्ट और अनिष्टमें केवल कल्पना है। कोई पदार्थ इष्ट अनिष्ट नही होते हैं। आपके घरमें जो जीव पैदा हो गये उनको आप इष्ट मानने लगे और जो जीव दूसरेके घरमें पैदा हो गये उनको अनिष्ट मानने लगे। तो जिन जीवोंके अज्ञानकी दशा पड़ी है, जिन जीवोंके मोहकी प्रकृति पड़ी है उनके इष्ट अनिष्टकी बुद्धि है।

ज्ञानकी जो वृत्ति है उसके अलावा और जितने भी परिणाम हैं वे सब स्थूल या सूक्ष्म आशारूप परिणमन आदि जिनमें हम फँसे हैं वे सब अज्ञान हैं। आत्महितकी पद्धति छोड़कर घरका जो ज्ञान है वह अज्ञान है, कुटुम्बका ज्ञान अज्ञान है और अन्यत्र ज्ञान भी अज्ञान है, क्योंकि उसमें विवादकी भावना रहती है, अहंकारकी भावना रहती है, कितने ही पुरुष ऐसे होते हैं कि वे ऐसा अध्ययन करते हैं कि हम किसी विवादमें हार न जायें। चार आदमियों में अपनी शान बनी रहे। यह तो महा मूढ़ता है। चार आदमियोंने अगर जान लिया कि ये कुछ नही रहे तो उनके जान लेनेसे क्या तुम्हारी सारी दुनिया बिगड़ गयी? किन्तु ज्यों ज्यों कुछ विकास होता जाता है त्यों-त्यों राग आत्मामे घर करता जाता है। जो देहाती लोग होते हैं। उनको अपनी शानकी परवाह इतनी नहीं रहती है। मगर यहाँ जो धनमें बढ़ गये, त्यागमें बढ़ गये। उनकी अगर कोई बात बिगड़ती है तो वे कहते हैं कि मुंह दिखानेके काबिल नहीं है। वे समझते हैं कि चार आदमियोंमें मेरी बात बिगड़ गयी है। ऐसी जो भावना बनी है यह बड़ी विकट मूढ़ता है।

भैया! किसीको अपना इष्ट मान लिया, अपनी पोजीशन रख ली तो उससे क्या होता है? पोजीशन बनानेमें यह भाव होता है कि हम लोगोंमें उच्च कहलावें पोजीशन ऐसे परिणामों वाला है। क्या पोजीशनके कोई हाथ पैर होते हैं? सो ये सब कार्य अज्ञानरूप है।

तो यह जीव अपने आप ही आपत्तियोंमें पडता है। आपत्तियोंमें डालने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। मेरे औपाधिक विकार, संयोगाधीन दृष्टिमें स्वयंको दुःखमें डालने वाला है। किसी पदार्थमें यह शक्ति नहीं है कि मुझे दुःखी कर सके। मैं ही अपनी कल्पनाएँ करके दुःखी हो जाता हूं। बाहरी पदार्थ निमित्त बन जाते हैं।

वास्तवमें बाहरी पदार्थ निमित्त नही है, निमित्त तो कर्म है। बाहरी पदार्थ नोकर्म कहलाते हैं। वे आश्रयभूत रहते हैं। बाह्यपदार्थोंमे हम राग करें तो बाह्यपदार्थ हमारे निमित्त बन जाया करते हैं। जैसे गुहेरा काटता है तो काटनेमें जो उसको जोर पड़ता है तो उसमें वह मूत्र कर देता है। लोकमें प्रसिद्धि है कि अगर गुहेरा काटकर मूत्र न करे तो आदमी नही बचता है। पर गुहेरा किसीको यह जानकर नही काटता है कि मेरे काटनेसे वह मर जाये, सो मैं लेट जाऊँ। यह तो उसका स्वभाव ही है। अगर उसे मूत्र करना हैं तो वह किसीका भी काटकर मूत्र करे। किसी लकडी, ईंट, पत्थर आदिको भी वह काटकर मूत्र कर लेगा। यह तो उसका स्वभाव ही है। इसी तरह इस जीवमें जब रागभाव आते है तो उसके रागोंकी बुद्धि ऐसी है कि पुद्गलोमे बाह्यपदार्थोंका असर बनाकर अपने राग विकार किया करता है। कोई परपदार्थोंमें रागद्वेषकी ऐसी बात नही है। इसके ही भीतर जब रागद्वेषोके विकारोंकी परिणति होती है तब जाकर बाह्य पदार्थोंमें इष्ट अनिष्टकी बुद्धि बनाता है। निमित्त है कर्मों का उदय। जिस कालमें कर्मोंका उदय होता है उस समय इसके हुमुक पैदा होती है। जो भीतरमें हुमुकका विकार है वह विकार इस प्रकार बनाया है कि किसी पदार्थको आश्रयभूत बनाया तो हम और आप जब भी खोटे परिणाम करते हैं तो बाह्यपदार्थोंको आश्रयभूत बनाकर करते हैं। ऐसा नही है कि बाह्यपदार्थ स्वयं विकार उत्पन्न करते हैं। बाह्यपदार्थ स्वयं विकार उत्पन्न करें ऐसी योग्यता उनमें नही है। बाह्यपदार्थ आश्रयभूत हो जाया करते हैं। आश्रयभूत होनेमें और निमित्त होनेमें अन्तर है। आश्रयभूतमें अविनाभाव नही रहता है। इनमें अविनाभाव नही है कि चीज जैसे ही आ जाय तो उसमें विकार करना ही पड़े। कर्मों का उदय एक निमित्तभूत है। कर्मोंका उदय जब आ जाय तो उस कालमें जीवमें विकार उत्पन्न होते हैं। तो बाहरी पदार्थोंसे अपना सुधार बिगाड न समझिये। हम ही जब अपने को बुरा बनानेके लिए उठते हैं तब बफूड़ते हैं दहीकी तरह तो बाहरी पदार्थ तो हमारे विकारोंके आश्रय बन जाते हैं।

भोगश्रमेण दुःखानि भ्रान्त्या भुक्त्वा हतं जगत्।
आयापायेऽपि तापोऽनः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१४॥

भ्रमसे भोगका परिश्रम करना, दुःखका भोग करना, हाय! यह जगत् बरबाद हुआ,

और तो क्या ? भोगोंमें संताप और विनाश उत्पन्न होता है। भोगोंके साधक क्या हैं ? रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द। रूप, रस आदिक पुद्गल द्रव्योंमें पाया जाता है। तो उन पुद्गल द्रव्योंका इकट्ठा करना यह भोगोंकी कमाई है। ये पुद्गल इनको कोई कमाता है तो कमाने वालोंसे पूछो कि उनको कितना कष्ट उठाना पड़ता है ? कमाई हो जाय तो कष्ट उठाना पड़ता है, रक्षा करते करते भी नष्ट हो जाय तो कष्ट उठाना पड़ता है, कमाईकी चेष्टा करते भी कष्ट हो जाता है। नष्ट हो जानेके दिनोंमें भी कष्ट, स्वागत करते समय भी कष्ट, विदाईके समय भी कष्ट, जिसके मूलमें ही कष्ट है उसको ही भोगा जाता है और उससे ही उन्हें संतोष होता है। भोग्य पदार्थ भोगनेमें नहीं आते। आत्मा तो अमूर्त है। अमूर्त आत्मा क्या भोग करे ? इस आत्मामें दूसरे पदार्थोंका प्रवेश ही नहीं है, छुवा ही नहीं है। भोग्य पदार्थ तो पुद्गल हैं। आत्मा तो अमूर्तिक है। अमूर्तिक आत्मा मूर्तिकका स्पर्श ही नहीं कर सकता है। भोग्य नहीं होता तो अपने उपभोगमें श्रद्धा बनाता है और जीव स्वयं अपने संकल्प विकल्पों में महान् परिश्रम करता है और उन्हीं क्लेशोंको सुख समझता है। ज्ञानकी ज्ञानमें स्थिरता हो, यह तो है शुद्ध आनन्द। इस ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव हो यह तो है सुख। खुद बात है कि यह जगत् दुःखमें भी रहकर सुख समझे। यदि यह दुःखोंमें रहकर दुःखको ही समझता रहता है तो सुखका मार्ग इसको निकल आता है। दुःखमें ही सुख मान लिया तो सुख का मार्ग कहाँसे मिल जाय ? यह जीव रागादिकके परिश्रम करता रहता है। जिसको मान लिया कि यह मेरा परिवार है, मेरा भाई है यह कुछ नहीं। उससे बढ़िया-बढ़िया जीव पड़े हैं। अन्यके लिए इसका तन, मन, धन, वचन नहीं खर्च होता है। जिनको मान लिया कि ये मेरे हैं, इसके लिए मौका पड़ जाय तो, बीमार हो जायें तो जो कुछ है वह सब लगा दें तो और यदि कोई पड़ोसी बीमार हो जाय तो उसके लिए कुछ नहीं है। धर्मात्मा पुरुष भी अगर बीमार हो जाय तो धर्ममें ममता है सो थोड़ा बहुत उसमें खर्च कर देते हैं, पर दूसरोंके लिए खर्च नहीं करते हैं। कैसे ही धर्मात्मा पुरुष हों, कैसे ही साधु हों, पर बच्चोंमें जिस तरहसे खर्च करते हैं उस तरहसे उन पर न खर्च करेंगे। वह तो ऐसे हैं जैसे आटेमें नमक। धर्मात्मा पुरुष यदि कोई बीमार हो जाय तो उसके लिए भी जो खर्च करेगा वह अपनी प्रशंसाके लिए करेगा। अरे प्रशंसा क्या है ? यह तो बुरे कर्मोंकी बात है। ज्ञानी और धर्मीजन जो भी हैं उनका उपकार करना धर्मके लिए अपना प्रथम कर्तव्य है। और अगर ऐसी भावना आती है तो धर्मके लिए सब कुछ ठीक है। अगर कुटुम्ब परिवारमें ही बुद्धि रही तो धर्मकी उपेक्षा है। सो जिस कुटुम्बके लिए तुमने अपना तन, मन, धर्म समर्पण कर दिया है उससे सुख मिलेगा, ये सब झूठ बातें हैं। उससे सुख न मिल सकेगा। खुद ही मोह

करके, खुद ही कल्पना करके खुदको बरबाद किया करते हैं। इससे तो आत्मीय सुख नहीं मिल सकता है। और यदि धर्मात्मा जनोंकी सेवामें तन, मन, धन वचन लगा दें तो उन्हें शांति मिलेगी। पर मोहका ऐसा प्रबल उदय जगजनोंपर छाया है कि भोगोंके ही सुख भोगते हैं और कुटुम्ब परिवार आदिकके भोग आश्रयभूत हैं जिसके कारण उनके लिए सब कुछ करनेको तैयार हैं। यह सब दुर्दशा अपने आपके अश्रद्धानसे है। मैं तो चैतन्य चमत्काररूप होनेके कारण भोग विषय रागादिक भावोंको दूर करके अपने चैतन्यभावोंमें ही रहूँ और इस विधिसे अपने लोग सुखी हों। अपने सुखके लिए दूसरोंमें कोई आशा रखना ऐसी मूढ़ता पर भगवान् ही हंस सकेगा, पर संसारके जीव न हँस सकेंगे। बेवकूफी पर ही हंसी आती है। अपने लोगोंको तो अपनी बेवकूफी दिखती नहीं। वह भगवान् ही सब कुछ देखता है सो वह ही हंसी कर सकेगा। भगवान् हमारी आपकी बेवकूफी पर ही हंसते हैं। सो यह बेवकूफी भी है मोहवश। बिलकुल कोई मोह छोड दे तो उसको शांति है। इस संसारमें रुलने वाले प्राणियोंमें विवेक आना बहुत कठिन है।

अतेऽप्यह त्वमज्ञत्वं स योगी ज्ञे न दुःखभाक्।
प्रीतिर्मे नास्तु कस्मिंश्चित्स्याँ स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७–१५॥

व्रतमें भी यदि अहंका परिणाम है तो वह अज्ञान है। तपस्या करना, परोपकार करना, धर्म साधना करना, इनमें यदि मैं अहंबुद्धि करता हूं तो यह अज्ञान है, बड़ी ऊँची तपस्या भी कर ली, बडे अच्छे-अच्छे काम कर लिए, पर यदि अहंभाव आ जाय कि मैं तपस्या करता हूं, मैंने यह किया, मैंने वह किया, ऊँचे-ऊँचे व्रत मैंने ले रखे हैं, ऐसा श्रद्धान बन जाय तो वहाँ मिथ्यादर्शन है। श्रद्धान तो यह होना चाहिए कि जैसा आत्माका सहज स्वरूप है वैसा ही देखें। जैसे लोकमें कहते हैं कि हमारा तो खानेका काम है, हमारा तो संसारमें माया बढानेका काम है सो नहीं। हमारा आपका तो मुख्य काम आनन्द बढ़ानेका है। हमारा तो आनन्दका काम है। सो आनन्द तो सबसे निराले अपने शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूपमें मिलता है तो अन्य प्रकारकी बुद्धि क्यों करते हो? यदि वह ज्ञानस्वरूप मिल गया तो सारे संकट मिट गये। लोग कभी-कभी सोचने लगते हैं कि अगर हम अकेले रह गये तो क्या करेंगे? अरे कोई क्षण ऐसा आ जाय कि अकेले रह जावो तो इससे बढ़कर और वैभव क्या होगा? सो अकेलेपनकी बात भी सोचकर लोग दुःख मान लेते हैं। और अकेले तो सबको होना है। यह जगत् बड़ा गोरखधंधा है। जितने घरके लोग हैं उनमेंसे अनेक अपने जीवनमें मरेंगे। सो जब वे मरेंगे तब रोवेंगे। अन्य लोग समझाने आयेंगे तो फिर ये महीनों रोते रहेंगे। मरकर तो अकेले ही जायेंगे। क्या ऐसा भी कोई घर है जिसमें मरनेका सिलसिला न हो। प्रीति

करते हो तो वियोग होगा। वियोग होगा तो क्लेश होगा। बुद्धिमानी तो यह है कि मिले हुए समागममें भी प्रीति न करो। केवल ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहो, अनुराग न करो, आसक्ति न करो, तो बाहरी पदार्थोंमें जिनसे मेरा सम्बन्ध नहीं है, मेरेमें जिनका अत्यन्ताभाव है, ऐसे पदार्थोंमें यदि अहं भाव हो, अहंकारका आश्रय हो तो उस मूढ़ताका कहना ही क्या है। वे योगी नहीं हैं, वे ज्ञानी नहीं हैं जो अपने इन व्रतादिक परिणामोंमें भी अहंका भाव रखते हों। वे दुःखके पात्र हैं। आत्मानुशासनमें लिखा है कि ज्ञान ध्यानमें आकर मुनि महाराज सोचते हैं कि मैंने बड़े-बड़े काम किये, तपस्या की, सामायिक किया, ये सब अज्ञानकी चेष्टाएँ हैं। ऐसा जिन मुनिराजका परिणाम है, अभी सोचो कि सामायिकमें बैठे थे, ज्ञान ध्यान किया था तो ऐसा सोचना भी अज्ञानकी चेष्टा है। जो यावन्मात्र आश्रयभूत हैं वे सब अज्ञान माने गये। निर्विकार ज्ञानका जो शुद्ध विकास है उसको ज्ञान माना गया है। अब आप समझ लें कि अज्ञानका कितना गहरा रंग लोगों पर चढ़ा है। सब अपनी-अपनी चेष्टाओंसे समझते हैं कि हम ज्ञानका काम कर रहे हैं। कोई अपनेको मूर्ख नहीं समझता। अपनेको कोई नहीं समझता कि मैं गलत हूँ। जो चेष्टा करते हैं उसमें अपना विवेक समझते हैं कि मैं सही मार्ग पर हूं। सही मार्ग कैसा है ? सही मार्ग तो वह है जहाँ किसीका ध्यान नहीं रहता है। केवल शुद्ध ज्ञानप्रकाश ही सामने रहे। जो व्रतादिककी चेष्टाएँ सामने हैं वे सब अज्ञानकी चेष्टाएँ हैं। जो चेष्टाएं अरहंतमें होती है वे ज्ञानकी चेष्टाएं हैं। जब ज्ञानकी चेष्टाएं होती हैं तब किसी परपदार्थका उपयोग नहीं रहता है। मन, वचन, कायकी चेष्टाएं नहीं रहती हैं। ऐसी निर्विकल्प दशाको ज्ञान परिणमन कहा गया है। सो मेरी किसी भी पदार्थसे प्रीति न हो, जिससे सब भवोंमें भी आत्मीयताका भाव होता रहता है। एतावन् मात्र मैं हूं, जाननमात्र ही मेरा परिणाम है, जाननमात्र ही मैं हूं। जब ऐसी भावना बनी रहती है कि मैं साधु हूँ, मैं मुनि हूँ, मैं त्यागी हूं, यह सब अज्ञानका परिणमन है। यह भाव क्यों नहीं आता कि मैं सबसे निराला एक चैतन्यमात्र सत् हूं। तुम कौन हो, ऐसा पूछनेपर यह उत्तर आये कि मैं तो एक चैतन्यस्वरूप वस्तु हूँ। लेकिन जिनका यह श्रद्धान रहता है कि मैं तो त्यागी हूं तो पद-पदपर क्रोध आने लगता है। मेरी समाजमें अच्छी पूछ नहीं हुई, मैं तो त्यागी हूँ, यह विचार बनाने से ही क्रोध आ जाता है। कोई बराबरमें बैठ गया। यह सोचा कि मैं तो त्यागी हूं। मेरे बराबरमें कैसे बैठ गये ? बस क्रोध आ जाता है। बोलते हैं कि तमीज नहीं है जो कि बराबरमें बैठ जाते हो। अरे तमीज तो उनके नहीं है जो अपनेको यह सोचते हैं कि मैं त्यागी हूं। ऐसा परिणाम रहे कि मैं तो एक शुद्ध ज्ञानमात्र हूं। जानन ही मेरा कार्य है। इसके अतिरिक्त सब अज्ञान है सो मैं ज्ञानमय परिणामको दूर करूं। जो यह संस्कार रहता है कि मैं मुनि

हूं, त्यागी हूं, यदि यह संस्कार है तो आत्माके चैतन्यव्यवहारसे अलग कर देता है। इस कारणसे ऐसा परिणाम, ऐसा व्यवहार भोग नहीं है वह तो वर्तमानमें भी विकारका खेद कर रहा है, परिश्रम कर रहा है। कितने खेदकी बात है कि परपदार्थोंमें भाव करनेसे निर्विकल्प का मार्ग यह जीव नहीं ढूंढ पाता है। हे चैतन्यप्रभु! तेरे दर्शन हों तो मेरा सारा भ्रम मिटे। तेरे दर्शनके बिना मैं चाहूँ कि किसी परमानन्दकी स्थितिको मैं पहुंच लूं सो ऐसा नहीं हो सकता है। सो अब मेरी किसी भी परपदार्थसे प्रीति न हो, प्रीति हो तो ऐसा दर्शन करने की प्रीति हो कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ। जानन मेरा कार्य है और जानन ही मेरा सर्वस्व है। सो मैं अपने आपमें लीन होऊं और सहजमें सुखी होऊं।

कातरो लोकदृष्टयाऽस्मि स्यां लोका न सहाटिनः।
मोहस्वप्नमिदं दृश्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१६॥

मैं लोककी दृष्टिसे कायर हूं तो लोक मेरे साथ तो कुछ भ्रमण करने वाला है नहीं अर्थात् यदि मैं अपने स्वरूप रमणरूपी धर्ममे लगता हूं तो लोगोंको ऐसा प्रतीत होता है कि ये कायर है। कुछ करते नहीं बना और करते नहीं बना तो त्याग ले लिया। विकल्पोंसे लोग मुझे कायर मानते हैं तो मानो। वे लोग मरे साथ भ्रमण करने वाले तो नहीं है। न मेरे साथ आये है और न मेरे साथ जायेंगे। फिर यह सब मोहका स्वप्न है। जो कुछ दिखता है कुछ समयके लिए है, खिर जायगा और जब तक ये सामने है तब तक भी ये मेरे किसी काममे आनेके नहीं है, क्योंकि परपदार्थ अपनी स्वरूप सत्ता रखते है। किसी पदार्थका कोई पदार्थ स्वरूपतः दखल नहीं है। निमित्त तो भले ही हो जाते है, पर अपना स्वरूप नहीं सौंप देते है। अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपना ही रहता है। तो ये सारे दृश्य मोहके स्वप्न हैं। जैसे नींदमे जो स्वप्न देखते है वह यथार्थ तो नहीं है, किन्तु उसकी भित्ति केवल कल्पना पर है। इसी प्रकार जो कुछ ये सब दिखते है यद्यपि वे सब अपने आपमे अपने पर्याय रूप हैं, पर उनके लिए मेरी तो कल्पनामात्र है, क्योंकि किसी परसे कुछ मुझमें सम्बन्ध नहीं है। मैं अपने गुणोमें हूँ, अपने ही गुणोंमे परिश्रम करता हूं, परका मैं कुछ काम नहीं करता। मैं अपना अपने आपमें हूं—ऐसा ही जानता हुआ मैं अन्य कुछ परिश्रम न करनेकी श्रद्धा रखकर अपने द्वारा अपनेमें ही अपने विकासके अनुसार गुप्त और सुरक्षित रूपसे अपने आपको पोषणमे लेता हूं तो लोग मेरे मन, वचन, कायका बाहरी स्वरूप देखकर ऐसा कह देते हैं कि ये कायर हैं। मेरा तो अपना अखण्डस्वरूप है। मैं अपने स्वरूपास्तित्व मात्र हूं। मैं अन्य कुछ नहीं हूं। लोग मेरे साथ न आये और न जायेंगे। यह सारा मोहका स्वप्न है मैं दूसरों के कहनेमें आकर, दूसरोंके कहनेका प्रतिभास अपनेमें विस्तार कर मैं अपनेको कायर क्यों

बनाऊं, मोहांधकारमें क्यों पड़ूं ? क्योंकि जो मेरेमें प्रत्यक्षीभूत स्वरूपका अनुभव है बस यही मेरे ज्ञान और सुखका रूप है। सो अपनी सब अवस्थाओंका जिम्मेदार मैं ही हूं। मैं सर्व लोगोंका निरीक्षण आदि सबको त्यागूं अर्थात् लोग मुझे अच्छा कह दें, इस भावनाको त्यागूं, क्योंकि उनके अच्छा कह देनेसे मेरेमें सुधार क्या होगा ? आखिर वे भी तो मोही जीव हैं जो सुख दुःखके भोगने वाले हैं। खुद मोही कलंकित जीवोंके अच्छा कह देने मात्रसे यहां मेरा कुछ हित नहीं हो जाता। हित तो मेरा भगवान्‌की उपासनासे ही होगा। भगवान् तो एक प्रकाशक है। जैसे सूर्य है उसकी मुद्रा हमें सच्चा मार्ग बतानेका कारण है। प्रकाश तो उस सूर्यके निमित्तसे मिला, पर चलना तो हमारा ही काम है। जैसे सूर्यके निमित्तसे हमें प्रकाश मिला और चलना हमारा काम है उसी प्रकार हमें भगवान् जिनेन्द्रदेवका प्रकाश मिला कि सर्व पदार्थ स्वतंत्र-स्वतंत्र हैं। अब उस प्रकाशको लेकर हम लाभ उठायें और उस प्रकाशमें लाभ क्या है ? मैं विषय कषायोंको त्यागकर अपना ज्ञानमय परिणमन बनाकर शांत होऊं।

स्व बाह्ये न हित किञ्चित्कि कल्पे शृणवानि किम्।
जानानि किं च पश्यानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१७॥

अपनेसे बाह्यमें कहीं कुछ हित नहीं है। फिर मैं क्या सोचूं, क्या सुनूं, क्या कल्पनाएं करूं और क्या देखूं ? मैं तो अपने आपमें अपने लिए सुखी होऊं। अपने स्वरूपसे बाहर अपना कहीं कुछ भी हित नहीं है, हित तो इसमें ही मात्र है कि बाहरसे दृष्टि हटाकर, अपने शरीरसे भी दृष्टि हटाकर, अपने आपको किसी पर्याय, किसी मुद्रारूप न मानकर केवल अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप ही अपनेको मानें तो इस ही श्रद्धामें, इस ज्ञानमें मेरा हित है और अपने इस उपयोगके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकारकी कल्पनाएँ करना व्यर्थ है। बाह्यका आश्रय बनाकर रहनेमें मेरा हित नहीं है। हित तो कषायोंमें है ही नहीं। अपने आपको पर्यायोंमें अहंकारका भाव न हो। यहां तक कि यदि अपने आपमें मैं साधु हूं, मैं मुनि हूं, मैं क्षुल्लक हूं इस प्रकारका यदि प्रत्यय रहे तो वहां भी शांतिका मार्ग नहीं है और इस श्रद्धामें तो सम्यक्त्व भी नहीं है। जो कुछ मलिनताएं दिखती हैं वे सब कषायोंके परिणाम हैं। इन कषायोंका फल तो आकुलताएं ही हैं। मैं तो स्वरूपतः ज्ञायकमात्र हूं। मैं ज्ञायकस्वरूप अपने आपमें अपने आपकी श्रद्धा रखूं तो मुझे शांति प्राप्त हो सकती है। अपनेसे बाहरमें कोई भी मेरा कुछ हित नहीं है। फिर मैं किसे सोचूं ? किसको जानूं ? मैं तो अपने आपमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊं। मेरा हित तो मात्र इसीमें है कि मैं ज्ञाता दृष्टा रहूं, अपने आपमें इष्ट और अनिष्टकी बुद्धि न रखूं। मैं छोटा हूं, मैं बड़ा हूं इस प्रकारकी कल्पनाएं न हों। अपनेको ज्ञानमात्र देखकर ऐसा ही परिणाम बने कि जो चैतन्यस्वरूप है वही मैं हूं और वही चैतन्य-

स्वरूप ये हैं। अपनेसे बाह्यपदार्थोंमें लगनेसे मेरा कोई हित नहीं है। फिर मैं क्या सोचूं, क्या जानूं, क्या देखूं ? किसी परपदार्थके सोचनेमें कलुषता ही होती है। मिलता कुछ भी नहीं है। तो मेरे सोचनेमें परपदार्थ मत आओ। यदि ऐसी स्थिति बन सकती है कि मेरे सोचनेमें कोई पदार्थ न आये और अपनेको सोचूं कि मैं ज्ञानमात्र हूं तो मैं सुखी हूं। किसीकी बातें सुननेमें कलुषता ही है। अपने ज्ञायकस्वभावमें हमारी इतनी अधिक रुचिपूर्वक दृष्टि हो कि हमारा किसी भी पदार्थके सोचनेको मन न चाहे। मैं किसे सोचूं ? किसकी सुनूं, किससे कहूं और किससे बोलूं ? बोलनेसे भी कुछ न कुछ अपने उपयोगमें मलिनता आती है, परकी ओर दृष्टि होती है, फिर भी बोलता हुआ मैं जितना अपने आपका ध्यान रखता हूं और जितना मैं परकी ओर लगता हूँ उतना ही यह मैं आत्मा परकी ओर हूं। जो कुछ भी कहा उसका अर्थ अपने आप पर घटाओ। जब भी कोई उपदेश देवे, धर्मकी बात कहे तो उसको अपने आपमें घटाओ। यदि वस्तुस्वरूपकी विवेचना करो तो अपने आपका वस्तुस्वरूप झलके, इस प्रकारकी स्थिति बने तो ऐसी पद्धतिसे वस्तुस्वरूपकी विवेचना करो कि मेरे करने लायक जो है उसे मैं कर सकूं, मुझमें जो वृत्ति है उसको देखनेकी शक्ति बढ़ा सकूं, इस प्रकारकी भावनासे दूसरोंके चरणानुयोगकी सत्ता द्वारा कोई भी कुछ कहे तो उस कहनेसे क्या धर्म हुआ, क्या अधर्म हुआ ? यह जानकर अधर्मसे तो दूर हों और धर्ममें लगें। अपनी वृत्ति रखें और ऐसा ज्ञान जगायें। इस पद्धतिसे प्रथमानुयोगका उपयोग है। प्रथमानुयोगका उपदेश देते हुए कर्मस्थितिकी जो रचना है उसका वर्णन करें तो उससे भी अपनेमें कुछ शिक्षा लेवें। कैसा यह लोक है ? मैं इस लोकमें परपदार्थोंपर अनन्त बार जन्म ले चुका हूं और मरण कर चुका हूं। इस जगत्में जो वैभव है, उसे अनन्त बार भोग चुका हूं। इस प्रकार दृष्टिसे इस लोककी विवेचना करें और अपने परिणामोंके सुधारकी दृष्टिसे अपने परिणामोंका वर्णन करें। यों जब हम बोलें तो इस प्रकारके साधन सहित बोलें। आत्मत्वकी बात पर जो साधक हो उसको ही सुनूँ, उसे ही कहूं, फिर सुनता कहता हुआ भी ऐसा विश्वास बनाऊँ कि ऐसा सुनना और ऐसा कहना मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा हित नहीं है। मैं इस श्रद्धासे विचलित न होऊँ। इस प्रकार मेरेसे बाहर मेरा हित नहीं है। मैं किसे जानूं, किसकी सुनूं ? सुनने जाननेमें परपदार्थ आते हैं तो आवें; परकी ओर आनेमें मुझे क्या मिलता है ? मैं तो एकस्वरूप हूं। मैं किसे देखूं ? मैं तो अपने स्वरूपको जानकर अनुभव करूं और अपने आपको देखकर स्वयं सुखी होऊं।

देहोऽस्तु वा न को लाभः का हानिर्मे तु शान्तिदा।
ज्ञानदृष्टिः सदा भूयास्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१८॥

देह हो अथवा न हो। इससे मेरा क्या लाभ है ? मेरी तो शांति देने वाली ज्ञानदृष्टि सदा रहे। जितने भी क्लेश होते हैं वे सब क्लेश केवल अपने कषायोंसे हैं। बाह्य पदार्थोंसे कोई क्लेश नहीं, क्योंकि बाह्यपदार्थ क्लेश करनेमें समर्थ ही नहीं होते। वे तो अपने परिणमनमें निरन्तर लग रहे हैं। मुझे बाह्यमें करनेका कुछ अवकाश ही नहीं, और कर भी नहीं सकते। इस तरहसे मैं जो कुछ करता हूं अपनेमें करता हूं। अपने ही परिणमनमें निरन्तर लगा रहता हूं। मेरेमें तो अवकाश ही नहीं कि मैं किसी पदार्थको देखूं, किसी पदार्थमें कुछ करूं और मैं कुछ कर भी नहीं सकता। इस कारण बाह्यपदार्थोंमें कोई दृष्टि न दे। देह रहे तो क्या, अपनेमें अखण्ड स्वरूपास्तित्व पर इतना दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि मैं सबसे पृथक् अपनी प्रीतिमें रहूं। देह अपने पास रहे तो क्या, न रहे तो क्या उससे कुछ लाभ हानि नहीं हो सकती प्रत्युत हानि हो सकती है। देहकी ओर दृष्टि जाय तो देहको मान लिया कि मैं हूं तो इसमें भ्रम और रागका आश्रयभूत हो जाता है। इसलिए देहके सम्बन्धमें हानि तो अनेक हैं, पर देहके होनेपर इस आत्माको लाभ कुछ नहीं है। मुझे तो आत्मदृष्टि मिले जो कि शांति देने वाली है। देहके होनेसे तो सब भूख प्यास आदि उत्पन्न होती है। इस शरीर पर दृष्टि जानेमें आत्मविकार होता है और वह आत्मविकार दुःखका ही कारण है। यह देह न रहे तो इसमें ही शांति है। देहके उपयोगमें या यथातथा वृत्तिको देखकर आत्मसात्में दुःखी होना केवल मोहविकारमें एक प्रलाप है। यदि इस देहमें दृष्टि न रहे तो यही शांतिकी प्रबल दायिका है मेरी तो ऐसी ज्ञानदृष्टि ही सदा रहे। यही ज्ञानदृष्टि ही हमें शांति देने वाली है। ऐसी दृष्टि उत्पन्न हो, ऐसा भेदविज्ञान उत्पन्न हो जिससे यह स्पष्ट अनुभव हो सके कि यह मैं ज्ञानघन अविनाशी अत्यन्त निर्मल सहज आनन्दस्वरूप हूं। इस ब्रह्ममें ऐसी दृढ़ प्रतीति रहे जिससे परके लक्ष्यसे बाहर होकर मैं अपने आपमें सहज स्थान पाता हुआ अपने आप सुखी होऊं।

न मे द्वन्द्वो न मे संगः सर्वकृत्यं हि मत्पृथक्।
कस्मै स्यामाकुलोऽद्वैतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-१६॥

मेरा द्वन्द्व नहीं। द्वन्द्व कहते हैं दो को। मैं दो नहीं हूं, मेरे दो कुछ नहीं हैं, मैं स्वयं हूं। मेरेमें मैं ही हूं। मेरेमें द्वन्द्व नहीं, मेरा किसीसे सम्बंध नहीं। ये सब कार्य इससे पृथक् हैं। जितना जो कुछ है वह सब इससे पृथक् है। अपने आपमें ऐसा प्रज्वलन बनाओ, ऐसा अपने आपको नम्र और विनीत बनाओ, अपने आपमें ज्ञानानन्दस्वभाव आत्मप्रभुकी उपासना में अपने आपको इतना नम्र बना डालो कि मान कषाय आदिका कुछ भी उदय न हो सके ऐसी स्थितिमें यह आत्मार्थी पुरुष अपने आपमें बड़ी सूक्ष्मतासे प्रवेश करता हुआ ऐसी स्थिति

में प्रवेश पा लेता है कि जिसमें एक सहज आनन्दस्वरूपका अनुभव होता है। ऐसा यह मेरा अपने आपके अनुभवका चमत्कार है। मेरा द्वन्द्व नही है। मेरा परिग्रह सम्बन्ध नही है। बाह्यके सब कार्य मुझसे पृथक् हैं। फिर किसलिए मैं आकुल होऊँ? अकेला यह मैं आत्मा अपनेमे अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

मैं तो एक स्वयं निर्मल प्रकाशमात्र अखण्ड चैतन्यतत्त्व हूं। यदि बाह्य चीजें कुछ मेरी परिग्रह हो जायें तो इसका अर्थ यह निकलेगा कि मैं जड़ बन गया, क्योंकि बाह्यपदार्थ जो द्रव्यवान हैं वे पदार्थ मेरे हो गये। क्योंकि जिसका जो होता है उसमें वह तन्मय होता है। पुद्गलका रूप गुण पुद्गलमें तन्मय ,है। इस तरह यदि पुद्गल मेरे हो जायेंगे तो मैं पुद्गलमें तन्मय हो जाऊंगा। यह हो नही सकता है। परपदार्थ अपना अस्तित्व लिए हुए हैं। यदि बाह्यपदार्थ मेरे परिग्रह होते है तो ऐसा नही हो सकता है। में तो ज्ञानस्वरूप हूँ। सर्वपदार्थ मुझसे पृथक् हैं। जगत्के जीव सब मुझसे पृथक् हैं। फिर यहाँ कौन ऐसा पदार्थ है जिसकी प्रीतिके लिए अपनेको केवल व्याकुल करूं। आत्माको कोई पदार्थोंमे हित नही है। तो फिर किस पदार्थसे यह मैं आत्मा आशा रख सकूं। मैं सबको छोड़कर केवल शुद्ध अत्यन्त हल्के भाररहित, जहाँ तनका भी भार न हो, ऐसी शुद्ध ज्ञानानन्दद्दष्टिरूप मेरी स्थिति हो सकती हो तो मैं सुखी हो सकता हूं। इसके अतिरिक्त कुछ भी सोचें, कुछ भी विकल्प करें उससे तो मेरी सुखकी स्थिति आ ही नहीं सकती। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं, सर्व पदार्थ मुझसे अत्यन्त पृथक् है। केवल अपने आपको चेतूं कि मैं अपने लिए चैतन्य हूँ, सर्व रागादिक भावोसे शून्य हूं। यदि अपने आपके स्वरूपका विशद दर्शन करना है तो अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि करो। अपने और भगवान्के स्वरूपमें दृष्टि करो तो अन्तर इतना ही है कि भगवान्का स्वरूप विकसित हो गया है और मेरा जो स्वभाव है वह विकल्पोंके कारण तिरोहित हो गया है। यदि मैं अपने स्वरूपकी भावना करूँ तो ये रागादिक दूर होंगे और वह समस्त स्वभाव विकसित हो जायेंगे। तो मेरे स्वरूपमें गुप्त स्वरूपमें उपस्थित स्वरूपके विकास स्वरूपकी तुलना करें तो हमें अपने आपके स्वरूपका भान हो सकता है। सो ऐसे अनन्त चैतन्यस्वभावकी दृष्टिके प्रसादसे मैं अपने आपके महान् दर्शन करूँ।

इस ज्ञानानन्दमात्रके अनुभव में जो उपस्थित होता है वह अनुभव उन अनन्त भवोंके कर्मोंको काटनेमें समर्थ है और बाह्य क्रियाए शरीरकी, मनकी, वचनकी क्रियाएं—ये भेद कषायोंके उदयमें उत्पन्न हुआ करते है। जो ज्ञानप्रकाश है उस ज्ञानप्रकाशके कषायका उदय आवे तो उस कषायमे उस प्रवृत्तिमे भी ज्ञान कषाय सावधान रहता है और कषाय अपने आपकी ओर झुका रह सकता है—यह परखना चाहिए। किन्तु बाहरमें मै अकेला कैसे

उठाऊं ? इस तरहके ध्यानसे हम रत्नत्रयमें नहीं पहुंच सकते, किन्तु ज्ञानप्रकाशी अपनेको इतना सावधान जानते हैं कि यदि उनके कषायोंका उदय आता है तो कषायोंके उदयसे मन, वचन, कायकी चेष्टाएं बनती हैं । ये चेष्टायें कैसे बनती हैं ? यह देखना चाहिए । यह देखनेसे ज्ञानके प्रति आदर रहेगा । यदि ऐसा न देख सके तो आत्माके आनन्दमें विकासगुणकी दृष्टि नहीं कहला सकती है । तो सब कुछ अपने आपमें देखो । अपने आपसे बाहर अपना कुछ न निरखें, अपनेसे बाहर अपना कुछ है ही नहीं इस जगत्में । भगवान् जिनेन्द्रदेवने आत्मज्ञान किया हैं, सो वे इस अवस्थामें पहुंचे हैं । अरहंत देव भी इस ही पद्धतिसे इस ही श्रद्धा और रमणसे पूज्य बने हैं । अपनी आत्माको सिद्धकी तरह विचारो और जिस उपायसे वे पूज्य बने हैं । उस ही उपायके अनुकरणसे विषय कषायोंमें अपनी रुचि न जगे । अपने ज्ञानानन्द-स्वरूपके अनुभवमें अपनी रुचि जगे । यदि ऐसा कर सकते है तो समझना चाहिए कि अपना हित है ।

सर्वसारमिदं कार्यं निवृत्तिः सर्वकार्यतः ।
ततो विस्मृत्य सर्वाणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-२०॥

जितने भी आत्माके कर्तव्य हैं उन सबमें सर्वभूत कार्य यह है कि सर्व कार्योंसे निवृत्ति हो जाय । यह आत्मा शरीरसे निवृत्त स्वयं है, पर प्रवृत्ति इसकी परमें लगी कैसे ? इस कारण निवृत्ति भी एक काम बन गया है । निवृत्त तो सभी पदार्थ स्वयं हैं, इसलिए मैं सबको भूलकर अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊं । किसी भी क्रियाको करनेमे परका लक्ष्य कुछ न कुछ रागरहित ही है । जो राग है, विकल्प है, अस्थिरता है वही द्रव्यका हेतु है । यह परपदार्थोंका आश्रय इस जीवके कबसे लगा है ? यह परम्परासे अनादिसे लगा है । जब से कर्मोंका सम्बन्ध है, जबसे कर्मोदय चल रहा है तबसे परका आश्रय लगा हुआ है । राग भाव जितना भी उत्पन्न होता है वह किसी न किसी परपदार्थका विकल्प करते हुए उत्पन्न होता है । जैसे कहा जाय कि भाई किसी परपदार्थका विकल्प न करो, विचार न करो और राग न करो तो कोई कर सकता है क्या ? राग तो करें, स्नेह तो करें, पर किसी परपदार्थ में न करें तो राग हो सकता क्या ? नहीं हो सकता है । अपनी आत्माका ही आश्रय रखनेमें रागका विनाश होता है । और जो भी क्लेश है हम आपको, किसी न किसी रागका क्लेश है । किसीको शरीरसे राग है, सो कहीं मुझे दूसरोंसे ज्यादा काम न करना पड़े, कहो घरका काम ज्यादा न करना पड़े, घरमें और भी तो आदमी हैं, मैं ही ज्यादा क्यों करूं, ऐसे विकल्प करके दुःखी होना पड़ता है । मनका राग है, जैसी अपने मनमें बात आये, चाहे कुबुद्धि की है, चाहे सुबुद्धिकी बात मनमें आयी हो, पर यह मोही प्राणी विवेक ही समझता

है । अपने मनकी बातको अविवेक समझ सके यह ज्ञानी पुरुषका काम है । अविवेकसे जो मनमें आये उसको ही समझते हैं कि मैं ठीक कर रहा हूँ, ठीक सोच रहा हूं । मैं बुद्धिमानी का काम कर रहा हूँ । मनमें राग है, वचनमें राग है, जो मुझसे बात निकल गयी उसकी तो पूर्ति होनी ही पड़ेगी, वचन उलट नहीं सकते । तो किसी न किसी परपदार्थमें लगे रहते हैं तो इस रागके कारण उनके आकुलताएं होती हैं । सबसे श्रेष्ठ कर्तव्य हितरूप यह कार्य है कि सब कार्योंसे निवृत्ति हो । दुनिया मुझे न जान सके । दुनियाके जाननेसे मेरी सृष्टिका क्रम नहीं बदलता । दुनिया मुझे माने न माने, किसीके माननेसे कहीं मेरा उत्थान नहीं हो जायगा । मेरा ही आचरण विश्वास यदि शुद्ध है तो मेरा उत्थान है । यह निवृत्ति तो ज्ञायक स्वभावकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है । परपदार्थोंसे हट गया, किन्तु ज्ञायकस्वभावी आत्मा ज्ञायक रूप रह गया । सो मैं बाह्यकी सर्वक्रियावोंकी प्रवृत्तिको भूल जाऊँ और हिम्मत करके मनमें किसीको न सोचूं, वचनोंसे किसीको दुःखी न करूं, व्यवहारको न करूं, शरीरसे कोई चेष्टा न करूं, सबको भूलकर अपने आपमें स्थित हो जाऊं तो ऐसी स्थितिमें जो अनुभव होगा बस उस अनुभवमें ही प्रभुका दर्शन है । यह तो एक मोटीसी बात है कि परिवारका मोह भी करते रहें और परमात्माके दर्शन भी पाते रहें, ये दो बातें नहीं हो सकती । परिवारमे रहते हुए भी अपना ज्ञान जगावो, क्योंकि संसारकी यात्रा बहुत लम्बी चौड़ी है । केवल इस भवमें मिले हुए समागम ही सब कुछ हैं । इसलिए मिले हुए समागममें संतोष न करो । सबका विस्मरण करके मैं अपने आपमें ही विश्राम पाऊं और सुखी होऊं ।

पुण्यार्थ भोग सम्बन्धाः सन्त्यनर्थपरम्पराः ।
एषु कुर्यां हितं किं मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-२१॥

पुण्य, अर्थ और भोगके सम्बंधमें अनर्थकी परम्परा है । पुरुषार्थ चार होते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । तो इसमें धर्मका तो मतलब है पुण्यसे, क्योंकि आत्माका श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप धर्म मोक्षमें चला गया । मेरा सम्बन्ध मोक्ष पुरुषार्थसे है तो यह धर्मका अर्थ है पुण्यका और अर्थका मतलब है धन कमानेसे और कामका मतलब है पदार्थोंके भोग से, उपयोगसे सो ये तीनों पुरुषार्थ पुण्य अर्थ और भोग अनर्थकी परम्परायें हैं याने भोग तो अनर्थकी परम्परा है ही । कहते हैं ना कि बड़े-बड़े प्रायः नरकमें जाते हैं । कुछ ऐसे भी होते हैं कि स्वर्गमें जाते हैं, मोक्षमें जाते हैं, पर राजकीय भोगोमें रहकर उपभोग इतना फंस जाता है, आरम्भ और परिग्रहमें लिप्त हो जाते हैं कि उनकी प्रायः दुर्गति होती है । यह दुर्गति क्यों हुई कि उनको भोगोंके बड़े साधन मिले, भोगोंके साधन क्यों मिले कि उनका पुण्यका उदय था । पुण्यका उदय उनको अनर्थमें ले जानेका कारण बन गया और धनका

उपार्जन तो धनर्थको परम्परा है ही। मित्रोंकी मित्रता न कायम रह सके, धनसे कितना अनर्थ हो जाता है। तो धनका पुरुषार्थ भी अनर्थकी परम्परामें ले जाने वाला है। इस तरह ये तीनों पुरुषार्थ अनर्थकी परम्पराके कारण हैं। इनसे मेरा क्या हित है? इनको मैं क्यों करूँ? इनसे दूर रहकर अपने आपमें सुखी होऊं। ये त्रिवर्ग कहलाते हैं। गृहस्थीमें त्रिवर्ग होता है, और साधुजन जो मोक्षका पुरुषार्थ करते हैं और उसके फलमें उन्हें मोक्ष मिलता है। उस मोक्षका नाम है अपवर्ग। अब वे वर्ग खत्म हो गये हैं पुण्य अर्थ और भोग आदि। ये तीनों अब सिद्ध भगवानमें नहीं रहे, ऐसी प्रभुकी सिद्ध अवस्थाको अपवर्ग कहते हैं। सो इससे उठकर मैं अपवर्गके काममें लगूं। यदि गृहस्थीमें हो और अपना हित चाहते हो तो गृहस्थीके प्रपंचोंसे अपनेको पृथक् समझो। यदि इस प्रकारसे अपनेको पृथक् समझा तो संसार के मायाजालमें रहकर भी मोक्षके पुरुषार्थमें है। जैसी दृष्टि होती है वैसी सृष्टि होती है। सो बाहरमें दृष्टि न हो। सांप दूरसे कितना प्यारा लगता है? चिकना सुन्दर लगता है। भैया, सांप बहुत सुन्दर मालूम होता है। सांपकी सुन्दरताकी वजहसे सांपोंको दीवारमें लिखा जाता है। सांप कितना सुन्दर होता है, मगर भीतरसे देखो तो विष भरा है। और जो भैंसा इत्यादि हैं वे इतने सुन्दर पशु नहीं हैं। सुन्दरता तो फिर मुकाबले तन मान ली जाती है, पर इनका उपयोग देखो कितना मधुर रस देने वाला होता है। जैसी दृष्टि है भीतरमें, वैसी ही जीवोंकी सृष्टि होती है। सो घरमें निवास करते हैं करते रहो, फिर भी अंतरमें यह समझते रहो कि जितना यह संयोग है वह सब मेरेसे भिन्न है और इसी संयोगसे मेरेको कोई लाभ नहीं है। यदि ऐसी सद्बुद्धि रहेगी तो गृहस्थावस्थामें भी रहकर आप मोक्ष पुरुषार्थके निकट है। सो इन त्रिवर्गोंमें अपना हित न मानकर मैं आत्माके स्वभावपथमें विहार करूँ अपने आप सुखी होऊं।

जीवनं मरणं किं को लोकः का चास्ति लीनता।
मायारूपाणि सर्वाणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-२२॥

अहो, जीवन क्या है? मरण क्या है? लोक क्या है? लीनता क्या है? ये सब मायारूप हैं। जीव कोई यथार्थ पदार्थ नहीं है। इस जीवका एक भवसे छूटकर दूसरे भवमें आना इसका नाम जीवन है। इस जीवका एक भवसे छूटकर दूसरे भवमें आना इसका नाम जीवन है। मरण कोई यथार्थ पदार्थ नहीं है, किन्तु इस जीवका इस भवसे संयोग छूट जाना इसका नाम मरण है। इस लोकमें जो कुछ दिख रहे हैं, ये सब स्कंध ही तो दिख रहे हैं। ये स्कंध यथार्थ पदार्थ नहीं है। अनन्ते परमाणु मिलकर ये स्कंध बने हैं। इसलिए यह स्कंध समुदाय भी नानारूप हैं और यह लीनता चाहे विषयोंकी लीनता हो, चाहे स्वरूपमें लीनता

हो, मगर लीनता पर्याय ही तो है। यह लीनता कोई यथार्थ पदार्थ नहीं है, ये सबके सब मायारूप हैं। इन रूपोंसे मैं क्या करूँ ? जो चीज मिट जाने वाली है, उसमें राग करनेसे क्या लाभ है ? जो चीज न मिटे और अपनी हो, उसकी प्रीतिसे तो फायदा है, पर जो चीज अपनी भी नहीं है, और मिट भी जाने वाली है उस चीजकी प्रीतिसे फायदा नहीं है। देख लो यह सारा धन वैभव, ये सब समागम मिट जाने वाले हैं और पराई चीज भी है। तुम्हारा तो अपने बच्चोंपर भी अधिकार नही है कि जैसा आप चाहें तैसे ही बच्चे चलें। लोग एक इस आशासे बच्चोंको पालते हैं कि बड़े होंगे तो मेरे काम आयेंगे, मेरी बुढ़ापेमें सेवा करेंगे। मगर अक्सर देख रहे हैं कि बड़े हो जानेपर माता पिताकी सेवा करने वाले कितने है ? हिसाब लगा लो, आप लोग तो कुछ आशय वाले लोगोंके बीचमें रहते है। इसलिए ऐसा अन्दाज लगा लेते हैं, ऐसा सोचते हैं कि सभी लोग माता-पिताकी सेवा करते हैं। क्या यह बतला सकते हो कि इस दुनियामें मांस खाने वाले कितने लोग होंगे ? अपने ही कुछ लोग ऐसे बसते हैं, इसलिए ऐसा लगता होगा कि कोई विरला ही मांस खाता होगा ? अगर दृष्टि पसारकर देखो तो आज मांस खाने वाले ९५ प्रतिशत हैं। ५ प्रतिशत ऐसे हैं जो मांस खाने वाले नही हैं। इसी प्रकार दुनियामें दृष्टि हो तो लगभग ९० प्रतिशत ऐसे मिलेंगे जो बड़े होकर अपने माता-पिताकी सेवा करना तो दूर रहा, उनके दुःखके कारण बन जाते हैं। सो सब मायारूप हैं। किसी परपदार्थमें विश्वास न रखो। विश्वास रखा तो अपने सदाचार पर। यदि आपका सदाचार हैं तो आपके सब सहायक बन सकते हैं और यदि सदाचार नही है तो आपका कोई दूसरा सहायक नहीं हो सकता। यही देख लो कोई मनुष्य पाप करे, किसीकी बहिन बेटीको सताए तो जूते पालना शुरू हो जाता है। इसलिए दूसरे जीवोंसे आशा न रखो। तुम्हारे सद्व्यवहार है तो दूसरे लोग भी तुम्हारी ओर झुकेंगे और तुम्हारा ही असद्व्यवहार है तो जगत्में तुम्हारा कोई सेवक नहीं है। कोई तुम्हारी खबर लेने वाला नहीं हो सकता। हम सब पापरूहोंसे अपना उपयोग हटाएँ और अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होवें।

सर्वेचिंता कथा चेष्टाभिरलं तासु नो हितम्।
यतो निष्क्रियभावोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-२३॥

किसी भी पदार्थका चिंतन करना, किसी भी पदार्थके लिए चेष्टा करना, इनसे कोई लाभ नहीं है। इससे हित कुछ भी नहीं है, क्योंकि मैं तो निष्क्रिय भावस्वरूप हूं। मैं तो एक ज्ञानमय पदार्थ हूं। अपने ज्ञानमें अपने ज्ञानके द्वारा अपने ज्ञानमय कार्य करता रहता हूं। कभी विकार हो जाय तो भी मुझमें मेरा काम स्वयं हुआ। कभी गुस्सा आ गया तो दूसरोंके द्वारा नहीं आया, मेरा काम मुझमें ही हुआ। कोई कितनी ही गालियाँ दे, कोई

कितनी ही खराब चेष्टाएँ करे तो उन चेष्टाओंसे मेरा बिगाड़ नहीं होता। मैंने ही अज्ञानमें, मोहमे, भ्रममें कुछकी कुछ कल्पनाएं कर लीं और अपने आपको दुःखी पा लिया। कोई दूसरे जीव मुझे दुःख नहीं देते हैं। इसी तरह सब जीवोंको निरखो कि यह भी प्रभुकी भक्तिकी एक पद्धति है। क्योंकि सभी जीव प्रभु हैं। इन प्रभुके प्रति ऐसी तो दृष्टि बनाए रहो कि ये प्रभु कोई भी मेरेको दुःख देने वाले नहीं हैं। ये स्वयं अपने साथ उपाधि लिए हुए हैं। सो उन-उन विचित्र उपाधियोंका निमित्त पाकर ये स्वयं विकृत हो जाते हैं। ये मेरा काम कुछ नही करते हैं। ये विकारी स्वयं अपने आपमें हो रहे हैं। इनका कार्य इनके ही प्रदेशोंमें समाप्त है। मेरा कार्य मेरे ही प्रदेशोंमें समाप्त है। मैं अपने प्रदेशोंसे बाहर कुछ नहीं करता और दूसरे प्रभुजन भी अपने प्रदेशोंसे बाहर किसी दूसरेका कुछ नहीं करते। ऐसा अन्य जीवों के प्रति आपका विचार रहेगा तो आप प्रभुकी भक्ति ही कर रहे है। प्रभुकी, सिद्ध प्रभुकी उपासना करते हो और इस जगत्में जो संसारी जीव भ्रमण कर रहे हैं उनके प्रति विपरीत धारणा बनी तो आपने प्रभुको भक्ति नहीं की। जीव-जीवको हम प्रभुसमान निरखें। भीतर मे प्रत्येक जीवके प्रति उसके सत्यस्वरूपके दर्शनको भक्ति करें। कोई जीव मेरा शत्रु नहीं है। बार-बार ऐसी भावना अन्य जीवोंके प्रति बनाओ। जिसको भ्रम हो वह भ्रम मिटाकर सुखी हो। जिसके कुबुद्धि आ गयी हो वह कुबुद्धि मिटाकर सुखी हो, जिसके कोई उपद्रव उपसर्ग आ गया हो तो अपने शुद्ध निज आत्मस्वरूपका ध्यान करके सुखी होओ। जगत्का प्रत्येक जीव सुखी हो। सुखी होनेकी भावना करो। यही धर्मका पालन है। कोई अन्य जीव मुझे दुःख दे नही सकते है। मेरा पूर्वकृत पापोंका उदय आ जाय तो उदयमें मुझको पूर्व कर्मोका फल भोगना है ना? तो उस फलके भोगनेके समय हम किसी परका आश्रय करके दुःखी हुआ करते हैं, और उस कालमें हम जिस किसी प्राणीको अपने दुःखका दाता समझने लगते हैं, परमार्थसे कोई भी जीव मेरेको दुःखका देने वाला नही है। ऐसा सर्व जीवोंके प्रति अपना विश्वास बनाओ तो यह भी प्रभुकी भक्ति है। सो सर्व चिंतावोंको छोडो, क्योंकि उनमें तुम्हारा हित नहीं है। अपने निष्क्रिय ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मामें विहार करो और अपने आप स्वयं सुखी होवो।

> चैतन्ये मयि नो देहो न प्राणा इन्द्रियाणि वा।
> रागादिस्तान् कथं यानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ ७-२४ ॥

अहो! मैं तो एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। शुद्ध चैतन्यस्वरूपका अर्थ है कि परसे न्यारा और अपने स्वरूपमात्र। शुद्धका अर्थ पवित्र पर्यायसे नहीं है, किन्तु केवल खालिस रह जाना, परसे जुदा और अपने स्वरूपमात्र रह जाना। ऐसा मैं स्वयं शुद्ध हूं, जगत्के परपदार्थ अशु-

अणु शुद्ध हैं। अशुद्ध तो कोई हो ही नहीं सकता। भले ही परउपाधिका निमित्त पाकर वे विकाररूप परिणम जायें और पर्यायगत अशुद्धता धारण कर लें, किन्तु द्रव्य शुद्धिका वह त्याग कभी नहीं कर सकता। कौनसा पदार्थ ऐसा है कि किसी दूसरे पदार्थके अस्तित्वमें रम जाय? अगर ऐसा कभी कुछ होता तो आज यह दुनिया देखनेको न मिलती। हम तुमरूप बन गये, तुम हमरूप बन गये तो हम मिटे, तुम भी मिटे। तुम तुम ही रहें; हम हम ही रहे तो हम हम ही रहे, तुम तुम ही रहे। ऐसा शुद्ध मुक्त चैतन्यस्वरूपमें है। ऐसा इस शुद्ध आत्मामें शरीर है ही नहीं। देखो शरीर और आत्मा एकक्षेत्रावगाहरूप ही रहे हैं, जैसा शरीर का अणु है वैसा आत्माका प्रदेश है। फिर भी शरीरसे न्यारा यह आत्मा है। लोग कहते हैं कि दालके छिलकोंकी तरह आत्मा शरीरसे न्यारा है। मगर दालका छिलका घुसा हुआ नहीं है। दालके दानेके चारों तरफ छिलका लगा है। ऐसी इस आत्माके बाहर शरीरका छिलका नहीं है, किन्तु आत्माके रग-रगमें शरीरका परमाणु-परमाणु धंसा हुआ है और शरीरके पर-माणु-परमाणुमें आत्माका प्रदेश धंसा हुआ है तिसपर भी आत्मा शरीरसे अत्यन्त न्यारा है। दोनोंका अस्तित्व एक हो ही नहीं सकता। ऐसी इस मुक्त चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मामें शरीर नहीं है, प्राण भी नहीं है। प्राण क्या है? ये इन्द्रियबल, मनोबल, वचनबल, कायबल, श्वा-सोच्छ्वास बल और आयुबल। इस मुक्त ज्ञानभाव आत्मामें हैं नाक, आंख, कान। जाननहार जो यह जीवतत्त्व है उसमें इन्द्रिय नहीं होती। इस आत्मामें तो ज्ञानका बल है। दो मनका बोरा उठा लिया यह आत्माका बल नहीं, किन्तु आत्माके सम्बन्धसे क्षयोपशमके अनुसार शरीरके रूपमें विकाररूप बल है। यदि शरीरके बलको आत्माका ही बल समझने लगें तो तुममेसे ज्यादा आत्मबल भैंसेका हुआ। भैंसा तो १० मनका बोरा उठा सकता है। तो शरीर का बल आत्माके सम्बंधसे एक विकृत बल प्रकट होता है शरीरसे। वह विकाररूप शरीरबल आत्माका बल नहीं कहला सकता। इस प्रकार मुक्त चैतन्यस्वरूप आत्मामें न तो शरीर है, न प्राण है और न इन्द्रिय है। और रागादिक भाव भी आत्मामें नहीं है, क्योंकि ये रागादिक भी आत्माका स्वरूप नहीं है, किन्तु जैसे आत्माके सम्बन्धसे शरीरमें बलरूप विकार प्रकट होता है उसी प्रकार इस आत्मामें उपाधि सम्बन्धसे गुण विकार प्रकट होता है। ये सब मेरे स्वरूप नहीं हैं। तो मैं इनको कैसे दूर करूं? मैं तो अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊं।

क्षेमकरोऽक्षभोगो न तत्राज्ञः सन् कथं रमै।

क्षेमकरः स्वयं स्वस्मै स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-२५॥

गृहस्थीके मायाजालमें रहते हुए यह श्रद्धान् रहे कि इन्द्रियोंका विषयभोग मेरे लिए कल्याणका करने वाला नहीं है। मैं तो ज्ञानी हूं। मैं विषयभोगोंमें क्यों रमण करूं? मैं तो

अपने लिए अपनेमें स्वयं हितकर होऊँ। आत्माका हित करने वाला यह आत्मस्वरूप है। यदि यह अपने सहजस्वरूपको निरखता है तो कर्मोंका क्षय भी हो रहा है और अनेक संकट भी टल रहे हैं। शांति भी प्रतिक्षण बढ़ती चली जाती है, किन्तु इन्द्रियोंके भोगसाधनोंमें अगर हितकी श्रद्धा लगाई तो केवल आकुलताओंको ही प्राप्त करोगे। जिन भोगोंमें फंस जावो वहाँ ही आपको क्लेशोंकी ठोकरें मिलेंगी। अपने आपको संभालो, किसी परजीव पर भोगोंकी दृष्टि का ध्यान मत दो। ये सब पंचेन्द्रियके भोग मेरी दुर्गतिके कारण हैं। कुछ सोचो, कुछ अपने मनको संयत करो, मनको स्वच्छन्द बनानेमें कोई लाभ न पावोगे। ये इन्द्रियोंके भोग और इनके भोगनेका भाव क्षणिक है, औपाधिक है। अव्वल तो देखो इन्द्रियोंसे हानि ही है। फिर ये भोग क्षणिक हैं और किसी प्रकारकी आसक्ति बने यह भी क्षणिक है, औपाधिक है, जो नष्ट हो जायेंगे और जो पराई चीज है उसमे रमनेका क्यों भाव करते हैं? उसमें हित नहीं है। वह तो ज्ञानमय परिणाम है। मैं ज्ञानस्वभाव हूं। सो मैं स्वच्छ विज्ञानघन स्वभाव हूँ। फिर मैं अज्ञानी क्यों बन रहा हूं? क्यों विषयोंमे ही रम रहा हूं? अरे यदि परलक्ष्यरहित मेरा परिणाम हो जाय तो मैं सुखका घर हूँ। मैं तो क्षेमका घर हूं, स्वयं हितरूप हूं। सो सर्वविकल्पको त्यागकर मैं अपने आपमे ही अपने कल्याणकी श्रद्धा करूँ। मैं ही मेरे लिए हितकर हूं। मैं ही मेरा गुरु हू, मैं ही मेरा देव हूं यह मैं ही अपना रक्षक हूं, मैं ही ज्ञान-स्वभाव भगवान हूं। उस भगवान्‌की श्रद्धा करो और अपने आपमें मैं भगवानकी छटाको निरखूं। जैसा भगवान् स्वरूप है तैसा ही उपयोग बनाओ और ऐसा अपने ध्यानमें लीन हो जावो कि अपनी खबर भूल जावो। इसीको कहते हैं परमात्मामें लीन होना। ऐसा लीन होकर मैं अपनेमे अपने आप सुखी होऊँ।

दृश्योऽरम्यो न विश्वास्यो ज्ञानमात्रमहं यतः।
विश्वसानि रमै क्वातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-२६॥

जितने भी पुद्गल पदार्थ हैं वे सब अरम्य हैं अर्थात् रमनेके योग्य नही है। जगत्‌का कोईसा भी पदार्थ ऐसा नही है कि जिसमे रमण करके मनुष्य शांति प्राप्त कर सके और विश्वास भी नहीं है किसी पदार्थका कि ये दो दिन मेरे साथ रहेगा। रह आये बीसों वर्षोंसे मगर विश्वासपूर्वक कोई पदार्थ मेरे साथ रह सके ऐसा नहीं है। यह दिखने वाली सारी दुनिया एक तो अरम्य है दूसरे विश्वासके योग्य नहीं है। मैं तो ज्ञानमात्र हूं। सो अपने ज्ञान का अनुभव करूं और बाह्यपदार्थोंकी प्रीतिको छोड़ूँ। कहाँ बाहरमे विश्वास करके कहाँ रमण करूं? अपने जीवनमें भी आप लोगोंने सब कुछ अनुभव किया होगा। कोई मनुष्य, कोई स्त्री, कोई पुरुष ऐसा नहीं मिलेगा जो आपका साथ निभा सकता हो। कदाच सबके जुदा-

जुदा हैं। कहाँ मैं कषाय करूँ ? मैं ही अपनी संभाल करूँ, कोई मेरी संभाल नहीं कर सकता। किसी भी पदार्थसे हमें अपनी शांति प्राप्त नही हो सकती। कौनसे पदार्थ विश्वास योग्य हैं, रमनेके योग्य हैं। पदार्थोंमें कोई रमाई जाने वाली कला नहीं है, किन्तु ये जीव खुद अपने भावोंसे रहते हैं। परपदार्थोंकी ओर झुका करते हैं, इष्ट अनिष्ट मानते रहते हैं। सो जब यह राग तक भी मेरा हितकारी तत्त्व नहीं है तो जिस पदार्थमें हम राग करते हैं तो उस पदार्थसे मेरा कैसे सम्बन्ध हो सकता है ? अगर किसी पदार्थमें आपने राग किया तो न राग आपका भला करता है और न कोई परपदार्थ आपका भला कर सकते हैं। संसारमें यह जीव इस रागद्वेष मोहके कारण ही तो रुलता चला आया है। जब राग भी मेरा हितकारी नहीं है तो अन्य पदार्थोंसे हितकी क्या आशा करूँ ? जो मेरा है वही मेरा रम्य है। वही मेरा विश्वास्य है। ऐसा कौनसा पदार्थ है जो मेरे साथ त्रिकाल रह सकता हो ? ऐसा पदार्थ मेरा मैं ही हूँ, जो मैं अपने साथ सदा रह सकता हूं। मुझे अपने आपका विश्वास है कि यह मैं मेरेसे अलग कभी नहीं हो सकता। और निजतत्त्वको छोडकर बाकी किसी पदार्थमे हम विश्वास नहीं कर सकते कि ये कोई मेरे साथ रह सकें। मैं एक सत् हूं जो सदा अपने साथ रहूंगा। मैं त्रैकालिक हूं, अनादिसे हूं और अनन्तकाल तक रहूंगा। सत्का समूल विध्वंस नहीं होता। मैं तो मिट ही नही सकता। मैं मेरे साथ सदैव रहूंगा। सो श्रद्धाके योग्य और रमणके योग्य मेरा आत्मा है। ये बाहरी पदार्थ जिनमें स्वयं सुख गुण नहीं है — धन है, मकान है, चाँदी है, सोना है इनमें चेतना तक नहीं है। सुख गुण भी नहीं है। इनमें ही यह मोही जीव चित्त जमाये हुए है। सो इस मोहको और सर्वविकल्पोंको छोड़कर अपने अंतरमे अपनेको देखो तो सही। यह ज्ञान और आनन्दका निधान जिसकी जगत्में कहीं तुलना नही हो सकती, ऐसा मैं स्वयं प्रभुस्वरूप हूं। इस अपने आपमें रम करके कर्मोंका क्षय करना चाहिए, संकटोंको दूर करना चाहिए और सहज सुखी हो लेना चाहिए।

त्यागादाने परे भिन्ने किमोपाधिक एव हि।
हेयोऽनाश्रित्य तं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-२७॥

देखो जितने भी परपदार्थ हैं वे सब मेरे सत्से अत्यन्त जुदा हैं। शरीरका स्वरूप मेरे स्वरूपसे भिन्न-भिन्न है। शरीर जड है और मैं चेतन हूं। धन वैभव तो प्रकट जुदा हैं। मेरे से ये पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं। इनको मैं ग्रहण नहीं कर सकता हूं, यह आत्मा भी ग्रहण नही कर सकता। आत्मा अमूर्तिक है, आनन्दमय है। ज्ञान और आनन्दका जो स्वरूप है वह एतावन्मात्र आत्मा मैं हूं। यह पैसेको छू भी नहीं सकता। ग्रहण तो करे ही क्या ? जब मैं परपदार्थोंका ग्रहण नहीं कर सकता तो फिर त्यागूंगा ही क्या ? आत्मा सबसे निराला

निश्चय अपने ज्ञान और आनन्दभावमें रहने वाला है। यह परपदार्थको न तो ग्रहण करता है और न उनका त्याग करता है। वे सर्वथा भिन्न हैं। जब उनको ग्रहण नहीं करता तो उनको त्यागना ही क्या है? तो परपदार्थका न तो ग्रहण है और न त्याग है। पर ग्रहण और त्याग किसका करता है यह जीव? यह जीव अपने ही औपाधिक भावोंको एक क्षणके लिए ग्रहण और एक क्षणके लिए त्याग कर देता है। जैसे दर्पणमें सामनेकी चीजकी छाया आ जाती है तो क्या दर्पणने इस खम्भेको ग्रहण किया है? दर्पणमें खम्भेकी छाया आ गयी तो बताओ दर्पणने क्या खम्भेको पकड़ा है? नहीं। दर्पण अपनी जगह है, खम्भा अपनी जगह है। दर्पणने खम्भेको नहीं पकड़ा तो दर्पण खंभेको छोड़ेगा ही क्या? पर खम्भेका निमित्त पाकर जो दर्पणमें छायारूपका परिणमन हुआ है, जो दर्पणमें छाया बनी है उस छायाको थोड़े समय के लिए ग्रहण किया। जितने समय यह उपाधि साथमें है, और उसके बाद त्याग कर दिया तो दर्पण अपने आपमें उठे हुए प्रतिबिम्बका त्याग करता है, फिर नया प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है, फिर त्याग करता है। इसी तरह यह संसारी जीव भी इन बाह्यपदार्थोंको घर, दुकान, परिवार, धन-वैभव किसी भी परपदार्थको यह जीव ग्रहण नहीं करता। वे परपदार्थ अपनी जगह हैं और जीव अपनी जगह है। उनका ग्रहण नहीं करता, किन्तु पदार्थोंका निमित्त पाकर, आश्रय करके यह जीव अपनेमें रागभाव बनाता है। सो यह जीव रागविकारको ग्रहण करता है और दूसरे समयमें राग विकारको छोड़ देता है। सो औपाधिक जो राग परिणाम है वही तो आपत्तियोंका कारण है। ये बाहरी पदार्थ आपत्तियोंके कारण नहीं हैं। ये जो चीजें हैं, अपनी जगह पर हैं, मिट जायेंगी या रह जायेंगी, इनका मेरेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। तब अपनेमें उठे हुए औपाधिक भावोंका अनाश्रय करके तो मैं नहीं हूं। इस वैभवसे निराला ज्ञायकस्वभाव मात्र हूं, ज्ञानानन्दस्वरूप हूं। इस प्रकार इस वैभवसे भी निराला अपने आपको समझना यह अपने आपमें उठे हुए औपाधिक भावोंका अनाश्रय कहलाता है। सो उन औपाधिक भावोंका अनाश्रय करके स्वयं अपने आपके शुद्ध शिव सुन्दर ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करूं और स्वयं ही सहज अपने आपके ज्ञानबलसे अपने आपके सत्य आनन्दको प्राप्त करूं। इन बाह्यपदार्थोंका और इन औपाधिक भावोंका त्याग किए बिना इस आत्मा को शांति नहीं प्राप्त हो सकती है।

दृश्यं जडमदृश्योऽन्यश्चेतनश्च तथा पृथक्।
कस्मिन् रुष्याणि तुष्याणि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-२८॥

एक बहुत मोटीसी बात है। अपने-अपने ज्ञानसे सोचो कि ये दिखने वाले जो कुछ पदार्थ हैं ये जड़ हैं या चेतन हैं? इनमें चेतन तत्त्व दिखता है क्या? जो कुछ दिख रहा है

वह सब जड़ है। तो दिखने वाले तो जड़ हैं और जो चैतन्य है वह दिखता नहीं है। चैतन्य बिलकुल भिन्न चीजें हैं। जड़ बिलकुल भिन्न चीज हैं। अच्छा जड़में तुम खुश हो जाओगे। कुछ जड़से मिलेगा क्या? वे तो जड हैं, धूलमधूल पड़े हुए हैं। वे तुमको कुछ पैदा करते। जड़पर तुम प्रसन्न हो जाओ तो जड़ तुम्हें कुछ जवाब देंगे क्या? या अपना परिणाम कुछ दिखा सकते हैं? कुछ भी नहीं। और जड़पर द्वेष कर लो, जड़ तुम्हारा बिगाड़ करनेके लिए उद्यम कर सकते हैं क्या? यह खम्भा खड़ा है। बड़ा सुन्दर दिखता है, इसपर प्रसन्न हो जायें तो यह खम्भा हमको संतोष दिला सकता है क्या? यह तुम्हें कोई संतोष दिला देगा या कोई चेष्टा करेगा क्या? इसपर नाराज हो जाओ तो तुम्हारा ये जड़ क्या बिगाड़ करेंगे? ये बाहरी दृश्यमान पदार्थ सब जड़ हैं। इनमें रोष करनेसे क्या फायदा और संतोष करनेसे क्या फायदा? जैसे किसी बच्चेके डेरी लग गयी सिरमें तो माँ उस डेरीमें तीन चार तमाचे मारती है और कहती है कि तूने हमारे भैयाको चोट पहुंचायी। तो क्या तमाचा मारनेसे उस डेरीमें रोष कर देनेसे उस बच्चेको शान्ति मिली? उससे तो कुछ होता नहीं, पर बालक मनमें यह सोच लेता है कि इसने हमको चोट पहुंचायी तो इसे सजा मिल गयी, वह खुश हो जाता है। किसी भी पदार्थसे सुख या दुःख नहीं होता है। अपने आपमें ही उस प्रकारकी कल्पनायें बनानेसे सुख या दुःख हो गया। तो ये दृश्यमान पदार्थ जड़ हैं इनमें मैं क्या रोष करूं? और इनमें क्या तोष करूं? चैतन्यतत्त्व तो दिखता नहीं, सो कहाँ रोष तोष करूं? किसका रोष करूँ? जीव तो दिखते नहीं, फिर किसका तोष करूँ? ये जानने देखनेमें जो आ रहे हैं वे सब जड़ हैं। पदार्थ तो दिखनेमें नहीं आ रहे हैं। नाक, कान, आँख आदि चैतन्य हैं? समझदार हैं क्या? समझने वाला पदार्थ तो इस शरीरके भीतर इस तरह छिपा हुआ है कि कितने भी उपाय कर लो इन्द्रिय और मनके द्वारा, पर यह चेतन ग्रहणमें नहीं आता। बाह्यविकल्प छूटें तो यह चेतन अपने आप ग्रहणमें आ जाता है। सो चेतन दिखते नहीं। फिर रोष किसका किया जाय? सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं। सबके जुदा-जुदा प्रदेश हैं, फिर किसीमें क्रोध करनेसे लाभ क्या? मान लो जिसको कल्पनासे आप अपना पुत्र समझते हो और उस पुत्रने कोई विपरीत कार्य भी किया और आप उसपर क्रोध कर रहे हैं तो क्रोध करनेका फल किसको मिलेगा? क्रोध तुम्हारी परिणति है तो तुम्हारी परिणतिका फल खुद को मिलेगा। वह तुम्हारा बालक पता नहीं तुम्हारे क्रोधको देखकर संभलता है या बिगड़ता है। आपकी परिणतिका प्रभाव आपपर है, दूसरेपर नहीं। खुद खोटे विचार मनमें आए तो नुक्सान किसको होगा? खुदका ही नुक्सान होगा। खुदकी खोटी चेष्टाओंसे ही खुदका बिगाड़ होता है। तो मैं किसमें संतोष करूं? जड़ पदार्थोंसे तो तुम्हें जवाब नहीं मिलता। इसमें

रोष-तोषसे कोई लाभ नहीं। चैतन्यपदार्थ तो दिखते नहीं। तो फिर रोष-तोष करनेसे कोई लाभ नहीं। आप प्रभुकी भक्ति करते हैं और ऐसा सोच रहे हैं कि मैं जो बोल रहा हूं उसे भगवान सुन रहे हैं और उसको सुनकर भगवान्‌का हृदय पिघल जायगा और हमारे संकटों को भगवान् दूर कर रहे हैं। प्रथम तो आपकी बातोंको भगवान सुनते नहीं हैं, क्योंकि भगवान अतीन्द्रिय हैं, सर्वज्ञ हैं, अनन्त आनन्दके निधान हैं। भगवानकी बुद्धि अलौकिक है। इस लोकन वे अशुद्ध पदार्थोंको नहीं जानते हैं। वे शुद्ध पदार्थोंको जानते हैं। प्रथम तो आपकी बातोंको भगवान सुनते नहीं हैं, क्योंकि उनके कान नहीं हैं। फिर वह भगवान वीत-राग है, उसके हृदय नहीं है। वह प्रभु तो ज्ञानका पिंड है। प्रभु अपना ही परिणमन कर अपने ही परिणमनको कर लेता है जिससे अनायास ही संकट टल जाते हैं अपने आपमें शांति का अनुभव होगा। किसी परपदार्थमें रोष करके कुछ लाभ न प्राप्त हो सकेगा। अपने ही औपाधिक भावोंको करके ये रागादिक विकार होते हैं। ये विकार मेरे स्वभाव नहीं हैं। ऐसा जानकर अपने आपके गंदे विचारोंपर क्रोध करूं और अपना जो सहजस्वरूप है ज्ञानमय आ-नन्दमय उस सहजस्वरूपके दर्शन करूं तो उससे मुझे लाभ है। सो मैं औपाधिक भावोंको उपेक्षा करके और ज्ञानमात्र भावोंका ज्ञानमें अनुभव करके रोष और तोषके विकारसे भी परे अपने ज्ञायकस्वभावमें रहकर अपने आप मैं सुखी होऊं।

वृक्षे खगा इवायान्ति क्षणं यान्ति स्वकर्मतः।
विश्वास्यं मे किमन्यात: स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७—२१॥

जैसे वृक्षपर शामके समय चारों दिशाओंसे पक्षी आकर बैठ जाते हैं और रात्रि व्य-तीत होनेपर वे पक्षी अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार अपने-अपने प्रयोजनसे जुदा-जुदा दिशाओं में उड़ जाते हैं इसी प्रकार संसारके ये प्राणी अपने भावोंके अनुसार बांधे हुए कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जुदा-जुदा गतियोंमें जाकर जन्म ले लेते हैं। यह जो मेल हो गया है वह कोई ध्रुव नहीं है। अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही चले जायेंगे। अपने आपमें यह विश्वास रखो कि इन सबका वियोग जरूर होगा। यदि यह विश्वास रखोगे तो वियोग होनेके समय आप विह्वल न होगे। जब परिवारमें किसीका वियोग होगा तो आप ऐसा सोचेंगे कि यह तो हम जानते ही थे। यदि परिवारमें कोई गुजर गया तो आप विह्वल न होंगे। आप यह सोचेंगे कि जहां संयोग होता है वहां वियोग होता ही है। मैं तो समझता ही था किसी दिन मरण हो ही जायगा। अगर यह पूर्ण निर्णय है कि जो जन्मा है वह नियमसे मरण करेगा। तब मेरे विश्वास योग्य ये कौन हैं? जिस पदार्थ पर आपकी बड़ी प्रीति है वह आपके देखते-देखते भी तो मरण कर सकता है और उस समय आप किसका सहारा लेंगे? अपने आपके

प्रभुके दर्शनका सहारा लेते हो तो बाह्यपदार्थोंके उपभोगका दुःख नहीं भोगना पड़ता। बाह्य पदार्थोंके वियोगका दुःख उसको नहीं होगा जो बाह्य पदार्थोंके संयोगमें हर्ष नहीं मानता। यदि वियोगमें भी देखो कि ये चेतन हैं, जहाँ संयोग है वहाँ वियोग होता है। मैं किसी भी पदार्थमें क्यों हर्ष मानूं ? यदि मिले हुए पदार्थोंमें हर्ष मानोगे तो वियोगके समय कोई दुःख जरूर होगा। इस लोकमें सुख तो तिलभर है और दुःख पहाड़पर है। तिलभर सुखमें मग्न होनेसे यह पहाड़भर दुःख अपने सामने आता है। यदि इस तिलभर सुखमें हर्ष न माना तो पहाड़ बराबर दुःख आपमें नहीं आ सकता। पर इतनी बड़ी तैयारीके लिए ज्ञानबल चाहिए। ज्ञानबल ऐसा हो, भेदविज्ञान ऐसा हो कि सर्व पदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। किसी भी पर पदार्थसे मेरा सम्बन्ध नहीं है। इतना उत्कृष्ट भेदविज्ञान चाहिए। ऐसा भेदविज्ञान कैसे प्रकट होगा ? उसका उपाय है कि परवस्तुके स्वरूपका यथार्थज्ञान करें, ऐसा अनुभव करके समझें कि परपदार्थ अपने स्वरूपमें हैं। किसी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका कोई सम्बन्ध नहीं है। सभी प्राणी अपने-अपने आयुकर्मके उदयसे जन्म लेते हैं और आयुकर्मके उदयसे मरण करते हैं। ऐसे जन्ममरण करते हुए, इस प्रवाहमें बहते हुए कुछ जीव एक कुटीमें उपस्थित हो गये हैं। तो कौनसी विश्वासकी बात है ? कुछ समय बाद अपने-अपने कर्मानुसार सब जुदा-जुदा बिखर जायेंगे। मेरे विश्वासके योग्य कहाँ कौन है ? मैं किसको शरण समझूं ? जिनका वियोग हो चुका है ऐसे बाबा माता पिता जिनका वियोग हुआ है उनके प्रति भी यदि ध्यान करो कि कितना अगाध प्रेम उनके था ? अथवा कितना मैं परपदार्थोंमें मोह करता था, पर मैं उनकी शरण नहीं हो सकता और न वे मेरी शरण हो सकते तो मैं सर्व रागभावोंको छोड़कर जन्ममरणरहित, गमनरहित, रागद्वेषरहित निज शुद्ध ज्ञानमात्रमें ठहरूं और अपनेमें अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

एकान्तेऽस्तु निवासो मे सर्वविस्मरणं भवेत्।
संयोगेन न मे लाभः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३०॥

अहो, इन सबसे मुझे क्या लाभ है ? मैं सबमें क्यों रमूं ? उनके रमनेकी प्रवृत्तिसे मेरी किसी गुणकी वृद्धि नहीं होती, प्रत्युत क्षोभका ही कारण है। मेरी एकतामें ही निवास हो, मैं एकतामें ही रहूं। एकता कैसे मिलेगी ? क्या घर छोड़कर जंगलमें ? नहीं। चाहे जंगलमें रहें, चाहे गाँवमें रहें, सबको भूलकर केवल अपने आपके सहजज्ञानस्वरूपकी ओर दृष्टि दें तो वह मेरा एकांतमें रहना कहलायेगा। जंगलमे रहना एकांत निवास नहीं कहलाता है। जंगलमें रहते हुए भी यदि अपने ज्ञानमें घर-बार, धन दौलत बसा रखा हो तो एकांत नहीं मिलता। वहाँ सबके बीच बस रहे हो और सबको बसा रहे हो तो वहाँ एकांत नहीं

मिलता है। एकांत तो आत्मध्यानमें मिलता है। इस शरीरसे दृष्टि छूटे, केवल ज्ञानस्वरूप का ही ध्यान रहे तो ऐसी स्थिति एकांतके निवासकी स्थिति कहलाती है। मेरा इस एकांतमें ही निवास है। किसी अन्य पदार्थके सोच-विचारमें मेरा कोई उत्कर्ष नहीं है। परका सोच-विचार तो निरंतर किया करते हैं, पर उस सोच-विचारसे क्या वे परपदार्थ इच्छाके अनुसार बनेंगे। सोच-विचारसे अब तक भी आपने अपनेमें उन्नति पायी? अर्थात् मिलेगा कुछ नहीं। हम तो ज्योंके त्यों रीते हैं। जैसे तैसे सोचते हुए बीसों वर्ष बीत गये, पर आकुलताएँ आज भी हैं। गत बीस वर्षोंमें बहुत उद्योग कर डाला, पर आज आकुलताएं तो नहीं मिटीं। इससे ज्ञात होता है कि किसी परके सोच विचारसे आकुलताएं घटती नहीं हैं, बल्कि बढ़ती हैं। मेरा किसी भी संयोगसे लाभ नहीं है। मैं तो अपने अनन्तगुणोंके चिंतनमें रहूं। मैं सबसे जुदा हूं, किन्तु अपने ज्ञान साधन आदि अलौकिक चमत्कारोंमें तन्मय हूं। ऐसे इस चैतन्यब्रह्म के ध्यानमें ही सर्वलाभ है। सो बाह्य पदार्थोंके सोच विचारकी प्रवृत्ति छूटे और अपने आपमें बसे हुए ज्ञानानन्द निधानकी याद रहे तो अपने इस आत्मचिंतनके द्वारा मैं संकटोंको पार कर सकता हूं। संकट हम और आपपर कुछ नहीं है। केवल मोह रागद्वेषकी जो तरंग है यही संकट है। घर जो गिर गया, वे ईंटें भिन्न थीं, खिसक गयीं। उनके गिर जानेसे अपने को क्या संकट आया? पर उस घरके प्रति जो ममता है, जिस ममताके कारण हम अनेक कल्पनाएं करते हैं। वह ममता ही हमे दुःख दे रही है। ये बाह्यपदार्थ मुझे दुःख देनेमें समर्थ नहीं हैं। संकट केवल अपनी कपल्नाओंसे है। ऐसा ज्ञान प्राप्त करो कि ये कल्पनाएं मिटें और जैसे सर्वपदार्थ हैं वैसी समझ बनी रहे तो सब संकट दूर हो गये। मोह कटेगा तो संकट मिटेंगे। मोहके रहते हुए तो संकट बने ही रहेंगे। क्योंकि मोह स्वयं विकट संकट है। मोहकी प्रवृत्ति ही ऐसी है कि वह संकटोंको उत्पन्न कर देता है। ऐसे संकटोंसे दूर होना है तो सिद्ध पुरुष बनो और इस मोहके लगावका विनाश करो। निर्मलतामें ही शांति प्राप्त हो सकती है।

भोगाः भुक्ता मुहुस्त्यक्तास्तानुच्छिष्टान् किमर्थये।
ज्ञानमात्रं हि भुञ्जानः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७–३१॥

कहते हैं ये भोग तो बराबर भोगे हैं और भोगकर छोड़े हैं। और छोड़े हुए फिर मिले तो झूठे ही तो मिले कहलाते हैं। कहते हैं ये ज्ञानानन्दघन प्रभु होकर इन झूठे भोगों को क्यों चाहूं? जैसे कोई भोजन कर लेता है और करके फिर छोड़ देता है, वमन कर देता है, सो वमन किए हुए भोजनको क्या कोई चाहता है? नहीं। और अगर कोई चाहता है तो मूर्ख कहलायेगा। इसी तरह समस्त पुद्गल दिखनेमें जो आ रहे हैं ये अनेक बार भोगे

और भोगकर छोड़े। अब तो छोड़े हुए झूठे भोगोंकी रुचि करेंगे यह मूर्खता ही है। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं। उन झूठे भोगों को मैं क्यों चाहूं? अनादिकालसे इस लोकमें अनेक बार जन्म मरण करते हुए भव बिताने वाले इस मुझ जीवने नाना प्रकारके भोग भोगे और वे अपने परिणमनसे छूट गये। तब समझ लो कि जो कुछ सम्पदा हमें मिली है वह सब झूठ ही तो है। उसको मैं क्यों चाहूं? सत् पुरुष झूठे भोजन की वांछा तो नहीं करते। इसलिए मैं इन भोगोंको नहीं चाहता हूं। मैं तो ज्ञानमात्र स्वभावी हूं। मेरा तो स्वरूप है वह अनादिसे अनन्तकाल तक एक रूप है। ज्ञानमात्र कैसा विलक्षण है यह चैतन्यपदार्थ कि यहाँ तक ज्ञान प्रकाशके अतिरिक्त और कुछ प्रतीत ही नहीं होता। ऐसा विलक्षण भावात्मक मैं ज्ञानमात्र तत्त्व हूं। इसका कभी वियोग नहीं होता। इन भोगोंका तो वियोग हो जाता है। ये पर-पदार्थ हैं, भौतिक हैं, पर मेरा आत्मा मुझसे कहाँ अलग जायगा? यह तो मैं हूं। ऐसा नहीं है कि मेरा यह स्वरूप यह ज्ञानतत्त्व पहिले मुझमें न था, बादमें कहींसे मुझमें आया जो मुझमें नहीं था और इसमें वह मेरा स्वरूप नहीं है। वे पर औपाधिक चीजें हैं। ऐसा यह मैं ज्ञानमात्र स्वरूप हूं। इसको ही मैं भोगूं। मैं बाह्यपदार्थोंको तो भोग भी नहीं पाता। भोग के परिणाम उत्पन्न होते हैं और उन परिणामोंके विषयभूत ये बाह्यपदार्थ होते हैं। इसलिए अपने आपमें बुद्धि न ठहरकर बाहरी पदार्थोंमें दौड़ती है और यह मान लेते हैं ये मोही कि मैं इन पदार्थोंको भोगता हूं। किन्तु मेरा अस्तित्व तो बाह्यपदार्थोंमें है ही नहीं। मैं बाह्य पदार्थोंको कैसे भोग सकूंगा? अपनी कल्पनाओंसे भोगता रहता हूं। अपने आपमें अपने विकार करता हूं और उन विकारोंमें ही रमता रहता हूं। इन बाह्यपदार्थोंको न भोगना हो तो इनको अपनेमें स्थान न दो। मेरा यह ज्ञानरूप सिंहासन प्रभुके स्वरूपको विराजमान करनेके लिए है। ये जगत्के मायावी, मोही, कषायवान जीवोंके ठहरानेके लिए यह ज्ञान सिंहासन नहीं है। सिंहासन कहते हैं श्रेष्ठ आसनको सो इस उपयोगमें मैं किसी बाह्यपदार्थको न बसाऊं और राग द्वेषादिक आकुलतारहित निजब्रह्मको ठहराता हुआ अपनेमें अपने आप सुखी होऊं। ये भोग तो अनेक बार भोग डाले। अब इन भोगोंकी प्रीतिसे लाभ नहीं है। ऐसा जानकर कि शुद्ध आनन्दस्वरूप ज्ञानमय अपना जो सहजस्वभाव है, उस सहजस्वभावकी उपासना करूं और अपनेमें अपने आप सहज सुखी होऊं। आनन्दका उपाय एक अपने आत्मदेवकी श्रद्धाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

भुक्त्वा त्यजानि भावोऽयं सव्याजो निर्भुनि सदा।
भावयेयं निवृत्याहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३२॥

कोई यह सोचे कि पहिले मैं भोग लूं, फिर इन भोगोंको छोड़ूंगा। ऐसा परिणाम

छलसहित है। ये भोग भोगे और भोगनेके कालमें हम भोगोंकी निवृत्तिकी आशा करें, यह कैसे हो सकता है ? भोग भोगनेमें मोहवश जो यह मौज मानेगा, फिर क्या उस मौजको छोड़नेकी चाह करेगा ? जैसे अभी भी अनेक गृहस्थियोंको देख लो, अनेकोंने जो पांच-सात वर्ष पहिले यह मनमें धारणा की होगी कि लड़का जरा समर्थ हो जाय, थोड़ासा ऐसा काम हो जाय, साल-दो सालकी देर है, फिर मैं सब त्याग दूंगा और निर्विकल्प होकर धर्मसाधना करूँगा, ऐसे हैं आजकल अनेकों कि नहीं ? उनके दो साल क्या, पांच—सात साल हो गये, जितने फँसे पहले न थे उससे अधिक फसे आज अनुभव करते हैं। वे दिन निकल गये। अब तो बड़ी बड़ी कठिनाइयां हैं। कोई दृढ़बन्धनकी अनुभूति कर रहा है। इन भोगोंका भोग करूँ, फिर इन्हें छोड़ूंगा, ऐसी आशा करना व्यर्थकी बात है। ज्ञानका उदय होता है तो अभी छोड़ो जितना छोड़ सकते हो। अपने पैरोंको कीचड़में फँसा दें, फिर निकालकर अच्छी तरह धोवेंगे ऐसा सोचकर पैरोंमें कीचड़ लपेटने वाले क्या विवेकी कहला सकते हैं ? अरे किसी कारणसे कीचड़में गिर पड़े हैं, अब उसके बाद कीचड़को साफ करें, तो क्या यह विवेक है ? अगर कोई प्रोग्राम ही पहलेसे बनाया कि मैं तो कीचड़में घुसूंगा और उसके बाद फिर साफ करूँगा तो ऐसा प्रोग्राम बनाने वालेको क्या आप विवेकी कह देंगे ? नहीं। इन भोगोंको भोगकर फिर छोड़ूंगा, इस प्रकारका जो भाव है वह छलसे भरा हुआ है, क्योंकि वर्तमान परिणामों वालेकी भोगोंके प्रति रुचि है। वर्तमान परिणमन कैसे हो रहा है ? क्या उस रुचि वाले परिणामोंके आधार पर यह आशा की जा सकती है कि भोगोंको छोड़ देंगे, एक चीज। दूसरी बात यह है कि जो त्याग करनेकी योग्यता रखता है ऐसे पुरुषकी भी आयुका भरोसा नहीं है। पांच सात वर्ष और काम करते रह जायें, भोग भोगते जायें, फिर छोड़ देंगे। तो क्या तुम्हें कलकी खबर है कि आयु रहेगी अथवा न रहेगी। जो कुछ करना हो सो अब कर लो, कलकी भी आशा न रखो। अपनी शक्तिके अनुसार जितना आपका परिणाम बन सकता है अभी बना लो। अगले सालकी आशा मत रखो। सो प्रथम तो यह बात है कि भोग भोगने की रुचिका परिणाम वर्तमानमें है तो उससे यह नहीं कहा जा सकता कि आगे छोड़ भी सकेंगे। दूसरे यह भी भरोसा नहीं है कि हम कब तक जीवेंगे ? कदाचित् इस ही कल्पनामें रहते रहते आयु समाप्त हो गयी तो त्यागकी यह कथा यहीं ही धरी रह जायगी। इसलिए अभी ही निवृत्त होकर मैं अपने आपकी भावना करूँ, सर्व रागादिकोंसे रहित जो चैतन्यस्वरूप मुझमें अनादि अनन्त अंतः प्रकाशमान है उसको ही दृष्टि करूँ। अन्य सर्व वाञ्छाओंको त्यागूं और जितनी शक्ति है, जितना उपयोग चले, मोहसे हटाकर अपने उपयोगको मैं ज्ञानके स्वरूपमें ले जाऊँ, भगवान भी ज्ञानका स्वरूप है और हम आप भी ज्ञानके स्वरूप हैं। भग-

वालके स्वरूपको खो रो तो अ।। ज्ञानस्वरूपमें पहुंचे । अपने ज्ञानविकल्पोंको त्यागकर अपने ज्ञानस्वरूपमें ठहरता हुआ सर्व रागादिक विकल्पोंका त्याग करूं और अपने आपमें सहज सुखी होऊं ।

निरायूरैवये हेतो: कालस्येच्छा हि तृष्णया ।
तृष्णां स्वनाशिनीं मुक्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३३॥

तृष्णाका नाच देखो, साहूकार लोग ब्याजपर रकम देते हैं ना । एक हजार रुपया दिया आठ आने सैंकड़े ब्याज पर तो एक वर्षमें कितना ब्याज आ गया, ६० रुपया । एक हजार रुपया देकर साहूकार यह प्रतीक्षा करते हैं कि यह साल जल्दी व्यतीत हो तो ६० रु० मिल जायेंगे । सो वे दिन गुजारनेकी इच्छा रखते हैं । जैसे ही महीना गुजर गया वैसे ही लाभ मिल गया । सो एक साल व्यतीत होनेका वे मन करते हैं । एक साल व्यतीत हुआ । एक साल व्यतीत होनेपर क्या होगा ? ६० रुपये मिल जायेंगे । इन ६० रुपयोंसे क्या होगा कि जीवन खोटा और गंदे विचारों वाला बीतेगा । उनकी तो ६० रुपयों पर ही दृष्टि है । तो इस तृष्णाका नाच देखो कि जो तृष्णा अपना नाश कराने वाली है इस ही तृष्णासे अधिक प्रीति है कि अपने नाशकी भी परवाह नही करते और धनपर दृष्टि देते हैं । ये सब पर्याय बुद्धिके भाव हैं । अभी किसीसे पूछें कि तुम्हारा भैया कितने वर्षका हो गया ? तो आप खुश होकर ढंगके साथ बोलते हैं कि हमारा मुन्ना तो ११ वर्षका हो गया । उसका अर्थ क्या है कि जितने दिन तक जीना था उसमेंसे ११ साल नष्ट हो गये है । अर्थ तो यह है, मगर आप लोग बड़े ढंगसे बोलते हैं कि मेरा मुन्ना तो ११ वर्षका हो गया है । अपने आपकी उम्रको देखकर गर्व करते हैं कि अब मैं २५ वर्षका हो गया, २८ सालका हो गया, हो क्या गया ? २८ साल गुजर गये, २८ साल मर गये, अब बुढापेकी उम्र आती है तब ख्याल होता है और ऐसी प्रार्थना करते हैं कि भगवान यह सूर्य अस्त न हो, नहीं तो हमारी आयु जल्दी घट जायगी, हम जल्दी मर जायेंगे । यह तृष्णा अपने आपको नाश करने वाली है । इस तृष्णा को छोड़ो, पंच परमपद परमेष्ठीपद ये तुम्हारे ही पद है । इस रूप तुम्हारी ही स्थिति होगी । इस पंचपरमेष्ठी पदोंका ध्यान करो । स्वरूपसे चिगकर धर्मकी ओर प्रीति बढ़ाओ । इन भोगी और मोही जनोंसे प्रीति करके कुछ लाभ नहीं होगा । धन्य हैं वे बड़भागी पुरुष जो सर्व प्रकारकी तृष्णाओंका उच्छेद करके धर्मी और धर्मात्मा जनोंसे नेह लगाते हैं, वे पुरुष धन्य हैं । प्रत्येक धर्मात्मा जनोंसे स्नेह करके निष्कपट होना चाहिए । उनमें किसी प्रकारके धनके पानेकी लालसा नहीं होती । किसी प्रकारका स्वार्थ न हो, केवल उन धर्मात्मा पुरुषोंके आत्मा के रत्नत्रयको जानकर उस रत्नत्रय धर्ममें भक्ति रखकर प्रेम हो । धर्मात्मा जनोंको देखकर

गद्गद् हो जावो। प्रीति करो तो धर्ममें और धर्मात्मावोंपें, किन्तु यह संसार उन मोही जनोंमें प्रीति करता है जो स्वयं अज्ञानी तो हैं ही, मगर आपको भी दुर्वचन बोला करते हैं, कष्ट दिया करते हैं, परवाह नहीं करते, इज्जत नहीं रखते। वे मोहीजन हैं, फिर भी ऐसे मोहियोंसे ही प्रीति जोड़ते हैं। इन तृष्णावोंका नाश करो, मोहका उच्छेद कर अपने आपके धर्ममें और धर्मात्माओंके स्वरूपमें आदर प्रीति रखो और परविभावोंसे विमुक्त होकर अपनेमें अपने आप सुखी होओ।

परान् पश्यामि व्यापन्नान् तथा पश्यानि स्वं यदि।
दोषमुक्तः स्वलक्ष्यः सन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३४॥

जिस प्रकार दूसरे जीवोंको आपदामें पड़ा हुआ देखते हो उसी प्रकार यदि अपने आपको संसारकी नाना आपत्तियोंमें पड़ा हुआ देखो तो उस आपदासे मुक्त होकर निज शुद्ध आत्माका लक्ष्य करके अपनेमें अपने आप स्वयं सुखी हो सकते हो। जैसे कोई जंगल जल रहा है उस जंगलके बीच कोई पुरुष पहिलेसे था। वह जंगलमें जलती हुई आगको देखकर भागकर किसी पेड़पर चढ़कर शाखाओंपर बैठ गया। वह बैठे बैठे चारों ओर देखता है कि आग लग रही है, लो वह देखो खरगोश जल गया, वह हिरण मर गया, वह गाय मर गयी। दूसरे जीवोंको तो आपदामें पड़े हुए देख रहे हैं और यह समझ रहे हैं कि आग बढ़कर इस पेड़में भी आयगी और इस पेड़को भी भस्म करेगी, फिर मैं कैसे जीवित रह सकूंगा? यह देख रहा है कि आपत्ति तो हमारे ऊपर भी दूसरे जीवोंकी तरह आयेगी। इसी तरह जगत्के ये संसारी मोही प्राणी दूसरोंको तो विपत्तियोंमें घिरा हुआ देख रहे हैं, देखो इनका यह टोटा पड़ गया, इनके ये माता-पिता गुजर गये, इनका देखो इकलौता बेटा गुजर गया। कैसा दुःखी है? इनको चोर डाकुवोंने लूट लिया, ये खानेको भी मोहताज हो गये, सो नाना प्रकारसे आपत्तियोंमें फंसा हुआ देख रहे हैं सबको, पर अपने आपको नहीं जानते कि आज ठीक पुण्यका उदय है सो मनको स्वच्छन्द चला लिया, जिस पर चाहे हुकूमत कर लिया, दुःखी कर लिया, पर कदाचित् पापोंका उदय आ गया तो उसमें कौन साथी होगा? वे सब संकट तो अकेले ही भोगने पड़ेंगे। दूसरे जीवोंको यह जीव आपत्तियोंमें घिरा हुआ देख रहा है, पर अपनेको भी तो यह जीव समझे कि इस जीवके मायाका कुछ भरोसा नहीं है। जो सम्पदासे भरपूर है तो एक रातके बाद दूसरे दिन क्या होगा? इसको कोई कुछ नहीं कह सकता है। कितनी आपदा घिरी हुई है? जब श्री रामचन्द्रजी का राज्याभिषेक होनेको था तो सभी जुड़ गये। अभिषेकमें राज्यसिंहासनपर आसीन करनेका पूरा प्रोग्राम बन चुका। कोई पंद्रह-बीस मिनटकी देर होगी। किसको कल्पना थी कि अब यहां अनहोनी क्या गुजरेगी? अचानक

क्या हुआ कि दशरथ जी कहते हैं कि यह राज्य भरतको मिलेगा। अब भरतका अभिषेक होगा। एकदम इतनी बात किसी भी आत्माकी कल्पनामें न थी। सबसे बड़े भाई राम और भरत उनसे छोटे किसीको भी कल्पना न थी कि दशरथ महाराज यों बोल देंगे। वे क्यों बोल गये, वह बात अलग है। कारण वहाँ यह था कि दशरथ रामचन्द्रजी को राज्य देकर संन्यास लेने वाले थे और पिताका संन्यास देखकर भरत भी संन्यास लेने वाले थे। केकईको पुत्रका व्यामोह हो गया कि मेरे पति भी मुझसे जुदा हो रहे हैं और मेरा पुत्र मुझसे जुदा हो रहा है। कुछ स्मरण आ गया कि मेरा वचन महाराजके पास धरोहरमें रखा है। केकईने रथको संग्राममें इस प्रकार चलाया था कि उस संग्राममें दशरथकी विजय हो गयी थी। उस समय दशरथने वर दिया था कि जो मांगोगी सो मिलेगा। सो केकईने क्या मांगा कि यह राज्य भरतको दिया जायेगा। किसलिए मांगा? रामचन्द्रजी को दुःखी करनेके लिए नहीं, रामचन्द्रजी को वनमें भेजनेके लिए नहीं, बल्कि भरतको अपने घरमें रोकनेके लिए। हुआ क्या कि रामचन्द्रजी प्रसन्नचित्त होकर वहांसे चल दिये। यह सोचकर कि यदि इन महलोंमें मै रहूंगा तो मेरे रहते हुए भरतकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकेगी। लोगोंका झुकाव मेरी ओर रहेगा। फिर एक राजा महाराजा बनकर भरत जो रह सकें, यह मुश्किल हो जायेगा। इसलिए वन को चल दिये थे। क्या हो रहा था, आध ही घटेमें क्या हो गया? यह बात उन महापुरुषों को भी विदित न हुई। हम आप छोटे पुण्य वाले, छोटी वैभव सम्पत्ति वाले इस सम्पत्तिके प्रति ऐसे भाव बनाए हुए है कि ये मुझसे अलग कैसे हो सकेंगे? सो भाई जैसे दूसरे पुरुषों को विपदाओंमें ग्रस्त देख रहे हो उसी प्रकार अपने आपको भी विपदाओंमें ग्रस्त देखो। मैं कर्मोंसे घिरा हुआ हूं। अनन्त भवोंके जो कर्म बांधे थे उनकी भी सत्ता मुझमें भरी हुई है। किस समय किन कर्मोंका उदय आयेगा तो क्या स्थिति हो जायगी? अपने आपको विपदाओं में ग्रस्त देखो और साथ ही उन सब विपदाओंको एक क्षणमें ही छुटा देने वाला जो अपना ज्ञानानन्दमय प्रभुत्व है उस भगवती शक्तिको तो देखो। अपने आपमें घट-घटमें बसी हुई इस भगवती चेतनशक्तिके दर्शनके प्रसादसे संसारके सारे संकट टल जाया करते हैं। ऐसी विचित्र भगवती शक्ति अपने आपमे है। उसको मैं निरखूं और अपने ही ज्ञानबलसे अपनेमें अपने आप सुखी होऊं।

स्वोपादादेव जायंतेऽर्था जायन्ते न वा ततः।
हितं नैव निजं दृष्ट्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-२५॥

हम और आपपर संकट है तो अज्ञानका संकट है, मोहका संकट है। औरका किसी

चीजमें नाम ही नहीं है। जगत्के प्रत्येक पदार्थ स्वरूपास्तित्व लिए हुए हैं। सभी पदार्थ अपनी योग्यताके अनुसार अपना परिणमन करते चले जा रहे हैं। कोई पदार्थ अपनी परिणतिसे किसी दूसरे पदार्थको बदल नहीं सकता। कोई किसीका कुछ हो नहीं सकता। ऐसा सहज स्वरूपास्तित्व है उन पदार्थोंका, वे पदार्थ परिवर्तनशील हैं। स्वतंत्र पदार्थ हैं इस कारण वे अपने-अपने उपादानसे उत्पन्न हो रहे हैं। प्रत्येक पदार्थमें प्रतिसमय नवीन-नवीन परिणमन होता है। जैसा आमका फल देखा है ना। पहिले वह हरा है, उसके बाद पीला होता है, लाल होता है, पक जाता है, मिट्टीमें मिल जाता है। उसकी दशाएँ प्रतिसमय नवीन-नवीन होती हैं। जैसे यह मनुष्य है ना, पहले बच्चा हुआ, फिर जवान हुआ, फिर बूढ़ा हुआ। बदलता रहता है। सर्व पदार्थ प्रतिक्षण परिणमते रहते हैं। परिणमना तो उस द्रव्यकी अवस्था है। वह अपने आपमें से परिणमन बनाता है। दूसरे पदार्थका परिणमन ग्रहण नहीं करता। जैसे दो स्नेही मित्र किसी वियोगकी घटनासे दुःखी हैं, मिल गए तो परस्पर गलेसे मिलकर रोने लगे, दुःखी होने लगे। वहाँ एक दूसरेको आत्माका दुःख नहीं है, किन्तु अपने-अपने कषायोंके अनुसार अपने आपमें अपनी कल्पना बनाकर स्वयं व्याकुल हो रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने ही उपादानसे परिणमते हैं। किसीको न मैं परिणमा सकता हूं और न कोई मुझे परिणमा सकता है। सब अपने-अपने उपादानसे उत्पन्न होते हैं। होते हैं हों, उत्पन्न न होते हों न हों। यद्यपि ऐसा नहीं है कि कोई पदार्थ ध्रुव अपरिणामी रह जाय परिणमे ही नहीं, परिणमेगा। लेकिन परपदार्थोंके परिणमनसे यहाँ क्या हित है? कोई परपदार्थ किसी रूप परिणम रहा हो, परिणमा करे, वह इस प्रकार परिणमें तो क्या और अन्य प्रकार परिणमें तो क्या? जो चीज चलती है चलो उससे मेरा कोई हित नहीं है, ऐसा सर्वपदार्थोंको अहितकर देखकर उनसे विरक्त हो, उनमें न लगो! परसे कुछ न चाहो। ये लोग मुझे कुछ समझ लें, जान जायें ऐसी वाञ्छा न करो। दूसरे समझ जायेंगे तो वे मुझे नहीं समझेंगे। वे अपने ज्ञेयाकारको समझेंगे। उनका जो विचार बना उन विचारोंको ही वे समझ सकते हैं। दूसरे मुझे कुछ समझ ही नहीं सकते। कदाचित् मान लो मुझे जान जायें अर्थात् मेरे बारेमें कल्पनाएँ कर डालें तो उनकी कल्पनायें किए जानेसे क्या मेरा कुछ सुधार बिगाड़ हो जायगा? मैं अपने श्रद्धान, ज्ञान, आचरणसे रहूं तो मेरा सुधार है और मैं विपरीत श्रद्धान, ज्ञान, आचरणमें रहूँ तो मेरा बिगाड़ है। सबको अपनेसे जुदा समझो ज्ञानज्योति जगाओ। जैसे जगत्के अनेक प्राणी अपनेसे पृथक् हैं वैसे ही घरके १०-५ लोग भी अपनेसे अत्यंत जुदे हैं। ऐसा सबसे अपनेको न्यारा जानकर उनसे उपेक्षा भाव धारण करो। परकी प्रीतिसे लाभ न मिलेगा,

क्योंकि वे पर ही हैं, वे कब तक तुम्हारा साथ देंगे ? वे सब बिछुड़ जायेंगे। उनमें आपका रंच भी अधिकार नहीं है। परपदार्थ अपने ही उपादानसे परिणमते हैं, आते हैं, जाते हैं, रहते हैं। उन बाह्यपदार्थोंमें आपकी कोई करतूत नहीं चल सकती। इस कारण परपदार्थों का व्यामोह तजकर मैं स्वयं सुखी होऊं। मैं स्वयं हितमय हूं, सो मैं अपने इस निजतत्त्वको ही देखूं और निज चैतन्यभावोंमें मग्न होकर सर्व रागादिक भावोंसे पृथक् होकर अपनेमें अपने ज्ञानरसके अनुभवसे लिप्त होऊँ, संतुष्ट होऊँ और संसारके कर्मरूपी संकटोंका क्षय करनेमें मैं स्वयं समर्थ होऊं। बाह्य पदार्थोंका मोह छोड़ो और अपने आपके स्वभावमें अपना उपयोग जोड़ो, इसमें ही अपना हित है।

आसमस्मि भविष्यामि सुखे दुःखेऽहमेककः।
परयोगे न लाभो मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३६॥

मैं सुखमें और दुःखमें एक अकेला ही था, अकेला ही हूं और अकेला ही रहूंगा। परपदार्थोंके संयोगसे कोई भी लाभ नहीं। यह बात उन पुरुषोंके हृदयमें रहती है जिनका परपदार्थोंका स्वरूपास्तित्व भिन्न निर्णीत हो चुका है। जगत्में कोई भी जीव किसी भी जीव को न करता है, न मानता है, न राग करता है, न द्वेष करता है। कोई जीव किसी दूसरे जीवपर कुछ चाहता ही नहीं है। क्यों नहीं करता कि जीव अपने प्रदेशोंमें मेरा गुण मेरे ही प्रदेशोंमें है और उन गुणोंका जो परिणमन हो सकता है वह भी अपने ही प्रदेशोंमें है अर्थात् किसी भी जीवका द्रव्य अपने स्वरूपसे बाहर नहीं है। गुण अपने प्रदेशसे बाहर नहीं और क्रिया अपने प्रदेशोंसे बाहर नहीं। तब रागद्वेष, इच्छा चारित्रगुणकी क्रिया है। चारित्रगुण आत्माके प्रदेशोंमें है और मेरा परिणमन अपने आपमें ही है तो जीव इच्छाएँ करता है तो वह अपने आपकी ही इच्छायें करता है। राग करता है तो अपने आपको रक्त करता है। द्वेष करता है तो अपने आपको द्विष्ट करता है अर्थात् रागका प्रयोग दूसरे जीवपर कोई नहीं कर सकता। जैसे किसी अनहोनी घटनामें दो भाई दुःखी हो गए अथवा एक भाईकी तकलीफ के कारण दूसरा भाई दुःखी हो गया तो वहाँ यह नहीं है कि एक भाईने दूसरेको दुःखी कर दिया या बड़ी घनिष्ट मित्रतासे दो भाई रह रहे हों तो वहाँ यह नहीं है कि एक भाई दूसरे भाईको चाह रहा है। दूसरेको चाह ही नहीं सकता। क्योंकि चाह जीवका एक परिणमन है और वह चाह उस जीवमें ही समाप्त हो जायेगी। उसका परिणमन उसके बाहर नहीं है। जीवने चाहा तो अपने कषाय परिणमनको चाहा, दूसरे आत्माको नहीं। यह वस्तुगत स्वरूप की कथा है। यदि मेरे दुःखके कारण आपको दुःख उत्पन्न होता है तो मैं आपको दुःखी नहीं करता, किन्तु मेरे दुःखको देखकर आप स्वयं अलगसे दुःखी हो जाते हैं। कभी किसीके यहाँ

फेरा करने कोई रिस्तेदार जाता है। फेरा क्या कि किसीके मरनेपर उसके घर रिस्तेदार लोग जाते हैं तो उनको घरके लोग देखकर ज्यादा दुःखी हो जाते हैं, और उनको अत्यधिक रुलाई आ जाती है। वहाँ यह नहीं है कि रिस्तेदारोंने उसे दुःखी कर दिया। वास्तवमें रिस्तेदारोंने उनके दुःखको बाँट नहीं लिया। पर रिस्तेदार भी दुःखी हो गये, वे भी दुःखी हो गये। दोनों अपने आपमें दुःखी हो रहे हैं। कोई किसी दूसरेके दुःखसे नहीं दुःखी हो रहा है। मैं जब दुःखी था तब अकेला ही दुःखी हो रहा था। जब सुखी था तब अकेले ही सुखी हो रहा था। मिलकर कोई सुख दुःख नहीं करता। सुख और दुःख कोई बाँटता नहीं है। सब अपने-अपने बारेमें दुःखी होते और अपने अपने बारेमें सुखी होते हैं। जैसे मैं अकेला ही दुःखी था, इसी प्रकार आगे भी अकेला ही दुःखी होऊँगा। जिसे लोग सम्वेदना कहते हैं, उसको देखकर बड़ी सम्वेदना उत्पन्न होती है, बड़ा दुःख होता है। ऐसा अभिप्राय जाहिर किया। उसको एक दुःख नया लग गया। मेरे दुःखसे दुःखी नहीं होता। उसी तरह दो आदमी मिलकर किसी काममें सुखी होते हैं तो दूसरेके सुखसे यह सुख नहीं होता, किन्तु इसे अपना एक सुख और मिलता है। प्रत्येक जीव अपने ही सुखसे अकेला ही सुखी है, अपने ही दुःखसे अकेला ही दुःखी है। किसी परके संयोगसे मेरा कोई लाभ नहीं। मैं अपने द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, भावसे परिपूर्ण हूं। जैसे चूल्हे पर बटलोही रख दिया भात बनानेके लिए। नीचे आग जल रही है। आग अपने स्वरूपसे अपनेमें पूर्ण है और पानी अपने स्वरूपसे अपनेमें पूर्ण है। आगका संयोग पाकर पानी गर्म हो जाता है तो पानी अकेले ही अपनी ही परिणतिसे शीतपर्याय को छोड़कर गर्म हो जाता है। तो अग्निने पानीको गर्म नहीं किया। ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि सन्निधान पाये तो पानी गर्म हो जाता है। ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि अपने इष्ट रिस्तेदारको देखा तो अपना दुःख सुख उमड़ आता है। कहीं मेरे सुख दुःखसे बाहर में सुख दुःख न होगा। वास्तवमें मैं अकेला ही हूँ। जितने भी दुःख हैं वे परपदार्थोंके संयोग से होते हैं, किन्तु परपदार्थोंसे नहीं होते। मैं तो केवल एक ज्ञानदर्शन प्रकाशरूप हूँ। अब मैं यह समझूँ कि मेरा लोकमें कहीं कुछ नहीं है, न कोई जीव मेरा है, न कोई अणु मेरा है। मैं अपनी ओरसे ही कल्पनायें बनाकर सुखी दुःखी होता हूँ। इस कारण सर्व परपदार्थों की प्रतीक्षाको मैं त्याग दूं। शुद्ध आनन्द, सत्य आनन्द केवल ज्ञानमात्र अपनेको निरखनेसे होता है। जिस क्षण ऐसी दृष्टि होती है कि मैं अपने आपको केवल जानन स्वरूप ही देखूं, उस क्षण जो आनन्द होता है वह शुद्ध और सहज है। वह आनन्द तो स्वाधीन है, परकी उपेक्षासे उत्पन्न नहीं होता है। जो सुख परकी उपेक्षासे उत्पन्न होता है वह सुख सुख नहीं है, दुःख ही है। क्योंकि परके परोक्ष करनेमें क्लेश ही होते हैं। परकी आशा रखनेसे संक्लेश

ही मिलते हैं। इसलिए ऐसे सुखकी दृष्टि हमें करनी चाहिए जो स्वतंत्र है, अपने आपसे अपने आपमें प्रकट होता है। ऐसे सुखस्वरूप निज चैतन्यब्रह्ममें ठहरकर ज्ञातामात्र रहकर अपने आप सुखी होऊं।

खेदेन विषये वृत्तिवृ त्तौ पश्चाच्च खेदता।
भोगः खेदमयस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम ॥७-३७॥

देखिये जगत्के जीव विषयोंमें ही मौज मनाते हैं, मगर विषयोंका प्रसंग दुःखसे आदि में, मध्यमें और अंतमें भरा हुआ है। विषयोंकी प्रवृत्ति तब है जब कि वेदना हो। बुखारमें कम्बल कब ओढ़ते हैं? पसीना निकालनेके लिए कम्बल ओढ़ा जाता है। इसी प्रकार विषयों में जितनी प्रवृत्ति है, वह खेदके कारण होती है। क्षुधाकी वेदना न हो तो खानेकी क्या आवश्यकता? खानेसे पेट भरा हो तो खानेकी क्या आवश्यकता? खानेकी प्रवृत्ति वेदनाके कारण होती हैं। उसी प्रकार पचेन्द्रियके विषयोंमें जो प्रवृत्ति होती है वह खेदके कारण होती है। खेद न हो तो विषयोंमें कौन लगे? अभी यहाँ बैठे हैं, रेडियो सुनना है तो रेडियो सुनने की प्रवृत्ति क्यों हुई? कोई मनमें खेद नहीं है। बाह्यप्रवृत्ति जितनी होती है, वह खेदपूर्वक होती है। हम बोलने लगे कोई खेद है तो बोलने लगे। आप सुनने लगे, कोई खेद है तो सुनने लगे। आप घर गए तो कोई खेद होनेसे, आप घरसे हटे तो कोई खेद होनेसे। जितनी बाह्यप्रवृत्ति होती है वह किसी न किसी खेदके कारण होती है और उस खेदके मिटानेका इलाज है, विषयोंकी निवृत्ति। यह तो है विषयोके प्रारम्भकी बात, मगर विषयोंमें जब लगते हैं तो उन विषयोंके कालमें भी बहुत खेद है। हलुवा, पूड़ी, मिष्ठान्न आदि जब खाते हैं तब समतासे नहीं खाते हैं, लप-लप जल्दी-जल्दी मौजसी मनाते हुए खाते हैं। कोई समतासे धीरे धीरे चबाकर, जैसे कि कुछ खानेकी इच्छा ही नहीं है, इस तरहसे नहीं खाते हैं। इसी प्रकार विषयोंके भोगके समय भी लपलप करते हुए एक उचटसी दिलमें रहती है, एक जल्दबाजी करते हैं, वहाँ भी तो खेद हो रहा है और जब विषय भोग चुकते हैं तो उसके बाद भी खेद होता है। जैसे आजकल गर्मी है, खूब डटकर खा लिया, पेटमें पानी भर लिया, फिर भी गला सूख रहा है, दुःखी हो रहे हैं। पानी भीतर नहीं जाता है और प्यासकी वेदना लग रही है। कोई भी भोग हो, उसे भोगनेके बाद भी खेद होता है। ये विषयोंके भोग दुःखके ही कारण हैं। भोगते समय खेद होता है, पीछे भी खेद होता है, प्रारम्भसे लेकर अंत तक खेदमय ही है। दुःखोंके बिना विषयोंकी प्रवृत्ति नहीं होती। आवश्यकता क्या है? अगर समता रससे पूरित है, ज्ञान भावनासे तन्मय है, आनन्दरसको चख रही है, तो विषयोंमें प्रवृत्ति किसलिए होगी? इसलिए ये विषयभोग नियमसे त्याज्य है। इन विषयभोगोंके त्या-

गमेमें ही शांति है। अभी वह भीतरका रोग है। सब अपने-अपने रोगमें बस रहे होंगे। भले ही ऊपरसे कुछ मुद्रामें बड़प्पन बना लिया गया हो, कुछ वेशभूषा, श्रृङ्गार बड़ा बनने वाला झलका लिया हो, पर अंदरसे तो अपने इस रागका अनुभव करते ही जा रहे हैं। इच्छा ही एक रोग है, जो संसारमें रुलाने वाली है।

शंसकाः मां न पश्यन्ति पश्यन्तो व्यक्त्यलक्षकाः।

को का निष्ठानिजास्थास्या स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७–३८॥

एकत्व भावना दुःखोंको दूर करने वाली और शांतिको उत्पन्न करने वाली है। जब यह जीव अपनेको अकेला अनुभव करता है तब यह शांति प्राप्त होती है। जब यह अपनेको परमें लगा हुआ, परसे बँधा हुआ मानता है तो इसको आकुलतायें उत्पन्न होती हैं। किसी को मरण पर बड़े दुःखकी पीड़ा हो, उन मनुष्यको कोई समझाता है तो इन्हीं बातोंको समझाता है कि भाई सब अकेले ही हैं, तुम भी अकेले हो। जो गुजर गया है वह तुम्हारा साथी न था, न होगा। तुम अकेले ही आये हो, अकेले ही रहोगे, मोहको छोड़ो। शांतिके लिए मोहको छुटानेका उपदेश दिया जाता है। घरमें सब कुछ है, वैभव है, परिवार है, सर्व कुछ संयोग है, किन्तु उनपर दृष्टि रहेगी तो आकुलतायें ही हाथ आयेंगी। उनसे रहित एकको ज्ञानमात्र जब अपने लक्ष्यमें अपनी आत्मा आती है तब उसे एक अद्भुत शांति प्राप्त होती है। इसी प्रसंगमें इस प्रशंसाका भी प्रसंग है। दूसरे प्राणी प्रशंसा करते हैं तो यह मानते हैं कि लोग मेरी प्रशंसा करते हैं। किन्तु प्रशंसा करने वाले पुरुष दूसरेकी प्रशंसा नहीं करते हैं। जैसे भगवानको पूजने वाले भक्त भगवानको नहीं पूजते हैं, किन्तु भगवानका स्वरूप इस प्रकार है ऐसी उस भक्तके ज्ञानमें बात जंची जिससे आनन्दित होकर वह अपनी चेष्टा करता है। अर्थात् वह अपने गुणोंके उत्कर्षको पूजता है। भगवानको नहीं पूजता है। अपने गुणोंके उत्कर्षके पूजनके समय विषयभूत भगवानका स्वरूप है। इसलिए भगवानके स्वरूपको पूजने का उपचार किया जाता है। वस्तुतः पूजने वाला अपनेको ही पूजता है, प्रशंसा करने वाला पुरुष अपने आपको ही प्रशंसता है। कोई मुझे प्रशंसित नहीं करता। मेरी प्रशंसा करने वाला पुरुष क्या मुझे जानता है? नहीं। मैं तो ज्ञानमात्र आत्मा हूं, जिसका नाम नहीं है। जैसे सभी चेतन हैं तैसा यह मैं भी चेतन हूं। दूसरोंमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है। सब एक समान हैं। ऐसा ज्ञायकस्वभावी चैतन्यतत्त्व मैं हूं। क्या मुझको प्रशंसा करने वालेने जाना है? नहीं जाना है। जब मुझे नहीं जाना और इस शरीरसे ही कल्पना कर रहे हैं कि यह अमुक है। ऐसा समझकर यदि प्रशंसा कर रहे हैं तो करें। उसने मेरी प्रशंसा नहीं की, वह मुझे पहिचानता ही नहीं है तो प्रशंसा करेगा ही क्या? यदि उस प्रशंसा करने वालेने मुझे

जान लिया है तो उस जाननेके साथ ही वह पुरुष ज्ञानमें प्रवृत्ति करने लगेगा। वह स्वयं ज्ञानमय हो जायेगा। वह प्रयत्न कर ही नहीं सकता। प्रशंसा करने वाले लोग मुझे जानते नहीं हैं तो प्रशंसा कर ही क्या सकते है? इसलिए मैं किस पुरुषकी ओर आकृष्ट होऊं, किसमें अपनी निष्ठा बनाऊं? किसमें अपना विश्वास समझूं? अरे अपना ही आदर एक सच्चा आदर है। अभी लोकव्यवहारमें देखो, कोई पुरुष किसी पुरुषकी प्रशंसा करता है तो वह सर्व प्रशंसा निन्दारूप है। प्रशंसा कोई नहीं करता। प्रशंसा करनेके लिए वह खड़ा होता तो है, मगर निन्दा कर बैठता है। पर-प्रशंसा निन्दा है। कोई क्या प्रशंसा करेगा? कोई किसी सेठको कह दे कि यह सेठ साहब बड़े मान्य व्यक्ति हैं। इनके चार लड़के हैं—एक मिनिस्टर है, एक बड़ा डाक्टर है, एक ऊंचा प्रोफेसर है, एक बैरिस्टर है। ऐसी अगर किसी ने प्रशंसा कर दी तो इसका मतलब क्या हुआ कि सेठ साहब कोरे बुद्धू हैं। इनके लड़के तो बुद्धिमान हैं, मगर सेठ साहब कुछ नहीं हैं। यह तो उनकी बुद्धिकी तारीफ हुई। यह हो गई निन्दा, मगर ये मानते हैं अपनी प्रशंसा याने इनके लड़कोंमें तो ये गुण हैं पर इनके पास कुछ गुण नहीं। तो यह हो गयी निन्दा और क्या बोलते हैं कि इनके पास ६-७ खण्ड तक की हवेलियां हैं, बड़ी सुन्दर हैं। तो यह हो गई सेठकी निन्दा कि हवेलियोंमें तो सुन्दरता है, पर सेठजी में कुछ सुन्दरता नहीं है। मकान तो बढ़िया है, इसके अमुक दरवाजे पर बड़ी सुन्दर नक्काशी खुदी है। तो परमार्थसे यह हो गई सेठकी निन्दा। खैर आप कहेंगे कि सेठ जी बड़े परोपकारी हैं। दूसरोंके उपकारके लिए अपना तन, मन, धन सब लगा देते हैं। क्योंजी, यह प्रशंसा हुई कि निन्दा? अगर वह सेठ ज्ञानी है तो वह सोचेगा कि यह केवल मेरा ज्ञानमात्र है और परपदार्थोंके कर्तृत्वका अपराध मुझपर लगाते है कि यह परका कर्ता है। यह स्वरूप तो प्रभुके स्वरूपको बर्तने वाला है और यह परपदार्थोंमें कर्तृत्वकी बुद्धि लिए है। मुझपर यह आरोप करते हैं कि इनमे परकर्तृत्वकी बुद्धि है। तो यह प्रशंसा नहीं हुई, यह हुई निन्दा। तीसरी बात यह है कि प्रशंसा करने वालेने आपमें आनन्द उपजाया कि क्लेश उपजाया, इसका भी निर्णय करो। प्रशंसा करने वाला तो आपसे अपनी खुदगर्जीकी पूर्ति करना जानता है और उस अपने स्वार्थमे आपकी प्रशंसा करेगा। अब उसको सुनकर आप यह चाहेंगे कि यह बड़ा भला है, मैं इसको कितना सुखी कर दूं? क्या-क्या कर दूं तो प्रशंसा करने वालेके पीछे आप बड़ा परिश्रम करते हैं। उसने क्या किया? दो बातें बोल दीं और आप उसके लिए बिक गये। ये बच्चे लोग अपने माता-पिताके खिलाफ चलकर व्यर्थ ही दुःखी होते है। अरे जो ये २०-२५ सालके बच्चे हैं वे अपने पिताकी जरा बात तो मान लें, थोड़ासा हाथ जोड़ लें, इतना ही तो श्रम करना है, फिर तो बच्चे लोगोंको सुखी करने

के लिए यह बाप तुम्हारे पीछे कष्ट उठायेगा। उस बच्चेको सुखी ही देखना चाहेगा। जरासी दवा है, जरा प्रेमसे बोलना है, पैर छू लेना है, बात मान लेना है, फिर तुम्हें सुखी करनेके लिए यह बाप जी जान छोड़कर श्रम करेगा, आनन्दसे रखना चाहेगा। जरासी बात नहीं करते तो खुद दुःखी होते हैं। बापको तो दुःखी करते ही हैं। तो क्या है? प्रशंसा होनेसे मनुष्यको लाभ कुछ नहीं है। उससे केवल खेद ही होता है। चौथी बात क्या है कि प्रशंसा सुनकर यह मनुष्य अपने सन्मार्गसे हट गया। अब यह ऐसे मौजमें आ गया कि सत्कर्म करना, पापोंसे छूटना, इन बातोंकी सावधानी उसके नहीं रहती। अब अपने माफिक यह समझ लिया कि मैंने अपने जीवनको सफल कर डाला। प्रशंसा चाहता था और प्रशंसा मिल गई तो इससे बढ़कर जीवनमें अब करना क्या है? ऐसी जहाँ बुद्धि आ जाती है वहाँ सम्मानका चलना समाप्त हो जाता है। यह प्रशंसा हमारे अहितके कारण है। प्रशंसाकी जैसी बात है ऐसी ही इस सम्पदाकी बात है। यह सम्पदा भी हमारे अहितका कारण है। अगर सम्पदा अहितका कारण न हो तो बड़े-बड़े चक्रवर्ती, तीर्थंकर इस सम्पदाको त्यागकर, वस्त्र तकको त्यागकर संगमें कुछ भी तिलभर न रखकर केवल अपने ज्ञानकी उपासनामें क्यों लगे। शुद्ध आनन्द तो केवल अपने आपकी दृष्टिमें भरा है, किसी पदार्थसे आनन्दकी आशा न करो और न आनन्दकी श्रद्धा रखो। यह बात मूलमें होती है। हम यदि सुखसे रीते हैं तो सैंकडों आदमी भी उद्यम कर डालें तो सुख नहीं उत्पन्न हो सकता। यदि हम सुखसे भरपूर है तो हमें दूसरोंसे सुखकी क्या आशा करना है? अपने इस शुद्धस्वरूपका यथार्थ निर्णय किए बिना शांतिका मार्ग नहीं मिल सकता है। वे स्वयं भिखारी बने हैं जिनसे सुखकी आशा करते हैं। किसी दूसरेसे हित और सुखकी आशा न करो। यह आतमा सिद्ध प्रभुके समान अनन्त ज्ञान सुखका धारी है, किन्तु 'आशावश खोया ज्ञान। बना भिखारी निपट अजान॥' ऐसी इसकी स्थिति बन रही है। अपने स्वरूपको संभालूं तभी मैं सुखी हूं। ये प्रशंसकजन मुझे नहीं देखते हैं। तो ये प्रशंसा क्या करेंगे? यदि मुझे देखते हैं तो मेरे शुद्ध ज्ञायकस्वभावको जान लिया। उसकी दृष्टिमें मैं व्यक्ति न रहा। यह आवांतर सत् न रहा, एक विशिष्ट सत् न रहा। उसके लिए एक शुद्ध चैतन्यप्रकाश ही रहा तो शुद्ध चैतन्यकी दृष्टिकी कौन प्रशंसा कर सकता है और कौन निन्दा कर सकता है? प्रयोजन यह है कि अन्य कोई प्राणी मेरा कुछ नहीं करता, मैं दूसरे का कुछ नहीं करता। मैं अपने आपमें स्वयं कल्पनायें, विचारधारायें बनाता रहता हूं। मेरा असर मुझपर होता है किसी दूसरेपर मेरा असर नहीं होता है। ऐसा अत्यन्त एकाकी अपने आपको समझने वाला ज्ञानी पुरुष मोक्षके मार्गको प्राप्त करता है और जो अपनेको अकेला ही समझ सकता है वह संसारमें क्लेशोंको नहीं पाता है। एकत्व भाव है—आप अकेले ही अव-

तरे, अकेले ही आपका मरण होता इस जीवका कोई साथी नहीं होता, ऐसा यदि ज्ञान है तो सारे संकट टल जाते हैं। क्योंकि संकट किसी दूसरे पदार्थसे नहीं आते। किसी बाह्य पदार्थ से सुखकी, हितकी आशा करनेसे संकट उत्पन्न होते हैं। जहाँ अपने आपको एक अकेला विचारा वहीं सारे संकट समाप्त हो जाते हैं। ऐसा उद्योग करके एकत्व भावनामें लगना चाहिए।

भिन्नपूतितनोरास्था स्वं किं लाभयते ततः।
को का निष्ठा निजास्थास्था स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-३६॥

यह शरीर जहां कि आसक्ति और आदर है वह आपसे अत्यन्त जुदा है, अत्यन्त भिन्न है। जीव तो एक ज्ञानस्वभावात्मक पदार्थ है। उसमें जाननके अतिरिक्त अन्य कुछ प्रतीति नहीं आती और जब मात्र जानन रहता है तब इसको निराकुलता होती है। इस प्रकार ज्ञान और आनन्दभावस्वरूप तो यह जीव है और यह शरीर जड़ है। रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिण्ड है, अत्यन्त भिन्न है। दूसरी बात यह शरीर अपवित्र है। देखो ना इस शरीर में ठीक मध्यसे लेकर वीर्य, फिर हड्डी, मांस-मज्जा, खून और चमड़ी, अंदरसे लेकर बाहर तक सब अपवित्र चीजें हैं। तो क्या मैं ऐसा अपवित्र हूं? मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव वाला हूं। मैं अपवित्र नही हूं। ऐसी अपवित्रतामें आसक्ति होना, इसको कितना व्यामोह कहा जाय? अपने आपकी पवित्रताका भान नही हो पाता है। यह कितने खेदकी बात है। हम आप सब आत्मा पूर्ण सुखी हैं। सुखसे तो स्वरूप ही रचा गया है। अपने स्वरूपको छोड़कर बाहरी पदार्थोंमें दृष्टि देनेसे तो हानि ही है। शरीरके आदरसे क्या कुछ प्रतिष्ठा भी होती है? जो मनुष्य अपने शरीरका अधिक व्यामोही है वह न परोपकार कर सकता है और न परका उपकार कर सकता है। इसलिए शरीरका आदर करना विवेक नही है, किन्तु अपने आपके स्वरूपका आदर करना विवेक है। कितना ही समय गुजार दें, कितना ही संयोगोंमें अपना समय व्यतीत कर लें, मगर शांति न मिलेगी। शांति तो अपने आपके आत्मावलोकनमें ही मिलेगी। यह जीव पूजा क्यों करता, भगवानके दर्शन क्यों करता? यही ख्याल करनेके लिए कि हे प्रभु ज्ञान और आनन्दकी जिसको चाह है उसे सब यहीं प्राप्त होता है। वह ज्ञान और आनन्द अपने आपमें ही है, पर कैसा मोहजाल है कि अपने इस स्वरूपको भूलकर बाहरमें दृष्टि लगाता है। क्या किया जाय? शरीरका सम्बन्ध है, मोहका प्रताप है, मोह बसा हुआ है। अनेक ऐसे कारण जुटे हैं जिनके कारण हम अपने आपके स्वरूपको नहीं जान पाते हैं। बाहरमें अपनी दृष्टि फंसी रहती है। इस शरीरके आदरसे लोग अपनेको भूल जाते हैं। शरीर के आदरसे ही अपना आदर मानते हैं। किसीने कुछ कह दिया, कुछ शब्द बोल दिया तो

आप आकुलित हो जाते हैं। आत्मामें तो उन शब्दोंका प्रवेश नहीं होता है, लेकिन यह सोच-कर आकुलित हो जाते हैं कि मुझे कुछ कह दिया है। वे अपने स्वरूपसे च्युत हो जाते हैं। मैं स्वयं अपराधी हूँ ना ? सो दूसरोंकी चेष्टाओंका अर्थ अपने आपपर लगाते हैं। जैसे एक बार तीन चोर चोरी करनेके लिए गये। एक चौथा नया चोर रास्तेमें मिला। बोला कि हमें भी साथ ले चलो। वे चोरी करने गये। जब चोरी कर रहे थे तो इतनेमें घरके मालिक की नींद खुल गयी। तीन चार चोर तो भाग गये। अब एक रह गया। अब कहाँ छिपे ? तो जिसे अटारी बोलते हैं, घरके ऊपर तो उस बल्लीमें वह जाकर बैठ गया। लोग आये उस बूढ़े मालिकसे पूछते हैं कि कहाँसे चोर आये थे ? क्या ले गये ? कितने थे ? दसों बातें पूछीं तो वह बूढ़ा अंतमें बोला—अरे मुझे क्या मालूम है ? यह सब तो ऊपर वाला जाने। उसका कहनेका मतलब था भगवानसे, पर ऊपर बैठा हुआ चोर स्वयं कल्पनायें बनाकर कहता है कि हूं हमीं क्यों जानें, वे तीन साथ वाले चोर क्यों न जानें ? वह पकड़ लिया गया। हम आप अर्थ अपने आप ही लगा लेते हैं। सबसे बड़ा काम है अपना अपराध क्षमा करना। मेरा अपराध क्या है ? अपराध है यही राग द्वेष, मोह, इष्ट बुद्धि, अनिष्ट बुद्धि जो मिल गये उनको ही अपना मान लिया, यही हमारा अपराध है। यह अपराध क्यों है कि अपने आपके अनन्त ज्ञानानन्द धनी इस प्रभुकी प्रभुताको बरबाद कर डाला। यही अपने आपके प्रभुपर इतना बड़ा अन्याय है। ऐसा अन्याय करते हुए हम आप हिचकिचाते नहीं हैं। विषयोंमें मौज मानते हुए चले जाते हैं। अपने आपपर शुद्ध दृष्टि नहीं करते। इस अपवित्र शरीरको देखकर ही यह व्यवहार हो रहा है। अच्छा बोलना, बुरा बोलना, मित्र मानना, शत्रु मानना ये सब इस शरीरको देखकर ही हो रहे हैं। अरे इस भिन्न अपवित्र शरीरकी आत्मासे क्या कोई लाभ हो सकता है ? क्या इस शरीरके आदरसे प्रतिष्ठा हो सकती है ? नहीं। केवल ज्ञानस्वरूपका आदर करो और प्रभुसे बार-बार यही प्रार्थना करो कि हे प्रभु मैं और कुछ नहीं चाहता हूं। केवल यही चाहता हूं कि मैं अपने ज्ञानस्वरूपको ताकता रहूं। उससे जो अमृत बरसता है उससे अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है, मैं आनन्दमें लीन रहूं। इतना ही अपने प्रभुसे प्रार्थनीय होता है। यह पर्याप्त उपाधिकृत है। इस तरह सर्व प्रकारकी परिणमन करने की दृष्टि हो जाय और अपने आपके सहजस्वरूपमें विश्राम लेकर सुखी होऊं।

नामाक्षरैर्न सम्बन्धो आत्मनः किं तदाश्रया।

को का निष्ठा निजात्म्यात्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-४०॥

निश्चयसे देखो तो इस आत्माका क्या नामके अक्षरोंसे सम्बन्ध है ? जिसके जो नाम हैं तीन चार छः अक्षरोंका, अपने नामके तीन शब्दोंको बोलकर विचार करो तो सही, क्या

उस नामके अक्षरोंसे आत्माका कोई सम्बंध है ? कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं, किन्तु विडम्बना इतनी बड़ी बन गयी है कि नामके अक्षरोंके लिए सब कुछ बरबाद कर डालते हैं। क्या बरबाद होना कोई बरबादी नहीं है, किन्तु अपने आपकी श्रद्धा और ज्ञानावरणमें च्युत हो जाते हैं। ऐसा नाम रखा हुआ आखिर स्वर व्यञ्जनसे ही तो निकला हुआ शब्द है। इतना बड़ा नाम शब्द बन गया। सर्व शब्दोंसे हमारा सम्बंध है क्या ? नहीं है, किन्तु उन नामके अक्षरों में इतनी अधिक आसक्ति हो गई है कि बहुतसे नाम लिखे हों, उनमे आपका भी नाम लिखा हो तो अपने नामको बहुत जल्दी देख डालते हैं। बड़ी जल्दी पच जाता है। कोई आपके नामको धीरेसे कहकर बुलाए तो बड़ी तेजीसे सुननेमें आ जाता है। अभी नींदमें सोये हुए हों तो उस नामको सुनकर बहुत जल्दी उठ जाते हैं, और बातोंसे नहीं उठते। कोई खटपट हो रही हो तो उससे नहीं जागते। इतनी नामके अक्षरोंमें आसक्ति है। 'इन अक्षरोंसे आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं। मेरी आत्माका तो कोई नाम ही नहीं है। यह तो एकचित् वस्तु है। ज्ञान और आनन्दस्वभावको प्रकट करने वाला एक पदार्थ है। जो है सो है, इसका नाम नहीं है, नाम तो लोकव्यवहारके लिए रखते हैं। आत्मा तो कोई व्यवहार नहीं करता, इसलिए आत्माका कोई नाम नहीं है। इस असमान चेतन द्रव्यपर्यायको लोकव्यवहार कहते हैं। यह जो शरीर बैठा हुआ है, यह न तो जीवकी चीज है, न कर्मोंकी चीज है, न आहार वर्गणाओं की चीज है, किन्तु सबके संयोगसे होने वाली एक मायारूप चीज है। इससे आत्माका कोई सम्बंध नहीं है। फिर नामके अक्षरोंसे कोई प्रतिष्ठा इस पृथ्वी पर होगी क्या ? अरे अपनी ही आस्था करो, अपने आपकी स्वयं अपनेमें प्रतिष्ठा करो तो इससे ही आनन्द प्राप्त होता है। यह मोहजाल बड़ा विकट बन्धन है। मोहमें अपने आपकी गलती अपने आपको नहीं मालूम देती है। अपने आपकी ही गलती अपने आपको नहीं मालूम पड़ सकती, ऐसी परिस्थितिको मोह कहते हैं। गलती करते हुए यह ध्यान यदि रह सके कि यह गल्ती है तो वहाँ मोह नहीं है, गल्ती जरूर है। मोह बड़ी गलती कहलाती है, अन्य गल्तियाँ कम गल्ती कहलाती हैं। हम भगवानकी भक्तिका आनन्द नहीं पा सकते हैं। भगवान्‌की भक्तिका आनन्द हमें तब मिले जब मैं भगवानके स्वरूपको अपने आपमें बसाऊँ। जहाँ इतना व्यामोह है कि धन-वैभव, परिवार आदि अनेक चीजें अपने आपमें बसाए हुए है वहाँ भगवानकी भक्ति नहीं हो सकती। यही तो देख लो—कोई मनुष्य अपने मित्रके शत्रुसे भी प्रेम करता हो तो मित्र के द्वारा क्या आदर पा सकता है ? नहीं। भगवानका शत्रु कौन है ? विषयकषाय या विषय कषायोंका शत्रु कौन है ? भगवान। तो भगवानके दुश्मन विषय कषाय हैं, भगवानके शत्रु विषय कषायोंसे हमारी रुचि हो तो क्या भगवानकी भक्ति बन सकती है ? नहीं बन सकती।

है। तो हम इतना परिश्रम रोज करते हैं। सुबह मंदिर आना, नहाना, पूजा करना, स्वाध्याय करना, इतना श्रम करते हैं, पर इस श्रमसे लाभ नहीं ले पाते हैं। यदि इस श्रमके समय हम अपने चित्तसे अपने सब पदार्थोंको हटा दें, केवल भगवानका ही अनुभव बनाएँ तो भगवानकी भक्तिसे कुछ लाभ मिल सकता है, किन्तु अपने इस पुरुषार्थमें इतना तेज, इतनी बुद्धि है कि लोग अपनी प्रतिष्ठाओंके लिए नामोंको पत्थरोंपर जड़वाते हैं, उल्लिखित करते हैं। काठ या पत्थर पर नामके अक्षर लिखवाते हैं। उन अक्षरोंसे आत्माका क्या सम्बन्ध है? यह तो देखो कि शब्द जड़ हैं और आत्मा चेतन। शब्द तो क्षणिक हैं, यह आत्मा ध्रुव है। इतनी भिन्नता आत्मा और उन नामके अक्षरोंमें है। इतना ख्याल न करके मोहीजन उस नामके लिए कितना श्रम करते हैं। एक सुनारिन थी। तो बहुत दिनोंके बादमें सुनारसे कहा कि कई वर्ष आपको धन कमाते-कमाते हो गये, पर हमको एक भी गहना नहीं बना। हमको बखोरा बनवा दो। बखोरा मोटे, टेढ़े किसी प्रकारके उसे बनवा दिये। अब इन देहातोंमें तो मोटी धोती पहिननेका रिवाज है और बड़ी धोती पहिननेका रिवाज है। उसकी वजहसे उसके बखोरे कोई दूसरा देख नहीं सकता था। एक दिन सोचा कि कितना हठ करके बनवाया, किसीने यह न कहा कि बड़े सुन्दर बखोरे हैं, कब बनवाये? उसके मनमें गुस्सा आ गया। गुस्सेमें न जाने क्या कर दिया जाय? उसने झट अपनी झोंपड़ीमें आग लगा दी। जब आग लग गयी तब उसका दिमाग खुला, सो लोगोंको बुलाती है, चिल्लाती है—अरे दौड़ो, झोंपड़ी जल गयी, वहाँ बाल्टी है, वह कुआँ है, वह रस्सी है, हाथ फटकार-फटकार रोती थी। लोग आए, बुझाने लगे। जब बखोरोंसे धोती हट गयी तो एक औरतने देख लिया, बोली—अजी ये बखोरे तो बड़े सोने है। इनको कब बनवाया? वह भी बोली—अरी रांड, अगर यही शब्द पहिले कह देती तो झोंपड़ीमें आग क्यों लगती? खूब धन है, भोजनके साधन हैं, पहिननेके साधन हैं, सब साधन हैं, फिर भी ये जीव कुढ़े जा रहे हैं। मेरा नाम अधिक नहीं हो पा रहा है, मैं अधिक धनी नहीं हूं, मैं कैसे बड़ा बनूं? अरे सबसे बड़ा बन लो, पर अंतमें तो मरण होगा ही। सब कुछ यहीं छोड़ जाना पड़ेगा। बड़े बनना है तो ज्ञानका स्वाद लो, अपनी शुद्ध दृष्टि बनाओ। अपनी ज्ञान ज्योतिको जगाओ कि मेरा अनुभव अलौकिक आनन्द हुमें बराबर मिलता रहे। ऐसा स्वानुभव यदि बन सकता है तो आत्मजीवनकी सफलता है। नहीं तो बाहरी बातोंमें क्या है? सब मिट जाने वाली बातें हैं। जिन लोगोंके अन्दरकी चाह करते हैं वे लोग भी मिट जाने वाले हैं। किनमें तुम आदर चाहते हो? जिनसे किसी भी परपदार्थको अपने उपयोगमें स्थान दो। अपने स्वरूपको देखो। अपनी आस्था करो तो यह अपनी आस्था ही अपने आपका अर्थ करनेमें समर्थ है।

न किमेकदशारूपोऽनाद्यनन्तस्तदा रुचिः ।
काऽस्तु मे लोकनिक्षेपे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-४१॥

मैं किसी भी एक दशारूप नहीं हूं । क्या मैं मनुष्य हूँ ? कुछ वर्षोंके लिए मनुष्य हूं । फिर तो मनुष्य न रहेंगे । मैं जो भी बन गया, क्या वह मैं हूं वह भी कुछ समयके लिए चीज है हमेशा न रहेगी । मैं किसी एक दशारूप नहीं रहता हूं, इसलिए दशा मैं नहीं हूं । मैं तो स्वयं हूँ जो अनादिकालसे रहने वाला हूं, अनन्तकाल तक रहने वाला हूँ । जो मिट जाने वाला है वह मैं नहीं हूं । मैं किसी भी एक दशारूप नहीं हूं तब मेरी व्यवहारकी क्या रुचि हो । यह श्रद्धा हो कि यह मैं नहीं हूं । बड़ा संकट जीव पर छाया है । क्या संकट जीवपर छाया है ? अपनी टेकका, कुटेवका । परवस्तुकी वांछा न त्याग सकना, परवस्तुकी वृद्धिमें ही अपना बड़प्पन समझना, ये कुटेव नहीं छोड़े जा सकते हैं तो यही बड़ा संकट है । जो चाहते हैं वह नहीं हो पाता है तो भीतरमें क्लेश मचाते है । धन्य है वे सम्यग्दृष्टि जन जो तीन लोककी सम्पत्तिको भी कागकी बीटके समान छोड़ देते हैं व उनका श्रद्धान दृढ़ हैं । दृढ़ श्रद्धान हो कि मैं आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप हूं, मेरा ज्ञान और आनन्द मेरे स्वभावसे ही परिणमता है । किसीको आशा रखना व्यर्थ है, आशा रखो तो प्रभुसे रखो । प्रभुसे कैसी आशा करो कि हे प्रभु ! आपके स्वरूपको देखकर आपकी भक्तिके प्रसादसे केवल अपने ज्ञान के अनुभवका स्वाद लेता रहूं । इससे बढ़कर और जगत्में कोई सुख व शांतिका उपाय नहीं है । अपना तो यह विश्वास हो कि जिससे आपकी अधिक प्रीति है उसके प्रेमसे आपको क्या मिलेगा ? प्रीति करते जावो वर्षों तक । एक दिन भी यदि उनसे बिगाड़ हो गया, वर्षों तक का प्रेम सब कूड़ेमें मिल जायगा । प्रेम कर रहे हैं और कहीं गड़बड़ी हो जाय तो क्या सम्भव नहीं है ? मनका न मिलना, मेल हो जाना यह तो बहुत कुछ सम्भव है ना ? सब पृथक्-पृथक् हैं । अपने-अपने कषायोंको पूर्तिमें लगें यह तो संभव है ना ? एक दिन भी बिगाड़ हो गया तो वर्षों तकका श्रम मिट्टीमें मिल गया और यदि बिगाड़ हो गया तो उसके फलमें क्या शांति मिलेगी ? नहीं । अशांति ही मिलेगी । किसीपर विश्वास न रखो । किसीसे मेरा हित होगा, सुधार होगा, आनन्द होगा, ऐसा विश्वास न रखो । मान जावो भगवान आचार्यदेवका कहना । मान जावो जिनवाणी माताका उपदेश । किसी भी परपदार्थमें विश्वास न रखो । आपका गुजारा नहीं चलता है परपदार्थोंके बिना तो गुजारा चलावो, वहाँ रहना पड़ता है रहो, वहाँ लगना पड़ता है लगो, किन्तु अंतरङ्गमें यह विश्वास तो बनाए रहो कि मेरा हित, मेरा सुख किसी परपदार्थसे न होगा । किसी परपदार्थमें ऐसा विश्वास न रखो । विश्वास रखो तो अपने आत्मस्वरूपमें, आत्मदेवमें । इतनी बात यदि नहीं कर सकते तो धर्म रंच भी नहीं हो सकता । मूल बात धर्मकी यह है । शरीरसे, वचनोंसे कितना ही धर्मके लिए श्रम

किया जाय उससे धर्म नहीं होता, उससे शांति नहीं मिलती। धर्म तो अपने अन्तरके ज्ञानके प्रकाशसे होता है। किसी वस्तुपर मोह न ठहर सके, ऐसा शुद्ध ज्ञान जग रहा हो तो वहीं धर्म हो सकता है। तुम यहाँ आकर मंदिरमें अधिकाधिक यही यत्न करो कि सब बाह्यपदार्थों को भूल जावो। बैठ जावो अपने हृदयमें, किसी भी परवस्तुका ध्यान न रखो। कोई पर-पदार्थ तुम्हारे आचरणमें आने लगते हों तो तुम परपदार्थोंको हृदयसे निकाल दो। ऐसा सोच-कर कि इसमें हित क्या होगा? ये क्षणिक चीजें हैं, इनमें विकल्प हैं, ये मिट जायेंगे, ये बरबाद हो जायेंगे। किसी भी परपदार्थको अपने उपयोगमें स्थान न दो। अपने आपमें सहज विश्राम करो तो ज्ञानका अनुभव होगा, आनन्दका अनुभव होगा। इस आनन्दके प्रतापसे कर्म कटेंगे। इस आत्मामें शांतिके लिए नाना कर्म किए, किन्तु यह एक कार्य करके भीतरमें देखो। भीतरका कार्य केवल भावोंका कार्य है। केवल भावोंका साहस चाहे समस्त परपदार्थों को अपनेसे खुद त्यागकर समझ लो। कोई सोचे कि हम धीरे-धीरे मोह काट लेंगे तो मोह धीरे-धीरे नहीं कटता है। मोह मिटता है तो एकदम ही मिटता है, धीरे-धीरे नहीं मिटता है। मोह जब तक रहता है तब तक पूरा रहता है और जब कटता है तब पूरा कटता है। रागोंकी बात जरूर है कि धीरे-धीरे कटते हैं। राग धीरे-धीरे कटते हैं, पर मोह एकदम कटेगा। घरमें रहते हुए, घरके सब काम करते हुए भी एक काम तो कर ही लो कि मोह किसीके रंच न रहे। आप कहेंगे कि क्या ऐसा हो सकता है कि मोह न रहे और घरमें बने रहें? तो ऐसा भी हुआ करता है। मोह न रहे, किन्तु परिस्थितिवश घरमें रहना पड़ता है। यह नियम नहीं है, पर विरले ही प्राणी ऐसे हैं कि मोहके दूर होते ही घरको एकदम छोड़ सकते हैं। यदि साझेदारीका व्यापार है, उसमें किसी साझेदारका छल मालूम पड़ गया तो अहो, इसने इतना कपट किया, इसमें २० हजारकी हानि होने वाली है। तो जब ऐसी बात होती है तो उसमें साझेदारसे मोह रहता है क्या? यह अच्छा है, यह भला है, इससे सब कुछ है, ऐसा मोह नहीं रहता है, किन्तु आज ही यदि उस साझेदारसे बिगाड़ करते हैं तो २० हजारका नुक्सान होता है, इसलिए मोह न होते हुए भी साझेदारसे राग किया जा रहा है। ऐसा व्यवहार किया जा रहा है कि जिससे वह घटा हुआ न समझकर और समयपर रागोंको भी छोड़ देता है। अनेक हालतें हैं। मुनीमको देखो दुकानपर बैठकर कितना काम करता है? सेठ तो नहीं करता है और लोगोंसे यह भी कहता है कि मेरा तुमपर इतना गया, तुम्हारा मुझपर इतना आया, ऐसा भी कहता है। यद्यपि उसका नहीं गया, मुनीमका नहीं गया, मगर कहना तो पड़ता है, तिजोरीकी रक्षा करता है। सब कुछ करता है, पर अन्दरमें क्या यह मोह है कि यह मेरी सम्पत्ति है? मुनीमके अन्दर मोह कतई नहीं है। यही देख लो,

लड़कियोंकी शादी हो गई। चार छः वर्ष हो चुके हैं। इसके बाद जब लड़की माँ बापके घर से ससुरके यहां जाती है तो रुदन करती है, पर क्या उस लड़कीके पिताके वैभवमें मोह है ? रंच भी तो मोह नहीं है। उसे मोह लगा है अपने घरका। घरसे खोचना चाहती है। बहुत दिन हो जायें, माता-पिताके घरमें रहती हो तो यह कोशिश करती है खबर पहुंचाकर कि मुझे जल्दी लिवा ले जावें। और जब लिवाने जायेंगे तो उस समय भी रुदन मचाती है। रोना ही पड़ता है, पर अन्तरमें मोह है क्या ? नहीं। एक नहीं बीसों उदाहरण ले लो। अंतरमें मोह नहीं है, फिर भी परिस्थितिवश राग करना पड़ता है। हम आपको ही कहते हैं, आप अपनी अच्छी परिस्थितिमें रह रहे हो, रहन-सहन खान पान अच्छा है, सभी बातें हैं। आपके ज्ञान जग जाय, मोह हट जाये तो मोह हटनेपर एकदम आपको लंगोटी और चद्दर बांधकर चलनेकी हिम्मत नहीं पड़ती है। परिस्थिति ही ऐसी है। आपके रहन सहनका ढंग ऐसा है कि नहीं निकलने पाते हैं और ऐसा नियम नहीं है निकल भी जाते हैं। पर मोह न रखो। घरमें रहना पड़ता है रहो, पर चित्तमें ऐसा विश्वास रखो कि मेरा हितकारी तो मैं ही हूं। मेरा हितकारी कोई दूसरा नहीं हो सकता। मेरा शरीर भी तो मेरा हितकारी नहीं। ये सब परिणतियां हैं, प्रवाह हैं, पर्याय हो जाती हैं, मगर किसी पर्यायमे मोह करनेसे हम संसारमें अटक जाते हैं। आप झांसीसे बंबईको जाना चाहते हैं। रेलमें बैठ गये। बीचमें कई सुन्दर जगहे मिलती हैं। ये फुलवाड़ी हैं, ये बेल हैं, यह पताका लगी है, सुन्दर मकान बने हुए हैं। क्या आप किसी बीचकी स्टेशनको सुन्दर देखकर रेलसे उतर जाते हैं ? यह स्थान मुझे सुन्दर लग रहा है, मैं तो यहींपर जमूंगा। तो क्या उस स्थानपर जमते हो ? नहीं, केवल आंखों देख लेते हो कि बड़ी सुन्दर स्टेशन है। ऐसा भाव बनाकर आगे चल देते हो। क्यों जो, उस छोटीसी स्टेशनको सुन्दर जानकर आप उतर जायेंगे तो क्या होगा ? आप अटक जायेंगे या आपका काम बनेगा ? आप अटक जायेंगे तो आपको दुःख होगा। जितने बाहरी पदार्थ हैं सबको देख भर लो, ज्ञाता द्रष्टा रह जावो। उनको छुए न रहो, पकड़े न रहो। केवल ज्ञाता द्रष्टा रह जावो। यदि इतना उद्यम बना सकते हो तो आप बम्बई पहुंच सकोगे। इसी प्रकार अपना लक्ष्य होना चाहिए प्रभुकी तरह पूर्ण ज्ञान और आनन्दके विकासमें मग्न रहनेका। इस उद्देश्यको लेते हुए आप चलिए। आपको नये-नये भव मिलते है, सुन्दर स्टेशन मिलते हैं। यदि सुन्दर रूप पाया हो, सुन्दर समागम पाया हो, धन वैभव पाया हो तो उस सुन्दरता पर मत रीझो। ये बीचके स्टेशन तो छूट जाने वाले हैं, इनमें आसक्ति न रखो, फिर अपने वाहनको तेज कीजिए। फिर अपनी भावनाकी सवारीको तेज बनाओ कि मुझे मोक्ष जाना है, मुझे केवल बनना है, मुझे पूर्ण ज्ञानानन्दमय होना है। अपनी इस भावनाको

आगे बढ़ाओ। बीचके भवोंकी सुन्दरता पर मत रीझो। आज मान लिया ५० हजारकी जायदाद पायी, एक लाखकी जायदाद पायी तो क्या यह नहीं हो सकता था कि आप १०० रुपट्टी वाले रह सकते ? जब १००-२०० की पूंजी वाले रहते तो क्या गुजारा न करते ? कदाचित् इतना वैभव मिल गया है। उसमें अपनी हिकमत मत समझो, उसमें अपनी कला न समझो। पूर्वमें धर्म किया था उससे ही यहां यह वैभव मिल गया है। आपके हाथ-पैरोंसे वैभव नहीं मिला, किन्तु पूर्वकृत कर्मोंका सब फल है। दो प्रकारके पुरुषार्थ हैं—एक संसारी वैभव सम्बन्धी और एक मोक्ष सम्बन्धी। सांसारिक वैभवका आधार तो पुण्यका उदय है और मोक्ष जानेका आधार आत्माका पुरुषार्थ है। भाग्य और पुरुषार्थ—जिसको तुम पुरुषार्थ कहते हो वह पुरुषार्थ नहीं है, वह खोटा उदय है, वह विपरीत उदय है। पुरुषका जो स्वरूप है उसको पुरुषार्थ कहते हैं। आत्माका जो पद है उसके लिए जो परिश्रम होता है भावात्मक उसे पुरुषार्थ कहते हैं। यहां जो कुछ मिला है सो पुण्यके उदयका फल है। उस पुण्यके उदय के साथ थोड़ा श्रम हो जाता है, पुण्यका उदय न हो तो कितना ही श्रम करो। तो उससे धन नहीं प्राप्त हो सकता है। उदयके साथ ही आपके पास ऐसी बुद्धि आती है कि वह चीज आपको मिल जाती है। वह वैभव कैसे मिलता है ? जब पुण्यका उदय है तो वह लक्ष्मी मिलती है। जब आप लक्ष्मीसे मुख मोड़कर चलें तो ऐसी स्थितिमें पुण्य विशेष बंधता है। जैसे छायाके पीछे दौड़ो तो छाया नहीं पड़ती और उससे विमुख होकर चलो तो वह पीछे चलती है। लक्ष्मीसे यदि आप विमुख रहें तो आपके पीछे चलती है। अपने सबसे भिन्न मात्र स्वरूपका आदर करो, प्रभुकी भक्ति करो तो तुम्हारा पुण्य होता है और लक्ष्मी पीछे-चलती है। तो इसका कारण पुण्य है। पुण्यका कारण तेज ज्ञान है और उसका कारण वस्तु स्वरूपका बोध है। इसलिए लौकिक जीवों और अलौकिक जीवों दोनोंके लिए यह कर्तव्य है कि वस्तुस्वरूपका ज्ञान करो, अपने प्रभुकी भक्ति करो, फिर उस भक्तिमें ही लीन रहो। बाहरी वस्तुवें जो प्राप्त होती हैं उनका आदर इस लोकव्यवहारमें न हो और अपने ज्ञानानंद स्वरूपका आदर हो।

रागवह्निन्धनं दृश्यं किं संचिन्त्येन्धनं स्वयम्।
शीतलोऽपि पतान्यग्नौ स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-४२॥

यह दिखने वाला समस्त जगत् रागरूपी आगके लिए ईंधन है। जैसे ईंधन आगके प्रति क्या काम करता है ? आगको संतुष्ट करता है क्या ? संतुष्ट नहीं करता, किन्तु आगको बढ़ाता है। इसी प्रकार ये जगत्के विषय राग बढ़ानेके कारण बनते हैं। रागको संतुष्ट नहीं कर सकते। जैसे इस परिग्रहसे कभी संतोष हो सकता है क्या ? ऐसी आशा की, कहा कि

री आशा तेरी पूर्तिके लिए बहुत साधन जुटाये, परिग्रह जुटाया, पर तू संतुष्ट हुई अथवा नहीं ? यदि तू संतुष्ट हो गयी हो तो अब जा और संतुष्ट न हुई हो तो तुझे संतुष्ट होना ही नहीं है। चाहे तीन लोकका परिग्रह एकत्रित कर लिया जाय, पर संतोष नहीं होता है। ये सब दृश्यमान पदार्थ रागरूपी अग्निके लिए ईंधन है। यह जीव कितनी ही बार धनी हुआ है, राजा महाराजा भी हुआ है, फिर भी जिस भवमें जैसे कि इस ही भवमें जो कुछ थोड़ा साधन पाया है, उसमें भी ऐसा राग करता है जैसा कि उसे कभी कुछ मिला ही न हो। अब इस बार जो कुछ मिला है सो उससे परिग्रहमें खूब आसक्ति कर ले। अरे जैसा परिग्रह पाया है उससे लाख गुणा परिग्रह कई भवोंमें पा लिया है, उससे भी संतोष नहीं हो सका था। मगर ऐसी आदत पड़ी है जैसे भूख लगती है ना ? जैसे आज उड़दकी दाल रोटी खायी, वैसे ही रोज खाते हैं, वैसी ही रोटी दाल कल भी खायी थी। तो रोटी दाल दूसरे दिन वही वही खाते हैं, पर रोज-रोज अनोखी लगती है। इसी प्रकार कई भवोंमें पायी हुई सम्पदाके बाद इस जीवको इस भवमें जितनी सम्पदा मिली है वह इसे अनोखी लगती है। इस आत्म-देवपर बड़े संकट हैं। वह संकट है परकी दृष्टि। परकी दृष्टि हटे तो इसके संकट दूर हो सकते हैं। सम्बन्ध कुछ नहीं है, परिग्रह भी अंटसंट आता है। आपके आया है। विचारनेकी कला से नहीं आता है। पूर्वकृत पुण्यका उदय था, इसलिए यह आ गया है। एक दृष्टिमें जिसे जो कुछ मिलता है यों मुफ्त ही मिलता है। उसमें मेरी आत्माका बल प्रविष्ट नहीं होता है और जब जायेगा तो यों ही मुफ्त जायगा। एक चोर था, वह राजाकी अश्वशालामें चला गया। एक बहुत बढ़िया काला घोड़ा चुराकर ले आया। बाजारमें खड़ा कर दिया, जहाँ पशु बिकते थे। लोग आये, घोड़ा देखा, सुन्दर था ग्राहक बोले—घोड़ा बेचोगे ? बोला—हाँ, बेचनेको ही आया हूँ। तो कितनेका बेचोगे ? था ३०० रुपयेका और बताया ९०० रु० का, ताकि यह न जान सकें कि यह चोरीका है। सात-आठ ग्राहक निकल गये।

अब एक बूढ़ा चोर निकला, पूछता है घोड़ा बेचोगे ? बोला—हाँ। कितनेका ? ९००) में। जब यह आवाज सुनता है तो जान जाता है कि यह चोरीका है। बोला—भाई इसमें ९००) की क्या कला है ? अजी इसकी चालकी ऐसी कला है कि ९०० रुपये क्या, कई ९०० रु० न्योछावर हो जायें। कहा—अच्छा देखें, यदि अच्छा है तो ९०० क्या सवा नौ सौ देंगे। बूढ़ा चोर जो मिट्टीका हुक्का लिए था सो उसे पकड़ा दिया था और स्वयं घोड़ेपर बैठकर उसे उड़ा ले गया। अब थोड़ी देरमें पुराने ग्राहक आते हैं। पूछते हैं कि क्या घोड़ा बिक गया ? हाँ बिक गया। कितनेमें बिक गया ? जितनेमें लाये थे उतनेमें बिक गया। और मुनाफा क्या मिला है ? मुनाफामें मिला है एक तीन आनेका मिट्टीका हुक्का, सो इसी तरह

ये सारे भौतिक पदार्थ जिनमें आत्माके प्रदेशोंका प्रवेश नहीं, बलका प्रवेश नहीं, ये यों ही ही मुफ्तमें मिले हैं और यों ही मुफ्त जायेंगे। मुनाफेमें कुछ मिलेगा क्या ? मुनाफेमें मिलेगा क्या ? कर्म। कर्मबंधन पापका हुक्का मिलेगा याने जो कुछ प्राप्त हुआ है उसमें जो ममता है उस ममता परिणामके कारण जो पापोंका संस्कार बना वह मरनेपर साथ जायगा। बाकी परपदार्थोंके परिग्रह ये मेरे साथ नहीं जायेंगे। ये मुफ्त ही मिले हैं, मुफ्त ही चले जायेंगे। बुद्धिमानी इसमें है कि परिग्रहकी बुद्धि न करो। मुझे अपना सदुपयोग करना चाहिए। उसमें यह नहीं ध्यान रखना चाहिये कि ये घरके लोग हैं ये ही मेरे सर्वस्व हैं उनके लिए सब कुछ है और अन्य लोगोंके लिए एक पाई भी नहीं है। इतनी आसक्ति किसीमें न होनी चाहिए। जीव है उनकी यह व्यवस्था है। आपने अपने घरके ५-७ लोगोंकी व्यवस्था कर ली सो यह व्यवस्थाकी लिहाजसे तो ठीक है, पर इतनी आसक्ति नहीं होनी चाहिए कि मेरा तन, मन, धन सर्वस्व इन दो-चार घरके प्राणियोंके लिए है और दूसरोंके लिए इसमेंसे फूटी पाई भी नहीं है। इतनी आसक्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि यह अन्याय है अपने आपके प्रभुपर। ये घरके ही दो चार लोग तुम्हारे कैसे हो गए और भी अनन्त जगत्के जो जीव हैं। उनमेंसे यह छंटनी बड़ी जल्दी कर लेते हैं कि ये चार लोग मेरे हैं। यह अपने आपके प्रभुपर बड़ा अन्याय है। इससे जीवोंका उत्थान न होगा। ऐसी अनुदारतासे, व्यवस्थाके आदरसे परिवार की संभाल की जानेपर परिवारमें इतनी आसक्ति न रखो कि सब कुछ इन्हींके लिए है। यह समस्त दृश्यमान जगत् इस रागरूपी अग्निके लिए ईंधन है। ईंधनको बटोरकर यह मैं शीतल स्वभावी होता हुआ ऐसी अग्निमें क्यों गिर रहा हूं ? रागोंमें क्यों पतित हो रहा हूं ? दृष्टि ही का तो फेर है। सर्व कुछ करनेपर भी आप यों समझें कि हमें यों करना पड़ता है।

जैसे कहावतमें कहते हैं कि गले पड़े बजाय सरे। इसका मतलब यह है कि दोस्तोंने एक दोस्तको नीचा दिखानेके लिए एक ढोलक गलेमें डाल दी ताकि वह झेंप जाय। तो वह दोस्त भी बड़ा चतुर था। उसने दो लकड़ियां उठायीं और प्रेमसे ढोलक बजाने लगा ताकि झेंप न लेना पड़े और मजाक करके बढ़ रहा है। तो गले पड़े बजाय सरे। इसी प्रकार आज गृहस्थीमें सम्बन्ध हो गया है सो गृहस्थीको निभानेसे ही सरेगा। पर आसक्ति न रखो कि ये मेरे सब कुछ हैं। ज्ञान जगाते रहो, यह ज्ञान ही मेरा सब कुछ है। जैसे ये घरके लोग हैं वैसे ही और जीव हैं। जगत्के अनन्त जीवोंको माना कि ये मेरे कुछ नहीं हैं और घरके चार जीवोंको मान लिया कि ये मेरे हैं। इस जीवका विषय त्याग नहीं हो सका, इसलिए घर बसाना पड़ा और यह कुटुम्ब बना। तब मेरा भार हमपर है। हम मेरी रक्षा करते हैं, पर मेरे ये कुछ नहीं हैं। ऐसा भीतरमें श्रद्धान रखो। घरमें इस तरह न बोलो नहीं तो लड़ाई हो जायेगी कि तुम मेरे कुछ नहीं हो, तुम सब नरकमें ही ले जानेके कारण हो।

बोलनेकी आवश्यकता नहीं है। आप अपने अन्दर मनमें ठीक भावनाएँ बनाओ तो मोह अंधकार नहीं रहता है। विवेक जगता है तो गृहस्थावस्थामें भी रहकर आप कर्मोंकी निर्जरा कर रहे हैं। इस तरह मोक्षमार्गमें चल रहे हैं। जगत्के जो कुछ परपदार्थ हैं वे सब मेरे रागरूप अग्निको बढ़ानेके लिए ईंधनकी तरह हैं। ये सब सुखके लिए नहीं हैं। ऐसा अन्तरमें दृढ़ विश्वास होना चाहिए। मैं क्यों इस राग आगमें जलूं? सो इस राग दाहको तजो। यह रागरूप आग सदा जीवको जला रहा है। सो क्या करना चाहिए? समतारूप सम्बन्धका सेवन करो। विषय कषायोंको छोड़ दो। और अब तो अपने ज्ञानस्वरूपके दर्शनमें आवो। शास्त्र पढ़ना, पूजा करना, त्यागियोंकी सेवा करना, धर्मचर्चा करना, इनको इसी रूपमें न समझो, किन्तु इन सब बातोंसे अपना धर्म हित समझो। मैं अपनेमें बसे हुए ज्ञानामृतका कैसे पान करूँ? कैसे मेरी स्थिति आवे कि मैं केवलज्ञानका अनुभव रखूं? ऐसी उत्सुकतासे इस ही प्रयोजनके लिए सब आवश्यकताका निर्वाह करना चाहिए। केवल पूजाका काम है, पूजा करते हैं, किसलिए करते हैं कि उस समय अपने आपमें ऐसा अनुभव करें कि यह मैं केवल ज्ञानशरीरी हूं। ज्ञान ही इसका शरीर है, कलेवर है। ज्ञानके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं हूं। मैं ज्ञानका ही कर्ता हूं, ज्ञानका ही भोक्ता हूं, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, ज्ञान ही मेरा वैभव है, ज्ञान ही मेरा पिता है, ज्ञान ही मेरा रक्षक है, गुरु है, मित्र है, भगवान् है। इस ज्ञानस्वरूपमें मैं स्थित होऊँ। भगवान्की पूजा, स्वाध्याय, सत्संग इन सबका उपयोग करो और यह बहुत बड़ी समस्या है इस जीवकी कि इस जीवनके बाद और उत्तम जीवन पाऊँ, मोक्षमार्गमें लगूं, संसारके संकटोंसे दूर होऊँ। इस परिवारको, वैभवको, इन सब लौकिक सम्पदाओंको सोचने विचारने, सचित करनेसे इस जीवको लाभ क्या होगा? किन लोगोंमें हम बड़प्पन चाहते हैं। ये ही दुःख इस संसारमें रुलाने वाले हैं, स्वयं ही ये अपनी बरबादी करने वाले हैं। इनमें अपना बड़प्पन चाहनेसे क्या लाभ है? कोई मेरी इस आत्माको मत जानो, कोई न पहिचानो। मुझे जो भी संसार है उसकी आवश्यकता नहीं है। मैं अपने आपके ज्ञानस्वरूपको निहारूँ और सदाके लिए संसारके झंझटोंसे मुक्त होऊँ।

मृत्यै के ह्युद्यताः मृत्युरायत्याकस्मिकं ततः।
संदिग्धायुषि सद्दृष्ट्या स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-४३॥

मृत्युके लिये कोई तैयार होकर बैठता है क्या? कोई जैसे विवाहोंमें महीनों पहिलेसे कार्ड बनाए जाते हैं, निमंत्रण भेजे जाते हैं। शादी फलां दिन फलां तारीखको इतने बजे होगी। इस प्रकारसे मृत्युकी भी ६ माहसे तैयारी की जाती है क्या कि फलां दिन फलां तारीखको इतने बजे हम मरेंगे। क्या मृत्युके लिये कोई तैयारी की जाती है? यह मृत्यु तो

आकस्मिक हो जाती है, मर गया तब पता पड़ता है कि मरण आ गया। ऐसी आयुका इतना बड़ा संदेह है कि किस समय क्या हो जाय इस जीवनका—ऐसे संदिग्ध जीवनमें क्या करना चाहिए ? इसका विचार करना है। हमें अपनी दृष्टि सत्य बना लेनी चाहिए। इस संदिग्ध जीवनमें गंदी दृष्टि प्राप्त कर ली तो क्या लाभ है ? धन वैभवके लिये होड नहीं मचाना चाहिए। यह जगत तो असार है, यह आयु संदिग्ध है किनसे होड़ मचा रहे हो ? और उदय के अनुसार जो कुछ प्राप्त हुआ है उसके ही विभाग कर लो। एक धर्मका विभाग, एक दान का विभाग, एक कुटुम्ब पोषणका विभाग, एक आगामी कार्योंके लिए संचयका विभाग। और ऐसे विभाग करके रहनेसे यदि कभी सूखी रोटियाँ भी खाकर गुजारा करना पड़े तो उसमें प्रसन्न रहो और उसमें भी समझो कि मेरी क्या हानि है ? मेरा जीवन तो धर्म-धारणके लिए है, मेरा जीवन शुद्धाचरण निभानेके लिए है। कोई परवाहकी बात नहीं है। लोकमें निन्दा का भय है। इन लोककी बातोंमें न आ जाओ। यहाँ कोई भी तो नहीं रहेगा। सब सिनेमा के जैसे चित्र होते हैं, आये और चले गये। यह जगत पूरा सिनेमाकी तरह है यहाँ कोई कुछ नहीं कर रहा। ये सब चीजें ज्ञानियोंके ज्ञानसे परे हैं। यहाँ किसीका संकोच नहीं करना, किन्तु अपने आपके आत्माके सुधारकी बातपर ध्यान दो तो कल्याण है।

ज्ञातुं कथं श्रमं कुर्यां ज्ञेया भान्ति स्वयं ततः।
सर्वं श्रमं परित्यज्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-४४॥

ओह ! मैं किन्हीं पदार्थोंके जाननेके लिए श्रम क्यों करूँ ? यह मेरे ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि जो इसमें सत् है वह स्वयं ज्ञात होता है। यह समस्त ज्ञेय ज्ञानका विषयभूत है, आधारभूत नहीं है। उनमें मेरा ज्ञान प्रकट होता है ऐसी बात नहीं है कि ज्ञानका स्वयं ही स्वभाव है कि जो कुछ विश्वमें सत् है वह सब ज्ञेय हो जाता है। यह ज्ञानकी स्वच्छता का प्रताप है। मैं किन्हीं पदार्थोंको जाननेके लिए क्यों श्रम करूँ। यह ज्ञेय तो स्वयं मुझमें प्रतिभास होता है। सर्व आश्रयोंको छोड़ो। ओह, जाननेका भी तो हमें परिश्रम नहीं करना है। इस असार जगतमें क्या करना है ? समस्त पदार्थोंको छोड़कर एक क्षण स्वविश्राममें रत हो जावो तो अपने आपमें बसा हुआ सहज आनन्द प्रकट हो जायगा। समस्त गुणोंको छोड़कर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

न भोगो भोक्तुमायाति सन् बुद्धिस्थोऽधकारणम्।
किं तं बुद्धिगतं कुर्यां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-४५॥

ये भोग मेरे भोगनेमें नहीं आते। खूब ध्यानसे सोचिये, ये पंचेन्द्रियोंके भोगोंके साधन रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले पौद्गलिक पदार्थ ये मेरे भोगनेमें नहीं आते, किन्तु उनके बारेमें मैं

भुगता हूं, कल्पनाएँ करता हूं। सो उस बुद्धिमें भोगनेकी बात लेकर केवल पापोंका कारण बनता हूं, वैसे भी भजनमें बोलते हैं—'भोगे तो भोग क्या हैं ? भोगोंने भोगा तुमको।' कहते कि भोगोंसे तुम खुद भुग जाते, भोग नहीं भोगे जाते। तो उन पुद्गलोंकी पकड़में खुदका बिगाड़ होगा। भोगके साधन तो ज्योंके त्यों अपनी सत्तामें रहे हैं अर्थात् भोगनेमें वे स्वयं कुचले जाते हैं जो भोग करते हैं। भोजन जब किया जाता है तो कुचलनेसे वह पानी बन जाता है। कुछ भी पौद्गलिक पदार्थोंका बिगाड़ नहीं रहा। मेरी आसक्तिने ही मुझे तिरोहित कर दिया। तो भोगोंके भोगनेपर हमारा ही बिगाड़ होगा, भोगोंका बिगाड़ नहीं होगा। तो हमने भोग नहीं किया, भोगोंने हमको भोगा। मैंने स्वयं अपनेको बरबाद कर डाला। भोग हमारे भोगनेमें आ रहे हैं और हम पापोंके कारण बनते हैं। मैं कुबुद्धि करके उन भोगोंको क्यों करूं ? मैं तो उन भोगोंको तजकर अपनेमें अपने लिए, अपने आप स्वयं सुखी होऊँ। दो ही तो बातें हैं जीवके लिए। एक ज्ञान बढ़ाना और दूसरा भोग भोगना। इन दो में ही तो उत्सुकता होती है। भोग भोगनेकी उत्सुकतामें तो यह जाननेका केवल श्रम करता है। मैं ज्ञानस्वरूप हूं। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि जो सत् ही स्वयं ज्ञानमें आ जाता है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञानोंकी बड़ी प्रशंसा की जाती है। बात क्या हुई ? प्रशंसा की कुछ बात नहीं। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि सामने हो, पीछे हो, भूतमें हो, भविष्य में हो, सत्तायुक्त हो वह ज्ञानमें आयेगा ही। इस ज्ञानके बाधक आवरण कर्म हैं। ऐसा हमें ज्ञानमें नहीं आता और उसमें ही आश्चर्य करते हैं। यह तो अपने आप ज्ञानमें आता है। रही भोगोंकी बात, भोगोंको हम नहीं भोगते, किन्तु भोगनेके अभिप्रायमें उन भोगोंसे हम खुद भुग जाते हैं। सो मैं सर्व भोगोंमें बुद्धि क्यों करूं ? मैं अपनेमें अपने आप विश्राम पाकर स्वयं सुखी होऊँ।

कल्पनया यया प्राप्तोऽकल्प्यः सापि न मे यथा।
कोऽन्यो भव्यः पुनस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७-४६॥

यहां, मैं आत्मा अकल्प्य हूं। मैं स्वभावसे स्वतःसिद्ध हूं, एकस्वरूप हूं। मेरा पता सही तब पड़ता है जब किसी प्रकारकी मुझमें कल्पनाएँ उठती हैं, विकल्प तरंगें नहीं उठती हैं। आज सुबह एक भाई साहबने प्रश्न किया था कि जीवको हम विशद नहीं जान पाते हैं, चर्चासे ही समझते हैं। जीवको समझनेका उपाय चारित्रसे है। मतलब किसी वस्तुका मोह न हो, राग न हो, द्वेष न हो, विकल्प न हो, ऐसी स्थितिमें परम विश्रांति रहती है। इस विश्रामसे यह आत्मा विशद ज्ञात हो जाता है। तो आखिर कुछ भी तो कल्पनाएँ नहीं करते हैं। किसी कल्पनाके द्वारा ही तो उस अकल्प्य आत्माको प्राप्त किया जाता है। ये कल्पनाएँ

भी मेरी नहीं हैं तो परपदार्थ मेरे क्या होंगे ? जैसे कहते हैं ना कि शरीर ही मेरा नहीं है तो धन मेरा क्या होगा ? इससे भी बढ़कर सोचो, रागद्वेष ही मेरे नहीं हैं तो बाह्यपदार्थ मेरे क्या होंगे ? जिस रागसे हम बाह्यपदार्थोंसे प्रेम करते हैं वे राग मेरे नहीं हैं तो परपदार्थ मेरे होंगे ही क्या ? इससे भी बढ़कर सोचिए कि जिन कल्पनाओंसे, विचारसे, वितर्कोंसे इस आत्माको समझ पाते हैं वह ज्ञान वितर्क भी मेरा नहीं है तो जगत्के अन्य पदार्थ मेरे क्या होंगे ? सो भाई बाह्यपदार्थ तो मेरे हैं ही नहीं। मैं शब्द विभक्त अपने आपके स्वरूपरत चैतन्यमात्र जीव हूं। सो उस चैतन्यस्वरूप पर ही झुकाव करो, बाहरी पदार्थों पर झुकाव न करो। इस ममताका बड़ा खोटा फल है। इस ममताके प्रसादसे ये पुद्गल बनते हैं, कीड़े मकोड़े बनते है। जो हम दुःखी हो रहे हैं वह ममताका ही प्रसाद है। इस कारण ममताको न करो, सब जीवोंको समान निरखो और अपने आपमें यथासम्भव अधिकसे अधिक समय तक निरीक्षण किया जाय। अपने आप पर हम दया कर सकें तो अपने आपमें हम कुछ लाभ पा सकेंगे, अन्यथा यह जीवन पर्वतसे गिरने वाली नदीकी तरह वेगपूर्वक चल रहा है। वह समय निकट है जब कि मृत्यु हो जायगी। इस दुर्लभ नर-जीवनको व्यर्थ न गंवाओ। अपने कल्याणकी भी बात सोच लो।

—: समाप्त :—

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्त–न्याय–साहित्यशास्त्री

पूज्य श्रीमत्सहजानन्द महाराज

द्वारा विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

॥ शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः, प्राप्स्यन्ति चापुरचलं सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमंत्रं, ॐ मू[illegible]रहितं स्पृशतः स्वतंत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं, भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्टधाम् ।
आनंदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमि, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात्प्रवहति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः ।
सहजानन्दसुवन्द्यं स्वभावमनुपर्ययं याति ॥९॥

•••०○•••